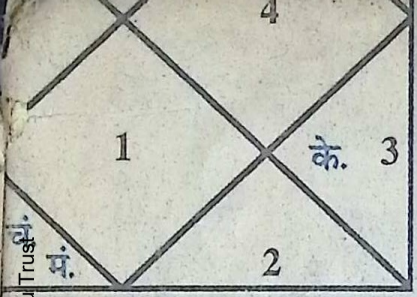

रेवती नक्षत्र मीन राशि का है गुरु, सभी ग्रह लग्न से छठे भाव में बैठे हैं। मूल नक्षत्र धनु राशि का राहु, मृगशिरा नक्षत्र मिथुन राशि का केतु, शतभिषा नक्षत्र कुंभ राशि का शुक्र, हस्त नक्षत्र और कन्या राशि का शनि, यह सभी ग्रह छत्रभंग योग बना रहे हैं। इसका अभिप्राय है कि केंद्र और राज्यों में राजनीति आश्चर्यजनक रूप से सत्ता पलट की तरफ मुड़ सकती है। कई देशों में सत्ता पलट के आसार हैं।

...ई पद नहीं ...भाद्रपद है। ...है। रोहिणी ...समय का ...समय की ...और समय ...अनाज़ के दो ...सोमवती ...पंचमी ...नहीं है। दो ...मी होगी। ...-विवाह, ...मुहूर्त रहेंगे ...354 दिन ...को यह ...

...नुसार इस वर्ष ...है, जिसमें से 84 खपत है। लेकिन विंशोत्तरी मत के अनुसार उत्पत्ति बिसवा 87 है और खपत बिसवा 96 है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि खेत खलिहानों में अनाज तो काफी होगा, लेकिन दलहन, तिलहन, साग-सब्जी, मिर्च-मसाले तथा फल आदि की मांग बढ़ेगी। इस वर्ष शनि की दृष्टि दक्षिणी राज्यों की तरफ होगी। शनि जिस तरफ भी दृष्टि डालता है, उधर ही आपदा और प्राकृतिक प्रकोप जन्म लेते हैं। इस साल मात्र दो चंद्र ग्रहण हैं। सूर्य ग्रहण कोई नहीं है।

विश्लेषण

क्रोधी नामक संवत्सर का यह पूर्वानुमान आज से हजारों साल पहले भारतीय ज्योतिष के मनीषियों ने वक्त का पूर्वानुमान लगाते समय लिखा होगा। तब उन्होंने यह अंदाजा भी नहीं लगाया होगा कि एक लोकतांत्रिक और प्रभुसत्ता संपन्न भारत को किस प्रकार से भयभीत स्थिति में अपना समय निकालना पड़ेगा। बाहरी और अंदरूनी अराजक तत्वों से खतरा आज छोटे से गांव से लेकर बड़े महानगरों के बीच पैदा हो रहा है। लोगों के चरित्र में जो अनाचार, भ्रष्टाचार और क्रूरता का समावेश हो गया है, उसकी परिकल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

राजा और मंत्री विचार

विक्रम संवत 2068 का राजा चंद्र और मंत्री पद गुरु को जा रहा है। इसका फल यही होगा कि चारों तरफ गर्मी का प्रकोप बढ़ेगा। कृषि यत्र-तत्र सूखेगी, वृक्षों में फल कम लगेंगे। वर्षा कम होने से जल संकट बढ़ेगा। रहस्मयी बीमारियां फैलेंगी। चावल, चीनी और गेहूं का उत्पादन कम होगा। चोरी, डकैती और भ्रष्टाचार की वारदातें बढ़ेंगी। विस्फोट और अग्निकांड भी बढ़ सकते हैं। राष्ट्रीय संपत्ति को भारी नुकसान झेलना होगा।

मेषार्क (14-04-2011)

यह वर्षेश कुंडली गुरुवार 14 अप्रैल 2011 की है । इस दिन मघा नक्षत्र और सिंह राशि का चंद्रमा है। वर्ष प्रवेश के

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली
प्रशिक्षण एवं तकनीकी
मुनि माया राम मार्ग, पीतमपुरा, दि

पूर्णकालिक डिप्लोमा पाठयक्रमों में प्रवेश हेतु कॉमन एंट्रेंस टे

एआईसीटीई से मान्यताप्राप्त पॉलीटेक्निक्स ऑफ दिल्ली द्वारा पूर्णकालिक डिप्लोमा पाठ्यक्रमों में प्रवे के लिए कॉमन एंट्रेंस टेस्ट नीचे दिए गए कार्यक्रम के अनुसार आयोजित किया जाएगा :

टेस्ट सं.	न्यूनतम पात्रता
1* (पाठ्यक्रम विषय नीचे दर्शाए गए हैं)	अभ्यर्थी ने सीबीएसई द्वारा आयोजित मैट्रिक की 10+2 प्रणाली में ... परीक्षा के समतुल्य कोई अन्य मान्यताप्राप्त परीक्षा उत्तीर्ण की हो। ... अनिवार्य विषय के रूप में हों तथा अभ्यर्थी ने ये तीनों विषय बिना ... हों। ग्रेडिंग प्रणाली के अंतर्गत 10वीं कक्षा उत्तीर्ण करने वाले ... गणित तथा अंग्रेजी सहित सभी अनिवार्य विषय उत्तीर्ण किए हों ... किए हों।
2 {मॉडर्न ऑफिस प्रेक्टिस के लिए (अंग्रेजी)}	10+2 (अकादमिक) के किसी भी विषय में सीबीएसई की सीनियर ... परीक्षा (कक्षा–12) अथवा सीनियर सेकेंडरी स्कूल सर्टिफिकेट के समतु... परीक्षा उत्तीर्ण की हो। मॉडर्न ऑफिस प्रेक्टिस के लिए अंग्रेजी विषय ... विषय को कृपा अंकों के बिना उत्तीर्ण किया हो।
3 {मॉडर्न ऑफिस प्रेक्टिस के लिए (हिन्दी)}	10+2 (अकादमिक) के किसी भी विषय में सीबीएसई की सीनियर ... परीक्षा (कक्षा–12) अथवा सीनियर सेकेंडरी स्कूल सर्टिफिकेट के समतु... परीक्षा उत्तीर्ण की हो। मॉडर्न ऑफिस प्रेक्टिस (हिन्दी) के लिए हिन्दी ... और अभ्यर्थी ने इस विषय को कृपा अंकों के बिना उत्तीर्ण किया हो।
4 {फार्मेसी के लिए}	अभ्यर्थी ने सीबीएसई की सीनियर सेकेंडरी स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा ... की सीनियर सेकेंडरी स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा के समतुल्य फार्मेसी ... मान्यताप्राप्त कोई अन्य परीक्षा उत्तीर्ण की हो। अंग्रेजी, भौतिक विज्ञान, ... अथवा जीव विज्ञान अनिवार्य रूप से पढ़े हों तथा अभ्यर्थी ने इन विष... उत्तीर्ण किया हो। फार्मेसी काउंसिल ऑफ इंडिया के दिनांक 27.12... 2007–पीसीआई–13143 के अनुसार जारी निर्देशों के अनुसार जो ... ऑफ ओपन स्कूलिंग में बैठे हों/ इससे परीक्षा उत्तीर्ण की हो, उनके नामों... हेतु विचार नहीं किया जाएगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुणविज्ञानम्

पूर्वार्धः

(द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-विज्ञानात्मकः)

काशीहिन्दुविश्वविद्यालयान्तर्गतायुर्वेद-महाविद्यालयाध्यक्षैः
डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक इत्येतैर्लिखितेन
'आयुर्वेद और आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान पर
तुलनात्मक विचार' नाम्ना परिशिष्टेन
समन्वितः

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य
इत्यनेन विरचितः

तस्येदं

पञ्चमं संस्करणं

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
संचालकेन
आयुर्वेदोपाध्याय पं० रामनारायण शर्मणा
'स्वाती मुद्रणालये' मुद्रयित्वा प्रकाशितम्

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता □ पटना □ झाँसी □ नागपुर □ नैनी (इलाहाबाद)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रथम संस्करण – मार्च १९५३
द्वितीय संस्करण – अगस्त १९५५
तृतीय संस्करण – अप्रेल १९५७
चतुर्थ संस्करण – मई १९५८
पंचम संस्करण – मई १९७६

मूल्य – १५ रुपये

प्रकाशक :

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

ग्रेट नाग रोड, नागपुर

(रजि. कार्यालय– १, गुप्तालेन, कलकत्ता–६)

मुद्रक :

स्वाति एन्टरप्राइज

२०, ग्रेट नाग रोड,

नागपुर–९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लेखक का निवेदन

आजकल आयुर्वेद के अध्ययन और अध्यापन के लिए विषयप्रधान पाठ्य-प्रणाली को सुविधाजनक माना गया है। सारे भारतवर्ष में प्रचलित आयुर्वेद-विद्यालयों में प्रायः विषयप्रधान पाठ्यक्रम ही चलाया जाता है। परन्तु इस पाठ्यक्रम के अनुसार सब विषयोंपर पाठ्य पुस्तकें न बनने से अध्यापकों और विद्यार्थियों को पठन-पाठन में बड़ी कठिनाइयों का अनुभव हो रहा है। अतः विषयानुसार पाठ्यग्रन्थों का निर्माण होना आवश्यक है। पाठ्यविषयों में एक **द्रव्य-गुण-विज्ञान** भी है। इस विषय को मुख्य दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं--(१) द्रव्यगुणविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन (पूर्वार्ध); (२) औषध और आहार द्रव्यों का वर्णन (उत्तरार्ध)। इसके अनुसार इस ग्रन्थ (द्रव्य-गुण-विज्ञान) को मैंने दो विभागों में लिखा है जिसका यह पूर्वार्ध है। इसको **द्रव्यविज्ञानीय, गुणविज्ञानीय, रसविज्ञानीय, विपाकविज्ञानीय** और **वीर्य-प्रभाव विज्ञानीय** इन पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसका यह अध्यापकोपयोगी बृहत् संस्करण पहले तीन बार प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ के संकलनमें प्रत्येक विषय में पहले **चरक, सुश्रुत, अष्टांङ्ग संग्रह** (वृद्ध वाग्भट), **अष्टाङ्गहृदय** (**वाग्भट**) और **रसवैशेषिकसूत्र**--इन आकर ग्रन्थों के वचन अविकल रूप में दिये हैं। यद्यपि इन वचनों में शब्दपुनरुक्ति और अर्थपुनरुक्ति दोनों हैं, तथापि इन आर्ष वचनों को अविकल रूप में देना ही उचित समझा है। उनके नीचे वर्तमान समय में उन ग्रन्थोंकी जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, वे प्रायः दी गई हैं। व्याख्याओं में शब्द पुनरुक्ति से बचने का प्रायः यत्न किया है, एक ही ग्रन्थ की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में प्रथम व्याख्या संपूर्ण देकर शेष व्याख्याओं में जहाँ उन्हीं शब्दों में व्याख्या आई है वहाँ × × × ऐसा चिह्न देकर उतना अंश छोड़ दिया है। अन्त में मूल ग्रन्थों का संपूर्ण अनुवाद और व्याख्याओं का सारांश हिन्दी भाषा में दिया है। इन सिद्धान्तों को प्रथम ज्ञात किये बिना संहिता ग्रन्थों में तथा निघण्टु ग्रन्थों में संक्षेप में लिखे हुए द्रव्यों के गुण-कर्मों को समझना कठिन है। द्रव्य-गुण-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में आयुर्वेदिक ग्रन्थसाहित्य में जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी उसका इस पूर्वार्ध में एकत्र संग्रह करने का यथाशक्य यत्न किया है। अन्त में द्रव्य-गुण-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में आधुनिक मत क्या है तथा प्राचीन और आधुनिक विचारधाराएँ कहाँ मिलती हैं और कहाँ पृथक् होती हैं, इस विषय पर **'आयुर्वेदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान पर तुलनात्मक विचार'** नामक एक निबन्ध मेरे परम मित्र बनारस हिन्दु यूनिवर्सिटी के आयुर्वेद कालेजके प्रिन्सिपल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्रीयुत स्व० वा० डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठकने लिखकर दिया है। उसे अन्त में परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिया है। यह निबन्ध लिखकर देने के लिए मैं स्व० वा० डॉ० पाठकजी का अति ऋणी हूँ। मुझे आशा है कि द्रव्यगुण-विज्ञान के सिद्धान्तों तथा इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध में औषध और आहारद्रव्यों के पारिभाषिक शब्दों में संक्षेप से लिखे हुए गुणकर्मों को सोपपत्तिक समझने में यह विशेष उपयोगी होगा।

पाठकों को ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिया हुआ भारतीय द्रव्यगुणविज्ञान का दिग्दर्शन करानेवाला उपोद्घात तथा परिशिष्ट २ में दिया हुआ आयुर्वेदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानपर तुलनात्मक विचार यह निबन्ध प्रथम देख लेना चाहिए।

इस ग्रन्थ की प्रेसकापी तैयार करने, हिन्दी अनुवाद करने तथा प्रूफ देखने में मेरे प्रिय शिष्य श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय (सूरत) के वाइस प्रिंसिपल तथा आयुर्वेदीय क्रियाशारीर (शरीरक्रियाविज्ञान), आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान आदि ग्रन्थों के लेखक श्री रणजितराय जी आयुर्वेदालङ्कारने बड़ी सहायता की है। अतः मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

इस ग्रन्थ का यह चतुर्थ संस्करण श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालक पं० रामनारायण शर्मा आयुर्वेदोपाध्याय ने अपने जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता में छपाकर प्रसिद्ध किया, उसके लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

ग्रन्थ के संकलन करने, भाषानुवाद करने और छपवाने के विषय में मैंने इतना यत्न किया है। तथापि अनवधानता, प्रमाद, भ्रम आदि के कारण अनेक त्रुटियाँ रहना संभव है। यदि विद्वद्गण इन त्रुटियों को लिख भेजने का कष्ट करेंगे तो अगले संस्करण में उनको सुधारने का यत्न किया जायगा।

ता० १।३।१९५३
डॉ० विगास स्ट्रीट
बंबई नं० २

निवेदक
वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकाशक का निवेदन

'द्रव्यगुणविज्ञानम्-पूर्वार्द्ध' का यह चतुर्थ संस्करण आयुर्वेदज्जगत की भेंट करते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है। आयुर्वेद तत्त्ववेत्ता स्वर्गीय आचार्य यादवजी त्रिकमजी महाराजने इस ग्रन्थ में द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि पर अत्यंत विशद विवेचन किया है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्यगुण विषय का इतनी उत्तमता से इस ग्रन्थ में संकलन हुआ है कि आयुर्वेद की उच्चतर शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा वैद्यों के लिए भी इस ग्रन्थ का अध्ययन अपरिहार्य हो गया है। इस ग्रन्थ की उपादेयता इसी बात से सिद्ध है कि कुछ ही वर्षों में इसके तीन संस्करण प्रकाशित होकर बिक चुके हैं और अब यह चतुर्थ संस्करण आयुर्वेद-जगत के सम्मुख उपस्थित किया गया है।

हमारा द्रव्यगुण-शास्त्र अतिप्राचीनकाल में भी एक जीवितशास्त्र था। हमारे महर्षियोंने दीर्घकाल के परिश्रम और अनुभव से द्रव्यगुण-विज्ञान के आधार-भूत सिद्धान्त स्थापित किए थे और प्रत्येक नवीन द्रव्य का अपने सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यशरीर पर परीक्षण कर उसके पांचभौतिक संगठन, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव और कर्म निश्चित किए थे। किन्तु, वर्तमानकाल में हमारा यह द्रव्यगुणशास्त्र सुषुप्तावस्था में पड़ा है। इन दिनों किसी उपयोगी नवीन द्रव्य को अपनी आर्ष-पद्धति से परीक्षण कर द्रव्यगुण विषयक ग्रन्थों में उसका समावेश करने की ओर विशेष अभिरुचि दिखायी नहीं देती। आयुर्वेद-विज्ञान की प्रगति और श्रीवृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि द्रव्यगुण का अधिक से अधिक ज्ञानप्राप्त किया जाय। इस ग्रन्थ में पूज्यपाद स्वर्गीय आचार्यजीने काफी अनुसन्धान कर द्रव्यों के गुणों पर विवेचन किया है। इस ग्रन्थ से द्रव्यगुणशास्त्र के विषयप्रधान शिक्षण के पाठ्यक्रम में श्रेष्ठ ग्रन्थ का अभाव दूर हो गया है और आयुर्वेद के विद्यार्थियों को आयुर्वेदविज्ञान के मूलाधार-द्रव्यगुणविज्ञान के विषय में सम्यक् ज्ञान-लाभ करने में पर्याप्त सहायता मिली है। भारत के विभिन्न आयुर्वेदीय महाविद्यालयोंने इस ग्रन्थ को अपने पाठ्यक्रम में कई वर्षों से शामिल कर रखा है और स्नातकोत्तर प्रशिक्षण में यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

हमें आशा है कि आयुर्वेद-जगत 'द्रव्यगुणविज्ञान-पूर्वार्द्ध' के इस संस्करण को भी पूरे उत्साह के साथ ग्रहण कर आयुर्वेद की श्रीवृद्धि में सचेष्ट होगा।

विनम्र निवेदक

वैद्य पं० रामनारायण शर्मा

मैनेजिंग डायरेक्टर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०

कलकत्ता,
गंगादशहरा
२८-५-१९५८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पंचम संस्करण–

प्रकाशकीय वक्तव्य

चतुर्थ संस्करण के पश्चात् अब यह पंचम संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इसमें हमारी आशा फलवती सिद्ध हुई है।

प्रकाशनव्यय के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण हमें इस ग्रन्थ का मूल्य अनिच्छा पूर्वक बढ़ाना पड़ रहा है, तो भी यह मूल्य लागत मात्र ही है। आशा है हमारे पाठकों का स्नेह पूर्ववत् बना रहेगा।

विनम्र निवेदक

नागपुर
बुद्ध जयन्ती
१३-५-१९७६

वैद्य पं० रामनारायण शर्मा
संस्थापक एवं प्रधान संचालक
श्री **वैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन लिमिटेड

छात्रों एवं चिकित्सकोपयोगी अभूतपूर्व आयुर्वेदिक ग्रन्थ–

नेत्र–चिकित्सा (संस्कृत)

पृष्ठ २३० : मूल्य–६) रु.

ले०– डा० बालकृष्ण शिवराम मुंजे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भारतीय द्रव्यगुणविज्ञान का उपोद्घात

इस शास्त्र को 'द्रव्यगुण विज्ञान' नाम देने का हेतु---

यद्यपि इस शास्त्र में द्रव्य, गुण (रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव) और कर्म (जीवन-बृंहण-वमन-विरेचन आदि) इन तीनों विषयों का प्रतिपादन किया जाता है, अतः इसका नाम **'द्रव्य-गुण-कर्म-विज्ञान'** रखना उचित है, तथापि 'गुण' शब्द धर्ममात्र का वाचक होने से 'गुण' शब्द से रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म-इन द्रव्यों के यावत् धर्मों का ग्रहण हो जाता है, अतः लाघवार्थ इस शास्त्र को **'द्रव्यगुणविज्ञान'**[1] कहते हैं।

द्रव्यगुणशास्त्र में प्रतिपाद्य मुख्य विषय---

द्रव्यगुणशास्त्र के मुख्य अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय **द्रव्य, गुण** तथा गुणशब्द से संगृहीत **रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव** और **कर्म** ये सात पदार्थ[2] हैं। अर्थात् इन सात पदार्थों का द्रव्यगुणशास्त्र में विचार और वर्णन किया जाता है।

द्रव्यगुणशास्त्र की दृष्टि से इन सात पदार्थों के विषय में भारतीय आयुर्वेद के जो मूलभूत सिद्धान्त (मन्तव्य) हैं, वे क्रमशः दिये जाते हैं। इन सिद्धान्तों को प्रारम्भ में ठीक समझ लेने से आगे समग्र ग्रन्थ को समझने में बड़ी सरलता होगी।

१—'विज्ञान' शब्द का **'शास्त्र'** अर्थ में भी प्रयोग होता है। देखिये—'विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' (अमरकोष, का. १, वर्ग ४, श्लो. ६)। इस उपोद्घात में मैंने आगे **'द्रव्यगुणविज्ञान'** के स्थानपर प्रायः 'द्रव्यगुणशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया है।

२—पदार्थ उसे कहते हैं जिसमें अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये तीन धर्म हों। **पदार्थधर्मसंग्रह में प्रशस्तपादाचार्यने** लिखा है कि—"षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वाभिधेयत्व-ज्ञयत्वानि।" (द्रव्यग्रन्थ, साधर्म्य-वैधर्म्यनिरूपण)। प्रत्येक शास्त्र के अपने-अपने अस्तित्व रखनेवाले, अभिधेय (वर्णन करने योग्य) और ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ (प्रतिपाद्य विषय) होते हैं। जैसे—**वैशेषिक** दर्शन के **द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय** ये छः तथा **न्यायदर्शन** के **प्रमाण, प्रमेय** आदि षोडश पदार्थ हैं। इसी प्रकार द्रव्यगुणविज्ञान के **द्रव्य, गुण, रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म** ये सात पदार्थ हैं। **भावमिश्रने** "द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं-स्वं कुर्वन्ति कर्म च॥" इस श्लोक में "द्रव्य में रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति (प्रभाव) ये पाँच पदार्थ रहते हैं और वे अपना-अपना कर्म-कार्य करते हैं" ऐसा लिखा है; द्रव्य तथा गुण-शब्दसंगृहीत इन पाँच पदार्थों में सातवाँ कर्म मिलाने से द्रव्यगुणविज्ञान के सात पदार्थ (प्रतिपाद्य विषय) होते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्य

द्रव्य दो प्रकार का है--१ **कारणद्रव्य**, २ **कार्यद्रव्य**।

कारणद्रव्य--आयुर्वेद में वैशेषिक के मतानुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा, मन, काल और दिक्--इन नवों को समग्र सृष्टि का **कारणद्रव्य (मूलद्रव्य**[1]**)** माना है। अर्थात् सारी सृष्टि इन्हीं नौ द्रव्यों के मेल से बनी हुई है। पृथिव्यादि नौ ही द्रव्य चेतन सृष्टि के तथा आत्मा और मन को छोड़कर शेष सात द्रव्य अचेतन सृष्टि के आरम्भक (बनानेवाले) हैं।

कार्यद्रव्य--कार्यद्रव्य दो प्रकार का है--१ **चेतन**, २ **अचेतन**। चेतन द्रव्य के भी दो भेद हैं--१ **बहिरन्तश्चेतन**--यथा--मनुष्य, पशु आदि; तथा २ **अन्तश्चेतन**--यथा--वृक्ष आदि। चेतन द्रव्य के **जरायुज, अण्डज, स्वेदज**[2] और **उद्भिज्ज**--ये चार भेद माने गये हैं। अचेतन द्रव्य स्वर्ण, रौप्य आदि भेद से अनेक प्रकार के हैं, तथापि उन सब में अचेतनत्वरूप सामान्य धर्म होने से उनका एक ही प्रकार (वर्ग) माना गया है। शास्त्र में उनका **पार्थिव (भौम) द्रव्य** नाम से व्यवहार होता है।

चेतन और अचेतन वर्ग के सब द्रव्यों का चिकित्सा में आहार और औषध रूप में उपयोग होता है। यद्यपि चेतन द्रव्य पृथिवी आदि नौ कारण द्रव्यों से और अचेतन द्रव्य आत्मा और मन को छोड़कर शेष सात कारण द्रव्यों से बने हैं, तथापि सब द्रव्यों का चिकित्सार्थ निर्जीवावस्था में[3] ही उपयोग किया जाता है, इस अवस्था में उनमें आत्मा और मन होते ही नहीं और काल तथा दिक् कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में समवायिकारण (उपादान कारण) नहीं किन्तु निमित्तकारण हैं, अतः द्रव्यगुणशास्त्र में वर्णनीय सब द्रव्य शेष पृथिव्यादि पञ्चभूतों से ही बने होने से **पाञ्चभौतिक** माने जाते हैं। अतः भगवान् **पुनर्वसु ने** कहा है कि--"सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे" (इसी ग्रन्थ में पृ० १)। अर्थात् द्रव्यगुणशास्त्र में **द्रव्य** शब्द का अर्थ 'आहार और औषध के रूप में उपयोग में आनेवाले निर्जीव पाञ्चभौतिक कार्यद्रव्य' इतना ही है। कार्यद्रव्यरूप प्रसिद्ध स्थूल जल, अग्नि और वायु ये

१--रसवैशेषिकसूत्र में **भदन्त नागार्जुनने** कारणद्रव्यों के **मूलद्रव्य** नाम दिया है--"तत्र पृथिव्यादीनिमूलद्रव्याणि तेषाम्।" (अ. २. सू. ३९)। "पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानि। मूलद्रव्याणि कारणद्रव्याणि। तेषामिति जङ्गमानां कार्यद्रव्याणाम्॥" (भा.)।

२--जरायुज, अण्डज और स्वेदज इन तीनों प्रकार की सृष्टि को सामान्यतः 'प्राणी' कहते हैं।

३--'द्रव्यहेतुकाः निर्जीवद्रव्यमूलाः' (सु. सू. अ. ४१, श्लो. १२ की टीका में **क० हाराणचन्द्रजी**)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भी पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न पाञ्चभौतिक द्रव्य हैं, अतः आयुर्वेद में उनके भी गुण-कर्म लिखे गये हैं।

वाचस्पत्यवृहदभिधान में 'द्रव्य' शब्द की व्याख्या में "भिषजस्तु—रसो गुण-स्तथा वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। पञ्चानां यः समाहारस्तद्द्रव्यमिति कथ्यते ॥" यह वैद्यों के मत से द्रव्य का एक लक्षण दिया है। यह श्लोक आयुर्वेद के उपलभ्यमान ग्रन्थों में मेरे देखने में नहीं आया। 'रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति (प्रभाव[1]) इन पाँच गुणों का जो समुदाय है वही द्रव्य है' यह इस श्लोक का अर्थ है। प्राचीन काल में अपने यहाँ गुणसमुदाय (गुणों के समूह) को ही द्रव्य माननेवाला एक संप्रदाय था, उस संप्रदाय का यह मत है। इस मत का **नागार्जुनने रसवैशेषिक सूत्र** (अ. २ सू. १-२२) में तथा स्व. वा. **आयुर्वेदाचार्य पं० नारायणदत्तजी ने** 'द्रव्य-गुणादिविवेचनात्मकमभिभाषणम्' नाम के निबन्ध में (पृ. १६) युक्ति पूर्वक खण्डन किया है।

द्रव्य का लक्षण और अनेकविध भेद तथा कर्मानुसार द्रव्यों के सर्ग इस ग्रन्थ के **द्रव्यविज्ञानीयाध्याय में** विस्तार से लिखे हैं, उनको वहीं देखें।

गुण

गुर्वादि गुण द्रव्य में आश्रित होकर रहते हैं और निष्क्रिय होने से उनमें कर्तृत्व नहीं होता, वमन-विरेचनादि कर्मों में गुण उपकरण-साधन-रूप-होते हैं, परंतु कर्ता द्रव्य ही होता है। जो दूसरों का आश्रय और कर्ता होता है वह प्रधान होता है और जो अन्याश्रित तथा उपकरण होता है वह अप्रधान-गौण होता है। गुर्वादि अन्याश्रित और उपकरणभूत होने के कारण गौण होने से **'गुण'** कहे जाते हैं—"क्रियाहीनत्वेन कर्तृत्वाभावादप्राधान्येन गौणत्वाच्च तस्य **'गुण'** इति संज्ञा" (द्रव्यगुणादिविवेचनात्मकमभिभाषणम्, पृ. ९)। गुण का लक्षण इसी ग्रन्थ में पृ० १०१-१०२ पर देखें।

चरकने (सू. अ. १ में) "सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः" इस श्लोक में ४१ गुण कहे हैं (देखें इसी ग्रन्थ में पृ. १०३)। आयुर्वेद में इनमें से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध ये पाँच आकाशादि एक-एक महाभूत के विशेष गुण होने से उनको **वैशेषिकगुण** कहते हैं। गुर्वादि द्रवान्त बीस गुणों को **शारीरगुण**[2] कहते हैं, क्योंकि इन गुणों का शरीर और शरीरपर प्रयुक्त होनेवाले

१—"तत्राचिन्त्यक्रियाहेतुः 'प्रभाव' उच्यते, या द्रव्याणां शक्तिरभिधीयते" (क. गङ्गाधरजी च. सू. अ. १, श्लो. ५२ पर टीका में)।

२—"गुर्वादय इति गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-खर-मसृण-स्थूल-सूक्ष्म-सान्द्र-द्रवा इति विंशतिः—→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यों से ही विशेष सम्बन्ध है। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये छः आत्मा के गुण होने से इनको **आत्मगुण** कहते हैं। शेष परादि दश गुण महाभूत, शरीर तथा शरीरेतर सब के लिए सामान्य होने से उनको **सामान्यगुण** कहते हैं। द्रव्यगुणशास्त्र में ४१ गुणों में से गुर्वादि द्रवान्त बीस शारीर गुणों का ही मुख्यतया वर्णन आता है। **चरकाचार्य ने** यज्जःपुरुषीयाध्याय (सू. अ. २५) में आहार के गुणों का निर्देश करते हुए "विंशतिगुणः गुरु × × × द्रवानुगमात्" ऐसा लिखा है। **सुश्रुतने** सूत्रस्थान के ४६ वें अध्याय में गुर्वादि बीस गुणों के ही कर्म बताये हैं। रस भी गुण है, तथापि रस के विषय में वक्तव्य होने से एक स्वतन्त्र अध्याय में उसका निरूपण किया है। मृदु, तीक्ष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण और शीत ये आठ गुण जब उत्कृष्टशक्तिसंपन्न हों तब उनको **वीर्य** कहते हैं। वीर्यों के विषय में भी विशेष वक्तव्य होने से उनका एक स्वतन्त्र अध्याय में वर्णन किया गया है। परन्तु गुर्वादि गुण जब उत्कृष्टशक्तिरहित होते हैं तब इनको गुण[1] ही माना जाता है, गुणों के प्रकरण में भी उनका वर्णन किया गया है। **नागार्जुन** गुर्वादि आठ गुणों को वीर्य नहीं मानते, परंतु छर्दनीय आदि कर्मलक्षण वीर्य मानते[2] हैं; अतः उन्होंने उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, गुरु, लघु, मृदु और तीक्ष्ण—इन दस गुणों को **कर्मण्य** (कर्म करने में अधिक शक्तिसंपन्न) **गुण** माना है। द्रव्यगुणविज्ञान में गुर्वादि बीस गुणों का वर्णन विशेष आवश्यक होने से विस्तार से तथा अन्य गुणों का वर्णन संक्षेप में किया गया है।

रस

यद्यपि आयुर्वेद में **'रस'** शब्द का प्रयोग 'यो रसति अहरहर्गच्छति' स रसः= जो निरन्तर शरीर में गति करता है वह **रस** कहाता है, इस निरुक्ति से सप्त धातुओं के अन्तर्गत रसधातु में; 'यो रसति सर्वान्' लोहान् स रसः=जो स्वर्णादि सब लोहों को अपने में लीन[3] कर लेता है वह **रस** कहाता है, इस निर्वचन से पारद में; 'यो रसति शरीरे आशु प्रसरति' स रसः=जो सारे शरीर में शीघ्र फैल जाता है वह **रस** कहाता है, इस व्युत्पत्ति से स्वरसादि कल्पों में तथा 'यो रस्यते आस्वाद्यते रसनेन' स रसः=

←शारीरगुणाः स्वयं वक्ष्यन्ते" (क. गङ्गाधरजी च. सू. अ. १, श्लोक ४९ पर की टीका में)।

१—"गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः।" (अष्टाङ्गसंग्रह सू. अ. १७)।

२—देखें इसी ग्रन्थ में पृ. १०५।

३—"परमात्मनीव सततं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम्। एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते॥" (रसहृदय तन्त्र, १ अवबोध, १३ श्लोक)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है वह रस कहाता है, इस निरुक्ति से मधुरादि छः रसों में होता है; तथापि द्रव्यगुणाधिकार में 'रस' शब्द मधुरादि छः रसों के अर्थ में ही पारिभाषिक माना गया है। रस का लक्षण इसी ग्रन्थ में पृ. १२८-१३२ पर दिया है।

आयुर्वेद के मतानुसार सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होने से कोई भी द्रव्य एक रस वाला नहीं किन्तु षड्रस[1] होता है, तथापि जिस द्रव्य में जो रस व्यक्त[2] हो उस प्रधान रस से उस द्रव्य का यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि व्यपदेश होता है।

आयुर्वेद में द्रव्यों के गुण लिखते समय यह द्रव्य मधुर है, यह अम्ल है इत्यादि उनके रस लिखे हैं वहाँ केवल यह द्रव्य स्वाद में मधुर है, अम्ल है, इतना ही अर्थ न लेना चाहिये, परन्तु मधुरादि रसों के जो गुण कर्म लिखे हैं वे सब न्यूनाधिकांश में उसमें हैं, इतना ही नहीं परन्तु मधुरादि रसों के जो विपाक और रस-सहचर[3] वीर्य लिखे हैं वे भी यदि रस के अनुकूल हों तो उसमें प्रायः विद्यमान हैं, इतना व्यापक अर्थ उससे समझना चाहिये। जिस द्रव्य में प्रधान रस के विपरीत विपाक और वीर्य हों प्रायः वहाँ ही उस द्रव्य के विपाक और वीर्य स्पष्ट शब्दों में लिखे हैं। जहाँ विपाक और वीर्य रस के अनुकूल होनेपर भी स्पष्ट शब्दों में लिखे हों, वहाँ वे विशेष स्पष्टीकरणार्थ लिखे गये हैं ऐसा जानना चाहिये।

विपाक

आयुर्वेद में खाए हुए द्रव्यों का दो प्रकार का पाक[4] माना गया है—अवस्थापाक और **निष्ठापाक**। निष्ठापाक को **विपाक** कहते हैं। अवस्थापाकापेक्षया विशिष्टः पाको विपाकः = अवस्थापाक की अपेक्षया जो विशिष्ट (भिन्न—खास) पाक है, उसको **विपाक** कहते हैं। यद्यपि 'पाक' शब्द भाववाचक होने से पचनक्रिया मात्र का द्योतक है, तथापि 'विपाक' शब्द आहार के अन्तिम पाक के समय में आद्य रस धातु में उत्पन्न गौरव या लाघवयुक्त मधुर, अम्ल और कटु—इन तीन रसों में

१—"तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसंभवात्।" (अ. हृ. सू. अ. ९)।

२—"द्रव्यों में जो रस व्यक्त हो उसको रस (प्रधान रस) और जो रस अव्यक्त हो या अन्त में कुछ व्यक्त हो उसको अनुरस (अप्रधान रस) कहते हैं 'तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः। अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते।" (अ. हृ. सू. अ ९)।

३—'तत्र मधुरो रसः × × × स्निग्धः शीतो गुरुश्च, अम्लो रसः × × × लघुरुष्णः स्निग्धश्च' इत्यादि (देखें इसी ग्रन्थ में पृ. १६४-१६७)।

४—'पाकः पचनं द्रव्याणां स्वरूप-रसयोः परावृत्तिः। सा च स्वरूपान्तरत्वेन रसान्तरत्वेन च परिणतिः' गङ्गाधर कविराज।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लाक्षणिक है, ऐसा समझना चाहिए। इसी ग्रन्थ में पृ. २२९ पर विपाक का और पृ. २३० में अवस्थापाक का निरूपण किया गया है। इससे मालूम होगा कि मुख से लेकर बृहदन्त्र तक महास्रोतस् में तत्तत्स्थान में मिले हुए मधुर, अम्ल और कटु (कटुक्षार) रसवाले द्रवों, प्राण और समान वायु (नाड़ियों–Nerves की क्रियाओं) और शरीरस्थ ऊष्मा के द्वारा महास्रोतस् के भिन्न-भिन्न स्थानों में जो आहार पाक होता है उसको **अवस्थापाक** कहते हैं। अवस्थापाक को **आहारपाक** या **जठराग्निपाक** भी कहते हैं। अवस्थापाक की प्रथम, द्वितीय और तृतीय ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। छहों रसोंवाला अन्न प्रथम पाक में मधुरप्राय, द्वितीय पाक में अम्लप्राय और तृतीय पाक में कटुप्राय होता है। इन तीनों अवस्थापाकों में क्रमशः मल (किट्टांश) रूप कफ, पित्त, वात, मूत्र और पुरीष की उत्पत्ति होती है[1]। इन तीनों अवस्थापाकों के अन्त में जब आहारप्रसादरूप रसधातु की उत्पत्ति होती है और **धात्वग्निपाक** प्रारम्भ होता है तब प्रायः मधुर और लवण रस का मधुर, अम्ल रस का अम्ल तथा कटु, तिक्त और कषाय रस का कटु विपाक होता है। मधुर विपाक से प्रसादभूत कफ, अम्ल विपाक से प्रसादभूत पित्त और कटु विपाक से प्रसादभूत वायु की उत्पत्ति होती है। ये प्रसादभूत वात-पित्त-कफ सूक्ष्म रूप से रस धातु में संचार करते हुए शरीर में अपना-अपना कार्य करते हैं। धात्वग्निपाक में भी रस के किट्टांश रूप में कफ की और रक्त के किट्टांश रूप में पित्त की उत्पत्ति होती है[2]। अवस्थापाक प्रत्यक्षगम्य है और विपाक फल देखकर अनुमान किया जाता है। **वाग्भटने** मधुर, अम्ल और कटु विपाक को उन रसों के तुल्यफल (गुण-कर्म) वाला बताया[3] है। **चरक** और **सुश्रुतने** विपाक का फल स्वतन्त्र रूप से भी लिखा है[4]। सुश्रुत और नागार्जुन मधुरादि रसों को नहीं परन्तु पञ्चमहाभूतों के गुरु और लघु इन दो गुणों के रूप में विपाक मानते हैं। परन्तु चरक और सुश्रुत के शब्दप्रयोग में ही अन्तर है, विपाक के फल के विषय में दोनों के मत में अन्तर नहीं है, यह पृ. २६५ पर स्पष्ट दिखाया गया है।

१–देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २३० पर **अवस्थापाकनिरूपण**, म. म. **कविराज गणनाथ सेनजी** विरचित **सिद्धान्तनिदान** २ खण्ड पृ. ३–६, तथा पृ. २३१–२३३ में उद्धृत **जल्पकल्पतरुव्याख्या**।

२–"किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं" (च. चि.अ. १५)। "रसस्य कफ इति रसे पच्यमाने किट्टं कफो भवति, प्रसादश्च रक्तं; एवं रक्तादिमलेऽपि ज्ञेयम्। ××× यथा कफोऽवस्थापाकाद्, रसमलतया च भवति" (च. द.)।

३–देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २६३।

४–देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २६०-२६१।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीर्य और प्रभाव

'वीर' विक्रान्तौ (च. आ. से.) = विक्रम (शक्तिसंपाद्य कार्य) करना, इस धातुसे 'वीरयते अनेन' इति वीर्यं = द्रव्य जिस शक्ति के द्वारा कार्य करता है वह वीर्य है, इस व्युत्पत्ति से 'वीर्य' शब्द का शक्ति यह अर्थ होता है। इस अर्थ को लेकर चरकने द्रव्यों का पाञ्चभौतिक संगठन, रस, विपाक और गुर्वादि गुण इन सबकी अपनी-अपनी क्रिया करने की जो शक्ति, उसको वीर्य माना है "वीर्यंतु क्रियते येन या क्रिया" (च. सू. अ. २६)। शक्ति दो प्रकार की होती है—१ चिन्त्य और २ अचिन्त्य। चिन्त्य शक्ति को वीर्य और अचिन्त्य शक्ति को प्रभाव कहा जाता है[1]। आयुर्वेद में वीर्य के विषय में तीन पक्ष पाये जाते हैं। पहला पक्ष शक्तिरूप वीर्य मानता है, इस मतवालों को शक्तिरूपवीर्यवादी या बहुवीर्यवादी कहते हैं। चरक इस मतके अनुयायी हैं। दूसरा पक्ष उत्कृष्ट शक्तिसंपन्न गुर्वादि आठ या शीत और उष्ण दो गुणों को ही वीर्य मानता है। इस मतवालों को पारिभाषिक-वीर्यवादी या गुणवीर्यवादी[2] कहते हैं। सुश्रुत, वृद्धवाग्भट और वाग्भट इस मत के अनुयायी हैं। तीसरा पक्ष कर्मलक्षण वीर्य मानता है। यह नागार्जुन का मत है[3]। वीर्य का स्वरूप बताते हुए शिवदाससेन लिखते हैं कि—"वीर्यं शक्तिः, सा च पृथिव्यादीनां भूतानां यः सारभागस्तदतिशयरूपा बोध्या[4] = द्रव्य में पृथिव्यादि भूतों का जो अतिशय सार भाग जिसमें क्रिया करने की शक्ति हो, वह चाहे द्रव्यों के पाञ्चभौतिक संगठनरूप हो, रसरूप हो, विपाकरूप हो या गुर्वादि उत्कृष्टशक्ति सम्पन्न गुणरूप हो, उसको वीर्य कहते हैं।" रसादि में 'वीर्य' शब्द का प्रयोग धर्म-शक्ति और धर्मी-रसादि इनके अभेदोपचार से होता है। वास्तव में शक्ति और रसादि ये दोनों गुण हैं और गुण सर्वदा द्रव्य को आश्रय करके ही रहते हैं, अतः द्रव्य में रहा हुआ जो क्रियाजननसमर्थ सारभाग जिसको आधुनिक वैज्ञानिकों ने 'ऍक्टिव प्रिन्सिपल्स (Active Principles)' नाम दिया है उसको वीर्य नाम देना चाहिये, ऐसा जो परिशिष्ट में डॉ० पाठकजी ने लिखा है वह ठीक मालूम होता है[5]। आयुर्वेदाचार्यों को द्रव्यों में भूतप्रसादातिशयरूप सार भाग रहता है इस बात का ज्ञान था, परन्तु उस समय विश्लेषणक्रिया का विकास नहीं हुआ था, इसलिये उनका विशेष विवरण संहिताग्रन्थों में नहीं पाया जाता। रसाचार्योंने धातुओं (खनिजों) से विश्लेषण प्रक्रिया द्वारा स्वर्णादि लोह (मेटल्स Metals)

१—देखें इसी ग्रन्थ में पृ. ३०२ पर वक्तव्य।
२—देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २७२-२७४।
३—देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २८६-२९४।
४—देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २६८-२७० पर शिवदाससेन की व्याख्या।
५—देखें इसी ग्रन्थ में परिशिष्ट २, पृ. ३५८।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अलग करके निकाले थे और उनको उन्होंने **सत्त्व** नाम दिया था। आजकल आधुनिक वैज्ञानिक द्रव्यों से जो सारभाग निकालते हैं उनके लिये **'वीर्य'** या **'सत्त्व'** शब्द का प्रयोग करना ठीक होगा। आयुर्वेद में द्रव्यों की शरीरपर होनेवाली क्रियाओं की मीमांसा या उत्पत्ति उनके पञ्चभूतात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य विपाक और प्रभाव की सहायता से की जाती है। अतः आधुनिक वैज्ञानिकों के निकाले हुए कुनैन आदि सत्त्वों के कर्मों की मीमांसा भी आयुर्वेद की दृष्टि से उनके पञ्चभूतात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव द्वारा ही करनी चाहिये आयुर्वेद में यद्यपि वीर्य शक्तिरूप, उत्कृष्टशक्ति-संपन्न गुणरूप या कर्म-लक्षण है—ये तीन मत पाये जाते हैं, तथापि द्रव्यों के गुण लिखते समय शीत, उष्ण आदि पारिभाषिक वीर्यवाचक शब्दों का ही प्रयोग हुआ है[1]। सुश्रुत और नागार्जुन ने **प्रभाव** नाम के पदार्थ का 'प्रभाव' नाम से उल्लेख नहीं किया है, परन्तु सुश्रुत ने जो **अमीमांस्य** और अचिन्त्य भेषज[2] तथा नागार्जुन ने **अचिन्त्य वीर्य**[3] लिखे हैं, वे प्रभाव ही हैं।

कर्म

यद्यपि पदार्थविज्ञान की दृष्टि से **वैशेषिकदर्शन में** कर्मपदार्थ का "एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्" (१।१।१७) तथा **चरकने** "संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥" (सू. अ. १) यह लक्षण लिखा है, तथापि द्रव्यगुणाधिकार में 'कर्म' शब्द का प्रयोग 'शरीरपर होनेवाली द्रव्यों की वमन-विरेचन आदि क्रिया, इस अर्थ में होता है। चरकने लिखा है कि—"कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि" (सू. अ. २६)। यहाँ 'वमनादि' पद में 'आदि' शब्द से बृंहण-जीवन आदि द्रव्यों के सब कर्म लेने चाहिए—"एतच्च (वमनादि) प्राधान्यादुच्यते, तेन बृंहणाद्यपि बोद्धव्यम्।" (**च. द.**)। सुश्रुत ने भी "इहौषध-कर्माणि ऊर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधन-संशमन-सांग्राहिकाग्निदीपन-पीड़न-लेखन-बृंहण-रसायन-वाजीकरण-श्वयथुकर - विलयन - दहन-दारण मादन-प्राणघ्न-विषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति।" (इसी ग्रन्थ में पृ. २७६) इस सूत्र में वमन-विरेचन आदि को **औषधकर्म** कहा है। **नागार्जुन ने** कर्म-प्राधान्य प्रकरण में द्रव्यों का शरीर पर जो प्रयोग वह कर्म, ऐसा लिखा हैं='कर्म सर्वेषाम्।' (र. वै. अ. २. सू. ३८)। "द्रव्यादयः पदार्थाः सर्वे तेषां कर्म प्रयोग इत्यर्थः। × × ×। प्रयोगः कर्मसंज्ञितः षष्ठः पदार्थः" (**भा.**)।

१—"शास्त्रे व्यवहारस्तु पारिभाषिकवीर्यनयेनैव"—**शिवदाससेन**।
२—देखें इसी इन्थ में पृ. ३०२।
३—देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २८६–२९४।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्राचीन काल में हमारा द्रव्यगुणविज्ञान एक जीवित शास्त्र था। महर्षियों ने दीर्घकाल के परिश्रम और अनुभव से द्रव्यगुणविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त स्थापित किए थे। कोई भी नया द्रव्य उनके सामने आता था तो वे अपने सिद्धान्तानुसार मनुष्यशरीर पर उसका परीक्षण करके उसके पाञ्चभौतिक सगठन, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव और कर्म निश्चित करते थे और उपयुक्त सिद्ध होनेपर उस द्रव्य को ग्रन्थों में स्थान देते थे। परन्तु आजकल हमारा यह शास्त्र मूर्च्छितावस्था में है। इन दिनों किसी भी उपयोगी नवीन द्रव्य का हमारी आर्षपद्धति से परीक्षण करके द्रव्यगुण के ग्रन्थों में उसका समावेश कर लेने का उदाहरण नहीं पाया जाता। हमारे संहिताग्रन्थ या निघंटुओं में अनुक्त कुछ नवीन द्रव्यों का आजकल वैद्य लोग उपयोग करते हैं, परन्तु वह यूनानी या आधुनिक वैद्यक में लिखे हुए उनके गुण-कर्मों को देखकर तदनुसार या लोक में प्रसिद्ध गुण-कर्मानुसार करते हैं। हमारी आर्षपद्धति के अनुसार उनका परीक्षण करके द्रव्यगुण के ग्रन्थों में उनका समावेश करने का यत्न नहीं किया जाता। यदि हम इस शास्त्र को पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं तो हमलोगों का कर्तव्य होगा कि अपने सामने आये हुए नवीन द्रव्यों का अपने सिद्धान्तानुसार परीक्षण करके उनको अपने ग्रन्थों में ले लें। प्राचीन ग्रन्थों में कई द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य और विपाक के विषय में विभिन्न मत पाये जाते है, उनका पुनः परीक्षण करके निश्चय करने की और उनमें एकवाक्यता लाने की आवश्यकता है। आयुर्वेद में प्रचलित कई द्रव्यों के गुण-कर्म यूनानी और पाश्चात्य वैद्यक में हमारे से अधिक लिखे हैं, उनका भी परीक्षणपूर्वक संग्रह कर लेना चाहिये। प्राचीन काल में या आजकल वैद्यों ने प्रायः औषधों के गुण ग्रामीणों या अन्य देशवासियों से पहले जानकर पीछे उनका मनुष्यों या अन्य प्राणियोंपर प्रयोग करके परीक्षण किया है और परीक्षण प्राप्त ज्ञान के आधारपर उनके गुण-कर्मों की अपनी पद्धति के अनुसार शास्त्रीय उपपत्ति लगाने का यत्न किया है। हम लोगों को भी इस पद्धति का अनुसरण करना चाहिए।

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुणविज्ञानपूर्वार्धान्तर्गतविषयाणां वर्णानुक्रमणिका

विषयः	पृष्ठम्	विषयः	पृष्ठम्
अङ्गमर्दप्रशमनं	५६	औषधाहारभेदेन द्वौ द्रव्यभेदौ	२७
अनुलोमनं	७१	कण्ठ्यं	४०
अनुवासनोपगं	४८	कण्डूघ्नं	४१
अभिष्यन्दि	८०	कफजादिव्याधौ रसोपयोग क्रमः	२२१
अर्थनिरूपणं	१०६	कर्मभेदेन द्रव्यभेदाः	२९
अर्शोघ्नं	४१	कासहरं	५३
अवसादकं	९०	कुष्ठघ्नं	४१
अवसादनं	८५	कृमिघ्नं	४१
अवस्थापाकनिरूपणं	२३०	के रसाः कं दोषं जयन्ति कोपयन्ति च	१९४
अश्मरीनाशनं	८७	केश्यं	८२
आर्तवजननं	८८	केषां द्रव्याणां रसेभ्य एव गुणाः दोषप्रकोपकत्वं, दोषप्रशमनत्वं च विज्ञेयं	१८९
आविजननं	८९	कोथप्रशमनं	८७
आशुकारी	८०	कोष्ठवातप्रशमनं (टि.)	३७
आस्थापनोपगं	४७	गर्भपाति	८८
आस्वाद्यमानस्य द्रव्यस्य रसः कदा उपलभ्यते	१६३	गुणलक्षणं	१०१
उत्तेजकं	९०	गुणविज्ञानीयाध्यायः	१०१-१२७
उत्सादनं	८५	गुणसंख्या	१०३
उदर्दप्रशमनं	५६	गुर्वादिविंशतिगुणकर्माणि	१०८
उपयुज्यमानानां द्रव्याणां वीर्यं कदोपलभ्यते	२९६	गुर्वादिविंशतिगुणनिरूपणं	१०६
उपशोषणं	८६	चरकमतेन विपाकनिरूपणं	२३५
एकीयमतेन गुणप्राधान्य-निरूपणं	१२५	चक्षुष्यं	८२
एकीयमतेन द्रव्यप्राधान्य-निरूपणं	९०	चेतनाचेतनभेदेन द्वौ द्रव्यभेदौ	६
एकीयमतेन रसप्राधान्य-निरूपणं	२२४	छर्दिनिग्रहणं	४८
औद्भिदद्रव्याणामवान्तरभेदाः	२२	छेदनम्	७३
		जङ्गमद्रव्याणामवान्तरभेदाः	२६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषयः	पृष्ठम्
जीवनीयं	३०
ज्वरहरं	५४
तारकाविकासि	८९
तारकासंकोचनं	८९
तृप्तिघ्नं	४०
तृष्णानिग्रहणं	४९
त्रिषष्टिरसभेदाः	
तेषामुपयोगश्च	२०९
दहनं	५५
दारणं	८४
दाहप्रशमनं	५५
दीपनीयं	३५
दुर्गन्धहरं	८८
द्रव्यगुणविज्ञानप्रतिपाद्य-	
द्रव्यशब्दार्थः	१
द्रव्यगुणवैशेष्याद्विपाकलक्षणत्वाल्प-	
मध्यभूयिष्ठत्वं	२६३
द्रव्यलक्षणं	२
द्रव्यगुणविज्ञानपूर्वार्धस्य	
प्रथमं परिशिष्टं	३२२-३३४
द्रव्यगुणज्ञानपूर्वार्धं का	
द्वितीय परिशिष्ट	३३५
द्रव्यगुणविज्ञानीयाध्यायाः	१-१००
द्रव्याणां वर्गीकरणहेतुः	६
द्रव्याण्येव शरीरस्थिति,	
क्षय-वृद्धिहेतवः	३१९
द्रव्यादिप्राधान्यवादोपसंहारः	३०९
नागार्जुनमतेन कर्मनिरूपणं	३१२
नागार्जुनमतेन रसानां कर्म	१८०
नागार्जुनमतेन वीर्यनिरूपणं	२८६
पञ्च भूतेभ्यः कार्यद्रव्याणामुपत्ति-	
प्रकारः	३

विषयः	पृष्ठम्
परस्परविरुद्धानामपि रसादीनां	७६
कार्यसाधनेऽविघातकत्वं	१६
परादिदशगुणनिरूपणं	
पाचनं	
(व्रण) पाचनं	
पाञ्चभौतिकत्वेऽपि रसानां	
षड्विधत्वे हेतुः	
पार्थिवादिभेदेन पञ्च द्रव्यभेदाः	
पित्तसारकं	
पुरीषजननं	
पुरीषविरजनं	
पुंस्त्वोपघाति	
प्रजास्थापनं	
प्रपीडनं	
प्रभावभेदेन द्रव्यभेदाः	
प्रभावनिरूपणं	२
प्रमाथि	८
बल्यं	३
बुद्धीच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-	
प्रयत्नानां निरूपणं	११९
बृंहणीयं	३२
भुज्यमानानां द्रव्याणां विपाकः	
कदोपलभ्यते	२६५
भूतोत्कर्षापकर्षतो रस-वीर्य-	
विपाकानां द्रव्ये एकरूपत्वं	
विरूपत्वं वा भवति	३१८
भेदनीयं	३४
मद्यं	७६
मधुरादिरसानां सोमगुणा-	
तिरेकत्वादि कथं निर्धार्यते	१५६
मार्दवकरं	८८
मूत्रविरजनीयं	५२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुणविज्ञानपूर्वार्धान्तर्गतविषयाणां वर्णानुक्रमणिका

विषयः	पृष्ठम्
ीयं	५२
ीयं	५१
	८२
वि ानं	८९
अहि	८१
अदेन द्रव्यभेदाः	२२
अं	८६
देन द्रव्यभेदाः	२८
देन षड्वर्गाः	२२२
ज्ञानीयाध्यायः	१२८-२२८
ख्या	१२४
लक्षणमुत्पत्तिक्रमश्च	१२८
द्वारा द्रव्याणां कर्म-	
व-निरूपणं, रसादीनां	
कबलनिरूपणं च	३१३
नां गुण-कर्माणि	१६३
नां गुणतारतम्यं	१९१
नां दोषजननेऽपवादः	२०१
रसानां दोषजनने दोषप्रशमने च युक्तिः	२०३
रसानामन्यथात्वगमननिरूपणं	१४५
रसानुरसयोर्लक्षणं	१४६
रसायनं	७३
रसोपलब्धिहेतवः	१४९
रूक्षणं	६०
रेचनं	६८
रोगजन्तुघ्नं	८८
रोपणं	८५
रोमशातनं	८६
रोमसंजननं	८६
लङ्घनं	५९
लालाप्रसेकजननं	९०
लालाप्रसेकापनयनं	९०
लेखनीयं	३३
वमनं	६४
वमनोपगं	४७
वयःस्थापनं	५८
वर्ण्यं	३९
वाजीकरणं	४४
विकासि	७५-११६
विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यकर्माणि	३०५
विदाहि	८०
विदाह्यविदाहिभेदेन रसानां द्वैविध्यं	१५७
विपाककर्माणि	२६०
विपाकभेदेन द्रव्यभेदाः	२८
विपाकलक्षणं	२२९
विपाकविज्ञानीयाध्यायः	२२९-२६६
विपाकयोर्विपर्यासप्राप्तिहेतवः	२६४
विपाकविषये नागार्जुनस्य मतं	२५१
विम्लापनं	८३
विरुद्धं	८७
विरेचनोपग	४७
विषं	७८
विषघ्नं	४२
वीर्यतो विपाकतश्चाविरुद्धानां रसोपदेशेन गुणोपदेशः, तत्रापवादाश्च	१८३
वीर्य-प्रभावविज्ञानीया-ध्यायः	२६७-३२०
वीर्यभेदेन द्रव्यभेदाः	२९
वीर्यलक्षणं संख्या च	२६७
वीर्ये भूतोत्कर्षनिरूपणं वीर्यगुणकर्माणि च	२८२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषयः	पृष्ठम्
वृष्यं	४४
वेदनास्थापनं	५७
व्यवायि	७५-११६
शिरोविरेचनोपगं	४८
शीतप्रशमनं	५६
शुक्रजननं	४३
शुक्रशोधनं	४६
शूलप्रशमनं	५६
शोणितास्थापनं	५६
शोणितोत्क्लेशकं	८९
शोथहरम्	५३
शोधनं	७२
(व्रण) शोधनं	८५
श्रमहरं	५५
श्लेष्मनिःसारकं	८८
श्वयथुजननं	५४
श्वासहरं	५३
षडेव रसा इति सिद्धान्तप्रतिपादनं	१३४
षड्रसविज्ञानं	१५८
षाण्ढ्यकरं	८१
सर्वेषां द्रव्याणामौषधत्वनिरूपणं	१३
साहचर्योपचाराद्द्रव्यगुणानां रसेषूपदेशः	१८१
सुश्रुतमतेन विपाकनिरूपणं	२४५
सुश्रुतमतेन वीर्यनिरूपणं	२७६
सूक्ष्मं	७४-११६
सौमनस्यजननं	८२
सौम्याग्नेयभेदेन रसानां द्वैविध्यं तयोर्गुणश्च	१५७
संज्ञासंस्थापनं	५८
संधानीयं	३५
संशमनं	६३
संसृष्टरसानां द्रव्याणां प्रभाव-विज्ञानोपायः	२०४
स्तन्यजननं	४३
स्तन्यनाशनं	८७
स्तन्यशोधनं	४३
स्तम्भनं	६२
स्नेहनं	६१
स्नेहोपगं	४६
स्फोटजननं	८९
स्रंसनं	७१
स्वप्नजननं	८१
स्वापजननं	८७
स्वेदापनयनं	८१
स्वेदोपगं	४७
हिक्कानिग्रहणं	४९
हृदयोत्तेजकं	९०
हृद्यं	४०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस ग्रन्थ में दिये हुए संकेत चिन्ह

च. चरकसंहिता ।
सु. सुश्रुतसंहिता ।
अ. सं. अष्टाङ्गसंग्रह ।
अ. हृ. अष्टाङ्गहृदय ।
र. वै. रसवैशेषिकसूत्र ।
भा. भावप्रकाश ।
शा. शार्ङ्गधरसंहिता ।
वै. द. वैशेषिकदर्शन ।
न्या. द. न्यायदर्शन ।
सि. भे. सिद्धभेषजमणिमाला कृष्णराम-भट्टविरचिता ।
च. द. चक्रपाणिदत्त, चरक और सुश्रुत के व्याख्याकार ।
ग. गङ्गाधर कविराज, चरकव्याख्याकार ।
यो. योगीन्द्रनाथसेन कविराज, चरकव्याख्याकार ।
ड. डल्हण, सुश्रुतव्याख्याकार ।
हा. हाराणचन्द्र कविराज, सुश्रुत-व्याख्याकार ।
इ. इन्दु अष्टाङ्गसंग्रहव्याख्याकार ।
अ. द. अरुणदत्त, अष्टाङ्गहृदय-व्याख्याकार ।
हे. हेमाद्रि, अष्टाङ्गहृदयव्याख्याकार ।
भा. रसवैशेषिकसूत्रभाष्य ।
शि. शिवदाससेन, चरकसंहिता और द्रव्यगुणसंग्रह के व्याख्याकार ।
आ. आढमल्ल, शार्ङ्गधरसंहिता-व्याख्याकार ।
का. काशीराम, शार्ङ्गधरसंहिता-व्याख्याकार ।
डा. वा. दे. डॉक्टर वामन गणेश देसाई, औषधिसंग्रहकार ।
पा. पाणिनीय अष्टाध्यायी ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्य-गुण-विज्ञानम्

पूर्वार्धः

(द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-कर्म-विज्ञानात्मकः)

द्रव्यविज्ञानीयो नाम प्रथमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेय-धन्वन्तरिप्रभृतयः ॥

अस्मिन् ग्रन्थे द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-कर्माण्यभिधेयानि । तेषु रसादीनामाश्रयभूतत्वेन द्रव्यमेव प्रधानं, तस्मादादौ द्रव्यविज्ञानीयाध्याय आरभ्यते । द्रव्यस्य प्रभाव-स्वरूप-कर्मादिभेदैर्विशिष्टं ज्ञानं द्रव्यविज्ञानं तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थो द्रव्यविज्ञानीयः ॥

इस ग्रन्थ में द्रव्य, गुण, रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म—इन सात विषयों का प्रतिपादन होगा । उनमें द्रव्य ही रसादि का आश्रयभूत होने से प्रधान है । अतः प्रारम्भ में द्रव्य का विशेषरूप से (प्रभाव-स्वरूप-कर्म आदि भेद से) जिस में विवेचन होगा ऐसा द्रव्यविज्ञानीय अध्याय आत्रेय-धन्वन्तरि आदि महर्षियों के वचनानुसार लिखा जाता है ।

द्रव्यगुणविज्ञानप्रतिपाद्यद्रव्यशब्दार्थः—

सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे । —च० सू० अ० २६

सर्वं द्रव्यमिति कार्यद्रव्यम् अस्मिन्नर्थे इति अस्मिन् प्रकरणे, द्रव्यगुणाधिकारे इति यावत् । गुणशब्देनात्र धर्मवाचिना रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-कर्माणि सर्वाण्येव द्रव्यधर्माण्यभिधीयन्ते । पाञ्चभौतिकमिति पृथिव्यादिभिः पञ्चभिर्भूतैर्मिलितैरारब्धमित्यर्थः । प्रकरणान्तरे यद्यपि पञ्चभूतात्म-मनः-काल-दिशां नवानामपि कारणद्रव्याणां द्रव्यशब्देन ग्रहणं भवति, तथाऽप्यस्मिन् द्रव्यगुणाधिकारे 'द्रव्य' शब्देन औषधाहारोपयोगीनि पाञ्चभौतिकानि गडूची-गोधूमादीनि कार्यद्रव्याण्येवाभिप्रेतानीत्यर्थः ।

द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम् । —र० वै० सू० १, १६६

रसादीनां पञ्चानां भूतानां यदाश्रयभूतं तद् द्रव्यम् । —भा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैशेषिकदर्शन में तथा आयुर्वेद में भी अन्य प्रकरणों में (च० सू० अ० १, श्लो० ४८ आदि में) **'द्रव्य'** शब्द से आकाश, वायु, तेज-अग्नि, जल, पृथिवी, आत्मा, मन, काल और दिशा--इन नौ का ग्रहण होता है, तथापि इस प्रकरण में (द्रव्यगुणाधिकार में) **'द्रव्य'** शब्द से पञ्चमहाभूतों के मेल से बने हुए औषध और आहार के लिए उपयुक्त गिलोय, गेहूँ आदि पाञ्चभौतिक कार्यद्रव्य ही अभिप्रेत[1] हैं। **नागार्जुन ने** रस, गुण, विपाक, वीर्य और कर्म--इन पाँचों के आश्रयभूत पदार्थ को **'द्रव्य'** माना है।

द्रव्यलक्षणम्--

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्।
तद्द्रव्यं × × × × ×। --च० सू० अ० १

द्रव्यलक्षणं तु 'क्रिया-गुणवत् समवायिकारणम्' इति।
--सु० सू० अ० ४०

द्रव्यलक्षणमाह—यत्रेत्यादि। यत्राश्रिता यत्र समवेताः (समवायसंबन्धेन स्थिताः), कर्म च गुणाश्च कर्म-गुणाः। कारणं समवायि यदिति समवायिकारणं यत्, द्रव्यमेव हि द्रव्य-गुण-कर्मणां समवायिकारणम्। समवायिकारणं च तद् यत् स्वसमवेतं कार्यं जनयति; गुणकर्मणी तु न स्वसमवेतं कार्यं जनयतः अतो न ते समवायिकारणे (च० द०)। × × ×। व्यवहारभूमावाकाशं परमसूक्ष्मं क्रियं चोपलभ्यते, तत् पुनर्भूतान्तरैः संहन्यमानं क्रियावद्भवति (एतेन दिक्कालावपि व्याख्यातौ)। एवमात्मा निष्क्रियोऽपि मनसः क्रियया क्रियावान्। द्रव्यं

१—द्रव्यगुणविज्ञान में 'द्रव्य' शब्द से जैसे पाञ्चभौतिक कार्यद्रव्य अभिप्रेत हैं, वैसे ही 'गुण' शब्द से द्रव्यगुणविज्ञानोपयुक्त शब्दादि पाँच इन्द्रियार्थ तथा गुर्वादि बीस 'शारीर गुण अभिप्रेत हैं; और कर्म शब्दसे द्रव्यगुणविज्ञानोपयुक्त वमन-विरेचनादि कर्म ही अभिप्रेत हैं। जैसे कि--इसके आगे मूल में **"तस्य च गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः, कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि"** अर्थात्--उस पाञ्चभौतिक द्रव्य के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तथा गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खर-सूक्ष्म-सान्द्र-द्रव ये गुण हैं; और वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन-शिरोविरेचन-बृंहण आदि कर्म हैं, ऐसा लिखा है। इससे यह स्पष्ट है कि--द्रव्यगुणाधिकार में गुणशब्द से शब्दादि पाँच और गुर्वादि बीस गुण ही प्रधानतया विवक्षित हैं। वैशेषिकदर्शन में तथा आयुर्वेद में भी प्रकरणान्तर में इच्छा-द्वेष-सुख-दुःख तथा परत्व-अपरत्व आदि अन्य जो आत्मा-मन आदि के गुण कहे गये हैं वे यहाँ 'गुण' शब्द से प्रधानतया विवक्षित नहीं हैं। एवं 'कर्म' शब्द से भी उत्क्षेपण-अवक्षेपण--आदि नाम से जो पञ्चविध कर्म माने गये हैं, वे यहाँ प्रधानतया विवक्षित नहीं हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यदा उत्पद्यते तदानीमपि तन्नागुणं, स्वाभाविकगुणानुवृत्तेः । पृथिव्या गन्धः, अपां रसः, तेजसो रूपम्, इत्येवमादिकः स्वाभाविको गुणो न शक्यते तदा प्रतिषेद्धुम् । कारणं समवायीति यच्च समवायिकारणम् । समवायीति गुणैः सह अपृथग्भावः समवायः, तद्वत् समवायि । द्रव्यं गुणसमवायबद्धि कारणं भवति, गुणोऽपि द्रव्य-समवायवान् । अनेन समवायस्यापि कारणत्वमुपदर्शितं भवति । अथवा यच्च कारणं समवायि न पृथग्भवति; यथा—तन्तवः पटस्य, तद् द्रव्यम् । 'गुण-कर्माश्रयः समवायि कारणम्' इति द्रव्यलक्षणम् (यो०) । यत्र कर्म परिस्पन्द-लक्षणं संयोगविभागकारणं (समवेतम्); समवेताश्च गुणाः यत्र शब्दादयो गुर्वादयो वा बुद्धिर्वा परादयो वा समवेताः; यच्च कारणं समवायि, तद् द्रव्यमुच्यते । एतानि कर्मगुणाश्रयित्व-समवायिकारणत्वानि यद्यपि सर्वाणि सर्वस्मिन् द्रव्ये न विद्यन्ते, तथाऽपि यद्यत्र संभवति तेन तस्य द्रव्यत्वं कल्प्यम् । तद्यथा—मनसः कर्म-गुणाश्रयित्वेन, वाय्वादीनां तु कर्म-गुणाश्रयत्वेन समवायिकारणत्वेन च (अ०द०) ॥

जिसमें संयोग-विभाग का कारण परिस्पन्दनलक्षण (चलनात्मक) कर्म और रूपादि गुण समवाय (नित्य) संबन्ध से आश्रित हैं और जो कार्यद्रव्य के प्रति समवायि (उपादान) कारण है, उसे द्रव्य कहते हैं । जिसमें आश्रित होकर कार्य उत्पन्न होता है और जो कार्य से या कार्य जिससे कदापि भिन्न नहीं रह सकता उसे **समवायि कारण** कहते हैं । जैसे—मिट्टी घड़े का और तन्तु पट का समवायि कारण है । यद्यपि द्रव्य का यह लक्षण प्रधानतः कारणद्रव्य का है, तथापि द्रव्यगुण-शास्त्र में प्रतिपाद्य गुडूच्यादि कार्यद्रव्य भी गुणकर्माश्रय और गुडूच्यादिमोदक आदि के समवायि कारण होने से कार्यद्रव्य में भी यह लक्षण लागू होता है ।

पञ्चमहाभूतेभ्यः कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिप्रकारः—

तत्र पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवम्, इदमाप्यम्, इदं तैजसं इदं वायव्यम् इदमाकाशीयमिति ॥ —सु० सू० अ० ४१

सर्वकार्यद्रव्याणां पञ्चभूतारब्धत्वं दर्शयित्वा चिकित्सोपयुक्तं पार्थिवत्वादि विशेषमाह—तत्रेत्यादि । समुदायादिति मेलकात् । पृथिवी-जलानिलादीनां च यद्यपि विरुद्धगुणत्वं, तथाऽप्यदृष्टवशादेकद्रव्यरूपकार्यारम्भकत्वं दृष्टत्वादेव भवति । यथा—वातादीनामेकव्याध्यारम्भकत्वं, शुक्र-शोणितयोर्वा सौम्याग्नेय-योर्गर्भजनकत्वं, सत्त्व-रजस्तमसां वा महदाद्यारम्भकत्वम् : उत्कर्षः प्रत्येकं पृथिव्याद्युत्कर्षः । अभिव्यञ्जक इति पार्थिवत्वाद्यभिव्यञ्जकः । तमेवाह—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इदमित्यादि (च. द.)। ××× तारतम्येन समुदितेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यो द्रव्याभिनिर्वृत्तिर्भवतीत्यर्थः। तथा चोपपन्नं भवति--उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जक इति (हा.)॥

इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं, खानिलानलसमवायान्निर्वृत्ति-विशेषौ। उत्कर्षेण तु व्यपदेशः॥ —अ० सं० सू० अ० १७

द्रव्यं पञ्चभूतात्मकं पञ्चभिर्भूतैरारब्धमित्यर्थः। पञ्च भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि लोके प्रसिद्धानि। आकाशस्य तु शून्यात्मनोऽपि गुणाश्रयत्वात् पृथिव्यादिवदेव भूतत्वं द्रव्यारम्भकत्वं च विज्ञेयम्। तथाच नभोभागाधिके द्रव्येऽवयवनिबिडभावाद्यभावेन स्वरूपमजहदेव नभः कारणतां याति। ×××। ननु पृथिव्यादयः केन प्रकारेण कारणतां तत्र गच्छन्तीत्याह--तस्येत्यादि। तस्य द्रव्यस्य, अधिष्ठानम् आश्रयः पृथिवी। सा हि गुडूच्यादेराहारौषधोपयोगिनो द्रव्यस्योपलम्भेन प्रधानं कारणम्। तस्य च गुडूच्यादेः सर्वस्यैव द्रव्यस्याम्बु योनिः। 'यु' मिश्रणे, धातुः; तस्मिन् 'योनिः' इति रूपं भवति। कारणं स्वभावसंबन्धहेतुरित्यर्थः। नभो-वाय्वनलानां समवायात् पृथिव्युदकाभ्यामविनाभाववृत्तित्वात्तस्य द्रव्यस्य निर्वृत्ति-विशेषौ भवतः। निर्वृत्तिः निष्पत्तिः आत्मलाभः; विशेषः द्रव्यान्तरेणासादृश्यम्। तथा च संस्थानविशेषलाभायावयवव्यूहने नभःकारणतां याति, काठिन्यादिके वायुः, तेजःप्रसादलभ्याश्चांकुराद्यवस्थाविशेषाः; तेनैतदुक्तं भवति--पञ्चानामेव भूतानां संयोगात् सर्वद्रव्याणामाहारौषधाद्युपयोगिनां सम्भवः। तेषामेव भूतानामेकादितारतम्यादिसंयोगविशेषेण द्रव्याणां परस्परव्यावृत्तिः। यश्च पार्थिवं द्रव्यम्, आप्यं द्रव्यम्, इत्यादिव्यपदेशः स भूयसा प्रभूतेन महाभूतेन जन्यते। तेन पञ्चसु मध्ये यदधिकं तदीयं व्यपदेशं प्राप्नोतीत्यर्थः (इ.)॥

पञ्चभूतात्मकं तत्तु, क्ष्मामधिष्ठाय जायते॥
अम्बुयोन्यग्नि-पवन-नभसां समवायतः।
तन्निर्वृत्तिर्विशेषश्च, व्यपदेशस्तु भूयसा॥
--अ० हृ० सू० अ० ९

तुरवधारणे। यत्तदोश्च नित्याभिसंबन्धात् 'यत्' इत्येतदनुक्तमप्यर्थाल्लभ्यते। तेनायमर्थः--यद्रसादीनामाश्रयभूतं कार्यं द्रव्यं हरीतक्यादि स्थावरं, छागादि वा जङ्गमं, (सैन्धवादि वा पार्थिवं), तत् पञ्चभूतात्मकं; न तु यत् कारणं द्रव्यमाकाशादि। तस्य हि पञ्चभूतात्मकत्वे सत्याकाशादीनां पृथक्त्वेनात्मलाभो न स्यात्। ततश्चेदमाकाशं नाम महाभूतम्, इदं पृथ्वी नाम महाभूत-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मिति गदितुं न पार्येत, सर्वस्य पञ्चमहाभूतात्मकत्वात् । न च यत् कारणं तत् कदाचित् कार्यं स्यात् । तस्मात् कार्यद्रव्यस्यैव पञ्चभूतात्मकत्वं, न कारण-द्रव्यस्याकाशादेः । अथ केन महाभूतेन कथं कृत्वाऽऽरब्धं तद् द्रव्यमित्याह—क्ष्मामित्यादि । पृथ्वीमाधारीकृत्योत्पद्यते । एवं पृथिव्याख्येन भूतेनाधारत्वेनोपकृत्य तेन तदारब्धं द्रव्यमित्युच्यते । तथा अम्बु सलिलं, योनिः कारणं यस्य तदम्बुयोनि द्रव्यम् । एवं जलं नाम महाभूतं रसवत्त्वाद्योनितयोपकृत्य तेन तदारब्धमित्युच्यते । × × × । तथा अग्नि-पवन-नभसां समवायात् अपृथग्भावात्, तस्य द्रव्यस्य निर्वृत्तिः निष्पत्तिः, तथा तस्य द्रव्यस्य यो विशेषः इदमन्यदिदमन्यद् द्रव्यमित्येवंरूपो नानास्वभावः, सोऽप्यग्नि-पवन-नभसां समवायात् । एवमग्नि-पवन-नभोभिः समवायिकारणत्वेनोपकृत्य तैरेतद्द्रव्यमारब्धमित्युच्यते । एवं च सर्वं कार्यद्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकं, पञ्चभिर्महाभूतैरारब्धत्वात् । × × × (अ. द.) । द्रव्योत्पत्तिमाह—तत्त्विति । तद् द्रव्यं क्ष्मां पृथिवीमधिष्ठाय जायते, मृदमिव घटः; उपादानकारणं पृथ्वीत्यर्थः । अम्बु उदकं, योनिर्विपरिणामकारणं यस्य तदम्बुयोनिः ; यथा— घटे निष्पाद्ये मृदः पिण्डीभावादौ । अग्न्यादीनां सम्बन्धनात् तन्निर्वृत्तिः संपूर्णावयवत्वं काठिन्य-क्रियावकाशादिदानेन । विशेषः परस्परं, सोऽपि तत एव । यथा—पिण्डीभूताया मृदो मणिक-करक-शरावादिभेदः (हे.) । पृथिवी प्रधानकारणत्वमुपादानलक्षणं भजते, तदवयवानां मिश्रणं करोति जलम्,अग्निरुपादानं पचति,वायुरूर्ध्वाधस्तिर्यगवयवानुत्कर्षति, नभोऽवकाशं ददाति ; सर्वत्रैवायं क्रमः । आग्नेये चित्रकादौ पृथिव्येव प्रधानकारणं, नाभसे वेण्वादौ, वायव्ये तुम्बादौ च (हृ. बो.) ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों महाभूतों के समुदाय (मेल) से सर्व कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति होती है । कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति में पृथिवी उनका अधिष्ठान (आश्रय, आधार) भूत है, जल योनिरूप अर्थात् उनके अवयवों का (अणुओं का) मिलानेवाला—संमिश्रण करनेवाला है ('यु मिश्रणे' धातुसे 'योनि शब्द बना है); आकाश, वायु और तेज के समवाय (मेल) से उनका आत्मलाभ अर्थात् उनकी (गुडूची-गोधूम आदि कार्यद्रव्यों की) स्वरूपोत्पत्ति तथा एक दूसरे से भिन्नता होती है । अर्थात् आहारौषधोपयुक्त गोधूम-गुडूच्यादि सब कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति में पृथिवी आधार (आश्रय) रूप से,जल उनके अवयवोंके सम्मिश्रण-संयोग करानेवाले के रूपसे, तेज काठिन्य-पाक और रूप उत्पन्न करके,वायु काठिन्य-ऊर्ध्व-अधः और तिर्यक् विस्तार और क्रिया उत्पन्न करके तथा आकाश अवकाशदान से उनके सम्पूर्ण स्वरूप बनने में और एक दूसरे से भिन्न होनेमें कारणरूप होते हैं । जैसे—किसी पौधे की उत्पत्ति में पृथिवी आधाररूप से, जल उसके अवयवों के मिलानेवाले के रूप में, तेज पाक के द्वारा उसकी अंकुरादि अवस्था-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विशेष की और रूप (रक्त-पीतादिवर्ण) की उत्पत्ति में, वायु उसके काठिन्य तथा अवयव विभाग-वृद्धि आदि में और आकाश उसके अवयवों के बीच में अवकाश-दान से कारण होता है। यद्यपि इस प्रकार सब कार्यद्रव्यों की उत्पति पाँचों महाभूतों से होती है, तथापि उनके समवाय (संमिश्रण) के तारतम्यभेद से (न्यूनाधिकभावसे संमिश्रण होने से) अनेक प्रकार के द्रव्य उत्पन्न होते हैं। द्रव्य सब पञ्चमहाभूतात्मक होनेपर भी पृथिवी आदि एक-एक महाभूत की अधिकता से 'यह पार्थिव है, यह आप्य है, यह तैजस है' इत्यादि व्यपदेश-व्यवहार होता है। अर्थात् जिन में पृथिवी के गुण-कर्म अधिक हों वे **पार्थिव**, जल के गुण-कर्म अधिक हों वे **आप्य**, तेज के गुण-कर्म अधिक हों वे **तैजस**, वायु के गुण-कर्म अधिक हों वे **वायव्य**, और नभ आकाश के गुण-कर्म अधिक हों वे **नाभस** कहे जाते हैं।

द्रव्याणां वर्गीकरणहेतुः--

इह खलु जगति द्रव्याणामपरिमेयत्वात् प्रतिद्रव्यं शृङ्गग्राहिकयोपदेशो दुष्कर एव। अतस्तेषां सौकर्येण सामान्यज्ञानार्थं समानाकृति-गुण-कर्मात्मकैः साधारण-धर्मैरुपलक्षितान् वर्गान् प्रकल्प्य तान्युपदिशन्ति तद्विदः। आयुर्वेदे द्रव्याणि स्वरूप-प्रभाव-गुण-कर्मादिभिर्वर्गशो विभिद्योपदिष्टानि तन्त्रकृद्भिः। तेषु प्रधान-वर्गा अधस्तादुल्लिख्यन्ते।

सृष्टि में द्रव्य अपरिमित--असंख्येय होने से शृङ्गग्राहिकन्याय से प्रत्येक द्रव्य का निर्देश करना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। अतः उनके सामान्य ज्ञान के लिए जो द्रव्य समान धर्म (आकृति, गुण और कर्म) वाले हैं उनके एक-एक वर्ग की कल्पना करके उनका उपदेश शास्त्रकार करते हैं, जिससे समस्त द्रव्यों का सामान्य ज्ञान सुकर हो जाता है। आयुर्वेद में द्रव्यों का चेत्रन-अचेतन-वृक्ष-गुल्म-लता आदि स्वरूपभेद से, रसादि गुणभेद से तथा जीवन-बृंहण आदि कर्मभेद से अनेक प्रकार का वर्गीकरण तन्त्रकारों ने किया है। इनमें प्रधान-प्रधान वर्ग आगे लिखे जाते हैं।

चेतनाचेतनभेदेन द्वौ द्रव्यभेदौ--

तत् (द्रव्यं) चेतनावदचेतनं च। --च० सू० अ० २६

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्। --च० सू० अ० १

कार्यद्रव्याणां चेतनाचेतनतया विभागं चेतनाचेतनयोर्लक्षणं चाह--(यो.) सेन्द्रियमित्यादि। निरिन्द्रियमित्यत्र निःशब्दोऽभावे, निर्भक्षिकमितिवत्। × × ×। यद्यपि चात्मैव चेतनो न शरीरं, नापि मनः, यदुक्तं--"चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।" (च. शा. अ १) इति, तथाऽपि सलिलौष्ण्यवत् संयुक्त-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

समवायेन शरीराद्यपि चेतनम् । इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदिन्द्रिययोगे सति ज्ञानशालित्वं, न केवलस्यात्मनश्चेतनत्वं ; यदुक्तं--"आत्मा ज्ञः, करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।" (च. शा. अ. १) इति । अत्र सेन्द्रियत्वेन वृक्षादीनामपि चेतनत्वं बोद्धव्यं ; तथाहि--सूर्यभक्तायां यथा-यथा सूर्यो भ्रमति तथा-तथा भ्रमणात्दृगनुमीयते ; तथा लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती भवति, तेन श्रोत्रमनुमीयते ; बीजपूरकमपि शृगालादिवसागन्धेनातीव फलवद्भवति, तेन घ्राणमनुमीयते ; चूतानां च मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया रसनमनुमीयते ; (लज्जालोश्च हस्तस्पर्शमात्रेण संकुचितपत्रायाः स्पर्शनानुमानम्) । स्मृतिश्चानुमानं द्रढयति ; यथा--"वृक्षगुल्मं बहुविधं तत्रैव तृणजातयः । तमसाऽधर्मरूपेणाच्छादिताः कर्महेतुना । अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ।" (मनुस्मृतिः अ. १) इति । तथा तन्त्रकारश्च वानस्पत्यानूकान् प्राणिनो वक्ष्यति; तेनागमसंवलितया युक्त्या चेतना वृक्षाः (च. द.) । इन्द्रियैः सह वर्तमानं सेन्द्रियं द्रव्यं जीवच्छरीररूपं चेतनम् । सेन्द्रियमित्यनेनात्मनः संबन्धोऽपि लभ्यते, इन्द्रियाणां प्रत्यगात्मनो लिङ्गत्वात् । शरीरस्य चैतन्ये आत्मैव हेतुः । कतिधापुरुषीये च वक्ष्यति--"शरीरं हि गते तस्मिञ्छून्यागारमचेतनम् । पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ।" (च. शा, अ. १) इति । आत्मनः साक्षाद्वचनं त्विह पाञ्चभौतिकद्रव्याधिकारात् ; आत्मा मनश्चाध्यात्मद्रव्यम् । चेतनमुक्त्वाऽचेतनमाह--निरिन्द्रियमिति । न सन्ति इन्द्रियाणि यस्य तन्निरिन्द्रियम् । निरिन्द्रियं द्रव्यं जीवच्छरीरव्यतिरिक्तमन्यत् सर्वमचेतनम् । तच्च चेतनस्योपकरणम् (यो.) ॥

सब कार्यद्रव्य चेतन और अचेतन भेद से दो प्रकार के हैं । जो द्रव्य सेन्द्रिय (इन्द्रिययुक्त) होता है, वह चेतन और जो निरिन्द्रिय (इन्द्रियरहित) होता है, वह अचेतन होता है । जीवित शरीररूप द्रव्य सेन्द्रिय होने से चेतन होते हैं ; जैसे--जीवित मनुष्यादि प्राणी तथा वृक्षादि उद्भिज्ज । जीवित शरीर को छोड़ कर अन्य जितने द्रव्य हैं वे सब निरिन्द्रिय होने से अचेतन[1] हैं । जैसे-स्फटिक सुवर्ण आदि पार्थिव द्रव्य । इस प्रकार चेतन (सेन्द्रिय-सजीव) और अचेतन (निरिन्द्रिय-निर्जीव) भेद से द्रव्य के दो वर्ग-भेद होते हैं ।

वक्तव्य--यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द से इन्द्रियाँ आत्मा का लिङ्ग (ज्ञापक) होने से तथा इन्द्रियों के द्वारा ही आत्मा का चैतन्य अभिव्यक्त होता है, इसलिये आत्मा

१--जीवित दशा में प्राणी और उद्भिज्ज सेन्द्रिय होने से चेतन हैं । परन्तु जब वे मृत होते हैं तब आत्मा और इन्द्रियों के संबन्ध से रहित होने से अचेतन होते हैं ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(जीव) का भी ग्रहण होता है। अतः 'सेन्द्रिय' शब्द से सजीव शरीररूप सेन्द्रिय द्रव्य (सजीव प्राणी और उद्भिज्ज) यह अर्थ लेना चाहिये। इस विषय पर विशेष विवेचन उत्तरार्ध के **औषधद्रव्यविज्ञान** नामक द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में **साशन** और **अनशन** शब्द की व्याख्या में किया जायगा। उसको भी देखें।

पार्थिवादि (पञ्चमहाभूताधिक्य) भेदेन पंच द्रव्यभेदाः—

तत्र द्रव्याणि गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्ध गुणबहुलानि पार्थिवानि, तान्युपचय-संघात-गौरव-स्थैर्य-कराणि ; द्रव-स्निग्ध-शीत-मन्द-मृदु-पिच्छिल-रस-गुणबहुलान्याप्यानि, तान्युपक्लेद-स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्दव-प्रह्लाद-कराणि उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु-रूक्ष-विशद-रूप-गुणबहुलान्याग्नेयानि, तानि दाह-पाक-प्रभा-प्रकाश-वर्णकराणि लघु-शीत-रूक्ष-खर-विशद-सूक्ष्म-स्पर्शगुणबहुलानि वाय-व्यानि, तानि रौक्ष्य-ग्लानि-विचार-वैशद्य-लाघव-कराणि ; मृदु-लघु-सूक्ष्म-श्लक्ष्ण-शब्द-गुणबहुलान्याकाशात्मकानि, तानि मार्दव-सौषिर्य-लाघवकराणि ॥ —च० सू० अ० २६

बहुलशब्दो गुर्वादिभिः प्रत्येकं संबध्यते ; किंवा गन्धेनैव, यतो गन्धगुण-बहुला पृथिव्येव भवति ; अत एव द्रव्यान्तरलक्षणेऽपि वैशेषिकगुणोऽन्त एव पठ्यते—'रसगुणबहुलानि' इत्यादि ; तेन तत्रापि रसादिभिरेव बहुलशब्दो योज्यः। सर्वकार्यद्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्याद्युत्कर्षेण पार्थिवत्वादि ज्ञेयम्। सङ्घातः काठिन्यं, स्थैर्यम् अविचाल्यम्। बन्धः बन्धनं परस्परयोजनं, प्रह्लादः शरीरेन्द्रियतर्पणम्। सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारि। प्रभा वर्णप्रकाशिनी दीप्तिः, यदुक्तं—"वर्णमाक्रामतिच्छाया प्रभावर्णप्रकाशिका" (च. इं. अ. ७) इत्यादि। विचरणं विचारः, गतिरित्यर्थः। सौषिर्यं रन्ध्रबहुलता। अत्रा-काशबाहुल्यं द्रवस्य पृथिव्यादिभूतान्तराल्पत्वेन भूरिव्यक्ताकाशत्वेन च ज्ञेयं, यदेव भूरिसुषिरं तन्नाभसम् (च. द.)। तत्र तेषु पार्थिवादिषु पञ्चविधेषु द्रव्येषु मध्ये। पार्थिवानि द्रव्याणि। द्रव्याणीति आप्यादिष्वपि योज्यम्। × × ×। गुर्वादयो गुणा बहुला येषु तानि तथोक्तानि। बहुलशब्देनैतद् द्योतयति—पार्थिव-द्रव्येऽन्येऽपि गुणाः (अल्पाः) सन्ति, सर्वद्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वात् ; गुर्वादयस्तु तत्र बाहुल्येन वर्तन्ते। एवमाप्यादिषु बोद्धव्यम्। × × ९। गुणानुक्त्वा कर्माह—तानीत्यादि। तानि पार्थिवद्रव्याणि। उपचयः बृंहणम्। × ×।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आप्यान्यौदकानि द्रव्याणि द्रवादिगुणबहुलानि। × ×। उपक्लेद आर्द्रभावः, बन्धः संहत्यापादनं, विष्यन्दः द्रवः, मार्दवं मृदुत्वं; तान्याप्यद्रव्याण्युत्क्लेदादिकराणि। × × ×। सूक्ष्मः सूक्ष्मस्रोतोऽनुसरणशीलः, विशदः पिच्छिलविपरीतः। × × ×। दाहः भस्मसात्करणं, पाक आहारादिपाकः, प्रभा तेजः, प्रकाशोऽभिव्यक्तिः, वर्णः गौरादिः। × × ×। विचारः मनसोऽनेकविकल्पकरणं गतिर्वा। × × ×। मृदुः कोमलः। श्लक्ष्णः मसृणः खरविपरीतः, मार्दवं मृदुत्वं, सौषिर्यं छिद्रभावः। × × × (यो.)। तत्रापरिसंख्येयमपि पाञ्चभौतिकं द्रव्यं संग्रहेण परिसंख्यातुमाह—तत्रेत्यादि। तत्र पाञ्चभौतिकेषु द्रव्येषु चेतनावत्स्वचेतनेषु च मध्ये गुर्वादिनवगुणबहुलानि द्रव्याणि पार्थिवानि पृथिवीबहुलपञ्चभूतात्मकानि, शेषाणां भूतगुणानां द्रवादीनामबहुलत्वमेव पार्थिवेषु द्रव्येष्विति ख्यापितम्। तेषां पार्थिवानां कर्माण्याह—तान्युपचयेत्यादि। तानि पार्थिवद्रव्याणि खलूपयुक्तानि शरीरादीनामुपचय-संघात-गौरव-स्थैर्यकराणि भवन्ति। × × × (ग.)॥

तत्र स्थूल[1]-सान्द्र-मन्द-स्थिर-गुरु-कठिन-गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं, तत् स्थैर्य-बल-गौरव-संघातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति; शीत-स्तिमित-स्निग्ध-मन्द-गुरु-सर-सान्द्र-मृदु-पिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ल-लवणं मधुररसप्रायमाप्यं, तत् स्नेहन-ह्लादन-क्लेदन-बन्धन-विष्यन्दनकरमिति; उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-रूक्ष-खर-लघु-विशदं रूपबहुलमीषदम्ल-लवणं कटुकरस-प्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं, तद्दहन-पचन-दारण-तापन-प्रकशन-प्रभावर्णकरमिति; सूक्ष्म-रूक्ष-खर-शिशिर-लघु-विशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयं, तद्वैशद्य-लाघव-ग्लपन-विरूक्षण-विचरणकरमिति, श्लक्ष्ण-सूक्ष्म-मृदु-व्यवायि-विशद-विविक्त-मव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयं, तन्मार्दवसौषिर्य-लाघवकरमिति॥

—सु० सू० अ० ४१

तत्र प्रभूतं द्रव्याभिव्यक्तिकारणं पृथिव्यादिभूतगुणोत्कर्षं निर्दिशन्नाह—तत्र स्थूलेत्यादि। स्थूलः सूक्ष्मविपरीतः सान्द्रः तनुविपर्ययः, मन्दः तीक्ष्णविपर्ययः, सरविपरीतः स्थिरः, गुरुः चिरपाकी, कठिनः मृदुविपरीतः। पार्थिवस्य लक्षणाभिधानेन गुणवत्त्वमभिधाय क्रियावत्त्वं दर्शयन्नाह—तत् स्थर्येत्यादि। स्थैर्यम्

१—'स्थूल-सार-सान्द्र' इति हाराणचन्द्रसंमतः पाठः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अचलत्वं, × उपचयः बृंहणम्। × स्तिमितम् आर्द्रम्। ××× ह्लादनं सुखोत्पादनं, क्लेदनम् आर्द्रभावः, × निष्यन्दनं द्रवस्रुतिः। ××× तीक्ष्णं राजिकामरिचादिवत्, सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोऽनुसरणशीलं, विशदं पिच्छिलविपरीतम्। ××× दारणं व्रणादेः, तापनं शरीरादिसंतापनं, प्रकाशनम् अभिव्यक्तिः, प्रभा तेजः वर्णः गौरादिः। ××× खरं कर्कोटकफलवत्, शिशिरं शीतं, विशदं धूलिवत्। ××× ग्लपनम् अवृष्यत्वं, विचारणं मनसोऽनेकविकल्पकरणं; 'विचरणकरम्' इत्यन्ये पठन्ति, तत्र गतिविशेषकरमित्यर्थः; 'विधारणम्' इत्यन्ये। ××× श्लक्ष्णं मसृणं, मृदु कोमलं, व्यवायीति समस्तदेहं व्याप्य पश्चात् पाकं गच्छति विषमद्यवत्; विविक्तं पृथग्भूतम्, 'अवयवद्वारेण शून्यम्' इत्यन्ये। अव्यक्तरसं मधुरादिरस-विशेषानुपलब्धेः। ××× (ड.)। ××× कठिनं निबिडावयवम्। अत्र गुणे गन्धबहुलमितिवचनात् पृथिव्याः सांसिद्धिकेन गन्ध-बाहुल्येन योगं दर्शयति। एवं जलादिष्वपि सांसिद्धिकेन रसादिविशेषेण योगं दर्शयन् बहुलशब्दं करिष्यति। ईषत्कषायमिति पृथिव्यनिलयोगाज्ज्ञेयं; यद्वक्ष्यति—"पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषायः।" (सु. सू. अ. ४२) इति। प्रायशो मधुरमिति मधुरप्रधानं, पृथिव्या मधुररसकारणत्वात्। ×××। अधोगति-स्वभावं पृथिव्या गौरवेण। आप्यद्रव्ये स्तिमितमिति जडत्वकारकं, सरमिति अनुलोमनम्। ईषदम्लमिति अग्न्यनुप्रवेशाज्जले मनागम्लता। ×××। मधुर-प्रायं तु पृथ्वीवदपामपि मधुरकारणत्वात्। प्रह्लादनं मनः प्रियत्वम्। ××× ईषदम्ल-लवणमिति एतद्रसद्वयस्यापि वह्निगुण-व्यापारेणारम्भात्; ऊर्ध्वगति-स्वभावमिति अग्नेरूर्ध्वज्वलनात्मकत्वात्। दहनं दाहकरं, पचनं तावद् विक्लेदादि-करणं, तापनं ताप्योपतापजननं, प्रकाशनम् अभिव्यञ्जनं तमसि, प्रभा दीप्तिः। ×। वायवीयद्रव्यलक्षणे खरं श्लक्ष्णविपरीतम् ×× ईषत्तिक्तं वायोरपि तिक्ते व्यापारात्। ग्लपनं हर्षक्षयकरं, × विचारणं मनसोऽनेकविकल्पकरं, 'विवरितम्' इति पाठपक्षे विवरणं विविधा गतिः। आकाशीयद्रव्ये व्यवायीति देहव्यापकम्, अव्यक्तरसमिति आकाशस्याव्यक्तरसताहेतुत्वात्। × × (च. द.)। सारं स्थिरांशं पाकादिभिः क्षयापचयरहितमित्येतत्, सान्द्रं नीरन्ध्रं, मन्दम् अतीक्ष्ण-वीर्यम्, स्थिरं स्वभावादूर्ध्वादिगतिरहितं, खरं खरस्पर्शम्। ×। स्तिमितम् आर्द्रम् ह्लादनं तृप्तिः, विष्यन्दनं विस्रावः ××। विशदम् अपिच्छिलम्। शिशिरं शीतस्पर्शं, ग्लपनमिति स्वार्थिकोऽयं णिच्, हर्षक्षय इत्यर्थः; विचरणं मनसोऽनेकधा विकल्पनं, दोषाणां संचारो वा। ×××। विविक्तम् असं-युक्तं सच्छिद्रमिति यावत्, अव्यक्तरसं मधुरादिरसविशेषेणानुपलभ्यमानम् (हा.)॥

तत्र द्रव्यं गुरु-कठिन-विशद-मन्द-सान्द्र-स्थूल-स्थिर-गन्धगुणबहुलं पार्थिवम्, उपचय-गौरव-संघात-स्थैर्यकरं; द्रव-स्निग्ध-शीत-गुरु-मन्द-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सान्द्र-सर-मृदु-पिच्छिल-रस-गुणबहुलमौदकम्, उपक्लेद-स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्द्रव-प्रह्लादकरं ; तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-सूक्ष्म-लघु-विशद-रूप- गुण-बहुलमाग्नेयं, दाह-पाक-प्रकाश-प्रभा-वर्णकरं ; रूक्ष-सूक्ष्म-लघु-विशद-विकाशि-व्यवायि-शीत-खर-स्पर्श-गुणबहुलं वायव्यं, रौक्ष्य-लाघव-वैशद्य-ग्लानि-विचारकरं सूक्ष्म-लघु-विशद-श्लक्ष्ण-व्यवायि-विविक्त-शब्द-गुण-बहुलमाकाशात्मकं, ; सौषिर्य-लाघवकरम् ॥

—अ० सं० सू० अ० १७

तत्र पार्थिवं द्रव्यं गुरुत्वादिगुणयुक्तं गन्धगुणेन चाधिकम् ; उपयुक्तं च देहे उपचयादिकरम् । उपचयो महत्त्वम् । स्थैर्यं दाढर्यम् । औदकं द्रव्यं द्रवत्वादि गुणयुक्तं रसगुणाधिकं च, देहे चोपक्लेदादिकरम् । विष्यन्दः स्रोतसां स्रावः ; द्रवसान्द्रयोः परस्परविपरीतयोरप्यार्द्रत्वसामान्यादाप्यत्वम् (अ. द.) । प्रह्लादो हृत्तुष्टिः । आग्नेयं तीक्ष्णत्वादिगुणयुक्तं रूपगुणबहुलं च, दाहादिकरम् । वायव्यं रूक्षत्वादिगुणयुक्तं स्पर्शगुणबहुलं च, देहे रौक्ष्यादिकं करोति । विचारो धातु-वहनम् । नाभसं सूक्ष्मत्वादिगुणयुक्तं शब्दगुणाधिकं च × × (इ.) ॥

बृंहण-क्लेदन-पचन-कर्शन-विवरणानि, तेभ्यः संघात-ह्लादन-प्रकाश-शैध्र्य-सौषिर्याणि च ॥ —र० वै० अ० २ सू० ४७

एवं चाक्षुषत्वं पाञ्चभौतिकत्वं च साधितं कार्यद्रव्यस्य, इदानीं पुनरपि कार्य-द्रव्ये भूतानामुपकारं प्रदर्शयति—बृंहणेत्यादि । एतानि बृंहणादीनि यथाक्रमं पृथिव्यादिभ्यः कार्यद्रव्येषु जायन्ते । बृंहणम् अवयवानामुपचयः पृथिव्याः । क्लेदनम् अपाम् । पचनं परिणामोऽग्नेः । कर्शनं तेषामेवापचयो वायोः । विवरणं छिद्रप्रदानमाकाशस्येति । एतानि संघातादीनि च यथाक्रमं पृथिव्यादीना-मुपकारः (भा.) ॥

जो द्रव्य गुरु[1], खर (खुरदरे), कठिन, मन्द (चिरकारी), स्थिर,[2] विशद (पिच्छिलविपरीत), सान्द्र (घन-गाढे), स्थूल (मोट), गन्ध गुण[3] की अधिकता-

१—यहां आये हुए गुरु, लघु, शीत, उष्ण आदि गुणवाचक शब्दों की विशेष व्याख्या (स्पष्टीकरण) इस ग्रन्थ के गुणविज्ञानीय नामक दूसरे अध्याय में देखें ।

२—क.हाराणचन्द्रजी पार्थिव द्रव्यों के गुणों में 'स्थिर' और 'सार' दोनों गुण पढ़ते हैं और स्थिर का स्वभाव से ऊर्ध्वादिगतिरहित तथा सार का पाकादि से क्षयापचयरहित, यह अर्थ करते हैं ।

३—कई व्याख्याकार गुर्वादि गुणों के अन्त में प्रयुक्त 'गुण की अधिकतावाले (गुणबहुलं-गुणोल्बवणं) इस पद का सम्बन्ध केवल गन्ध से मानकर 'गन्धगुण की—→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाले (च.), कुछ कषाय और मधुर रस की प्रधानतावाले (सु.) हों, वे पार्थिव[1] हैं। उनका उपयोग करने से वे शरीर में उपचय (स्थूलता भराव), संघात (काठिन्य), गौरव (भारीपन). स्थिरता (दृढ़ता) (च.) तथा बल करते हैं और विशेष करके अधोगति (नीचे गमन) करने के स्वभाववाले होते हैं (सु.)। जो द्रव्य द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु (मृदुस्पर्शवाले-कोमल), पिच्छिल (लुआबदार) (च.), स्तिमित (आर्द्र वा जड़), गुरु, सर (अनुलोमन) तथा सान्द्रगुण वाले, रस गुण की अधिकतावाले ; कुछ कषाय, अम्ल और लवण रसवाले तथा मधुर रस की अधिकतावाले हों (सु.), वे आप्य हैं। उनका उपयोग करने से वे शरीर में उपक्लेद (आर्द्रता), स्नेह (स्निग्धता), बन्ध (अवयवों का परस्पर संयोजन-बाँधना), विष्यन्द (स्रोतों से द्रव झरना), मृदुता और प्रल्हाद (शरीर, इन्द्रियों और मन की तुष्टि-तृप्ति) उत्पन्न करते हैं। जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों में भी प्रवेश करनेवाले), लघु, रूक्ष, विशद और रूप गुण की अधिकतावाले (च.), खर कुछ अम्ल और लवण रसवाले तथा कटुरस की अधिकता वाले और विशेष करके ऊर्ध्वगमन के स्वभाववाले हों (सु.), वे आग्नेय (तैजस) है। उनका उपयोग करने से वे शरीर में दाह (जलाना), पाक (पकाना-परिणाम), प्रभा वर्ण का प्रकाशन करनेवाली दीप्ति), प्रकाश, वर्ण (च.), दारण (फाड़ना-फोड़ना) तथा तपाना (सु.) ये कर्म करते हैं। जो द्रव्य लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद और सूक्ष्म गुणवाले, स्पर्श गुण की अधिकतावाले (च.), व्यवायी, विकाशी (अ. सं.), कुछ तिक्त रसवाले और विशेषतः कषाय रसवाले हों (सु)., वे वायव्य हैं। उनका उपयोग करने से वे शरीर में रूक्षता, ग्लानि (हर्षक्षय-अवृष्यता), विचार (मन के अनेक प्रकार के विकल्प या नाना प्रकार की गति), विशदता, लांघव (हलकापन) और कर्शन (र० वै०) करते हैं। जो द्रव्य मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण (चिकने), शब्द गुण की अधिकतावाले (च.), विशद, व्यवायी और विविक्त (पृथग्भूतावयव) गुणवाले (सु., अ. सं.), तथा अव्यक्त रसवाले हों (सु.), वे आकाशीय हैं। उनका उपयोग करने से वे शरीर में मृदुता, सुषिरता (सच्छिद्रता) और लाघव करते हैं। इस प्रकार पार्थिव आदि भेद से द्रव्य के पाँच वर्ग होते हैं।

←अधिकतावाले' ऐसा अर्थ लेते हैं, क्योंकि गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है और इसीलिये गन्ध आदि वैशेषिक गुण अन्त में लिखे हैं। इसी प्रकार आप्य आदि के गुणवर्णन में 'रसगुणबहुलं' इत्यादि पदों की ऐसी ही व्याख्या करते हैं।

१—यहाँ 'पार्थिव' शब्द से पृथिवी के गुण-कर्म जिनमें अधिक हों ऐसे पाञ्चभौतिक द्रव्य, यह अर्थ समझना चाहिये ; इसी प्रकार आप्य-तैजस आदि शब्दों का भी अर्थ समझना चाहिये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सर्वेषां द्रव्याणामौषधत्वनिरूपणम्--

अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य। न तु केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति; द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्, गुणप्रभावाद्, द्रव्य-गुणप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्तदधिकरणमासाद्य तां तां च युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत् कर्म; येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं; यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं; यदा कुर्वन्ति स कालः; यथा कुर्वन्ति स उपायः; यत् साधयन्ति तत् फलम् ॥ --च० सू० अ० २६

अनेनेति प्रतिनियतद्रव्यगुणोपदेशेन; यत् पार्थिवादि द्रव्यं यद्गुणं तद्गुणे देहे संपाद्यते तद् भेषजं भवतीत्यर्थः। तच्च पार्थिवादि द्रव्यं न सर्वथा न च सर्वस्मिन् व्याधौ भेषजमित्याह--तां तां युक्तिमित्यादि।--युक्तिमिति उपायम्, अर्थमिति प्रयोजनम्, अभिप्रेत्येति अधिकृत्य; तेन केनचिदुपायेन क्वचित्प्रयोजने किंचिद् द्रव्यमौषधं भवति, न सर्वत्र। तेन यदुच्यते--वैरोधिकानां सर्वदाऽपथ्यत्वेन 'नानौषधिभूतं द्रव्यम्' इति वचो विरोधि, तन्न भवति; वैरोधिकानि हि संयोग-संस्कार-देश-कालाद्यपेक्षाणि भवन्ति, वैरोधिकसंयोगाद्यभावे तु पथ्यान्यपि क्वचित् स्युः। यान्यपि स्वभावादेव विष-मन्दकादीन्यपथ्यानि, तान्यप्युपाययुक्तानि क्वचित् पथ्यानि भवन्ति; यथा उदरे--"तिलं दद्यात् विषस्य तु" (च. चि. अ. १३) इत्यादि। यत्तु तृण-पांसुप्रभृतीनि नोपयुज्यन्ते, अतो न तानि भेषजानीत्युच्यते; तन्न, तेषामपि भेषजस्वेदाद्युपायत्वेन भेषजत्वात्। पार्थिवादिद्रव्याणां गुरु-खरादिगुणयोगाद् भेषजत्वमुक्तं, तेन गुणप्रभावादेव भेषजं स्यादिति शङ्कां निरस्य-न्नाह--न तु केवलमित्यादि। द्रव्यप्रभावाद्यथा--दन्त्या विरेचकत्वं, तथा मणीनां विषादिहन्तृत्वमित्यादि। गुणप्रभावाद्यथा--ज्वरे तिक्तको रसः, शीतेऽग्नि-रित्यादि। द्रव्य-गुणप्रभावाद्यथा--कृष्णाजिनस्योपरीति। अत्रापि कृष्णत्वं गुणोऽजिनं च द्रव्यमभिप्रेतं; यथा वा--"मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः श्रृतम्।" (चि. अ. २ पा. ३); तत्र मण्डलगुणयुक्तस्यैव जातरूपस्य कार्मुकत्वम्। कथं कुर्वन्तीत्याह--तस्मिंस्तस्मिन्नित्यादि। तां तां युक्तिमा-साद्येति तां तां योजनां प्राप्य। यत्तु कुर्वन्तीत्यादावुदाहरणं यथा--शिरोविरेचन-द्रव्याणि यच्छिरोविरेचनं कुर्वन्ति, तच्छिरोविरेचनं कर्म; येनोष्णत्वादिकारणेन शिरोविरेचनं कुर्वन्ति, तद्वीर्यं; वीर्यं शक्तिः, सा च द्रव्यस्य गुणस्य वा; यत्र शिरोविरेचनं कुर्वन्ति, तदधिकरणं शिरः, नान्यत्राधिकरणे शिरोविरेचनद्रव्यं प्रभवतीत्यर्थः; यदेति वसन्तादौ शिरोगौरवादियुक्ते च काले, एतेनाकाले शीते-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शिरोविरेचनं स्तब्धत्वान्न कार्मुकं. किंतु स्वकाल एव; यथा येन प्रकारेण प्रधमनावपीडनादिना, तथा "प्रसारिताङ्गमुत्तानं शयने संस्तरास्तृते। ईषत्प्रलम्बशिरसं संवेक्ष्य चावृतेक्षणम्।"--इत्यादिना विधिना कुर्वन्ति, स उपायः; यत् साधयन्ति शिरोगौरवशूलाद्युपशमं तत् फलं; फलम् उद्देश्यम्। कर्म कार्यं साधनम्, उद्देश्यं फलं साध्यं; यथा--यागनिष्पाद्यो धर्मः कार्यतया कर्म, तज्जन्यस्तु स्वर्गादिरुद्देश्यः फलम्; एवं वमनादिष्वपि कर्माधिकरणाद्युन्नेयम् (च. द.)। जगतः स्थावरजङ्गमस्य पाञ्चभौतिकत्वकथने यो गुणस्तमाह--अनेनेति। अनेनोपदेशेन जगत्यनौषधभूतं किंचिद्द्रव्यं नोपलभ्यते। तां तां युक्तिम् योजनाम्, अर्थं प्रयोजनं च तं तं ऊर्ध्वाधोभागदोषहरणादिकम्, अभिप्रेत्य। विविधार्थप्रयोगवशात् सर्वमेव द्रव्यं भेषजं भवति। तथा च द्रव्याणि गुणैः कर्माणि कुर्वन्ति गुणानां नियतत्वात् कथं तेषां नानाविधं कर्म उपपद्यते इत्यत आह--न च खल्विति। न च खलु केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि कार्मुकाणि कार्यकराणि भवन्ति। किं तर्हि ? द्रव्याणि द्रव्यप्रभावात्, गुणप्रभावात्, द्रव्यगुणयोरुभयोः प्रभावाच्च। तस्मिन् तस्मिन् काले; कालः संवत्सरात्मा, आतुरावस्थाऽपि। तत् तत् अधिष्ठानं देशं भूमिं, देहं चापि। आसाद्य प्राप्य। तां तां व्यक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत् कर्म भेषजव्यापारः ऊर्ध्वाधोभागहरणादि। येन क्रियां कुर्वन्ति तत् वीर्यं शक्तिः सामर्थ्यम्। यत्र कुर्वन्ति तत् अधिकरणं कर्मणः। तच्च पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायी पुरुषः। यदा यस्मिन् काले कुर्वन्ति स कालः। कालः संवत्सरात्मा शीतोष्णवर्षलक्षणः, आतुरावस्थिकश्चापि। यथा येन स्वरस-कल्क-कषायादि प्रकारेण कुर्वन्ति स उपायः। यत् साधयन्ति निष्पादयन्ति तत् फलमारोग्यरूपम्। ×××। (यो.)।

अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि[1] भवन्ति। तानि यदा कुर्वन्ति स कालः, यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं। यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यन्निष्पादयन्ति तत् फलमिति[2]। --सु० सू० अ० ४१

१--'कर्मकराणि' इति पाठान्तरम्।

२--अनेन निदर्शनेन--समस्त द्रव्य पञ्चभूतात्मक है, जिस भूत की अधिकता होती है उसके अनुसार द्रव्यों के पार्थिवादि पांच भेद होते हैं तथा उनमें विशेष गुण उत्पन्न होते हैं, इत्यादि द्वितीय सूत्र से अष्टम सूत्र तक जो-जो विवरण किया गया है उसके अनुसार। नानौषधीभूतम् अनौषधीभूतं द्रव्यं नास्तीति सम्बन्धः। अनौषधीभूतम्--व्याधिहरण के लिए अनुपयोगी या अपथ्यकर। इस शब्द का-->

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इदानीं सर्वस्यैव जगतः स्थावरजङ्गमाख्यस्य पाञ्चभौतित्वेन सर्वमौषधं क्रियागुणयोगादिभिर्दर्शयन्नाह—अनेनेत्यादि । नानौषधिभूतमिति अनौषधिभूतं द्रव्यं नास्तीति सम्बन्धः । युक्तिविशेषमिति युक्तिविशेषो योजनाविशेषस्तोयाग्निसंस्कारवासन-भावना-मात्रा-कालाद्यपेक्षः। अर्थश्चेति अर्थः प्रयोजनं नानाव्याधि निर्घातनम् । वीर्यं शक्तिः, शीतोष्णादयो वाऽष्टौ शक्तिमन्तो गुणाः; गुणा गुर्वादयः अन्ये तु वीर्यप्रधाना गुणा वीर्यगुणाः, ते पुनः सरत्वादयः। कार्मुकाणि कार्यकराणि । यथेत्यादि । येन स्वरस-कल्क-श्रृत-शीत-फाण्ट-घृत-तैल-लेह-मोदकोत्कारिकादिप्रकारेण कुर्वन्ति स उपायः । यदिति स्वास्थ्यम, अस्वास्थ्यं वा (ड) । एवं तदुक्तपार्थिवादिद्रव्यस्वरूपस्य सर्वस्थावर-जङ्गमस्य भेषजताप्रतिपत्तिफलं यथा भवति तदाह—अनेनेत्यादि । निदर्श्यते पार्थिवादीनां स्वरूप मनेनेति निदर्शनमागमः, तेनागमेनेति अनन्तरोक्तपार्थिवादिद्रव्यस्वरूपप्रतिपादकेनागमेन । नानौषधभूतमिति प्रतिषेधद्वयेनौषधरूपमित्यर्थः । एतदौषधत्वं सर्वद्रव्याणां यथा भवति, यत्र च भवति, तदाह—इति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमित्यादि । इति कृत्वेति सर्वमौषधभूतं द्रव्यमिति वचनेन । युक्तिविशेषाणां सर्वनाम्ना प्रत्यवमर्शः । युक्तिविशेषमिति योजनाप्रकारं; स च योजनाविशेषो बाह्य-आभ्यन्तरश्च शास्त्रे उक्तो वक्ष्यमाणः कालाद्यपेक्षः । अर्थमिति साध्यं, तच्च नानाव्याधिघातेन सुस्थपालनविशेषरूपम् । स्ववीर्य-गुणयुक्तानीति स्वशक्त्या प्रभावेण गुणेन च युक्तानि रस-वीर्य-विपाकयुक्तानीत्यर्थः, कार्मुकाणीति कर्मणि समर्थानि; किंवा स्ववीर्यगुणयुक्तानीति स्वकीयकार्यकरधर्मयुक्तानि; कार्यक्षमं हि द्रव्यधर्म 'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम् इत्यनेन वक्ष्यति; गुणशब्दोऽयं धर्मवचनः। एतदेवोक्तं युक्त्यपेक्षकार्यविशेषे वीर्यगुणयुक्तस्य द्रव्यस्य कर्तृत्वं भेदेन दर्शयन्नाह—तानि यदेत्यादिना यावत् तत् फलमित्यन्तेन । यदेति नित्यगे

→तात्पर्य यह है कि यदि वैद्य व्याधिनिदान और मात्रादि योजनापरिज्ञान में निपुण हो तो उसको स्थावर-जङ्गमाख्य पञ्चभूतारब्ध जगत् में कोई भी द्रव्य जहाँतक कि सर्पविष भी अनुपयोगी या अपथ्यकर नहीं मालूम होगा। व्यवहार में भी इस प्रकार की कहावत प्रसिद्ध है—"अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्। अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः ।।" युक्तिविशेष-योजनाविशेष। इस योजनाविशेष में औषधि के बाह्यप्रयोग के समय अभ्यङ्ग-स्वेद-प्रदेह-परिषेकादि-का विचार और अन्तःप्रयोग के समय मात्रा-काल-क्रिया-भूमि-देह-दोष गुणान्तर का (प्रधानतया) विचार होता है। अर्थ-प्रयोजन। "प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकारप्रशमनं च" (च० सू० अ० ३०)। अभिसमीक्ष्य—अभिसमीक्ष्य 'प्रयुक्तानि' इति शेषः। स्ववीर्यगुणयुक्तानि अव्यापन्न वीर्यगुणयुक्तानि। कार्मुक-कर्मणे प्रभवति उकञ् कार्यकरं (डा० भा० गो० घाणेकरजी कृत सुश्रुत व्याख्या; पृ० २२६)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चावस्थिके च काले; तत्र नित्यगे काले यथा—"साधारणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिः" (च. वि. ८) इत्यादि; आवस्थिके यथा—ज्वरितावस्थायां ज्वरहरण-पाचनादि; इयं कालापेक्षा युक्तिरेव भेषजस्य। यत् कुर्वन्तीति दोषहरणानि तत् कर्म; यथा—त्रिवृदुत्सर्गतो दोषहरणं करोति, खदिरः कुष्ठं हरतीत्यादि; तेनैतत् स्वकार्ये द्रव्याणां सामर्थ्यमन्यत्राप्रवृत्तिरित्यादि। अनेन च तं तमर्थमिति व्याकृतम्। येनेति प्रभावेण, रसेन, वीर्येण, विपाकेन वा; अयं च वीर्यशब्दः पारिभाषिकवीर्यवचनो न भवति; किं तु शक्तिमात्रवचनः; यदुक्तं चरकेऽपि—"नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यवती क्रिया॥" (च. सू, अ. २६) इति; तेन प्रभाव-रसादयः सर्व एव स्वकार्यं कुर्वन्तो द्रव्यस्य शक्तिपर्यायरूपवीर्यवाच्या इति ज्ञेयाः। एतच्च येन कुर्वन्ति तद्वीर्यमिति वचनं स्ववीर्यगुणयुक्तानीत्यस्य व्याकरणम्। यथा कुर्वन्ति स उपाय इति यथा स्वरस-कल्कादिना तोयाग्निसंस्कार-वासन-भावना-मात्रादिना च कुर्वंतीति ज्ञेयम्। एतदपि स्वरसाद्यपेक्ष्ययुक्ति-व्याकरणमेव। यन्निष्पादयन्तीति आरोग्यविशेषं, स्वास्थ्यानुवृत्तिविधायकं वा, रसायनफलं वा, तत् सर्वं फलं सुखयुक्तत्वेन दुःखविवर्जितत्वेन वा पुरुषस्य नैसर्गिके-च्छाविषयः। तच्चेहारोग्यं, स्वास्थ्यं वा। कर्म तु दोषहरण-दाहच्छेदादि-फलसाधकमिति कर्म-फलयोर्विशेषः। यन्निष्पादयन्ति तत् फलमित्यनेनापि तं तमर्थमित्यस्य व्याकरणं ज्ञेयम्। अत्र सर्वद्रव्यभेषजत्वकथनं विषाग्निप्रभृतीनामपि तत्र तत्र साध्ये क्वचिद्धितत्वाद्युक्तमेव; येन विषमपि विषहरणे उदरे च विधीयत एव। यत्तु मधु-घृतादि संयोगादिना विरुद्धं तत् प्रत्येकं भेषजं क्वचिद्भूवत्येव; संयुक्तं च वैरोधिकत्वाद् भेषजं न भवतीति न काचित् क्षतिः। न ह्यत्र सर्वथा द्रव्याणां भेषजत्वमेव कल्पितं, किंतु विविक्षितयोजनादियुक्तत्वेन चेति (च. द.)। उत्पत्ति-मन्तः सर्व एव हि क्षित्यादयो भावाः सूक्ष्माणां क्षित्यादीनां समुदायाभिनिर्वृत्त-तयोक्तलक्षणाः, तदिदमुच्यते—अनेनेति। निदर्श्यते विज्ञायते द्रव्याणां स्वभावो-ऽनेनेति निदर्शनं शास्त्रम्। तदयमर्थः—अनेन निदर्शनेन, 'तत्र स्थूलसार'-इत्यादिना 'लाघवकरम्' इत्यनेन ग्रन्थेन, जगत्यनौषधीभूतं न किंचिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा 'निश्चितम्' इति शेषः। तं तमिति बुद्ध्या समाकृष्टतया "तत्र विरेचन-द्रव्याणि" (सु. सु. अ. ४२) इत्यादिना अनन्तरं वक्ष्यमाणं युक्तिविशेषं, तं तमर्थं विषयं व्याधिविशेषं चेति यावत्, अभिसमीक्ष्य प्रयुक्तानि स्ववीर्यगुणयुक्तानि गुणवन्ति द्रव्याणि कर्मकराणि भवन्तीति योजना। ---(हा.)।

इत्थं च नानौषधभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमस्ति विविधार्थप्रयोगवशात्॥
—अ० सं० सू० अ० १७

इत्थम् एवं स्थिते, जगति तद् द्रव्यं नास्ति यदौषधत्वेन नोपयुज्यते। कुतः? नानाविधार्थप्रयोगवशात्। अर्थः प्रयोजनं, प्रयोग उपयोगः। तेनैतदुक्तं भवति—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विचित्रितो भावः स्वभावः तेन यद्यत्रापथ्यं तत्तत्रैव प्रयोजनान्तरेण पथ्यम् । तथा यत् पानेऽपथ्यं तदभ्यङ्गे पथ्यम् । एवं मात्रादिविशेषो विकल्पनीयः । तेन भस्मपांस्वादीनामपि प्रयोजनवशेनौषधत्वम् (इन्दु.)॥

× × × × × × जगत्येवमनौषधम् ।
न किंचिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयोः ॥ —अ० हृ० सू० अ० ९

एवमनेन पञ्चमहाभूतारब्धेन गुर्वादिगुणयोगेन द्रव्याणां जगत्यनौषधभूतं न किंचिद् द्रव्यमस्ति ; अपि तु सर्वमेव द्रव्यं यत् सिकतापांस्वादिकं तदौषधं चिकित्सितम् । वशान्नानार्थयोगयोः अर्थश्च योगश्च अर्थयोगौ ; अर्थः प्रयोजनं, योगो युक्तिः, यथा—अनया युक्त्यौषधमिदं योजितमस्य रोगस्य विजयाय स्यादनया चास्य रोगस्येति ; नानाविधौ यावर्थयोगौ तयोर्वशात् सामर्थ्यात् सर्वमपि द्रव्यमौषधम्, रोगप्रतिकारहेतुत्वात् (अ. द.) । × × × । यदेकस्मिन्नर्थे नोपयुज्यते तदेवान्यस्मिन्नुपयुज्यते, यदेकेन योगेन नोपयुज्यते तदेवान्येनोपयुज्यते ; यथा—अत्यन्तानुपयुक्तोऽपि खरमेषाविविड्रसो बिन्दुशः श्वासकासादौ, अत्यन्तापथ्योऽपि माष इण्डुरीकृतः सनवनीतोऽर्दितादौ (हे.) ॥

ऊपर, आप्य, पार्थिव-आदि द्रव्यों के जो प्रतिनियत गुण बताये गये हैं, उनसे विदित होगा कि जगत् में कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं पाया जाता, जो वमन-विरेचन-लङ्घन-बृंहण आदि प्रयोजन के लिये कषाय-स्नेह-प्रलेप-आसवादि योजनाओं से प्रयुक्त होनेपर औषध के रूप में काम में न आ सकता हो । द्रव्य केवल गुण-प्रभाव से ही कार्य करते हैं ऐसा नहीं है ; किन्तु द्रव्य अपने द्रव्यप्रभाव से (अचिन्त्य शक्ति या पाञ्चभौतिकरचनाविशेष से), गुण (मधुरादि रस, शीतोष्ण आदि वीर्य-आदि के) प्रभाव से अथवा द्रव्यप्रभाव और गुणप्रभाव दोनों से कार्य करते हैं । अपने स्वाभाविक (अव्यापन्न) वीर्य और गुणयुक्त द्रव्य योग्य काल में, योग्य अधिकरणों में, तत्तत् उद्देश्य के लिये, तत्तत् योजना (उपाय) से प्रयुक्त होने पर जो वमन-विरेचन-लङ्घन-बृंहणादि करते हैं, वह उनका कर्म है ; जिस शक्ति द्वारा कार्य करते हैं, वह वीर्य है ; जिस पञ्चमहाभूतशरीरिसमुदायात्मक मनुष्य-शरीर में (समग्र शरीर में या उसके एक देश में) कर्म करते हैं, वह अधिकरण है ; जिस समय कर्म करते हैं, वह काल है ; जिस प्रकार (कषायादि तथा वमन-विरेचन-बस्ति-नस्यादि योजना-युक्ति द्वारा) कर्म करते हैं, वह उपाय है और जो आरोग्य सिद्ध करते हैं, वह फल है ।

वक्तव्य—युक्ति अर्थात् कषायादिरूप योजना और अर्थ अर्थात् प्रयोजन ; इससे यह बताया है कि, किसी विशेष प्रयोजन के लिये किसी विशेष उपाय (योजना) से प्रयुक्त द्रव्य ही औषधरूप होता है ; चाहे जहाँ, चाहे जिस योजना से प्रयुक्त द्रव्य औषधरूप नहीं हो सकता । इससे "वैरोधिक" द्रव्य सदा अपथ्य होने से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'कोई भी द्रव्य अनौषध नहीं है' यह कहना विरुद्ध है" इस बात का परिहार होता है, क्योंकि वैरोधिक द्रव्य संयोग-संस्कार-देश-कालादि की अपेक्षया विरुद्ध होते हैं। वैरोधिक संयोगादि के अभाव में वे भी पथ्य होते हैं। जो विषादि द्रव्य स्वभाव से ही अपथ्य हैं, उनका भी यदि रोगविशेष में युक्तिपूर्वक उपयोग किया जाय, तो वे भी पथ्य होते हैं। जैसे--उदररोगाधिकार में विष का प्रयोग लिखा गया है। तृण, बालु आदि भी औषधार्थ स्वेदादि में प्रयुक्त होते हैं, इसलिये वे भी प्रयोजन और युक्तिवश औषध होते हैं। मूत्र, मल आदि त्याज्य समझे जानेवाले द्रव्य भी प्रयोजनविशेष के लिये युक्तिविशेष से औषधार्थ प्रयुक्त होते हैं। द्रव्यप्रभाव से द्रव्य औषध रूप होता है ; जैसे--दन्ती अपने द्रव्य प्रभाव से विरेचन करती है। ज्वर में तिक्तरस तथा शीत में अग्नि अपने गुणप्रभाव से कार्य करते हैं। बाजीकरणाधिकार में कहा गया है कि--सोने का कड़ा या वरक गाय के दूध में पकाकर पीने से वह दूध बाजीकर होता है। यहाँ मण्डल (कड़े का गोल आकार या वरक) गुणयुक्त सुवर्ण ही कार्यकर माना जाता है अर्थात् यहाँ द्रव्यप्रभाव और गुण दोनों कार्य करते हैं। द्रव्य तत्तत् योजनाविशेष आदि से कार्य करते हैं. इसका उदाहरण--शिरोविरेचन द्रव्य जो शिरोविरेचन करते हैं, वह उनका **कर्म** है ; जिस द्रव्यप्रभाव से, रस से, शीतोष्णादि वीर्य से, विपाक से वा अन्य गुणों से शिरोविरेचन रूप कर्म करते हैं, वह उनका **वीर्य** (शक्ति) है, वह शक्ति द्रव्य की हो तो **प्रभाव** और गुण की हो तो **वीर्य** कही जाती है (यहाँ वीर्य शब्द शीतोष्णादि पारिभाषिकं वीर्य के अर्थ में नहीं है, किन्तु शक्तिमात्र के लिए है)। जिस स्थान में प्रयुक्त होनेपर द्रव्य शिरोविरेचन करते हैं, वह सिर उनका **अधिकरण** है (अन्य अधिकरण में--शरीर के अन्य प्रदेश में प्रयुक्त होने पर शिरोविरचन द्रव्य अपना कार्य नहीं करते)। जिस काल में अर्थात् वसन्त आदि और शिरोगौरवयुक्त काल में कार्य करते हैं, वह उनका **काल** है (अकाल में (शीतकाल में) प्रयुक्त शिरोविरेचन स्तब्ध होकर अपना कार्य नहीं कर सकता है)। जिस प्रकार से अर्थात् प्रधमन, अवपीडन आदि तथा 'रोगी को चित्त लेटाकर, उसकी आँखें बन्द कराकर और सिर कुछ नीचा करा के शिरो-विरेचन द्रव्य का प्रयोग करें' इत्यादि जिस विधि से शिरोविरेचन द्रव्य कार्य करते हैं, उसे **उपाय** कहते हैं। सिर का भारीपन, शूल इत्यादि की जो शान्ति होती है, वह **फल** है। इस प्रकार वमनादि कर्मों के लिये भी समझना चाहिए।

प्रभावभेदेन द्रव्यभेदाः--

किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम्।
स्वस्थवृत्तौ मतं किंचित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥ --च. सू. अ. १

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यकार्यं प्रभावकृतं वक्तुं प्रभावभेदेन द्रव्यभेदमाह—किंचिदित्यादि। किंचिदिति न सर्वम्। दोषस्य दोषयोर्दोषाणां वा प्रशमनं दोषप्रशमनम्। दोषग्रहणेन दुष्टा रसादयोऽपि गृह्यन्ते। तेन द्रव्यमहिम्ना यद्दोषाणां दुष्टानां रसादीनां धातूनां वा शमनमामलक-दुरालभादि तद् गृह्यते। आमलकं हि शिवत्वप्रभावात् त्रिदोषहरं, दुरालभा चापि वात-पित्त-श्लेश्म-हरी। यद्यपि चामलकस्य "हन्ति वातं तदम्लत्वात्" (सु. सू. अ. ४६) इत्यादिना गुणद्वारा त्रिदोषहरत्वमुच्यते, तथाऽपि तत् प्रभावबृंहितमेव बोद्धव्यम्। यतस्तत्राम्लत्वादिना पित्तादिकोपोऽपि युज्यते, स त्वामलकप्रभावान्न भवति। धातुप्रदूषणमिति वातादीनां समत्वेन शरीरधारणात्मकानां तथा रसादीनां च दूषणं किंचित्, यथा—यवक-मन्दक-विषादि। सुष्ठु अवतिष्ठते नीरोगत्वेनेति स्वस्थः, तस्य वृत्तिः स्वस्थरूपतयाऽनुवर्तनं, तत्र स्वस्थवृत्तौ मतमभिमतं पूजितमिति यावत्। संख्येयनिर्देशादेव त्रित्वे लब्धे त्रिविधग्रहणं नियमार्थम्। तेन संशोधन-संशमनादीनामनेकविधानामप्यत्रैवावरोधः। रसायनवाजीकरणे तु स्वस्थवृत्तिमात्रे एव। यदुक्तं—स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्।" (चि. अ. १, पा. १) इति। प्रतिपादे किंचिद् ग्रहणं दोषहरत्वादिकर्मणां विभिन्नद्रव्याश्रयित्वोपदर्शनार्थम्; एकंकिंचिद् ग्रहणे त्वेकमेव द्रव्यं दोषहरं, धातुप्रदूषक, स्वस्थवृत्तिमतं च स्यात्; न च तदभिमतम्। ननु, स्वस्थवृत्तिमतानां रक्तशालि-षष्टिक-यवादीनां दोषप्रशमनत्वमपि दृश्यते, यतो वक्ष्यति तत्र तत्र रक्तशाल्यादीनां ज्वरादौ प्रयोगं; तथा प्रकृति-शरीर-देश-काल-मात्राभियुक्तं दोषप्रशमनमपि दोषकरं भवति, यथा—आमलकमतिमात्रमग्निमान्द्यायेत्यादि; तथा धातुप्रदूषणमपि दोषशमनं दृश्यते, यथा—विषमुदरहरं, तथा तदेव मन्दकादि दोषकरं तदेव क्षीणदोषं प्रति दोषवृद्धचा साम्यापादनेन दोषप्रशमनं भवति; तदेवमव्यवस्थितत्वात् किंचिद्दोषप्रशमनमित्यादि विरुद्धम्? अत्रोच्यते—स्वस्थवृत्तिमतं रक्तशाल्यादि दोषप्रशमनमपि भवति परं तत् प्रायः स्वस्थवृत्तिहितत्वात् स्वस्थवृत्तिमतत्वेन गृह्यते। वचनं हि—"स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद्रसायनम्। प्रायः, प्रायेण रोगाणां द्वितीयं शमने हितम्॥ प्रायः शब्दो विशेषार्थ उभयं ह्युभयार्थकृत्।" (चि. अ. १। पा. १) इति। दोषप्रशमनानि द्रव्याणि विगुणप्रकृत्यादि प्रतिबन्धकाभावे दोषप्रशमनमाचरन्त्येव, प्रतिबन्धकसद्भावे तु न कुर्वन्ति, न चैतावता तेषां स स्वभावो न भवति; नह्यग्निर्मन्त्रादिप्रतिबन्धात् कदाचिन्न दहतीति दाहकत्वेन नोपदिश्यते; एवं धातुप्रदूषकस्यापि कदाचिद्धातुप्रशमकत्वं निमित्तान्तरयोगाद्भवन्नधातुप्रदूषकस्वरूपतां हन्ति, यथा—सलिलस्याग्निसम्बन्धादुष्णत्वम्। तस्माद्यद्यस्य प्रायिकमनन्योपाधिकृतं च रूपं, तेनैव व्यपदेशो युक्तः। यच्च मन्दकादीनां क्षीणदोषवर्धकत्वेन दोषप्रशमकत्वं, तद्विद्यमानमपि कादाचित्कत्वा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्तथा हचुत्तरकालं दोषावहत्वाच्च न व्यपदिश्यते दोष प्रशमकत्वेन । ननु, यद्यप्येवं तथाऽपि यदेकदोषहरमपरदोषकरं यथा मरिचं श्लेष्महरं, पित्तकरं चेत्यादि बहुद्रव्यजातं तत् कुत्र प्रविशतु ? अत्रैके वदन्ति-यदुभयात्मकं तद् दोषहरं दोषकरं च, न चैतावता द्रव्यत्रित्वक्षतिः; यतो न वातादिसंसर्गजव्याधिसद्भावे वातादिजन्यत्वेन यत् त्रैविध्यं रोगाणामुच्यते तत् खण्डितं भवति; किंवा मरिचादीनां यदुभयकर्तृत्वं न तद् द्रव्यप्रभावकृतं, किं तर्हि रसादिकृतं, तेन न द्रव्यप्रभावप्रस्तावे तदुदाहरणीयं; नच किंचिद् द्रव्यं तादृशमस्ति यत्प्रभावादेव किंचिद्दोषं करोति, किंचिच्छमयतीति न दोषप्रशमनत्वादिप्रभावं प्रति नियमः; अयमेव च पक्षः साधुः । ननु 'किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्दोषप्रदूषणम्' इति वा क्रियतां, 'किंचिद्धातुप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम् इति वा : नैवं, तथा सति दोषशब्दस्य मुख्यवृत्या वातादिष्वेव वृत्तित्वात्तथा धातुशब्दस्य च रसादिवृत्तित्वादुभयग्रहणं न प्राप्यते; उभयपदोपादानेन द्वयं निपुणकारी तन्त्रकारो दूषणत्व-धारणत्व-योगपरिग्रहाद्दोषप्रशमनेन दुष्टरसादिप्रशमनमपि भेषजं विविधाशितपीतीयादिवक्ष्यमाणं, तथा धातुप्रदूषणेन वातादिप्रदूषकमपि निदानादिवक्ष्यमाणं ग्राहयति । प्रशब्दोऽत्र प्रकारे; तेन प्रकारेण मृदु-मध्यादिना प्रकोपणं, तथा प्रकारेण संशोधन-संशमनादिना शमनमुच्यते; किंवा धात्वर्थानुवृत्तावेव इमौ प्रशब्दौ, यथा—'च्युतांशः परिधावति' इत्यत्र धावतीत्यर्थः। आदौ दोषप्रशमनग्रहणं तस्यैवेहाभिप्रेतत्वात् । ननु स्वस्थ वृत्तिमतं द्रव्यं भाविदोषहरत्वेन दोषप्रशमनमेव । नैवं, नहि स्वास्थ्यानुवृत्तिजनकत्वाद्दोषनिवृत्तिकरं दोषहरणमुच्यते, किं तर्हि समधातूनामवर्धकत्वेनाक्षयकरत्वेन च रसादिस्रोतसां चानुगुणत्वेन धातुसाम्यानुवृत्तिकरमुच्यते । वचनं हि—"पथ्यं पथोऽनपेतं यत्" (च. सू. अ. २५) इति (च. द.) । × × × । किंचिद् द्रव्यं धातून् विषमान् समीकरोति, किंचित् समान् विषमीकरोति, किंचिच्च समान् धातून् प्रकृतौ वर्तयति, इति द्रव्यं त्रिविधमुच्यते (यो.) ॥

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा ।

—अ. सं, अ. हृ, सू. अ. १

एषां च रसानामाश्रयो द्रव्यं,यद्रसादीननपेक्ष्य प्रभावादेव किंचित् करोति । तत् त्रिप्रकारं विशिष्टै रसादिभिर्युक्तं कुपितानां वातादीना शमनं नाशकरं गुडूच्यादि, अन्यैर्युक्तं कोपनं साम्यनाशकरं यवकादि, अन्यैः स्वस्थहितं शाल्यादि यन्न कुपितस्य समीकरणे समर्थनापि समस्य कोपने केवलं यथास्थितमेव संवाहयति । केचित्तु एकस्यैव द्रव्यस्य योग-मात्रा-कालादिभेदात् त्रिरूपतामाहुः (इ.) । इति अनेन प्रकारेण शमनादिभेदेन, त्रिधा त्रिप्रकारं द्रव्यम् । अन्येन प्रकारेण द्विधा, अथवा अनेकधा । इतिशब्दः प्रकारार्थेऽभिहितः । यत् कुपितान् वातादीन् दोषान् शमयति, तच्छमनम् । × × × । यद्वातादीन् दोषान् रसादीन् धातून्

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूत्रादीन्मलांश्च कोपयति, तत् कोपनम्। दोषादीनां मलपर्यन्तानां स्वप्रमाण-स्थितानां साम्यानुवृत्तिहेतुर्यद् द्रव्यं तत् स्वस्थेभ्यो हितं, यच्च स्वास्थ्यानुवृत्तिं करोति ऋतुचर्याध्याये सेव्यत्वेनोक्तं, तथा मात्राशितीयाध्याये रक्तशालि-षष्टिक-यव-गोधूम-जाङ्गलमांस-जीवन्तीशाक-क्षीरादि, तथा यदूर्जस्करं रसायन-वाजीकरणं सर्वदा शीलनीयत्वेन निर्दिष्टम् (अ. द.)। प्रभावो रसादिष्वन्तरङ्ग इति द्योतयितुं द्रव्यशब्देनोक्तः। × × ×। यद् द्रव्यं समैः समविपरीतैर्वा रसादिभि-र्युक्तमपि वातादीन् शमयति तच्छमनम्। तद्यथा—मधुरशीताऽपि जीवन्ती कफं शमयति, कटुपाकरसो गुरुः स्निग्धोऽपि रसोनः कफ-वातौ। यद् द्रव्यं विपरीतैः समविपरीतैर्वा रसादिभिर्युक्तमपि वातादीन् कोपयति तत् कोपनम्। यथा—गुरूष्ण-स्निग्ध-मधुरमपि फाणितं वातं कोपयति, तैरेव, गुणैर्माषः, पित्त-कफौ। यद् द्रव्यं वातादीनां क्षय-वृद्धचोर्हेतुरपि स्वस्थस्य न तथा, तत् स्वस्थहितम्। यथा—गुरु-मधुर-रूक्ष-शीतोऽपि यवः स्वस्थस्य पित्तं न क्षपयति, गुरु-मधुर-स्निग्ध-शीतमपि क्षीरं स्वस्थस्य कफं न कोपयति। एवं सर्वत्रापि प्रभाव उदाहरणीयः। वक्ष्यति च "रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्"। (अ. हृ. सू. अ. ९) इति। अन्ये तु शमनादीन् द्रव्यभेदानाहुः। तत्तु न सम्यक्। द्रव्यभेदत्वे यदेव शमनं तदेव कोपनं, तदेव स्वस्थहितमिति सङ्करो न युक्तः। धर्मभेदत्वे तु रसादिसङ्करवद्युक्तः। किञ्च द्रव्यभेदाश्चेदमी तदा रसादि-धर्मभेदानां प्राक् पश्चाद्वा अभिधेयाः स्युः, न मध्ये। तस्मात् प्रभावभेदा एव शमनादयः (हे.)।

प्रभावभेद से द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) कुछ द्रव्य अपने प्रभाव से वातादि दोष और वातादि दोषद्वारा दूषित रसादि धातुओं का प्रशमन करते हैं, जैसे आँवला; आँवले के अन्दर स्थित अम्लादि रस पित्तादि दोषों को दूषित न करके अपने द्रव्यप्रभाव से वातादि तीनों दोषों का शमन ही करते हैं; उनको **दोषप्रशमनम्**—**शमन** कहते हैं। (२) कुछ द्रव्य अपने प्रभाव से धातुओं को (समावस्था में स्थित वातादि दोष शरीर को धारण करनेवाले होने से धातु कहलाते हैं उनको, रसादि धातुओं को तथा समावस्था में स्थित मूत्र-पुरीष आदि मल भी शरीर को धारण करने वाले होने से धातु कहलाते हैं उनको) दूषित करते हैं, जैसे विष आदि; उनको **धातुप्रदूषण-कोपन** कहते हैं। (३) और कुछ द्रव्य अपने प्रभाव से वातादि दोषों का प्रशमन या धातुओं का दूषण न करके केवल स्वस्थ के लिए ही हितकर होते हैं; जैसे-रक्तशालि आदि; उनको **स्वस्थवृत्तिमत-स्वस्थहित** कहते हैं। इस प्रकार प्रभावभेद से द्रव्यों के **दोषप्रशमन (शमन)**, **धातुप्रदूषण (कोपन)** और **स्वस्थवृत्तिमत (स्वस्थहित)** ये तीन भेद—वर्ग होते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

योनिभेदेन द्रव्यभेदाः--

तत् पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं जङ्गमोद्भिद-पार्थिवम्[1] ।

(पाञ्चभौतिकं द्रव्यं प्रभावभेदेन[2] विभज्य योनिभेदेन विभजति--) तत् पुनरित्यादि । तदिति द्रव्यम् । गच्छतीति जङ्गमम्, उद्भिद्य पृथिवीं जायत इति औद्भिदं वृक्षादि, उक्तप्रकारद्वयातिरिक्तः पृथिवीविकारः पार्थिवम् । × × × इह च द्रव्यशब्देन पार्थिव[3]द्रव्यमेवोच्यते; तेन जलानिलाग्न्यादीनामग्रहणाद-व्याप्तिर्न वाच्या । जङ्गमशब्देन जङ्गमप्रभवं गोरस-मध्वाद्यपि ग्राह्यम् । एवमौद्भिदपार्थिवयोरपि ग्रहणं वाच्यम् (च.द.) । तद् द्रव्यं पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं-जाङ्गमं, भौमं, औद्भिदमिति । भृशं पुनः पुनर्वा गच्छन्तीति जङ्गमा जरायुजादयः, जङ्गमप्रभवं जाङ्गमं गोरस-मध्वादि । भूमेर्विकारो भौमं सुवर्णादिकम् । उद्भिद्य पृथिव्यां जायत इत्यौद्भिदं वनस्पत्यादि (यो.) । × × × । तन्मूर्तिमत् पाञ्चभौतिकं द्रव्यं भेदान्तरेणापि त्रिविधमस्मिंस्तन्त्रे योक्तुमर्हत्वेन बोध्यं, तेन वाय्वादीनाममूर्तद्रव्यत्वेनानुपदेशेऽपि न न्यूनत्वम् । तत्तु त्रिविधं विभजते--जाङ्गमेत्यादि । जङ्गमानामिदमिति जाङ्गमम् । औद्भिदम् उद्भिद्य पृथिवीं जायत इत्युद्भित्, तस्यावयवरूपमिदमौद्भिदं, द्रव्यमित्यन्वयः । पृथिव्या विकार-रूपं पार्थिवं; पृथिवी प्रधानमस्य विकारस्य तद्वा पार्थिवमिति (ग.) ।

योनिभेद से द्रव्यों के जाङ्गम, औद्भिद् और पार्थिव ये तीन भेद होते हैं । (१) जो एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करते हैं, उनको जङ्गम कहते हैं; जैसे—जरायुज आदि प्राणी । जङ्गम प्राणियों से मिलनेवाले गोरस, मधु, मांस, कस्तूरी, गोरोचन आदि द्रव्य जाङ्गम कहलाते हैं । (२) जो पृथिवी को फाड़कर उत्पन्न होते हैं, उनको उद्भिद् या उद्भिज्ज कहते हैं; जैसे—वृक्ष, लता आदि । उनके अवयवरूप मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फल आदि द्रव्य औद्भिद कहलाते हैं । (३) पृथिवी के विकाररूप जो द्रव्य हैं, वे पार्थिव कहलाते हैं; जैसे--सोना, सैन्धव आदि ।

औद्भिदद्रव्याणामवान्तरभेदाः--

× × × × × औद्भिदं तु चतुर्विधम् ।
वनस्पतिस्तथा वीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः ॥

१--'जाङ्गमं भौममौद्भिदम्' इति पाठान्तरम् ।

२ --'क्रियाविशेषेण विभज्य स्वरूपेण विभजति' इति गङ्गाधरः ।

३--पार्थिवद्रव्यमिति पृथिवीमाधारीकृत्योत्पन्नं गुडूची-च्छाग-सैन्धवादि द्रव्य-मित्यर्थः ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि ।
ओषध्यः फलपाकान्ताः, प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः । —च. सू. अ. १

फलैर्वनस्पतिरिति विना पुष्पैः फलैर्युक्ता वटोदुम्बरादयः । × × × पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपीति पुष्पानन्तरं फलभाज इत्यर्थः । × × ×। प्रतान-शब्देन लता-गुल्माश्च गृह्यन्ते । यदुक्तं हारीतेन—"लता गुल्माश्च वीरुधः ।" इति (च. द.) । × × × । वीरुदिति विशेषेण लताप्रतानैर्विस्तृतीभूय वा रुणद्धि देशमिति वीरुत् । × × ×। ओषधिरिति उष दाहे, ओषेण भूताग्निना आफलपाकादाधीयते इति ओषधिः फलपाकान्ता । × × × । (ग.) ॥ × × ×। फलैरित्यत्र जटाभिस्तापस इतिवत् 'इत्थंभूतलक्षणे' (पा. अ. २ । ३ । ३१) इति तृतीया । एवमन्यत्रापि । × × × (यो.) ।

तासां स्थावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयः, वृक्षाः, वीरुधः, ओषधय इति । तासु अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ।

सु. सू. अ. १

तासामिति द्विविधानामोषधीनां मध्ये । के ते चत्वारः प्रकारा इत्याह—वनस्पतय इत्यादि । तानेव विवरितुमाह—तास्विति ; तासु मध्ये । अपुष्पा इति अविद्यमानपुष्पाः, फलवन्त इतिफलं येषामस्ति ते वनस्पतय इति ; के पुनरीदृशाः ? प्लक्षोदुम्बरादयः । पुष्पफलवन्तो वृक्षा इति उभययुक्ता वृक्षाः ; के ते ? आम्र-जम्बूप्रभृतयः । प्रतानवत्य इत्यादि—प्रतानवत्यः विस्तारवत्यो वीरुधः, न केवलं प्रतानवत्यो वीरुधः स्तम्बिन्यो गुल्मिन्यश्च ; गुल्मः पुनः वर्तुलः[1] लता-सन्ततिर्विटपः । × × ×। फलपाकनिष्ठा इति नाशः, फलपाकेन परिणत्या नाशो यासां तास्तथोक्ताः ; ते पुनर्गोधूमादयः ; अन्ये तु निष्ठाशब्दं प्रत्येकं संबध्नन्ति, फलनिष्ठाः, पाकनिष्ठाश्चेति ; तत्र फलनिष्ठाः शालि-तिल-कुलत्थादयः, पाक-निष्ठाः कवकादयः ; कवकश्छत्रक उच्यते (डः) । तास्विति ते च वृक्षास्ते च वनस्पतयस्ताश्च वीरुधस्ताश्चौषधय इति ; "तदादीनां मिथः सहोक्तौ यत् परं तच्छिष्यते" इत्येकशेषः, वनस्पत्यादिष्वित्यर्थः । × × × । येभ्यश्च पुष्पाणि जायन्ते न फलानि ते सर्ववृक्षेषु वन्ध्या अवकेशिन इत्युच्यते । तेषां सत्यामपि फलसंभावनायां तदभावाद् व्यापन्नत्वेन वृक्षत्वमेव गम्यते । × × ×। गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः शरेक्षुप्रभृतयः । × × × (हा.) ।

अत्र डल्हण-चक्रपाणि प्रभृतिभिर्व्याख्यातृभिः 'अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः' इत्यस्य 'अविद्यमानपुष्पाः फलवन्तो वटोदुम्बरादयो वनस्पतय' इत्यर्थो व्याख्यातः ।

१—'वर्तुललतासंततिविशिष्टः' इति पाठान्तरम् ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परं स न मनोरमः, वटोदुम्बरादीनां पुष्पसद्भावात् ; पुष्पेभ्य एव तत्फलानां समुद्भवाच्च । वटोदुम्बरादिषु पूर्वं पुष्पाणि, पश्चात्तेभ्यः फलानि संजायन्ते । परं सूक्ष्मत्वात् कर्णिकयाऽऽवृतत्वाच्च तानि सन्त्यपि बाह्यतो न दृश्यन्ते । वटादीनां फलमिति नाम्ना व्यवह्रियमाणं वस्तु नैकं फलं, किन्तु कर्णिकयाऽऽवृतो बहूनां फलानां समुच्चय एव । इत्थंभूतं फलसमुच्चयमेव फलमिति मत्वा तत्र बाह्यतः पुष्पाणामभावमुपलभ्य एतादृशानि फलानि विना पुष्पमुत्पद्यन्तेऽतो-वटादयोऽविद्यमानपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतिशब्दवाच्या इति तैर्व्याख्यातमिति संभाव्यते । परं यद्यामावस्थायां वटादीनां फलवद्दृश्यमाना कर्णिका द्विधा भित्त्वा बृहद्दर्शककाचसाहाय्येनावलोक्यते तदानीं तत्र दृश्यन्ते सूक्ष्माण्यनेकपुष्पाणि । कियता कालेन तानि फलरूपेण परिणमन्ति । लोकैस्तु प्रायेण परिपक्वान्तः-फला कर्णिका भिद्यते तत्र सूक्ष्मा जन्तवः सन्ति न वेति ज्ञानार्थम् । परं तदानीं पुष्पाणां फलरूपेण परिणतत्वान्न दृश्यन्ते तानि । फलानामपि सूक्ष्मत्वात् परि-पक्वत्वाच्च कर्णिकान्तर्गतबीजान्येव दृश्यन्ते तदा । अतो वटादयोऽविद्यमानपुष्पा इति भ्रमसंभवः स्वाभाविकः । नैतावता वटोदुम्बरादीनामपुष्पत्वं शक्यं वक्तुम् । तस्मात् 'अपुष्पाः' इत्यत्र नञ् अल्पार्थे-सूक्ष्मार्थे । अतः अपुष्पाः सूक्ष्मपुष्पाः ; पुष्पाणां सूक्ष्मत्वात् कर्णिकयाऽऽवृतत्त्वेन बाह्यतोऽदृश्यत्वाच्च अदृश्यपुष्पाः-गुह्यपुष्पाः इत्यर्थः । शब्दार्थचिन्तामणि-शब्दस्तोममहानिधि—वाचस्पत्यबृहदभिधान सेन्टपीटर्सवर्गडिक्शनरी प्रभृतिकोषेषु दृश्यतेऽश्वत्थस्य 'गुह्यपुष्पः' इति पर्यायनाम, तदपीममेवार्थं द्रढयति । अन्ये पुनः'अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः' पुष्पफलवन्तो वृक्षाः' इति वचनमन्यथा व्याख्यानयन्ति, यथा—"अपुष्पाः पुष्पं विना फलवन्तः उत्पत्तिमन्तो वनस्पतयः । 'फल' निष्पत्तौ इति धातुः, ततः फलति निष्पद्यते इति 'फलम्' इति रूपं, तद्वन्तः उत्पत्तिमन्तः । पुष्पं विना उत्पद्यमाना हंसपदी-मयूरशिखादयो अपुष्पा उद्भिज्जा वनस्पतयः । पुष्पफलवन्तः पुष्पात् फलवन्तः उत्पद्यमाना आम्र—जम्बूप्रभृतयः सपुष्पा उद्भिज्जा वृक्षा इत्यर्थः । अनेन उद्भिज्जानां 'सपुष्पा', 'अपुष्पा' चेति द्विविधा जातिरुक्ता तन्त्रकृता" इति । प्रथमव्याख्यायां वनस्पति-वृक्षशब्दाभ्यां, द्वितीयव्याख्याने वृक्षशब्देन च ओषधि-वीरुधामपि सपुष्पफलत्वेन ग्रहणमापद्यते, परं तासामोषधि-वीरुच्छब्दाभ्यां पृथगुक्तत्वात् पारिशेष्याद् वृक्षा एवात्र प्रथमव्याख्याने वनस्पति-वृक्षशब्दाभ्यां, द्वितीयव्याख्याने च वृक्षशब्देनाभिप्रेता इति ज्ञेयम् । व्याख्यानद्वयमप्येतत् प्रत्यक्षा-विरुद्धत्वात् साधु ।

उद्भिज्जद्रव्यों के चरक और सुश्रुत में चार अवान्तर भेद लिखे हैं—वनस्पति, वानस्पत्य-वृक्ष, वीरुध् और ओषधि । (१) जिनमें पुष्प (और फल) सूक्ष्म और कर्णिका के द्वारा आवृत होने (ढके रहने) के कारण दिखते नहीं ऐसे अदृश्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(गुह्य) पुष्प उद्भिज्जों को **वनस्पति** कहते हैं, जैसे--बड़, गूलर इत्यादि[1]। (२) जिन में पुष्प और फल दोनों प्रकट रूप से दिखते हैं, उनको **वानस्पत्य** या **वृक्ष** कहते हैं ; जैसे--आम, जामुन इत्यादि। (३) फल पकने पर या स्वयं पक जानेपर जिनका अन्त--नाश हो जाता है, उनको **ओषधि** कहते हैं ; जैसे--शालि, गोधूम, छत्राक आदि। (४) जिनकी लताएँ फैलती हैं तथा जो गुल्म के रूप में होते हैं, उनको **वीरुध्** कहते हैं ; जैसे--गिलोय (लता का उदाहरण), कनेर (गुल्म का उदाहरण) आदि।

वक्तव्य--डल्हण-चक्रपाणि आदि प्राचीन टीकाकारों ने 'अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः' इसकी "जिनमें विना पुष्प लगे ही फल होते हैं उनको **वनस्पति** कहते हैं, जैसे बड़-गूलर आदि ; और जिनमें प्रथम पुष्प होकर पीछे उनसे फल बनते हैं उनको **वृक्ष** कहते है, जैसे—आम-जामुन आदि" ऐसी व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि बड़-गूलर आदि में प्रथम सूक्ष्म पुष्प लगते हैं और पीछे उनसे ही फल बनते हैं। परन्तु पुष्प और फल दोनों सूक्ष्म होने से तथा कर्णिका द्वारा आच्छादित होने (ढके रहने) के कारण बाहर से दिखते नहीं। इसलिये सम्भव है कि बड़-गूलर आदि की पुष्प-फल-युक्त समग्र कर्णिका को फल मानकर और उसमें बाहर से पुष्पों का अभाव देख कर उन्होंने ऊपर लिखी हुई व्याख्या की हो। बड़-गूलर आदि में बाहर से पुष्प न दिखने से ऐसा भ्रम होना सम्भव है। परन्तु बड़, गूलर आदि की अपक्व कर्णिका काटकर वृहद्दर्शक काच की सहायता से उसका सूक्ष्म निरीक्षण करें तो उसमें अनेक सूक्ष्म पुष्प दिखते हैं। अतः 'अपुष्पाः' इस पद में 'नञ्' अव्यव निषेधार्थ में नहीं किन्तु अल्पार्थ में (सूक्ष्म के अर्थ में) है यह मानकर अपुष्प याने सूक्ष्म पुष्पवाले और

१--प्रसिद्ध उद्भिज्जवेत्ता स्व. वा. श्रीयुत जयकृष्ण इन्द्रजी अपने गुजराती भाषा में लिखित **'वनस्पतिशास्त्र'** नाम के ग्रन्थ में बड़ के प्रकरण में उसके फूलों और फलों के विषय में लिखते हैं कि--"इस वृक्ष में फूल और फल बहुत सूक्ष्म होते हैं। ये नीचे से चौड़ी और नीचे से ऊपर को ओर गोलाई ली हुई **कर्णिका** अथवा **पुष्पाधार** पर स्थित होते हैं। इस कर्णिका या पुष्पाधार को ही बड़ का फल समझा जाता है। परन्तु वास्तव में तो बड़ के फूल और फल इन कर्णिकाओं (Receptacles) के अन्दर सूक्ष्मरूप में रहते हैं। ये कर्णिकाएँ बन्द होने से उन्हें खोले बिना उनके फूल और फल देखे नहीं जा सकते। प्रायः होता यह है कि जब तक बड़ की कर्णिकाएँ पक कर लाल नहीं हो जातीं तब तक उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। और जब वे पूर्णतः पक जाती हैं तब उनके फूल खुलकर फल में परिणत हो गये होते हैं। इसी कारण पकी हुई कर्णिकाओं को जब हम खोलकर देखते हैं तो उनमें पके हुए सूक्ष्म बीजों जैसे फल दीख पड़ते हैं, जिन्हें हम बड़ के बीज कहते हैं। सो, बड़ के फूल देखने हों तो कच्ची कर्णिकाओं को चीर कर उनका वृहद्दर्शक काच से निरीक्षण करना चाहिए"।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुष्प सूक्ष्म तथा कर्णिका से आच्छादित होने से अदृश्य (गुह्य)-पुष्पवाले, यह अर्थ करना उचित है। शदार्थचिन्तामणि—शब्दस्तोममहानिधि———वाचस्पत्यबृहद-भिधान——सेन्टपिटर्सबर्ग डिक्शनरी आदि कोशों में अश्वत्थ (पीपल के वृक्ष) का गुह्यपुष्प यह पर्याय नाम मिलता है। उससे इस अर्थ की पुष्टि होती है। कई विद्वान् 'अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः' इस वाक्य में 'फलवन्तः' इस पद की 'फल' निष्पत्तौ = उत्पन्न होना, इस धातु से 'फलन्ति उत्पद्यन्ते इति फलानि तद्वन्तः फलवन्तः जो उत्पन्न हों वे फल, उनवाले अर्थात् 'उत्पन्न होनेवाले' ऐसी व्युत्पत्ति करके "पुष्प के विना उत्पन्न होनेवाले हंसराज-मयूरशिखा आदि अपुष्प उद्भिज्ज वनस्पति और पुष्प तथा फल से उत्पन्न होनेवाले सपुष्प उद्भिज्ज वृक्ष कहलाते हैं" ऐसी व्याख्या करते हैं ; और इस वाक्य से तन्त्रकार ने अपुष्प और सपुष्प ये उद्भिज्जों के दो वर्ग बताये हैं, ऐसा कहते हैं।

प्रथम व्याख्या में 'वनस्पति' तथा 'वृक्ष' शब्द से और द्वितीय व्याख्या में वृक्ष शब्द से ओषधि तथा वीरुध् (लता और गुल्म) भी पुष्प-फल-वाले होने से उनका ग्रहण प्राप्त होता है, तथापि उनका 'ओषधि' और 'वीरुध्' शब्द से स्वतन्त्र निर्देश किया गया है, अतः प्रथम व्याख्या में वनस्पति तथा वृक्ष दोनों शब्द और द्वितीय व्याख्या में वृक्ष शब्द शेष रहे हुए वृक्षों का वाचक है, ऐसा जानना चाहिये।

उद्भिज्ज शब्द की निरुक्ति, उद्भिज्जों के प्रधान भेद तथा उनके अङ्गप्रत्यङ्गों के लिये प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या, इनका इस ग्रन्थ के **औषधद्रव्यविज्ञानखण्ड** के प्रथम अध्याय में विस्तार से वर्णन किया जायगा। इन विषयों को वहीं देखें।

जङ्गमद्रव्याणामवान्तरभेदाः——

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः——जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जाः। तत्र पशु-मनुष्य-व्यालादयो जरायुजाः, खग-सर्प-सरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः कृमि-कीट-पिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोप-मण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः।

——सु० सू० अ० १

जङ्गमाः खल्वपीत्यादि। जङ्गमा अपि चतुर्विधाः चतुष्प्रकाराः। तानाह——जरायुजेत्यादि। (जरायोर्जाता जरायुजाः ; जरायुर्गर्भाशयः (उल्बः) ; अण्डाज्जाता अण्डजाः, अण्डं प्राण्याधारो वर्तुलं ; भुवः शरीरस्य च संस्वेदादूष्मणो जाताः संस्वेदजाः ; भुवमुद्भिद्य जाता उद्भिज्जाः।) × × ×। व्यालादय इति व्यालाः हिंस्रपशवो व्याघ्रादयः। अन्ये तु पशुग्रहणादेव हिंस्रपशूनामपि ग्रहणमिति व्याल शब्देन सर्पविशेषमाहुः। तदुक्तं——"सर्पजातिषु अहिपताका जरायुजा" इति। आदि-ग्रहणाद् बलाका-जन्तुकादयः। × × ×। खगसर्पेत्यादि-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खगाः पक्षिणः, सर्पाः मन्दगामिनोऽजगरप्रभृतयः; सरीसृपाः शीघ्रगामिनः कृष्ण-सर्पादयः, मीन-मकरादयो वा; प्रभृतिग्रहणात कूर्म-नक्रादीनां ग्रहणम् । × × × । कृमिकीटेत्यादि कृमयः कोष्ठ-पुरीषादिवाष्पसंभवाः, कीटा वृश्चिक-षड्बिन्दु-प्रभृतयः, पिपीलिकाः चिटिकाः; प्रभृतिग्रहणादेवंविधा अन्येऽपि दृश्यन्ते । इन्द्रगोपेत्यादि इन्द्रगोपाः प्रावृट्कालजा अतिरक्तकृमयः, 'इन्द्रवधू' इति लोके; प्रभृतिग्रहणादीदृशा अन्येऽपि (ड.) ।

जङ्गमवर्ग के आयुर्वेदमें चार अवान्तर भेद किये गये हैं--**जरायुज, अण्डज, स्वेदज** और **उद्भिज्ज**[1] । (१) जो प्राणी जरायु (उल्ब-आँवल) के द्वारा आवृत ही उत्पन्न होते हैं, उनको **जरायुज** कहते हैं; जैसे--मनुष्य, पशु आदि । (२) जो प्राणी अण्डे से निकलते हैं, उनको **अण्डज** कहते हैं; जैसे--पक्षी, साँप आदि । (३) कृमि, कीट आदि जो प्राणी स्वेद (पृथ्वीके वाष्प तथा मनुष्यादि प्राणियों के स्वेद) से उत्पन्न होते हैं, उनको **स्वेदज** कहते हैं । (४) बीरबहूटी, मेंढक आदि जो प्राणी पृथ्वीको फाड़कर बाहर आते हैं, उनको **उद्भिज्ज** कहते हैं ।

वक्तव्य--जङ्गम वर्गके जिन द्रव्यों का उपयोग आहाररूप में होता है उनके भेद (वर्ग) आयुर्वेद में मांसवर्ग में दिये गये हैं, तथा, विषचिकित्सा के प्रकरण में जङ्गम विषोंमें सर्पों और सविष कीटों आदि का वर्गीकरण दिया है । उसे वहीं देखना चाहिए ।

औषधाहारभेदेन द्वौ द्रव्यभेदौ--

(औषधाहारभेदेन) द्रव्यं तावद् द्विविधं-वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यं, रसप्रधानमाहारद्रव्यं च । तत्राप्यौषधद्रव्यं त्रिविधं वीर्यभेदात्--तीक्ष्णवीर्यं, मध्यवीर्यं, मृदुवीर्यं चेति (च. सू. अ. २ । श्लो. १७ की टीका में च. द.) ।

औषधाहारभेदेन द्रव्यं विभजते—द्रव्यमित्यादि । वीर्यप्रधानमिति वीर्यं प्रधानं यस्मिन्निति । यद् द्रव्यमभ्यवहृतं देहे वीर्यसंज्ञकाञ्शीतोष्णादिगुणान् प्राधान्येनोपजनयति, न त्वाहारद्रव्यवत् प्रधानतया रसादिधातून् पुष्णाति, तद्वीर्य-प्रधानमौषधद्रव्यम; औषधद्रव्यसंज्ञकमित्यर्थः । यथा—शुण्ठी-पिप्पल्यादि । रसप्रधानमिति रसपोषणं प्रधानं कर्म यस्य तद् रसप्रधानम् । यद् द्रव्यमुपयुक्तं

१--यहाँ 'उद्भिज्ज' शब्द जङ्गम के एक भेद के अर्थ में प्रयुक्त है, वनस्पति-नहीं है ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

देहे रसधातुं तद्द्वारा रक्तादिधातूंश्च प्राधान्येन पुष्णाति, न त्वौषधद्रव्यवत् प्रधानतया देहे रसधातुं तद्द्वारा रक्तादिधातूंश्च प्राधान्येन पुष्णाति, न त्वौषधद्रव्यवत् प्रधानतया देहे शीतोष्णादीन् वीर्यसंज्ञकान् गुणाञ्जनयति तद् रसप्रधानं, तदाहारद्रव्यम्; आहारद्रव्यसंज्ञकमिति यावत् । यथा—गोधूमादि । वीर्यगततारतम्यभेदेनौषधद्रव्याणि भूयस्त्रेधा भिद्यन्ते—तीक्ष्णवीर्यं, मध्यवीर्यं, मृदुवीर्यं चेति । तद्यथा—उष्णवीर्यद्रव्यस्य तीक्ष्ण-मध्य-मृदुभेदेन उष्णतमम्, उष्णतरम्, उष्णं चेति त्रिविधो भेदः कल्प्यते । एवं शीतादिवीर्याणामपि ।

द्रव्यों के औषध और आहार भेद से दो भेद होते हैं । जो द्रव्य वीर्यप्रधान हों अर्थात् जिसके उपयोग से शरीर में वीर्यसंज्ञक शीत-उष्ण आदि गुणों की उत्पत्ति प्रधानतया होती हो, शरीर के रसादि धातुओं का पोषण जिसका प्रधान कार्य न हो उसको औषधद्रव्य कहते हैं; जैसे—सोंठ, पीपल आदि । जो द्रव्य रसप्रधान हो अर्थात् जिसके उपयोग से शरीर में रस तथा रससे पुष्ट होनेवाले रक्तादि धातुओं का पोषण प्रधानतया होता हो, शीत-उष्ण आदि वीर्यसंज्ञक गुणों की उत्पत्ति (गुणों का असर) प्रधानतया न होती हो, उसको आहारद्रव्य कहते हैं । जैसे—चावल, गेहूँ आदि । औषधद्रव्यों के (उनके) शीत-उष्ण आदि वीर्यों के तारतम्यभेद से तीक्ष्णवीर्य, मध्यवीर्य और मृदुवीर्य ये तीन अवान्तर भेद होते हैं । उदाहरणार्थ—उष्णवीर्य के उष्णतम (तीक्ष्ण), उष्णतर (मध्य) और उष्ण (मृदु) ऐसे तीन भेद होते हैं ।

रसभेदेन द्रव्यभेदाः—

रसभेदेन द्रव्याणां मधुरवर्गः, अम्लवर्गः, लवणवर्गः, कटुवर्गः, तिक्तवर्गः, कषायवर्गश्चेति षड्वर्गा भवन्ति । तेषां विवरणं रसविज्ञानीयाध्याये द्रष्टव्यम् ।

मधुरादि छः रसों के भेद से द्रव्यों के मधुरवर्ग, अम्लवर्ग, लवणवर्ग, कटुवर्ग, तिक्तवर्ग और कषायवर्ग ये छः वर्ग-गण-स्कन्ध होते हैं । उनका विवरण आगे रसविज्ञानीयाध्याय में किया जायगा ।

विपाकभेदेन द्रव्यभेदाः—

चरकमते विपाकभेदेन मधुरविपाकं, अम्लविपाकं, कटुकविपाकं च, इति त्रयो द्रव्यभेदा भवन्ति । सुश्रुतमते विपाकभेदेन गुरुविपाकं (मधुरविपाकं), लघुविपाकं (कटुविपाकं) चेति द्वौ भेदौ भवतः ।

विपाकभेद से चरक के मत में मधुरविपाक, अम्लविपाक और कटुविपाक ये तीन भेद होते हैं; तथा सुश्रुत के मत में गुरुविपाक (मधुरविपाक) और लघुविपाक (कटुविपाक) ये दो भेद होते हैं ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीर्यभेदेन द्रव्यभेदाः—

वीर्यभेदेन अष्टविधवीर्यवादिमते गुरुवीर्यं, लघुवीर्यं, स्निग्धवीर्यं, रूक्षवीर्यं मृदुवीर्यं, तीक्ष्णवीर्यं, शीतवीर्यं, उष्णवीर्यं चेति द्रव्याणामष्टौ भेदा भवन्ति; द्विविधवीर्यवादिमते शीतवीर्यं उष्णवीर्यं चेति द्वौ भेदौ भवतः।

वीर्यभेद से अष्टविधवीर्यवादियों के मत में गुरुवीर्य, लघुवीर्य, स्निग्धवीर्य, रूक्षवीर्य, मृदुवीर्य, तीक्ष्णवीर्य, शीतवीर्य तथा उष्णवीर्य ये आठ और द्विविध-वीर्यवादियों के मत में शीतवीर्य तथा उष्णवीर्य ये दो भेद होते हैं।

कर्मभेदेन द्रव्यभेदा :—

आयुर्वेदे द्रव्याणां कर्मानुसारं तन्त्रकारैः कृतमनेकधा वर्गीकरणम्। चरके सूत्रस्थानस्य द्वितीयेऽध्याये विमानस्थानस्याष्टमेऽध्याये च वमन-विरेचनास्थापनानु-वासनशिरोविरेचनोपयोगिनो निर्दिष्टाः पञ्चवर्गाः, सूत्रस्थानस्य चतुर्थेऽध्याये उक्ता महाकषायसंज्ञकाः पञ्चाशद्वर्गाः, सूत्रस्थानस्य द्वाविंशतितमेऽध्याये लङ्घन-बृंहणादीनां लक्षणान्युक्तानि। एते वर्गा औषधद्रव्याणां कर्मानुसारमुक्ता इति सोदाहरणं व्याख्याता अस्मिन्नध्याये। चरकादितन्त्रेषु प्रोक्ता रसायन-वाजी-करणव्याख्याऽप्यत्रैव दत्ता। सुश्रुते सूत्रस्थानस्यैकोनचत्वारिंशत्तमेऽध्याये ऊर्ध्व-भागहराधोभागहरोभयतोभागहर - वातसंशमन-पित्तसंशमन-कफसंशमनाख्याःपञ्च वर्गा उक्ताः। तेषां व्याख्या यथास्थानं चरकोक्तवर्गव्याख्यायामेव दत्ता। सुश्रुते सूत्रस्थानस्य सप्तत्रिंशत्तमेऽध्याये शल्यचिकित्सोपयोगिनो विस्लापनादयोऽष्टौ वर्गा उक्ताः, चरकोक्तवर्गेभ्यो भिन्नत्वात् स्वतन्त्रमेव व्याख्यातास्ते। शार्ङ्गधरे प्रोक्तानां चरकोक्तवर्गाणां शार्ङ्गधरोक्ता व्याख्या यथास्थानं चरकोक्तवर्गेष्वेव प्रदत्ता; शार्ङ्गधरोक्तानामन्येषां वर्गाणां तु शार्ङ्गधरोक्ता व्याख्या स्वतन्त्रतयैव लिखिता। चरकसुश्रुतादावाहारोपयोगिनो ये वर्गा उक्तास्ते द्रव्याणां कर्मानुसारं नोक्ताः, किन्तु आहारद्रव्याणां स्वरूपानुसारमुक्ता इति तेषां व्याख्यानमाहारद्रव्य-विज्ञानखण्डे करिष्यते। चरकसुश्रुतोक्तवर्गाणां व्याख्या प्रायो मूलग्रन्थेषु नोप-लभ्यते, अतष्टीकाग्रन्थेभ्यस्तन्त्रान्तरेभ्यश्च संगृह्य यथास्थानं लिखिता।

आयुर्वेद में तन्त्रकारों ने द्रव्यों का उनके कर्मों के (जीवित मानव शरीर पर होने-वाली उनकी क्रियाओं के) अनुसार अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया है। चरक-संहिता में सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय में तथा विमानस्थान के आठवें अध्याय में वमन विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन इन पञ्चकर्मों में उपयुक्त द्रव्यों के पाँच वर्ग (गण) दिये हैं। सूत्रस्थान के चौथे अध्याय में पञ्चाशन्महा-कषाय के नाम से दस-दस द्रव्यों का एक-एक गण करके पचास गण (वर्ग) दिये हैं। सूत्रस्थान के २२ वें अध्याय में लङ्घन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्तम्भन इन छः कर्मों (वर्गों) की व्याख्या लिखी है। ये गण औषधद्रव्यों के कर्मानुसार होने से मैंने इस प्रकरण में उन वर्गों की व्याख्या और उदाहरण दिये हैं। चरक-सुश्रुत आदि तन्त्रकारों ने **रसायन** और **बाजीकरण** की जो व्याख्या दी है, वह यहां दी गयी है। सुश्रुत ने सूत्रस्थान के ३९ वें अध्याय में **ऊर्ध्वभागहर, अधोभागहर, उभयतोभागहर, वातसंशमन, पित्तसंशमन** ये पाँच वर्ग दिये हैं। इन वर्गों का उल्लेख यथासम्भव चरक के तत्तत् वर्गवाचक (गणवाचक) शब्द की व्याख्या के साथ कर दिया है; सूत्रस्थान के मिश्रकचिकित्सित अध्याय में शस्त्रकर्मोपयोगी **विस्लापन, पाचन** आदि **आठ वर्ग-गण** दिये हैं, ये गण चरकोक्त गणों से स्वतन्त्र होने के कारण उन गणों की व्याख्या और उदाहरण स्वतन्त्र रूप में ही दिये गये हैं। अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय में प्रायः चरक–सुश्रुतोक्त वर्गीकरण ही पाया जाता है। उनका उल्लेख भी चरक-सुश्रुतोक्त वर्गों की व्याख्या के साथ ही दिया गया है। शार्ङ्गधर में प्रायः चरक-सुश्रुतोक्त वर्गीकरण ही पाया जाता है। कहीं एक वर्ग के कुछ उपवर्ग किये गये हैं और कुछ वर्ग अधिक भी दिये गये हैं। उनकी व्याख्या और उदाहरण भी चरक-सुश्रुतोक्त वर्गों की व्याख्या के पीछे दिया गया है; जो वर्ग चरकोक्त वर्गों के समान हैं, उन वर्गों की व्याख्या चरकोक्त वर्गों के साथ ही दी गयी है। शार्ङ्गधर को छोड़कर अन्य चरक-सुश्रुत आदि मूलग्रन्थों में प्रायः जीवनीय आदि शब्दों की व्याख्या नहीं दी गयी है। मैंने यह व्याख्या टीकाग्रन्थ और तन्त्रान्तरों से संगृहीत करके वहां लिखी है। चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्गसंग्रह, अष्टाङ्गहृदय आदि में आहारोपयुक्त द्रव्यों के जो वर्ग लिखे हैं वे द्रव्यों के कर्मानुसार नहीं परन्तु द्रव्यों के स्वरूपानुसार लिखे गये हैं, अतः इनकी व्याख्या यहाँ न देकर **आहारद्रव्यखण्ड** में दी जायगी।

चरक, सुश्रुत आदि ने प्रत्येक वर्ग के उदाहरण रूप अनेक द्रव्य दिये हैं। परन्तु मैंने विस्तारभय से अनुवाद में वे सब द्रव्य न देकर एक-दो द्रव्य ही उदाहरणरूप में दिये हैं, जिनको सब द्रव्य जानने की इच्छा हो, वे मूलग्रन्थों में ही देखें।

जीवनीयम्-जीवनम्––

जीवनम् आयुः "शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥" (च सू. अ. १) इत्युक्तलक्षणं, तस्मै हितं जीवनीयम् जीवनीयशब्देनेहायुष्यत्वमभिप्रेतम्। यत्र च मधुररसगुणे "आयुष्यो जीवनीयः"। (च. सू. अ. २६) इति च करिष्यति तत्र मूर्च्छितस्य संज्ञाजनकत्वेन जीवनीयत्वं व्याख्येयम् (च. द. ग. यो.)। जीवनः प्राणधारणः (सु- सू. अ. ३८।३६ङ)। जीवनीयं प्राणानां संधारकम् (अ. सं. सू. अ. ३४ इन्दु)। "पृथिव्यपां गुणैर्युक्तं जीवनीयमिति स्थितिः।" (र.वै.अ.४, सू ३० भाष्य) "जीवकर्षभौ मेदा महामेदा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काकोल्यौ क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति" (च. सू. अ. ४)। "प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं", "जीवनः × × × विदारिकन्दः" (च. सू. अ. २७)। "काकोल्यादिरयं (गणः) × × × जीवनः" (सु. सू. अ. ३६)।

शरीरेऽस्मिन् प्रतिक्षणं धात्वग्निपरिपाकक्रियया धातवः क्षयमापद्यन्तेः ; तत्क्षयपरिपूर्त्यां प्राणधारणार्थं जीवनीयद्रव्याणां क्षीर-शालि-गोधूमादीनां प्रत्यहमुपयोग आवश्यक एव। सत्यपि क्षीरादीनां जीवनीयत्वेऽस्मिन्नौषधद्रव्यसंग्राहके गणेऽनुक्तिस्तेषामाहारप्रधान द्रव्यत्वात्। एवं बृंहणादिगणेष्वपि बृंहणादिकर्म प्रधानानां मांसा[1]दीनामनुक्तौ हेतुर्ज्ञेयः। जीवनीयादिपञ्चाशन्महाकषायेषु प्रतिगणं दशद्रव्याणामेवोपदेशे भगवताऽऽत्रेयेणायं हेतुरुक्तः-"एतावन्तो ह्यलमल्प बुद्धीनां व्यवहाराय, बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलानामनुक्तार्थज्ञानाय" इति (च. सू. अ. ४)। एतावन्तो यथोक्ताः। अलं समर्थाः। व्यवहारायेति चिकित्साव्यवहाराय। स्वलक्षणस्य भावः स्वालक्षण्यं, तेनानुमानं, तत्र कुशला अभिज्ञा इत्यर्थः। बुद्धिमन्तो हि जीवकादयोऽमी स्निग्ध-शीत-मधुरादि गुणयुक्ताः सन्तो जीवनं कुर्वन्तीति भूयोदर्शनादवधार्य तद्गुणयुक्ते द्राक्षा-पयो-बिदार्यादौ तज्जातीयत्वेन 'जीवनीयानि' इत्यनुमिमते (च. द.)।

जो द्रव्य जीवन के (आयुष्य के-प्राणधारण के) लिए हितकर (आयुष्य को स्थिर रखनेवाला) हो, उसको **जीवनीय** या **जीवन** कहते हैं। जैसे—जीवक, ऋषभक आदि। यद्यपि इस लक्षण के अनुसार जल-अन्न-आदि प्राणधारण के लिए उपयुक्त होने से जीवनीय हैं, तथापि जिन द्रव्यों में प्राणधारण-शक्ति अधिक हो और अल्प मात्रा मे सेवन करने पर भी जिनसे प्राणधारण हो सके उन द्रव्यों को **जीवनीय** कहा जाता है। चरक ने (सू० अ० २७ में) दूध को जीवनीय द्रव्यों में श्रेष्ठ और विदारिकन्द को **जीवन** कहा है। सुश्रुतने काकोल्यादिगण को जीवन कहा है। जीवनीय द्रव्य पृथिवी और जल के गुणों की अधिकतावाला होता है अर्थात् पार्थिव और आप्य द्रव्यों के जो गुण-कर्म कहे गये हैं, जीवनीय द्रव्य उन गुण-कर्मो से युक्त होता है (र. वै. भा.)। मधुर रस के गुणों में **'आयुष्यो जीवनीयः'** इस प्रकार दोनों शब्दों का साथ में प्रयोग आया है, वहाँ 'मूर्च्छित को संज्ञा देनेवाला' ऐसा जीवनीय शब्द का अर्थ जानना चाहिए।

१—'मांसं बृंहणीयानां' (च० सू० अ० २५)।

२—**जीवनीय**—जीवनीय द्रव्य स्वस्थावस्था में रक्त में या शरीर में रहते हैं। रोगावस्था में ये द्रव्य कम हुए होते हैं। उनकी कमी की पूर्ति के लिए इनके सेवन की आवश्यकता होती है। जैसे—लोह, जवाखार, फॉस्फॉरस, नमक आदि। इन्हें अंग्रेजी में Restoratives-रिस्टोरेटिव्स् कहते हैं (डॉ० वा. दे.)। →

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शरीर में प्रतिक्षण धात्वग्नियों की परिपाक क्रिया से धातुओं का क्षय होता रहता है। उसकी पूर्ति के लिये जीवनीय द्रव्यों का प्रतिदिन प्रयोग करना आवश्यक है। यद्यपि चावल-गेहूँ-दूध आदि द्रव्य प्राणधारणोपयुक्त होने से जीवनीय हैं, तथापि वे आहार-द्रव्य होने से उनका यहाँ औषध द्रव्यों के गण में संग्रह नहीं किया है। इसी प्रकार बृंहण आदि गणों में बृंहणकर्मप्रधान मांस आदि के न लिखने में हेतु जानना चाहिये। जीवनीय आदि गणों में दस-दस ही द्रव्य लिखने का हेतु बताते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं कि—प्रत्येक गण में उदाहरण रूप से कहे गये इतने (दस-दस) द्रव्य अल्पबुद्धियों को चिकित्साव्यवहार के लिये पर्याप्त होंगे और इन द्रव्यों के लक्षणों से अन्य अनुक्त द्रव्य का अनुमान कर सकें ऐसे बुद्धिमानों को अनुक्त द्रव्यों के अनुमान के लिये होंगे। बुद्धिमान् लोग, जैसे यहाँ कहे हुए जीवकादि द्रव्य स्निग्ध-शीत-मधुर आदि गुणयुक्त होने से जीवन कर्म करते हैं वैसे ही द्राक्षा-दूध-विदारीकन्द आदि द्रव्य भी उन गुणों से युक्त होने से जीवन होने चाहिये, ऐसा अनुमान कर लेंगे।

बृंहणीयम्-बृंहणम्—

"बृंहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्। गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहुलं स्थूलपिच्छिलम्॥ प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते। क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगाः स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः॥" (च. सू. अ. २२)। बहलं घनं, मन्दमिति चिरकारि तीक्ष्णविपरीतं, स्थूलं संहतावयवं लड्डुक-पिष्टकादि, (च. द.)। बहलं सान्द्रं, लङ्घनोक्तलघूष्णादिविपरीतगुरुशीतादिगुणैर्युक्तं द्रव्यं प्रायो बृंहणमुच्यते (यो.)। देहबृंहणाय हितं बृंहणीयम् (ग.)। "बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्।" (सु. सू. अ. ४१)। क्षीरिणी-राजक्षवकाश्वगन्धा-काकोली-क्षीरकाकोली-वाट्यायनी-भद्रौदिनी-भारद्वाजी-पयस्यर्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति" (च. सू, अ. ४)। "मांसं बृंहणीयानां" (च. सू. अ. २५)। चरकेणान्यत्र (सू. अ. २७) मुञ्जातक-विदारिकन्द-मृद्वीका-खर्जूरफलगु-तालफल-नारिकेल-वातामाभिषुकाक्षोड-मुकूलक—निकोचकोरुमाणि—

→सालममिश्री के गुणों में डॉ०. वा. देसाई लिखते हैं कि—इसका एक तोला चूर्ण प्रौढ़ मनुष्य के लिये २४ घंटे के लिये पूरा अन्न है। इतने अल्पप्रमाण में जीवन को टिकानेवाला दूसरा अन्न नहीं है। इसलिये इसको जीवन कहना उचित है (औ० सं० पृ० ७०६)। पाश्चात्य वैद्यक में विटामिन थियरी का आविष्कार होने के बाद उस मत का हिन्दी में अनुवाद करते समय विटामिनों के लिए भी कई लेखक 'जीवनीय'-शब्द का प्रयोग करते हैं। जीवनीय द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुगज्जी' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बृंहणान्युक्तानि । सुश्रुतेनैतदतिरिक्तानि आम्र-पनस-मोचफलानि--वातामादि-मज्जानः काकोल्यादिगणश्च बृंहणान्युक्तानि ।

जो द्रव्य शरीर में मोटापन लाता है (शरीर को पुष्ट करता है) उसे बृंहणीय[1] या बृंहण कहते हैं । जो द्रव्य गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल (घन-गाढा), स्थूल (संहतावयव-स्थूलावयव जैसे--लड्डू आदि), पिच्छिल (लुआबदार), मन्द (चिरकारि), स्थूल और श्लक्ष्ण हो वह प्रायः बृंहण होता है । जैसे--असगन्ध काकोली आदि (च) । बृंहण द्रव्य पृथिवी और जल के गुणों की अधिकतावाला होता है अर्थात् पार्थिव और आप्य द्रव्य के जो गुण-कर्म कहे गये हैं, बृंहण द्रव्य उन गुण-कर्मों से युक्त होता है (सु) । चरक ने सालममिश्री, विदारीकन्द, मुनक्का खजूर, अंजीर, ताल के फल, नारियल, बादाम, अखरोट, पिस्ता, चिलगोजा और खुरमानी को बृंहण कहा है । सुश्रुत ने काकोल्यादिगण को बृंहण लिखा है । रोगादि से क्षीण, व्रणवाले, कृश, वृद्ध, दुर्बल (अशक्त), नित्य चलनेवाले, स्त्री और मद्य का नित्य सेवन करनेवाले तथा ग्रीष्मऋतु में सब मनुष्यों को बृंहण द्रव्य देने चाहिये ।

लेखनीयम्--लेखनम्

लेखनम् ईषच्चर्मविदरणं घर्षणेन, तस्मै हितं लेखनीयम् (ग.) लेखनम् कर्शनं, तस्मै हितं लेखनीयम् (यो.)। लेखनं देहे उपलेपादिकान् भावान् विच्छिनत्ति (इ.)। लेखनं पत्तलीकरणम् (सु. सू. अ. ४० । ५ ड) । "लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठम्" (सु. सू. अ. ४१) । लेखनं कफमेदसोः (ड.)-"मुस्त-कुष्ठ-हरिद्रा-दारुहरिद्रा-वचाऽतिविषा-कटुरोहिणी-चित्रक-चिरबिल्व-हैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४) । शल्यतन्त्रे कठिनोत्सन्न-मांसानां व्रणानां शस्त्रेण क्षौमादिभिर्वा घर्षणं लेखनमित्युच्यते । क्षौमं प्लोतं पिचुं फेनं यावशूकं सलैन्धवम् । कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत् ।।" (सु. चि. अ. १) । "धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत् । लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः ।।" (शा. प्र. ख. अ. ४) । यद् द्रव्यं धातून् रसादीन् मलान् वा, विशोष्य शुष्कान् कृत्वा, लेखयेत् स्थूलस्य कृशतां कारयेत् तल्लेखनम् । यवा इति बहुवचनग्रहणेनैवम् गुणविशिष्टा अन्येऽपि बोद्धव्याः (आ.) ।।

जो द्रव्य शरीर के रसादि धातुओं और मलों को विशेष कर कफ और मेद को सुखाकर निकाल देता है और शरीर को पतला करता है, वह लेखन कहाता है ।

१--बृंहणीयद्रव्य को यूनानी वैद्यक में मुसम्मित बदन कहते हैं ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जैसे--नागरमोथा, कूठ, हल्दी आदि (च०) ; शहद, गरम जल, बच और जौ (शा०)। लेखन याने घर्षण से चमड़ी का कुछ फटना, उसके लिए उपयुक्त द्रव्य को लेखनीय कहते हैं (ग०)। लेखन अर्थात् कर्शन (शरीर को कृश करना), उसके लिए उपयुक्त द्रव्य को लेखनीय कहते हैं (यो०)। कफ और मेद को सुखाकर शरीर को पतला करनेवाला द्रव्य लेखन कहाता है (ड०)। शरीर के अन्दर चिपकनेवाले कफ-मेद आदि को विछिन्न करनेवाला द्रव्य लेखन कहाता है (इन्दु)। लेखन-द्रव्य वायु और अग्नि के गुणों की अधिकतावाला होता है (सु०) अर्थात् वायव्य और आग्नेय द्रव्य के जो गुण-कर्म कहे गये हैं, लेखन-द्रव्य उन गुण कर्मो से युक्त होता है। लेखन शब्द की टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्या की है, परन्तु गङ्गाधरजी को छोड़कर सबका तात्पर्य यह है कि--जो द्रव्य शरीर में चिपकने वाले मेद आदि धातु और कफ को सुखाकर निकाल दे और शरीर को कृश-पतला करे, उसको लेखन कहते हैं। शल्यतन्त्र में लेखन का एक और भी अर्थ लिया गया है। व्रण के अन्दर कठिन और उभरे हुए मांसादि को शस्त्र से छीलने को लेखन[1] कहते हैं। यह कार्य जिस औषध-द्रव्य से हो उसको भी लेखन कहा जाता है। क्षार द्रव्य से भी लेखन का-छीलने का कार्य होता है, अतः सुश्रुत ने क्षार को लेखन कहा है (सु० सू० य० ११)। "लेखनः कठिनोत्सन्नमांसानां व्रणानाम्।" (हा०)। सुश्रुतने सालसारादिगण को (सू. अ. ३८) कफमेदोविशोषण (लेखन) लिखा है।

भेदनीयम्-भेदनम्--

भेदनाय शरीरान्मलनिर्हरणाय हितम् (ग.)। भेदनं पिण्डितमलानां द्रवीकृत्य बहिःसारणं, तस्मै हितम् यो.। "सुवहार्कोरुबुकाग्निमुखी-चित्रा-चित्रक-चिरविल्व-शङ्खिनी-शकुलादनी-स्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ, ४)। सुश्रुतेन श्यामादिगणो 'विड्भेदी' इत्युक्तः। "मलादिकमबद्धं च बद्धं वा पिण्डितं मलैः। भित्त्वाऽधः पातयति तद्भेदनं कटुकी यथा॥।" (शा. प्र. अ. ४)। यन्मलादिकमबद्धं, मलैर्दोषैश्च कृत्वा पिण्डित परिपाकात् पिण्डीभूतं बद्धं, ईदृशं मलादिकं भित्त्वा स्थानात् संचाल्य, अधःपातयति, तद्भेदनं, 'ज्ञातव्यम्' इति शेषः। यथा--कटुकी। बद्धं विबद्धं शुष्कं, ग्रथितं च। तत्र शुष्कं पुरीषविषयं, ग्रथितं दोषादिविषयम्। तथा अबद्धं द्रवरूपमपि द्विविधम्--एवं पुरीषविषयम्, अन्यन्मलादिकमिति। मलोऽत्र दोषः आदिग्रहणात् रूक्षदूषिता- (तवाता) दीनामपि ग्रहणम्। भित्त्वेति तत् पुरीषं भित्त्वा विदार्याधः पातयति द्रव्यम्' इति शेषः (आ.)। यद् द्रव्यमबद्धं मलादिकं

१--इस अर्थ में प्रयुक्त लेखन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'जाली' या 'मुजल्ली' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पिण्डितैः पिण्डीभूतैर्मलैर्बद्धं वा भित्त्वा विदार्य, अधः पातयति तद्भेदनम्। (का.)॥

शरीर से मल और दोषों का निर्हरण करने वाले द्रव्य को **भेदनीय** कहते हैं (ग.)। शरीर में पिण्डित (जमे हुए) मलों को द्रव करके बाहर निकालने वाले द्रव्य को **भेदनीय** कहते हैं (यो०)। जैसे निशोथ, एरण्ड आदि (च०)। जो द्रव्य अबद्ध-द्रवरूप पुरीष और दोषादि अथवा दोषों के द्वारा पिण्डित हो करके विबद्धशुष्क पुरीष और ग्रथित वातादि के विबन्ध को तोड़ करके उन्हें अधोमार्ग से बाहर निकालता है, उसको **भेदन** कहते है। जैसे--कुटकी (शा०)। सामान्यतः शरीर के सब स्रोतों में जमे हुए कफादि दोष और विशेषतः आँतो में जमे हुए सूखे मल (सुद्दे) को तोड़, ढीला करके बाहर निकालनेवाले द्रव्य को **भेदन** कहते हैं। भेदन को अधोभागहर वर्ग का एक भेद समझना चाहिए। सुश्रुत ने श्यामादिगण (सु० सू० अ० ३८) को **विड्भेदी (भेदन)** बताया है। चरक ने अम्लवेतस के गुण में उसे भेदन लिखा है[1]। (सू० अ० २७)

सन्धानीयम्-सन्धानम्--

सन्धानाय भग्नसंयोजनाय हितं सन्धानीयम् (ग., यो.)। **सन्धानकं शरीरेऽन्तःसंहतिकरं भावानाम्** (इन्दुः)। **संधानीयं भग्नसन्धानकारकम्** (ड.)। **"मधुक-मधुपर्णी-पृश्निपर्ण्यम्बष्ठकी-समङ्गा-मोचरस-धातकी-लोध्र-प्रियंगु-कट्फला नीति दशेमानि सन्धानीयानि भवन्ति।"** --च. सू. अ. ४

भग्न अस्थि आदि के संयोग के (जोड़ने के) लिए उपयुक्त द्रव्य को **संधानीय** या **सन्धान** कहते हैं (ग०, यो०)। जैसे--मुलेठी, पिठवन आदि। शरीर के अन्दर अस्थि आदि द्रव्यों की संहति (संघात-काठिन्य-अवयवों का मेल) करने वाले द्रव्य को **सन्धानक** कहते हैं (इं०)। सारांश, शरीर में टूटे हुए या अलग हुए हड्डी, रक्त-वाहिनी आदि को जोड़ने वाले द्रव्य को **सन्धानीय** कहते हैं। सुश्रुत ने **प्रियङ्ग्वादि, अम्बष्ठादि और न्यग्रोधादि** गण को **सन्धानीय** बताया है[2]। (सु० सू० अ० ३८)।

दीपनीयम्-दीपनम्-अग्निदीपनम्--

दीपनीयं वह्नेरुद्दीपनाय हितम् (ग.)। **दीपनमन्तरग्नेः संधुक्षणं, तस्मै हितं**

१--भेदन के लिये पाश्चात्य मत 'रेचन' शब्द की टिप्पणी में दिया है, उसको वहीं देखें।

२--**सन्धानीय**--भग्न अस्थि को जोड़ने वाले द्रव्य--Union Promoter--यूनियन् प्रोमोटर् (डॉ० वा० दे०)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दीपनीयम् (यो.) । "दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं, तत्समानत्वात् ।" (सु. सू. अ. ४१) । "पित्तलान् रसान् गुणांश्च दीपनीयम् । तदाग्नेयम् ।" (र. वै. सू. अ. ४।१०) "कटुकाम्ल-लवणान् रसान्, तीक्ष्णोष्ण-लघून् गुणांश्चाश्रितमिति, तदग्निनैव निर्वर्त्यम् ।" (र. वै. पृ. १७९, भाष्य) । पृथिव्यनिलबाहुल्याद्दीपनं परिचक्ष्महे ।" (र. वै. अ. ४, सू. ३० भाष्य) "यदग्निकृत् पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम् । दीपनं ह्यग्निकृत्त्वामं कदाचित् पाचयेन्न वा ।" (अ. हृ. सू. अ. १४।७ स. सु. टीकायामुद्धृतं तन्त्रान्तरीयं वचनम्) । "पचेन्नामं वह्निकृच्च दीपनं तद्यथा मिशिः ।" (शा. प्र. ख. अ. ४) । यद् द्रव्यमामं न पचेद्वह्निकृच्च भवति तद्दीपनं जानीयात् । यथा—मिशिः शतपुष्पा । तथा चोक्तं द्रव्यगुणावल्यां—"शतपुष्पा-लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः ।" इति । ननु, कथमेतद्गुणयुक्ता मिशिर्नामघ्नी भवति, तदविनाशकत्वेन कथमग्नेः प्रबोधःस्यात् ? उच्यते—द्रव्याणां प्रभावोऽविचारणीय इति सुश्रुतः, न हेतुभिर्विचार्यते । तदुक्तं—"नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथंचन । सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत् ।" (सु. सू. अ. ४०) इति । आम इति अपरिपक्वरसः । तद्यथा—"जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः । स आमसंज्ञको ज्ञेयो देहदोषप्रकोपणः ॥" इति (आ.) । "पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेराम्लवेतस-मरिचाजमोदा-भल्लातकास्थि-हिंगुनिर्यास इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४)

अन्तरग्नि अर्थात् जठराग्नि को प्रदीप्त करने (बढ़ाने) वाले द्रव्य को **दीपनीय दीपन** या **अग्निदीपन** (भूख उत्पन्न करने और बढाने वाला) कहा जाता है। जैसे—छोटी पीपल, पीपलामूल आदि (च०) । दीपन-द्रव्य अग्नि के गुणों की अधिकता वाला होता है । अर्थात् आग्नेय द्रव्य के जो गुण-कर्म लिखे हैं, दीपन-द्रव्य उनसे युक्त होता है (सु०) । जो द्रव्य आम (अपरिपक्व रस या अन्न) का पाचन नहीं करता, परन्तु जठराग्नि का दीपन करता हैं (क्षुधा को बढ़ाता है) उसको **दीपन** कहते हैं । जैसे—सौंफ (शा०) । **सुश्रुत ने पिप्पल्यादि, त्रिफला, त्रिकटु, आमलक्यादि, बिल्वादि, गुडूच्यादि**—इन गणों को **दीपन** बताया है (सु० सू० अ० ३८) । जो द्रव्य जठराग्नि का दीपन करता हो, उसको **दीपन** कहते हैं यह कदाचित् आम का पाचन करता है और कदाचित् नहीं भी करता है। (स० सु० टीका में उद्धृत तन्त्रान्तर वचन) । सारांश जो द्रव्य आम का पाचन करे या न करे परन्तु भूख बढ़ावे उसको **दीपन** कहते हैं । **शार्ङ्गधर**ने पाचन न करने वाले परन्तु जठराग्निका दीपन करनेवाले द्रव्य का उदाहरण सौंफ लिखा है, इसकी अपेक्षया यदि वे भाँग का उदाहरण देते तो अधिक अच्छा रहता । कारण भाँग में जैसा भूख को बढ़ाने का गुण है, वैसा खाये हुए अन्न को पचाने का गुण नहीं है । **र०वै०सू०**के भाष्य में दीपन द्रव्य को पृथिवी और वायु के गुणों की अधिकतावाला

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कहा है[1]। जब अन्न का परिपाक होता हो परन्तु भूख ठीक न लगती हो तब दीपन-द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

पाचनम्—

"पचत्यामं न वह्निं च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम्। नागकेशरवद्विद्याच्चित्रो दीपन-पाचनः॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यमामं पचति वह्निं न कुर्यात् तत् पाचनं ज्ञेयम्। अत्रापि द्रव्यप्रभावो बोद्धव्यः। तच्च नागकेशरवद्विद्यात् जानीयात्। यतः—"नागकेशरकं रूक्षमुष्णं लघ्वामपाचनम्।" इति। × × सामानां दोषधातुमलानां पाचनमित्येके। उभयात्मकमाह—चित्रो दीपनपाचन इति। चित्रक उभयकार्यकरो भवति दीपनः, पाचनश्च। तदुक्तं—"चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृत् पाचनो लघुः।" इति (आ.)। "पचन्तमग्निं प्रतिपक्षक्षपणेन बलदानेन च यत् पाचयति तत् पाचनं; तच्च बाह्याग्निगुणभूयिष्ठम्।" (च. सू. अ. २२।८ की टीका में च. द.)। "पचतोऽग्नेः पक्तुं शक्तिमधिकां यदुत्पादयति तद् द्रव्यं क्रिया वा पाचनमुच्यते; यथा—लङ्घनं, मुस्तादि वा" (अ. द.)। "पाचनं पाचयेद्दोषान् सामान् शमनमेव तु।" (अ. हृ. सू. अ. १४।७, स. सं. में उद्धृत तन्त्रान्तरीय वचन)। "अग्नेस्तु गुणबाहुल्यात् पाचनं परिचक्ष्महे।" (र. वै. भाष्य पृ. १८७)।

जो द्रव्य आम अर्थात् अपक्व अन्नरस और मल को (एकीय मत में—आमयुक्त दोषों, धातुओं और मलों को) पकावे परन्तु जठराग्नि को प्रदीप्त न करे, अर्थात् जठराग्नि को प्रदीप्त करने का गुण जिसमे प्रधान न हो, वह द्रव्य **पाचन** (या **आम-पाचन**) कहाता है। जैसे—नागकेशर। जो द्रव्य जठराग्नि का दीपन भी करता है और आम को पकाता भी है उसे **दीपनपाचन**[2] कहते हैं। जैसे—

१—**दीपन** ये द्रव्य आमाशय में रक्त तथा आमाशय से निकलनेवाले पाचक रस को बढ़ाते हैं। इनसे भूख लगती है, जैसे—सुगन्धित द्रव्य, तिक्त द्रव्य, मद्य तथा मद्यघटित योग और क्षार। इनको **'Stomachics स्टोमॅकिक्स'** कहते हैं। दीपन को यूनानी वैद्यक में **'मुश्तही'** कहते हैं।

२—**कोष्ठवातप्रशमन**—ये द्रव्य आँतों को उत्तेजित करते हैं, इनसे आँतों की शक्ति बढ़ती है, अधोवायु सरता है, डकार आती है और पेट का दर्द कम होता है। उदाहरण—सर्व सुगन्धि द्रव्य, सोंठ, त्रिकटु, तगर, हींग, कस्तूरी। इनको Carminatives—कार्मिनेटिव्स् और Aromatics—ॲरोमेटिक्स कहते हैं। इन द्रव्योंसे आमाशयकी भी शक्ति बढ़ती है इसलिये दीपनवर्गमें इनकी गणना होती है (डॉ० वा० दे०)। लवंग के प्रकरण में सुगन्धि द्रव्यों के विषय में डॉ० देसाई लिखते हैं कि—"(१) सुगन्धि द्रव्यों से भूख बढ़ती है, पाचक रस तैयार होता है और मन को आह्लाद होकर खावें ऐसी इच्छा मालूम होती है। इसलिये आयुर्वेद में प्रायः सर्व योगों में सुगन्धि द्रव्यों का उपयोग किया गया है। (२) सुगन्धित द्रव्य—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चित्रक (शा०)। जो द्रव्य साम दोषों का पाचन करे, उसे **पाचन** कहते हैं। यह पाचन शमन का ही एक भेद है। (स० सु० में उद्धृत तन्त्रान्तरीय वचन)। जो द्रव्य पाचन करते हुए अग्नि को बल देकर और विरोधी का नाश करके अन्नादि को पकावे, उसको **पाचन** कहते हैं[1]। पाचन द्रव्य वायु और अग्नि के गुणों की अधिकतावाला होता है। अर्थात् वायव्य और आग्नेय द्रव्यों के जो गुण-कर्म लिखे हैं, पाचन-द्रव्य उन गुणों से युक्त होता है (च० द०)। र० वै० भाष्य में पाचन द्रव्यों को अग्नि के गुणों की अधिकतावाला कहा है। **चरक ने** (सू० अ० ४ के) पचास गणों में **पाचन और दीपनपाचन** नाम के स्वतन्त्र गण (वर्ग) नहीं दिये हैं, परन्तु (सू० अ० २२ में) पाचन को लङ्घन का[2] एक भेद माना है। **शार्ङ्गधर ने दीपन, पाचन और दीपनपाचन** ये तीन वर्ग लिखे हैं। **चरक ने दीपनीयगण के** उदाहरणों में जो पीपल, पीपलामूल, चाब, चित्रक आदि द्रव्य लिखे हैं, उनका शार्ङ्गधरोक्त **दीपन, पाचन और दीपनपाचन** तीनों में अन्तर्भाव हो सकता है। **अतः शार्ङ्गधर के पाचन और दीपनपाचन गण चरकोक्त दीपनीयगण के पीछे दिये गये हैं। सुश्रुत ने पिप्पल्यादि और दशमूल गण को आमपाचन, वचादि**

←आमाशय और आँतों में स्थित सूक्ष्म जन्तुओं का नाश करनेवाले और पूतिहर हैं। पेट का आफरा सूक्ष्म जन्तुओं से होता है, वह इन सुगन्धि द्रव्यों से नष्ट होता है। (३) सुगन्धि द्रव्यों से रक्तस्थित श्वेत कण बढ़ते हैं। इससे आगन्तु सूक्ष्म जन्तु शरीर में प्रविष्ट हुए हों तो उनका नाश होता है। आयुर्वेद के प्राचीन तन्त्रकारों को सुगन्धि द्रव्यों के इन गुणों का अच्छा ज्ञान था ऐसा मालूम होता है। इसलिये ज्वर के सर्व योगों में इनका प्रयोग किया गया है। (४) सुगन्धि द्रव्य चेतना लाते हैं। उनकी यह क्रिया हृदय, रक्ताभिसरण और श्वासोच्छ्वास की क्रियापर स्पष्ट होती है। इसलिये इनका उपयोग त्रिदोष-सन्निपात में किया जाता है। (५) सुगन्धि द्रव्य शरीर के अन्दर की दुर्गन्ध का नाश करते हैं। इसलिये कफ, लाला आदि की दुर्गन्ध नाश करने के लिये इनका प्रयोग किया जाता है। (७) सुगन्धि द्रव्य मूत्रजनन हैं। इनसे गुर्दे (वृक्क) से मूत्रद्वार पर्यन्त के मार्ग की शुद्धि होती है। (८) सुगन्धि द्रव्यों को शरीर के बाहर चेतनाकारक, वेदनास्थापन, पूतिहर, व्रणशोधन और व्रणरोपण परिणाम होता है। सुगन्धि द्रव्यों के ऊपर लिखे हुए आठ गुण सर्व सुगन्धि द्रव्यों में कम-अधिक प्रमाण में देखने में आते हैं।" पाश्चात्य द्रव्यगुणशास्त्र में लिखा हुआ कार्मिनेटिव् वर्ग शार्ङ्गधरोक्त दीपनपाचन वर्ग के समान होने से उसको दीपनपाचन वर्ग की टिप्पणी में लिखा है। कोष्ठवात-प्रशमन को यूनानी वैद्यक में **'कासिर रियाह'** कहते हैं।

१—**पाचन** ये द्रव्य आमाशय और पक्वाशय को अन्न पचन करने में सहायता करते हैं। जैसे—एरण्ड खरबूजे (पपीते) का दूध, जौ का सत्त्व (मॉल्ट) आदि। इन्हें अंग्रेजी में Digestives-डाईजेस्टिव्स्; Digestants-डाईजेस्टन्ट्स् कहते हैं। (डॉ० वा० दे०)। पाचन को यूनानी में 'हाजिम' कहते हैं।

२—आगे 'लङ्घन' शब्द की व्याख्या देखें।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा हरिद्रादि गण को दोषपाचन (आमसंसृष्टदोषपाचन, ड०) और मुस्तादि गण को पाचन लिखा है। चरक ने सौवीरक और तुषोदक को जरणीय ('जरणीयं पाचनं' यो०) लिखा है। पाचन के लिये 'जरण' और 'जरणीय' शब्द का भी प्रयोग होता है। जब अन्न का परिपाक ठीक होता हो परन्तु भूख न लगती हो तब दीपन द्रव्यों का, जब भूख ठीक लगती हो परन्तु अन्न का परिपाक ठीक न होता हो तब पाचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। जब भूख ठीक न लगती हो और खाये हुए अन्न का पाचन भी ठीक न होता हो तब दीपनपाचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

बल्यम्––बलवर्धनम्––

बलाय हितं बल्यम् (ग., यो.)। "ऐन्द्रीऋषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्तापयस्या-श्वगन्धा-स्थिरा-रोहिणी-बलातिबला इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति।"

––च. सू. अ. ४

शरीर के बल[1] (शक्ति) को बढ़ानेवाले द्रव्य को बल्य या बलवर्धन कहते हैं। जैसे––कवाँच, शतावरी, असगंध आदि। सुश्रुत ने लघुपञ्चमूल को बलवर्धन लिखा है (सु० सू० अ० ३८)। चरक ने सालमपंजा (मुञ्जातक), विदारीकन्द, पका आम, बादाम, पिस्ता, अखरोट, चिलगोझा (नेजा) और कूर्म के मांस को बलवर्धन लिखा[2] है (सू० अ० २७)।

वर्ण्य––वर्णप्रसादनं––वर्चस्यम्––

वर्णाय हितं वर्ण्यम् (ग., यो.)। "वर्चसे प्रभायै––वर्णाय हितं वर्चस्यम्।" (र. वै. पृ. १८१)। "चन्दन-तुङ्ग-पद्मकोशीर-मधुक-मञ्जिष्ठा-पयसा-सारिवा-सिता-लता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति।" ––च. सू. अ. ४

शरीर के वर्ण (कान्ति) को सुधारनेवाले और रोग से बिगड़े हुए वर्ण को फिर स्वाभाविक अवस्था में लानेवाले द्रव्य को वर्ण्य कहते हैं। जैसे–चन्दन, पद्माख,

---

१–आयुर्वेद में अनुत्पन्न रोगों का प्रतिबन्ध करनेवाली और उत्पन्न रोग को दूर करनेवाली शक्ति को भी बल (Vitality–वाइटॅलिटि) नाम दिया है– "बलं ह्यलं निग्रहाय रोगाणां–बल रोगों का निग्रह करने के लिए समर्थ है" (च० चि० अ० ३)।

२––बल्य ––ये द्रव्य जिन-जिन अवयवों पर क्रिया करते है, उनका बल बढ़ाते हैं किंवा उनको स्वस्थ करते हैं। जैसे–आमाशय के लिए तिक्त और दीपन द्रव्य; सुषुम्णाकाण्ड के लिए कुचला; हृदय के लिए अर्जुन और डिजिटेलिस; नाड़ी-संस्थान के लिए तगर; पेशियों के लिए कषायाम्ल (टॅनिक एसिड्) युक्त द्रव्य; और रक्त के लिए लोह। इन्हें अंग्रेजी में 'Tonics–टोनिक्स' कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यक में बल्य को 'मुकव्वी' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नजीठ, अनन्तमूल आदि। सुश्रुत ने लोध्रादिगण को वर्ण्य और एलादिगण को वर्णप्रसादन लिखा है (सू० अ० ३८)। रसवैशेषिक सूत्र में 'वर्ण्य' के स्थान में 'वर्चस्य' शब्द का प्रयोग किया है।

कण्ठ्यम्––कण्ठजननम्––स्वर्यम्

कण्ठस्थितस्वराय हितं कण्ठ्यम् (ग.)। कण्ठाय हितं कण्ठ्यम् (यो.)। 'सारिवेक्षुमूल-मधुक-पिप्पली-द्राक्षा-विदारी-कैडर्य-हंसपादी-बृहती-कण्टकारिका। इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति।" ––च. सू. अ. ४.

कण्ठ के स्वर (गले की आवाज) के लिये हितकर (स्वर को सुधारनेवाले और रोग से बिगड़े हुए स्वर को––फिर स्वाभाविक अवस्था में लानेवाले) द्रव्य को कण्ठ्य कहते हैं। जैसे––अनन्तमूल, मुलेठी, मुनक्का, हंसराज आदि। सुश्रुत ने अदरख को स्वर्य लिखा[1] है (सू० अ० ४६)॥

हृद्यम्––

हृदयाय मनसे हितं हृद्यम् (ग. यो.)। "आम्राम्रातक-लकुच-करमर्द-वृक्षाम्लाम्लवेतस-कुवल-बदर-दाडिम-मातुलुङ्गानिति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति।" (च. सु. अ. ४)। 'अम्लं हृद्यानाम्'। ––च. सू. अ. २५

हृद्य अर्थात् मन को प्रिय और हृदय को हितकर द्रव्य को हृद्य कहते हैं। जैसे––आम आदि अम्लरसवाले द्रव्य मन को प्रिय लगनेवाले होने से हृद्य और अर्जुन की छाल-माणिक्य-नीलम-अंबर आदि द्रव्य हृदय को बल देनेवाले होने से हृद्य कहलाते हैं। सुश्रुत ने परुषकादिगण को हृद्य बताया है। (सू० अ० ३८)।

तृप्तिघ्नम्––

तृप्तिःश्लेष्मविकारः, येन तृप्तमिवात्मानं मन्यते, तद्घ्नं तृप्तिघ्नम् (च.द) तृप्ति श्लेष्मविकारभेदः, तन्नाशकम् (ग.) तृप्तिं हन्तीति तृप्तिघ्नम्, अनन्नाभिनन्दनात् तृप्तिरिव तृप्तिररोचकः, स च श्लेष्मजो विकारः (यो)। "नागरचव्य-चित्रक-विडङ्ग-मूर्वा-गुडूची-वचा-मुस्त-पिप्पली-पटोलानीति दशेमानि तृप्तिघ्नानि भवन्ति। ––च. सू. अ. ४

चालीस श्लेष्मविकारों में 'तृप्ति' नाम का श्लेष्मरोग कहा गया है, इससे मनुष्य अपने को तृप्त (पेट भरे हुए) जैसा अनुभव करता है; इस रोग को नष्ट करनेवाले

१––कण्ठ्य––ये द्रव्य मुख में रखकर धीरे-धीरे चूसने से श्वासनली और कण्ठ से कफ को बाहर लाते हैं। जैसे––नौसादर, सेन्धा नमक, गोंद, मुलेठी। इन्हें अंग्रेजी मे 'Ciliary excitant–सिलिअरी एक्साइटन्ट्' कहते हैं। (डॉ० वा० दे०)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्य को तृप्तिघ्न कहते हैं (च. द., ग.)। तृप्ति अर्थात् अन्न की इच्छा न होना (अरुचि), उसे नष्ट करनेवाले द्रव्य को तृप्तिघ्न कहते हैं (यो०)। जैसे—सोंठ, चित्रक, गिलोय, बच, नागरमोथा आदि। सुश्रुत ने बृहत्यादि, गुडूच्यादि तथा आमलक्यादि गण को अरोचकहर लिखा है (सू० अ० ३८)। चरक ने धन्याक-धनिया और अजगन्धा-अजमोदा को रोचन लिखा है (सू० अ० २७)।

अर्शोघ्नम्—

अर्शांसि हन्तीति अर्शोघ्नम्। एवं कुष्ठघ्नादयः (यो.)। "कुटज-बिल्व-चित्रक-नागरातिविषाभया-धन्वयासक-दारुहरिद्रा-वचा-चव्यानीति दशेमान्यर्शो-घ्नानि भवन्ति।" —च. सू. अ. २३

अर्श (ववासीर) को नष्ट करनेवाले द्रव्य को अर्शोघ्न कहते हैं। जैसे—कुड़ा, बेल, हरड़, दारुहल्दी, नागकेशर आदि।

कुष्ठघ्नम्—

कुष्ठं हन्तीति कुष्ठघ्नम्। "खदिराभयामलक-हरिद्रारुष्कर-सप्तपर्णारग्वध-करवीर-विडङ्ग-जातीप्रवाला इति दशेमानि-कुष्ठघ्नानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

कुष्ठ—त्वग्दोष (त्वचा के रोगों) को नष्ट करनेवाले द्रव्य को कुष्ठघ्न कहते हैं। जैसे—खैर, हरड़, आँवला, अमलतास, तुवरकतैल आदि। सुश्रुत ने आरग्वधादि, त्रिफला, त्र्यूषण और लाक्षादिगण को कुष्ठघ्न लिखा है[1] (सू० सू० अ० ३८)

कण्डूघ्नम्—कण्डूनाशनम्—

कण्डूं हन्तीति कण्डूघ्नम्। "चन्दन-नलद-कृतमाल-नक्तमाल-निम्ब-कुटज-सर्षप-मधुक-दारुहरिद्रा-मुस्तानीति दशेमानि कण्डूघ्नानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

कण्डू (खाज) को नष्ट करनेवाले द्रव्य को कण्डूघ्न कहते हैं। जैसे—चन्दन, अमलतास, करंज, नीम, दारुहल्दी आदि। सुश्रुत ने आरग्वधादि और पटोलादि गण को कण्डूघ्न तथा एलादि गण को कण्डूनाशन लिखा है।

कृमिघ्नम्—कृमिप्रशमनम्—कृमिसूदनम्—

कृमीन् हन्तीति कृमिघ्नम्। "अक्षीव-मरिच-गण्डीर-केवुक-विडङ्ग-निर्गुण्डी-किणिही-श्वदंष्ट्रा-वृषपर्णिकाऽऽखुपर्णिका इति दशेमानि कृमिघ्नानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

१—कुष्ठघ्न—ये द्रव्य त्वचापर होनेवाले जीवाणजन्य रोगों को अच्छा करते हैं। जैसे—पारा, गन्धक, कासीसाम्ल। इन्हें Antiparasitics—ॲन्टिपॅरॅसाइटिक्स' कहते हैं। (डॉ० वा० दे०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शरीर में उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर कृमि तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले विकारों को नष्ट करनेवाले द्रव्य को कृमिघ्न कहते हैं। जैसे—सहिंजना, काली मिर्च, वायविडंग, संभालू आदि। सुश्रुत ने अर्कादि गण को कृमिप्रशमन, सुरसादि गण को कृमिसूदन और लाक्षादि गण को कृमिघ्न[1] लिखा है (सू० अ० ३८)।

विषघ्नम्—विषप्रशमनम्—अगदम्—

भेषजसामान्यवचनोऽप्यगदशब्दोऽत्र विषहरौषध एव प्रवर्तते, सामान्यशब्दस्यापि क्वचिद्विशेषवृत्तित्वात्; यथा—पञ्चमूलीति (सु० सू० १।३; हा०)। "हरिद्रा-सुवहा - मञ्जिष्ठा - सूक्ष्मैला-पालिन्दी - चन्दन - कतक-शिरीष - सिन्धुवार-श्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति।" —च० सू० अ० ४

नाना प्रकार के विष और उनसे उत्पन्न होनेवाले विकारों को नष्ट करनेवाले द्रव्य को विषघ्न या अगद कहते हैं। जैसे—हल्दी, मजीठ, छोटी इलायची, चन्दन, निर्मली, निर्विषी (जद्वार) आदि। सुश्रुत ने लोध्रादि, अर्कादि, एलादि, पटोलादि, उत्पलादि और त्रप्वादि गण को विषघ्न लिखा है[2] (सू० अ० ३८)।

१—कृमिघ्न—ये द्रव्य आँतों के अन्दर के कृमियों को मारते हैं, या उन्हें निकालने में सहायता करते हैं। जैसे—(१) किरमाणी अजवायन (और पलाशबीज) गोल कृमि (केंचुए—Round worm) के लिए; (२) (वायविडंग) कमीला, सुपारी और अनार के मूल की छाल फीते जैसे चपटे कृमि (Tape worm) के लिए; (३) नमक, चूना और फिटकिरी के घोल (तथा कलुम्बा के क्वाथ) की आस्थापनबस्ति सूत जैसे कृमि (Thread worm) के लिए; (४) अजवायन के फूल बडिशकृमि (Hook worm) के लिए। इन्हें अङ्गरेजी में 'Anthelmintics—अॅन्थेल्मिन्टिक्स्'; 'Vermifuge वर्मिफ्युज'; 'Vermicides वर्मिसाइडस्'; 'Antiscoliac—अॅन्टिस्कॉलिआक' कहते हैं। जो द्रव्य बाहर के (त्वचा आदि के) कृमियों को मारते हैं, वे **बाह्यकृमिघ्न** कहाते हैं। जैसे—कायफल, बच, निमोली का तेल आदि। इन्हें अंग्रेजी में 'Insecticides—इन्सेक्टिसाइडस्' कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। कृमिघ्न औषध को यूनानी वैद्यक में 'कातिल दीदान' (कृमियों को मारनेवाले) और 'मुखरिज दीदान' (कृमियों को बाहर निकालनेवाले) कहते हैं।

२—अगद—ये द्रव्य विष के लक्षणों को कम या दूर करते हैं। (उतार, वारण)। जैसे—द्रावकाम्ल के लिए चूना, तमाखू के लिए कुचला, फिरङ्गोपदंश के विष के लिए पारा, सर्पविष के लिए सोना आदि। इन्हें अङ्गरेजी में 'Antidotes—एन्टिडोट्स्' कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। विषघ्न औषध को यूनानी वैद्यक में 'तिरियाक' और 'फादजहर' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्तन्यजननम् स्तन्यवृद्धिकरम्—

स्तन्यं जनयतीति स्तन्यजननम् (यो०)। "वीरण-शालि-षष्टिकेक्षुवालिका-दर्भ-कुश-काश-गुन्द्रेत्कट-कत्तृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति।"

—च० सू० अ० ४

स्त्रियों के स्तन्य (दूध) को उत्पन्न करनेवाले और बढ़ाने वाले द्रव्य को स्तन्यजनन या स्तन्यवृद्धिकर कहते हैं। जैसे—खस, गन्ने के मूल, शालि (चावल) विदारीकन्द, शतावरी, दर्भ के मूल आदि। सुश्रुत ने काकोल्यादि गण को स्तन्यजनन (सू० अ० ३८) और विदारीकन्द आदि कन्दशाकों को स्तन्यवृद्धिकर लिखा है[1] (सू० अ० ४६)।

स्तन्यशोधनम्—स्तन्यशुद्धिकरम्—

दोषदूषितं स्तन्यं शोधयतीति स्तन्यशोधनम्। "पाठा-महौषध-सुरदारु-मुस्त-मूर्वा-गुडूची-वत्सकफल-किराततिक्तक-रोहिणी-सारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति।"

—च० सू० अ० ४

दोषदूषित (बिगड़े हुए) स्त्रियों के स्तन्य (दूध) को शुद्ध करने वाले द्रव्य को स्तन्य-शोधन कहते हैं। जैसे—पाठा, सोंठ, नागरमोथा, गिलोय, अनन्तमूल आदि। सुश्रुत ने वचादि, हरिद्रादि और मुस्तादि गण को स्तन्यशोधन लिखा है (सु० सू० अ० ३८)।

शुक्रजननम्—शुक्रलम्—

'जीवकर्षभक-काकोली-क्षीरकाकोलीमुद्गपर्णी-माषपर्णी-मेदा-वृक्षरुहा-जटिला-कुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति। —च० सू० अ० ४

पुरुष के शुक्रधातु को (वीर्य को) उत्पन्न करने और बढ़ाने वाले द्रव्य को शुक्रजनन या शुक्रल कहते हैं। जैसे—जीवक, ऋषभक आदि (च०); असगन्ध, मूसली, मिसरी, शतावर (शा०)।

चरक ने पचास गणों में शुक्रजनन वर्ग लिखा है। शुक्रजनन (शुक्रल) यह वाजीकर (वृष्य) का एक अवान्तर भेद है। अतः वाजीकरण के विषय में चरक सुश्रुत आदि संहिताग्रन्थों में तथा टीका ग्रन्थों में जो विशेष बातें उपलब्ध होती हैं, वे नीचे एकत्र संग्रह करके दी जाती हैं—

१—जैसे—बकरी का दूध, एरण्ड की पत्ती, सौंफ, गिलोय। इन्हे अंग्रेजी में Galactogogue—गॅलॅक्टोगॉग कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। स्तन्यजनन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुवल्लिद लब्न' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाजीकरणम्--वाजीकरम्--वृष्यम्[1]--

"बाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः। भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते ॥ तद्वाजीकरणं, तद्धि देहस्यौजस्करं परम् ॥" (अ. सं. उ. अ. ५०; अ. हृ. उ. अ. ४०) । येन हेतुभूतेन पुरुषो वाजीव अश्व इवाप्रतिहतोऽङ्गना याति, येन च स्त्रीणामतिप्रियो भवति, येन च (शुक्र) धातुरुपचयं प्राप्नोति,तद्वस्तु बाजीकरणमित्युच्यते ; तद्धि परं देहस्यौजस्करम् (इ.) । "येन नारीषु सामर्थ्यं बाजिवल्लभते[2] नरः। व्रजेच्चाभ्यधिकं येन बाजीकरणमेव तत् ॥" (च. चि. अ. २, पा. ४) । वाजीकरणशब्दनिरुक्तिमाह--येनेत्यादि । व्रजेच्चाभ्यधिकमिति पुनः पुनर्गच्छेत् ; 'व्यज्यते' इति वा पाठः, तत्रापि भूयो गमनेन नारीषु पुंस्त्वेन व्यज्यते । × × × । अनेन निरुक्तेन त्रिविधमपि वृष्यमवरुध्यते ; यथा[3]--शुक्रवृद्धिकरं माषादि, तथा स्तुतिकरं सङ्कल्पादि, शुक्रस्तुति-वृद्धिकरं क्षीरादि । यदुक्तमन्यत्र--"शुक्रस्तुतिकरं किंचित्, किंचिच्छुक्रविवर्धनम् । स्तुति-वृद्धिकरं किंचित्, त्रिविधं वृष्यमुच्यते ।" इति । त्रिविधमपि हीदं व्यवाये बलवत्त्वं पुनः पुनर्व्यवायशर्वित च करोति (च. द.) । "बाजीकरणतन्त्रं (बाजीकरणं) नामाल्प-दुष्ट-क्षीण-विशुष्करेतसामाप्यायन-प्रसादोपचय-जननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च ।" (सु. सू. अ. १) । अल्परेतसः प्रकृत्यैव स्तोकरेतसः, तेषामाप्यायननिमित्तं; दुष्टरेतसो वातादिदुष्टरेतसः, तेषां प्रसादनिमित्तं ; क्षीणरेतसः कारणैः स्वमानादल्पीभूतरेतसः. तेषामुपचयनिमित्तं ; विशुष्करेतसः स्वमानादत्यर्थं क्षीणरेतसः, तेषां जननिमित्तम् (यदौषधं तद्वाजीकरणमित्यर्थः) । अथवाऽल्परेतसः पञ्चविंशतिमप्राप्ताः, क्षीणरेतसस्तु मध्यवयसः कारणादल्पीभूतरेतसः, शुष्करेतसो वृद्धाः। प्रहर्षजननार्थं चेति स्वस्थस्य शुक्रवृद्धि-स्तुतिकरणार्थं चेत्यर्थः। अन्ये तु वजनं वाजो वेगः प्रकरणाच्छुक्रस्य, स विद्यते येषां ते वाजिनः, अवाजिनो वाजिनः क्रियन्तेऽनेनेति वाजीकरणम् ; अन्ये तु वाजीशब्देन शुक्रमभिधीयते, तेन शुक्रहितस्य बाजी शुक्रं क्रियतेऽनेनेति बाजीकरणम् (ड.) । 'सेव्यमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान् । नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते ।" (सु. चि. अ. २६) । तत् त्रिविधं--जनकं, प्रवर्तकं, जनक-प्रवर्तकं चेति । तत्र जनकं मांस-घृतादिकं यतस्तद्रसादिधातुक्रमेण परिणतं सप्तधातुपुष्टिं करोति ; प्रवर्तकमुच्चटाचूर्णादिकं शुक्र-विरेचनं, तस्य च वैरेचनिकत्वे सत्याशुक्षयकारित्वं स्यात्-

---

१--'वृषाय हितं वृष्यम्' (र० वै० भा० पृ० १८३) ।

२--'वाजीव लभते' इति पाठान्तरम् ।

३--"स्तुतिकरं स्त्रीस्पर्शादि, वृद्धिकरं क्षीरादि, स्तुतिवृद्धिकरं माषादि ।" इति (सु० सू० अ० १ टीकायां च० द०) ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतो विरेचनं शुक्रस्य पतनायाभिमुखीभावमात्रकरणं ; जनकप्रवर्तकं तु गव्यघृत-गोधूम-माष-नक्काण्डादिकम् । केवलं देहबलकरं जनकं गोधूमादिकं, केवलमनोबलकरं संकल्पादि तु प्रवर्तकं, घृतक्षीरादि देह-मनोबलकरं सदुभयकरमिति । वृष्यादिद्रव्यानां सद्यः शुक्रादिकरणे प्रभावोऽयम् । तथा च श्रीवाग्भटः—"केचिदाहुरहोरात्राद्दशाहादपरे परे । मासात् प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति ॥ वृष्यादीनि प्रभावेण सद्यः शुक्रादि कुर्वते । प्रायः करोत्यहोरात्रात् कर्माद्यन्यच्च भेषजम् ।" इति (ड.) । अल्पशुक्रं प्रकृत्यैव यदल्पशुक्रं, तस्याप्यायनाय ; दुष्टं दोषतः, तस्य प्रसादाय ; क्षीणं स्वमानात् प्राकृतात्, तस्योपचयाय ; शुष्कमत्यल्पत्वाच्छुष्कमिव, तस्य जननाय ; इति विभागः । × × × (च. द.) । "यस्माद् द्रव्याद्भवेत् स्त्रीषु हर्षो वाजीकरं च तत् । यथा नागबलाद्याः स्युर्बीजं च कपिकच्छुजम् ।। यस्माच्छुक्रस्य वृद्धिः स्याच्छुक्रलं तु तदुच्यते । यथाऽश्वगन्धा मुसली शर्करा च शतावरी ॥ दुग्धं माषाश्च भल्लातफलमज्जामलानि च । प्रवर्तकानि कथ्यन्ते जनकानि च रेतसः ॥ प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य, रेचनं बृहतीफलम् । जातीफलं स्तम्भकं च, शोषणी च हरीतकी ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४) । यस्माद् द्रव्यात् स्त्रीषु स्त्रीपुरुषयोर्हर्षः कामशक्ति-सुरतसुखं भवेत् तद्वाजीकरं ज्ञातव्यम् । यथा नागबलाद्याः स्युरिति नागबला गाङ्गेरुकी, आदिशब्दाज्जातीफलाहिफेन-भङ्गाप्रभृतीनां ग्रहणम् । कपिकच्छुबीजमपि वाजीकरणं, कपिकच्छुर्वांनरी । द्विविधदृष्टान्तेनात्र द्विविधं वाजीकरणं सूचितम् । एकं वीर्यस्तम्भनरूपम्, अपरं वीर्यवर्धनम्, इत्यनेन पुनरुक्त्याऽप्यदोषः । शुक्रलमिति शुक्रवृद्धिकरम् । रेतसः शुक्रस्य दुग्धादीनि द्रव्याणि प्रवर्तकानि कथ्यन्ते ; न केवलं प्रवर्तकानि उत्पादनकराणि च कथ्यन्ते । प्रस्तावाद् वाजीकरणानामौषधानां विशेषानाह—प्रवर्तनीत्यादि । शुक्रस्य वीर्यस्य प्रवर्तनी प्रकटकारिणी स्त्री कथितेत्यर्थः । रेचनं बृहतीफलमिति शुक्रस्येत्यत्रापि संबन्धः । बृहती बृहत्कण्टकारिका, तस्याः फलम् । स्तम्भकम् अवरोधकरं जातीफलं भवति ; अत्रापि शुक्रस्येति सम्बन्धः । शोषणी हीन (क्षीण) त्वकारिणी हरीतकी कथिता । चकारादत्रापि शुक्रस्येत्यर्थः । एके 'शोषणी च हरीतकी' इत्यस्य स्थाने 'कालिङ्गं क्षयंकारि च' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—कालिङ्गं वर्तुलफलमिति (आ.) । कालिङ्गं ब्रह्मशीर्षं, क्षयकारि स्यात् (का.) ।

जिस द्रव्य के सेवन से सुरत-मैथुन में पुरुष और स्त्री दोनों को अधिक हर्ष उत्पन्न हो तथा पुरुष अश्व के जैसे अति बलवान् होकर बिना रुकावट के स्त्रीगमन में समर्थ हो, उसे वाजीकरण ; वाजीकर या वृष्य कहते हैं । वाजीकर द्रव्य के चार प्रधान भेद हैं—(१) जिस द्रव्य से शुक्र की (वीर्य की) वृद्धि हो, उसे शुक्रजनन शुक्रल या शुक्रविवर्धन कहते हैं ; जैसे—वृषण, कंवाँच के बीज,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विदारीकन्द, शतावरी, सालमपंजा, गाय का घी आदि। इस वर्ग का प्रधान कार्य शुक्र (वीर्य) धातु को उत्पन्न करना और बढ़ाना है (देहबलकर); ये द्रव्य साक्षात् प्रवर्तक--स्रुतिकर--कामोत्तेजक होते हैं या नहीं भी होते। (२) शुक्रस्रुतिकर-शुक्रप्रवर्तक--कामोत्तेजक--ये द्रव्य साक्षात् शुक्र की वृद्धि नहीं करते, परन्तु केवल कामोत्तेजन मात्र करते हैं (मनोबलकर); जैसे--स्त्रीस्पर्श, अकरकरा, मकरध्वज, कस्तूरी आदि। (३) कुछ द्रव्य जनक और प्रवर्तक दोनों होते हैं (देह-मनोबलकर); जैसे--दूध, उड़द, भिलावे का मग्ज आदि; उनको शुक्रस्रुति-वृद्धिकर कहा गया है; (४) शुक्रस्तम्भन--ये द्रव्य शुक्रधातु का स्तम्भन करके सुरतकाल को दीर्घ करते हैं; जैसे--जायफल, अफीम आदि[1]।

शुक्रशोधनम्--शुक्रदोषविनाशनम्--

दोषदूषितं शुक्रं शोधयतीति शुक्रशोधनम्। "कुष्ठैलवालुक-कट्फल-समुद्रफेन-कदम्बनिर्यासेक्षु-काण्डेक्षिवक्षुरक-वसुकोशीराणीति दशेमानि शुक्रशोधनानि भवन्ति।"

—च. सू. अ. ४

दोषदूषित शुक्र (वीर्य) की शुद्धि करनेवाले द्रव्य को शुक्रशोधन कहते हैं। जैसे--कूठ, कायफल आदि। सुश्रुत ने विदार्यादि, करमर्दादि और मुष्ककादि गण को शुक्रदोषविनाशन लिखा है। (सू० अ० ३८)

स्नेहोपगम्--

स्नेहनस्य सर्पिरादेः स्नेहनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति स्नेहोपगम्। मृद्वीकादिस्नेहोपगयुक्तस्य सर्पिरादेः स्नेहने प्रकर्षवती शक्तिर्भवतीत्यर्थः (च० द०)। स्नेहोपग इति स्नेहविधौ उपगन्तुं पानाहारादिषु शीलं यस्य तत् यथा, एवं परत्रापि व्याख्येयम् (ग०); स्नेहमुपगच्छति स्नेहनक्रियायां सहायीभवतीति

१--वाजीकर--ये द्रव्य मैथुनेच्छा और शिश्नेन्द्रिय की शक्ति को बढ़ाते हैं। जैसे--कुचला, भाँग, फॉस्फॉरस, कैन्थॅरिडस्। इनमें (१) कई द्रव्य शिश्नेन्द्रिय की नाड़ी के केन्द्र पर प्रत्यक्ष क्रिया करते हैं; जैसे--कुचला। (२) कई द्रव्य मूत्राशय और मूत्रनलिका का क्षोभ करके अप्रत्यक्ष रीति से यह क्रिया करते हैं; जैसे--कॅन्थॅरिडिस्। इस वाजीकर वर्ग के तीन अवान्तर भेद किये जाते हैं--(१) स्तम्भन--शुक्रस्राव के समय को बढ़ानेवाले द्रव्य; जैसे--जायफल। (२) बृष्य--हर्ष (कामेच्छा) बढ़ानेवाले और वीर्य को बढाकर गाढ़ा करनेवाले द्रव्य; जैसे--वृषण। (३) वाजीकर मैथुनशक्ति बढ़ानेवाले तथा मैथुन के अनन्तर होनेवाली थकान को रोकनेवाले द्रव्य (जैसे-सालमपंजा)। इन्हें अंग्रेजी में 'Aphrodisiac—अॅफ्रॉडिसिअॅक्' कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यक में वाजीकर औषध को 'मुकव्वी बाह' और 'मुन्ही', शुक्रजनन को 'मुवल्लिद मनी' और शुक्रस्तम्भन को 'मुम्सिक मनी' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्नेहोपगम्, एवं स्वेदोपगादयः (यो०)। "मृद्वीका-मधुक-मधुपर्णी-मेदा-विदारी काकोली-जीवक-जीवन्ती-शालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति।"

—च० सू० अ. ४

जो द्रव्य घृत आदि स्नेहन द्रव्यों के साथ पान आदि में सहायक रूप में प्रयुक्त किये जानेपर उनकी स्नेहन-शक्ति को बढ़ाता है, उसे स्नेहोपग कहते हैं। जैसे—मुनक्का, मुलेठी, विदारीकन्द, मेदा आदि।

स्वेदोपगम्—

स्वेदनद्रव्यस्य अग्न्यादेः स्वेदनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति स्वेदोपगम्। "शोभाञ्जनैरण्डार्क-वृश्चीर-पुनर्नवा-यव-तिल-कुलत्थ-माष-बदराणीति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति।" —च० सू० अ० ४

जो द्रव्य अग्नि आदि स्वेदन (पसीना लानेवाले) द्रव्यों के साथ सहायक रूप में प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्ति को बढ़ाता है, उसे स्वेदोपग कहते हैं। जैसे—सहिजना, एरण्ड आदि।

वमनोपगम्—

वमनद्रव्यस्य मदनफलादेर्वमनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति वमनोपगम्। "मधु-मधुक-कोविदार-कवुदार-नीप-विदुल-बिम्बी-शतपुष्पी-सदापुष्पा-प्रत्यक्पुष्प्य-इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति।" —च० सू० अ. ४

जो द्रव्य मैनफल आदि वमन द्रव्यों के साथ सहायक रूप में प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्ति को बढ़ाता हैं, उसे वमनोपग कहते हैं। जैसे—शहद (मधु) मुलेठी, कचनार, सैन्धव लवण आदि।

विरेचनोपगम्—

विरेचनद्रव्यस्य त्रिवृदादेर्विरेचनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति विरेचनोपगम्। "द्राक्षा-काश्मर्यफल-परूषकाभयामलक-बिभीतक-कुवल-बदर-कर्कन्धु-पीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

जो द्रव्य निशोथ आदि विरेचन द्रव्यों के साथ सहायक रूप में प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्ति को बढ़ाता है, उसे विरेचनोपग कहते हैं। जैसे—मुनक्का, गंभारी के फल, उन्नाव आदि।

आस्थापनोपगम्—

आस्थापनद्रव्याणां पाटलादीनामास्थापनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति आस्थापनोपगम्। "त्रिवृद्वित्व-पिप्पली-कुष्ठ-सर्षप-वचा-वत्सकफल-शतपुष्पा-मधुक-मदन-फलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य पाटला आदि आस्थापन (आस्थापन-बस्ति में उपयोगी) द्रव्यों के साथ सहायक रूप में प्रयुक्त होने पर उनकी शक्ति को बढ़ाता है, उसे आस्थापनोपग कहते हैं। जैसे—निशोथ, बेल, सर्षप, बच, इन्द्रयव आदि।

अनुवासनोपगम्—

अनुवासनद्रव्यस्य तैलादेरनुवासनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीत्यनुवासनोपगम्। "रास्ना-सुरदारु-बिल्व-मदन-शतपुष्पा-वृश्चीर-पुनर्नवा-श्वदंष्ट्राग्निमन्थ-श्योनाका इति दशेमान्यनुवासनोपगानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

जो द्रव्य अनुवासन (अनुवासन-बस्ति में उपयोगी तैलादि) द्रव्यों के साथ सहायक रूप में प्रयुक्त होने पर उन की शक्ति को बढ़ाता है, उसे अनुवासनोपग कहते हैं। जैसे—रास्ना, देवदारु, बेल, मैनफल, सौंफ आदि।

शिरोविरेचनोपगम्—

शिरोविरेचनोपगे तु शिरोविरेचनप्रधानान्येव द्रव्याणि (च.द.) "ज्योतिष्मती-क्षवक-मरिच-पिप्पली-विडङ्ग-शिशु-सर्षपापामार्गतण्डुल-श्वेता-महाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

शिरोविरेचन में उपयोगी प्रधान द्रव्यों को शिरोविरेचनोपग या शिरोविरेचन कहते हैं। जैसे—मालकंगनी, नकछिकनी, कालीमिर्च आदि[1]।

छर्दिनिग्रहणम्—वमिनिग्रहणम्—

छर्दिं निगृह्णाति स्तम्भयतीति छर्दिनिग्रहणं; व्याधिहरणवचनेन तद्धेतुदोष-हरणमपि लभ्यते, एवं परत्रापि (ग.)। छर्दिं वमिं निगृह्णातीति छर्दिनिग्रहणम्, एवं तृष्णानिग्रहणादयः (यो.)। "जम्ब्वाम्रपल्लव-मातुलुङ्गाम्लबदर-दाडिम-यव-यष्टिकोशीर-मृल्लाजा इति दशेमानि छर्दिनिग्रहणानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

१—चरकसंहिता में स्नेहोपग स्वेदोपग, वमनोपग, विरेचनोपग और आस्थापनोपग इन गणों में जो द्रव्य आये हैं वे स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और आस्थापन के प्रधान द्रव्यों से भिन्न हैं। स्नेहोपग आदि द्रव्य प्रधानतया स्नेहन आदि कर्म नहीं करते, किन्तु स्नेहन आदि द्रव्यों की शक्ति बढ़ाकर उनकी क्रियाओं में सहायता करते हैं। शिरोविरेचनोपग गण में शिरोविरेचन में सहायक द्रव्य नहीं किन्तु प्रधान शिरोविरेचन द्रव्य ही लिये हैं। शिरोविरेचन—(Errhines—एरहाइन्स) ये द्रव्य नाक में श्लेष्मा को बढ़ाते हैं। इनसे छींकें नहीं आतीं। जैसे—अँमोनिया, सिरके की भाप (डॉ० वा० दे०)। छिक्काजनन (Sternutatories—स्टर्न्युटॅटरिस्)—ये द्रव्य सूंघने से छींकें आती हैं। जैसे—तमाखू, कुटकी, सोंठ, मिर्च, एपिकाक्युआना। छिक्काजनन औषध को यूनानी वैद्यक में 'मुअत्तिस' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य वमन-उलटी के कारणभूत दोष को शान्त करके वमन को दूर करे, उसे छर्दिनिग्रहण कहते हैं। जैसे—जामुन और आम की कोंपल, दाड़िम, खस, लाजा (धान का लावा) आदि। सुश्रुत ने आरग्वधादि, पटोलादि और गुडूच्यादि गण को वमिहर लिखा है[1] (सू० अ० ३८)।

तृष्णानिग्रहणम्-तृष्णाघ्नम्-पिपासाघ्नं-पिपासाहरम्-तृट्प्रशमनम्-

"नागर-धन्वयासक-मुस्त-पर्पट-चन्दन-किराततिक्त-गुडूची-ह्रीबेर-धान्यक-पटोलानीति दशेमानि तृष्णानिग्रहणानि भवन्ति।" —च. सू. अ. ४

जो द्रव्य तृषा के कारणीभूत दोष को शान्त करके तृषा (प्यास) का नाश करे, उसे तृष्णानिग्रहण कहते हैं। जैसे—नागरमोथा, धमासा, चन्दन, धनियाँ आदि। सुश्रुत ने सारिवादि, परूषकादि, उत्पलादि और त्रपवादि गण को पिपासाहर लिखा है (सू० अ० ३८)।

हिक्कानिग्रहणम्—हिक्काघ्नम्—

"शटी-पुष्करमूल-बदरबीज-कण्टकारिका-बृहती-वृक्षरुहाभया-पिप्पली-दुरालभा-कुलीरशृङ्गीच इति दशेमानि हिक्कानिग्रहणानि भवन्ति। —च. सू. अ. ४

जो द्रव्य हिक्का (हिचकी) के निमित्तभूत दोष को शान्त करके हिक्का को दूर करे उसे हिक्कानिग्रहण कहते हैं। जैसे—कचूर, पोहकरमूल, छोटी पीपल, काकड़ासिंगी आदि[2]। जो द्रव्य वमन को बन्द करते हैं वे प्रायः हिक्का को भी बन्द करते हैं।

पुरीषसंग्रहणीयम्- -विड्ग्रहणम्—सांग्राहिकम्—संग्राहि—ग्राहि—

पुरीषसंग्रहणं पुरीषस्य स्तम्भनं, तस्मै हितम् (ग.)। पुरीषस्यातिसरतः संग्रहणं संग्रहः, तत्र हितं पुरीषसंग्रहणीयम् (यो.)। "सांग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्।" (सु. सू. अ. ४१)। "दीपनं पाचनं यत् स्याद्दुष्णत्वाद् द्रवशोषकम्। ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली।" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं दीपनम् अग्निकरं, पाचनम् आमादीनां द्रवशोषकमिति द्रवस्वरूपाणां दोष-धातु-मलादीनां शोषकमित्यर्थः; उष्णत्वात् उष्णवीर्यत्वाद् द्रवशोषकमिति योज्यं; दीपनादिकार्यकरत्वेनोपलक्षितमिति भावः, तद् ग्राहि विज्ञेयम्। यथा—शुण्ठी, जीरक, गजपिप्पली च। गजपिप्पली चव्यफलम्। ननु संग्राहकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्, तत् कथमुक्तम्—

१—छर्दिनिग्रहण—'Anti-emetic—अॅन्टि-इमेटिक्' (डॉ० वा० दे०)। छर्दिनिग्रहण औषध को यूनानी वैद्यक में 'मुसक्किन कै' कहते हैं।

२—हिक्कानिग्रहण औषध को यूनानी वैद्यक में 'मुसक्किन फवाक' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उष्णत्वादिति। उच्यते--पक्वामग्राहकत्वेन द्विविधं हि संग्राहकम्। तत्र यद् ग्रहण्यामामं संपाच्य वह्निं कृत्वा तत्रस्थं द्रवं च शोषयित्वा संग्रहणं करोति तदुष्णग्राहकं ज्ञेयम्; यद् द्रव्यमतिसारादौ पक्वमलादिकं संस्तभ्य संग्रहं करोति तच्छीतसंग्राहकं ज्ञेयम्, एतदनिलगुणभूयिष्ठमित्यदोषः (आ.)। 'सांग्राहिकं विजानीयात् पृथिव्यनिलसंभवम्।" (र. वै. पृ. १८७)। "लवण-तीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत् सांग्राहिकं, तत् पार्थिव-वायव्यम्।" (र. वै. ४।९)। लवणातद्गुणद्वयाच्चान्यद्रसगुणं तस्य (सांग्राहिकस्य) आश्रयः; तत् पार्थिव-वायव्यम् आभ्यां भूताभ्यां निवर्त्यते सांग्राहिकम् (भा.)। "द्वयोर्निग्रहणं सांग्राहिकम्।" (र. वै. ४।२३)। निग्रहणं प्रशमनम्। द्वयोरित्युक्तं, न विशेषितं तथा पित्त-श्लेष्मणोरिति गम्यते, पार्थिव-वायव्यत्वात्तस्य वीर्यस्य, आश्रयस्य च लवणतीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत्वात् पित्तनिग्रहे समर्थं; पार्थिव-वायव्यत्वाद्रौक्ष्य-वैशद्याभ्यां श्लेष्मनिग्रहे समर्थम् (भा.)। "प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थि-कट्वङ्ग-लोध्र-मोचरस-समङ्गा-धातकीपुष्प-पद्मकेशराणिति दशेमानि पुरीषसंग्रहणीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य द्रवीभूत तथा अत्यन्त (बार-बार और प्रभूत मात्रा में) सरनेवाले पुरीष (मल) को बाँधे, उसे **पुरीषसंग्रहणीय, विड्ग्रहण, सांग्राहिक, संग्राहि या ग्राहि** कहते हैं। जैसे—आम की गुठली, सोनापाठा, मोचरस, लोध, धाय के फूल आदि। (च०)। जो द्रव्य दीपन हो, आमादिक का पाचन करनेवाला हो और उष्णवीर्य होने से द्रवरूप मलादिकों का शोषण करनेवाला हो, उसे **ग्राहि** कहते हैं। जैसे—सोंठ, जीरा, गजपीपल (शा०)। **सुश्रुत ने न्यग्रोधादि** गण को **संग्राही, रोध्रादि** गण को **स्तम्भी (स्तम्भन)** तथा **प्रियङ्ग्वादि** और **अम्बष्ठादि** गण को **पक्वातिसारनाशन** लिखा है। (सु० सू० अ० ३८)। सांग्राहिक द्रव्य वातगुण-भूयिष्ठ होता है, क्योंकि वायु शोषण करनेवाला है (सु०)। **शार्ङ्गधर** में शोषण क्रिया का हेतु 'उष्णत्वात्' दिया है, **सुश्रुत में** इसका कारण वायु को कहा है। इस मतभेद का समाधान करते हुए **आढमल्ल** कहते हैं कि, संग्राहक द्रव्यों के दो भेद हैं—**पक्वसंग्राहक** और **आमसंग्राहक**। इन में जो द्रव्य ग्रहणी में आम को पका, जठराग्नि को प्रदीप्त कर और वहाँ स्थित द्रव-मल का शोषण करके संग्रहण करता (मल को बाँधता) है, उसे **उष्णसंग्राहक** कहते हैं। जो द्रव्य अतिसारादि में, पक्वमलादिक का स्तम्भन करके संग्रहण करता है, उसे **शीतसंग्राहक** कहते हैं। ये पिछले द्रव्य वातगुण की अधिकतावाले होते हैं। **रसवैशेषिकसूत्र में** सांग्राहिक द्रव्य को लवण रस तथा तीक्ष्ण और उष्ण गुण को छोड़कर अन्य रस-गुणवाला तथा पृथिवी और वायु के गुणों की अधिकतावाला कहा है[1]।

१—**स्तम्भन, ग्राहि, संग्राहक** (Astringents--ॲस्ट्रिन्जन्ट्स्)——→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वक्तव्य--अतिसार और ग्रहणी रोग में जब पतले दस्त आते हों तब **पुरीषसंग्रहणीय** द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। जब मल आमलक्षणयुक्त आता हो तब सोंठ, जीरा, सौंफ आदि उष्णसंग्राहक (ग्राहि) द्रव्यों का तथा जब मल पक्वलक्षणयुक्त होनेपर भी बार-बार पतले दस्त आते हों तब लोध्र, मोचरस, धातकीपुष्प आदि शीतसंग्राहक (स्तम्भन) औषधों का प्रयोग करना चाहिये। चरक के उदाहरणरूप लिखे हुए द्रव्य शीतसंग्राहक और शार्ङ्गधर के उदाहरणरूप लिखे हुए द्रव्य उष्णसंग्राहक हैं।

पुरीषविरजनीयम्--विड्विरजनम्--

"पुरीषस्य विरजनं दोषसम्बन्धनिरासं करोतीति पुरीषविरजनीयम्। एवं मूत्रविरजनीयेऽपि व्याख्येयम् (च. द.)। दोषसंबद्धस्य पुरीषस्य दोषसंबन्धाद् विगमेन रजनं रागः, तस्मै हितं पुरीषविरजनीयम्। एवं मूत्रस्य च व्याख्येयम् (ग.)। पुरीषस्य विरजनं दोषसंबन्धविगमेन रजनं, तस्मै हितम् (यो.)। 'जम्बूशल्लकीत्वक्कच्छुरा-मधुक-शाल्मली-श्रीवेष्टक-भृष्टमृत्पयस्योत्पल-तिलकणा इति दशेमानि पुरीषविरजनीयानि भवन्ति।"

—च. सू. अ. ४

जो द्रव्य दोषदूषित पुरीष (मल) के दोष को दूर करके उसका वर्ण स्वाभाविक कर दे, उसे पुरीषविरजनीय कहते हैं। जैसे--जामुन, कवाँच, कमल, मुलेठी, गन्धाविरोजा आदि।

मूत्रसंग्रहणीयम्--मूत्रग्रहणम्--

अतिमात्रं पुनः पुनश्च प्रवर्तमानं मूत्रं संगृह्णातीति मूत्रसंग्रहणीयम्। "जम्ब्वाम्रप्लक्ष-वट-कपीतनोदुम्बराश्वत्थ-भल्लातकाश्मन्तक-सोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसंग्रहणीयानि भवन्ति।"

—च० सू० अ० ४

←(१)--स्तम्भन--रूक्षता, कषायता और शीतगुण के कारण आँतों में रहे हुए पतलेद्रव्यों और स्रावों को रोकनेवाले द्रव्य। ये द्रव्य शीघ्र और जोरदार क्रिया करते हैं। जैसे--अफीम, कुड़े की छाल, सोनापाठा। (२ अ) ग्राहि--अग्नि को प्रदीप्त करके और आम का पचन करके आँतों के पतले द्रवों को गाढ़ा किंवा शुष्क करनेवाले द्रव्य। ये द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं; इनकी क्रिया धीरे-धीरे होती है। जैसे--सोंठ, जीरा, बड़ी पीपल। (Carminatives--कार्मिनेटिव्स्; Aromatics--ॲरोमॅटिक्स्)। (२ ब) संग्राहक--कषाय गुण के कारण पेशियों का संकोच करनेवाले तथा संयोग को प्राप्त अङ्गों में रूक्षता लानेवाले द्रव्य। ये आँतों की लसीका या स्राव को कम करके उनको गाढ़ा करते हैं। जैसे--माजूफल तथा माजूफल में स्थित कषायाम्ल जिन-जिन द्रव्यों में हो वे द्रव्य, द्रावकाम्ल, फिटकिरी (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यक में संग्राहक द्रव्य को 'काबिज' और स्तम्भन को 'हाबिस' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य अत्यन्त (बार-बार तथा अति मात्रा में) निकलनेवाले मूत्र को रोके (कम करे), उसे **मूत्रसंग्रहणीय** कहते हैं। जैसे--जामुन, आम, बड़-गूलर-पीपल इन वृक्षों की छाल, भिलावा आदि[1]।

मूत्रविरजनीयम्--मूत्रविरजनम्--

मूत्रं विरजयति दोषसंबन्धनिरासं कृत्वा प्रकृतौ स्थापयतीति मूत्रविरजनीयम्। "पद्मोत्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-मधुक-प्रियङ्गु - धातकीपुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरजनीयानि भवन्ति।" च. सू. अ. ४

जो द्रव्य दोषदूषित मूत्र के दोष को दूर करके उसका वर्ण स्वाभाविक कर दे, उसे **मूत्रविजनीय** या मूत्रविरजन कहते हैं। जैसे--कमल के फूल, मुलेठी, धाय के फूल आदि।

मूत्रविरेचनीयम्--

"मूत्रस्य विरेचनं करोतीति मूत्रविरेचनीयम् (च० द०)। मूत्रविरेचनीयमिति मूत्रस्य वर्तनाय हितम् (ग०)। मूत्रस्य विरेचनं बहिःसारणं, तत्र हितम् (यो०)। "वृक्षादनी-श्वदंष्ट्रा-वसुक-वशिर- पाषाणभेद - दर्भ - कुश-काश - गुन्द्रेक्षटमूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति।" --च० सू० अ० ४

जो द्रव्य मूत्र का विरेचन (प्रवृत्ति-खुलासा) करे उसे **मूत्रविरेचनीय, मूत्र-विरेचन, बस्तिशोधन** या **मूत्रल**[2] कहते हैं। जैसे--बाँदा, गोखरू, ककड़ी, पाषाणभेद, दर्भ के मूल, पुनर्नवा, कलमी शोरा आदि। **सुश्रुत** ने **परूषकादि** और **तृणपञ्चमूल** इन दो गणों को **मूत्रदोषहर** लिखा है (सु० सू० अ० ३८)। चरक ने त्रपुष और विदारीकन्द के गुणों में उसे **मूत्रल** लिखा है[3]।

१--**मूत्रसंग्रहणीय** (Urine diminisher--यूरिन डिमिनिशर्) ये द्रव्य मूत्र को कम करते हैं। जैसे--अफीम, जस्त की भस्म, तगर (डॉ० वा० दे०) मूत्रसंग्रहणीय द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'हाबिस बौल' कहते हैं।

२--'**मूत्रल**' शब्द सु० सू० अ० ४६ में श्लो० ९५।३१८ आदि स्थलों में आया है।

३-- **मूत्रजनन** (Diuretics--डाइयुरेटिक्स्)--ये द्रव्य मूत्रग्रन्थियों के उत्तेजक तथा मूत्र को बढ़ानेवाले हैं। (१) कई द्रव्य मूत्रग्रन्थियों को साक्षात् उत्तेजित करते हैं, जैसे--कबाब चीनी, काली मिर्च, अनन्तमूल, हाउवेर, गन्धा-विरोजा, कॅन्थॅरिडिस्, मद्य। इन्हें **मूत्रजनन** (Stimulating diuretics--स्टिम्युलेटिंग् डाइयुरेटिक्स) कहते हैं। (२) कई द्रव्य मूत्रग्रन्थियों में रक्त का आयात और रक्त का दबाव बढ़ाते हैं। जैसे--जंगली प्याज, बुंददाना (कॉफी), डिजिटेलिस, पुनर्नवा। इन्हें **मूत्रविरेचनीय** (Hydragogue diuretics--हाईड्रागॉग् डाइयुरेटिक्स्) कहते हैं। ये मूत्र जोर से (बलात्)--

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कासहरम्--

कासं हरतीति कासहरम्, एवं श्वासहरादयः (यो०)। "द्राक्षाभयामलक-पिप्पली-दुरालभा-शृङ्गी-कण्टकारिका-बृश्चीर-पुनर्नवा-तामलक्य इति दशेमानि कास-हराणि भवन्ति।"

--च० सू० अ० ४

कास (खाँसी) को नष्ट करनेवाले द्रव्य को कासहर या कासघ्न कहते हैं। जैसे--मुनक्का, हरड़, काकड़ासिंगी, अड़ूसा आदि। सुश्रुत ने विदारीगन्धादि और सुरसादि गण को कासहर लिखा है[1] (सू० अ० ३८)।

श्वासहरम्--श्वासप्रशमनम्--

श्वासं श्वासरोगं हरतीति श्वासहरम्। "शटी-पुष्करमूलाम्लवेत-सैलाहिंग्वगुरु-सुरसा-तामलकी-जीवन्ती-चण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति।"

--च० सू० अ० ४

श्वासरोग को नष्ट करनेवाले द्रव्य को श्वासहर या श्वासप्रशमन कहते हैं। जैसे--कचूर, पोहकरमूल आदि। सुश्रुत ने विदारीगन्धादि, सुरसादि और दशमूल इन गणों को श्वासहर लिखा है[2] (सू० अ० ३८)। श्वासहर वर्ग के दो भेद होते हैं--(१) जो द्रव्य श्वास रोग के कारणभूत दोष को दूर करके श्वास रोग को दूर करें; जैसे--पुष्पकरमूल, वासा आदि (२) जो द्रव्य श्वास के वेग को कम करें जैसे--सोम, धतूरा, बेलाडोना आदि।

शोथहरम् श्वयथुविलयनम्--

शोथं हरतीति शोथहरम्। "सर्वान् रसान् शीत-मृदु-पिच्छिलांश्च गुणान् विलायनम्। तत् सौम्यं पार्थिवं च।" (र० वै० ४।१९, २०)। "अग्नि-वायुजनितवायुवीर्यनिर्वाततत्वाच्छोथस्य तस्य विलायनं तत्प्रतिपक्षभूतनिर्वातितं भवति। विलायनं शोथानामुत्सेधप्रशमनम्।" (भा०) "पाटलाग्निमन्थ-श्योनाक-बिल्व-काश्मर्य-कण्टकारिका-बृहती-शालपर्णी-पृश्निपर्णी-गोक्षुरका--इति-दशेमानि शोथहराणि भवन्ति।"

--च० सू० अ० ४

←उत्पन्न करनेवाले द्रव्य हैं। (३) कई मूलग्रन्थियों को धो डालते हैं; जैसे--पानी, चावल का माँड, जौखार। इनको मूत्रविरजनीय (Refrigerant diuretics--रिफ्रजरन्ट् डाइयुरेटिक्स्) कहते हैं। मूत्र का स्वाभाविक रंग लानेवाले द्रव्य। मूत्रविरेचनीय--बाँदा, गोखरू, खस, बिसखंपरा, पाषाणभेद, डाभ, काँस, रोहिषघास के मूल (डॉ. वा. दे.)। मूत्रविरेचनीय द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुदिर्र बौल' कहते हैं।

१--यूनानी वैद्यक में कासहर द्रव्य को 'मुजय्यल सुर्फा' कहते हैं।

२--श्वासहर द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुसक्किन तनफ्फुस' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शोथ (सूजन) को दूर करनेवाले द्रव्यों को **शोथहर** कहते हैं। जैसे—दशमूल, पुनर्नवा आदि। **सुश्रुत ने विदार्यादि और करमर्दादि गण को शोथहर** लिखा है। र० वै० सू० में शोथहर को सर्व रस तथा शीत, मृदु और पिच्छिल इन गुणों को आश्रित तथा पृथिवी और जल के गुणों की अधिकतावाला लिखा है[1]।

श्वयथुकरं–श्वयथुजननम्—

सुश्रुत-नागार्जुनाभ्यां श्वयथुकर (श्वयथुकरण-श्वयथुजनन) **द्रव्यमपि निर्दिष्टं; "यथा-इहौषधकर्माणि × × × श्वयथुकर-विलयन × × × विषप्रशमनादि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति। (सु. सू. अ. ४०।५)। श्वयथुकरत्वं च भल्लातकादीनाम् (हा.) "मधुर-कषाय-वर्जितान् रसान तीक्ष्णोष्ण-रूक्षांश्च गुणान् श्वयथुजननम्। तदाग्नेयं वायव्यं च। (र. वै. ४।१७,१८)। "मधुर-कषायवर्जितान् रसान् तीक्ष्णादीन् गुणांश्चाश्रित्य वर्तते तद्वीर्यम्। अग्नि-वायु-विश्लेषणं कृत्वोर्ध्वमुद्धूय शोथजननसमर्थौ भवतः।" (भा.)**

सुश्रुत और नागार्जुन ने श्वयथुकर द्रव्य भी लिखा है। नागार्जुन लिखते हैं कि—श्वयथुकर द्रव्य मधुर और कषाय रस छोड़ कर अन्य चार रस (अम्ल, लवण, कटु और तिक्त) तथा तीक्ष्ण, उष्ण और रूक्ष इन गुणोंवाला तथा अग्नि और वायु इन महाभूतों की अधिकतावाला होता है। **कविराज हाराणचन्द्रजी ने** श्वयथुकर का उदाहरण भिलावा लिखा है।

ज्वरहरम्—

ज्वरं ज्वरसंतापं हरतीति ज्वरहरम्। "सारिवा-शर्करा-पाठा-मञ्जिष्ठा-द्राक्षा-पीलु-परूषकाभयामलक-बिभीतकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति।

—च. सू. अ. ४

ज्वर को नष्ट (ज्वर के संताप-वेग को कम) करनेवाले द्रव्य को **ज्वरहर, ज्वरप्रशमन** या **ज्वरघ्न** कहते हैं। जैसे—पाठा, अनन्तमूल, चीनी, मजीठ, आदि। **सुश्रुत ने या पटोलादि और सारिवादि गण को ज्वरहर** लिखा[2] है (सू. अ. ३८)।

१—शोथहर द्रव्य को यूनानी में **मुहल्लिल वर्म** कहते हैं।

२—**ज्वरहर** (Antipyretics–ॲन्टिपाइरेटिक्स् ; Antifebrile–ॲन्टि फेब्राइल् ; Febrifuge फेब्रिफ्युज)—ये द्रव्य ज्वर में किंवा किसी भी रोग में उष्णता कम करते हैं। इनकी शरीरपर क्रिया अनेक प्रकार से होती है। (१) कई त्वचामें से उष्णता का अपहरण करते हैं जैसे—ठण्ढे जल से अङ्ग धोना, स्वेदन द्रव्य। (२) कई त्वचा की केशिकाओं को विकसित करते हैं, जिससे परिणामरूप में उष्णता स्वयं बाहर निकलती है जैसे—मद्य, सुरमा, बछनाग। (३) कई ज्वर उत्पन्न करनेवाले विष का नाश करते हैं ; जैसे—सोमल। (४) कई उष्णता के केन्द्रों पर शामक क्रिया करते हैं, जिससे →

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्रमहरम्–श्रमनाशनम्-श्रमघ्नम्––

"द्राक्षा-खर्जूर-प्रियाल-बदर-दाडिम-फल्गु-परूषकेक्षु-यव-षष्टिका इति दशेमानि श्रमहराणि भवन्ति।"

––च० सू० अ० ४

श्रम (थकान) को दूर करनेवाले द्रव्य को **श्रमहर** कहते हैं। जैसे—मुनक्का, खजूर, चिरौंजी, अनार, अंजीर, फालसा, गन्ना आदि।

दाहप्रशमनम्–निर्वापणम्––

दाहं प्रशमयतीति दाहप्रशमनम्, एवमुदर्दप्रशमनादयः (यो.)। "निर्वापणं दाहौष्ण्यशमनम्" (चि० चि० २५।४० पर च० द०) "लाजा-चन्दन-काश्मर्यफल-मधूक-शर्करा-नीलोत्पलोशीर-सारिवा-गुडूची–ह्रीबेराणीति दशेमानि दाह-प्रशमनानि भवन्ति।"

–च० सू० अ० ४

जो द्रव्य बाह्य या आन्तर दाह-जलन और उष्णता को शान्त करे, उसे **दाह-प्रशमन, दाहहर** या **निर्वापण** कहते हैं। जैसे––धान का लावा (खील), चन्दन, चीनी, कमल, अनन्तमूल, गिलोय, खस आदि। सुश्रुत ने सारिवादि, अञ्जनादि, न्यग्रोधादि, गुडूच्यादि और उत्पलादि गण को दाहनाशन लिखा है[1]।

दहनम्–

"अग्नेर्दहनशक्तिवत्त्वङ्मांसास्थिदाहे।" (र० वै० ४।२२)। दहनं क्षारादीनाम् (ड० सु० सू० अ० ४०।५)।

जो द्रव्य अग्नि की तरह त्वचा-मांस आदि को जला देता है, उसको **दहन** कहते हैं[2]।

→उष्णता उत्पन्न नहीं होती; जैसे––कुनैन, बेदमुश्क। ज्वरहर द्रव्यों का एक भेद **कालज (नियतकालिक) ज्वर-नाशन** (Anti-periodics—अँन्टिपीरिओडिक्स्) है। ये द्रव्य बारी से आनेवाले रोगों का विष नष्ट करते हैं। इनसे ज्वर भी कम होता है जैसे––कुनैन, सोमल (डॉ० वा० दे०)। ज्वरहर द्रव्य को यूनानी वैद्यक में **'दाफिअ हुम्मा'** कहते हैं। नियतकालिक ज्वर नाशक को यूनानी वैद्यक में **'मानिअ नौबत हुम्मा'** कहते हैं।

१—**दाहशमन** (Refrigerants––रिफ्रिजरन्ट्स्)––ये द्रव्य ज्वर में उष्णता कम करते हैं और गले तथा मुख में आर्द्रता लाकर तृषा को शान्त करते हैं। जैसे––फलों का रस, बहुत हल्का द्राक्षारिष्ट, स्वेदजनक द्रव्य (डॉ० वा० दे०)। दाहप्रशमन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में **'मुत्फी', 'मुबर्रिद,' 'तक्लील हरारत'** और **'मुसक्किन हरारत,** कहते हैं।

२—दहन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में **'मुहरिक'** कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शीतप्रशमनम्--

शीतं प्रशमयतीति शीतप्रशमनम् । "तगरागुरु-धान्यक-शृङ्गबेर-भूतिक-वचा-कण्टकार्यग्निमन्थ-श्योनाक-पिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)। "रास्नागुरूणि शीतापनयनप्रलेपनानाम्।" (च० सू० अ० २५)

जो द्रव्य शीत (ठण्ड लगने को) शान्त करे और रोके, उसे शीतप्रशमन कहते हैं। जैसे--तगर, अगरु, अजवायन, वच, कूठ, चोरा आदि।

उदर्दप्रशमनम्-कोठनाशनम्--

उदर्दो वरटीदष्टाकारः शोथः, तत्प्रशमनम् उदर्दप्रशमनम्; न पुनरिह महारोगाध्याये पाठितो वातविकारो गृह्यते, तिन्दुकादीनामुदर्दप्रशमनानां वातं प्रत्यननुकूलत्वात् (च० द०)। "शीतपानीयसंस्पर्शाच्छीतकाले विशेषतः। सरागकण्डूः शोफः स्यादुदर्दः स कफोद्भवः॥" इति; साधवस्तु--"वरटी-दष्टसंस्थानः शोफः संजायते बहिः। सकण्डू-तोदबहुलश्छर्दि-ज्वरविदाहवान्॥ उदर्दं तं विजानीयाच्छीतपित्तमथापरे॥" इति (यो०)। "तिन्दुक-प्रियाल-बदर-खदिर-कदर-सप्तपर्णाश्वकर्णार्जुनासनारिमेदा इति दशेमान्युदर्दप्रशमनानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

उदर्द (पित्ती-ददोड़े उठने) को शान्त करनेवाले द्रव्य को उदर्दप्रशमन कहते हैं। जैसे--चिरौंजी, बेर, अर्जुन, बिजयसार आदि। सुश्रुत ने एलादिगण को कोठनाशन लिखा है।

अङ्गमर्दप्रशमनम्--

"विदारीगन्धा-पृश्निपर्णी-बृहती-कण्टकारिकैरण्ड-काकोली-चन्दनोशीरैला-मधुकानीति दशेमान्यङ्गमर्दप्रशमनानि भवन्ति।" --च० सू० अ० ४

जो द्रव्य अङ्गमर्द (शरीर की पीडा-दर्द) को शान्त करे, उसे अङ्गमर्दप्रशमन कहते हैं; जैसे--सरिवन, पिठवन आदि।

शूलप्रशमनम्--

"पिप्पली - पिप्पलीमूल - चव्य - चित्रक-शृङ्गबेर-मरिचाजमोदाजगन्धाजाजी-गण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति" --च० सू० अ० ४

जो द्रव्य शूलरोग को शान्त करे, उसे शूलप्रशमन कहते हैं। जैसे--छोटी पीपल, पीपलामूल, सोंठ, जीरा आदि।

शोणितस्थापनम्-रुधिरसंस्थापनम्--

शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य तत् प्रकृतौ स्थापयतीति शोणितस्थापनम् (च. द.)। शोणितं स्थापयति अतिप्रवृत्तं स्तम्भयतीति शोणितस्थापनम् एवं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वेदनास्थापनादयः (यो.) । रुधिरसंस्थापनं पुरुषस्य रुधिरवृद्धि-स्थैर्यकरम् (इ.) । शोणितास्थापनं शोणितातिप्रवृत्तिस्तम्भनम् । (सु. चि. १।४८ ड.) । "मधु-मधक-रुधिर-मोचरस-मृत्कपाल-लोध्र-गैरिक-प्रियंगु-शर्करा-लाजा इति दशेमानि शोणितस्थापनानि भवन्ति । (च. सू. अ. ४) । रुधिरं कुंकुमम् (च. द.) ; रुधिरं प्राणिरुधिरम् (इं. अ. हृ. सू. अ. १५) ।

जो द्रव्य दोषदूषित रक्त के दोष (विकृति) को दूर करके उसको स्वाभाविक स्थिति में लाए उसे **शोणितस्थापन** कहते हैं (च. द.) । जो द्रव्य अत्यन्त बहते हुए रक्त (रक्तस्राव) को रोके, उसे **शोणितस्थापन** या **शोणितास्थापन** कहते हैं (ड., यो.) । रुधिर की वृद्धि और स्थिरता करनेवाले द्रव्य को **शोणित-स्थापन** कहते हैं (इन्दु) । जैसे--=मुलेठी, केसर, मोचरस, लोध, गेरू, आदि । सुश्रुत ने अञ्जनादि गण को रक्तपित्तहर लिखा है । चरक ने गंभारी के फल और अजाक्षीर को रक्तसंग्राहिक और कमल के केशर को **रक्तपित्तप्रशमन** लिखा है (च. सू. अ. २५) ।

यहाँ 'शोणितस्थापन' शब्द से टीकाकारों ने तीन वर्ग लिये हैं ; -(१) दुष्ट रक्त को शुद्ध करनेवाले (**रक्तसंशोधक-रक्तप्रसादन**), (२) **रक्तस्तम्भन**, (३) और **रक्तवर्धक** ।

वेदनास्थापनम्--

वेदनायां संभूतायां तां निहत्य शरीरं प्रकृतौ स्थापयतीति वेदनास्थापनम् (च. द.) । वेदनायाश्चिच्छक्तेः संतर्पकं वेदनास्थापनम् (इ.) ।

१--शोणितास्थापन (Hoematinies--हिमॅटिनिक्स Hoematies--हिमॅटिक्स् Blood tonics--ब्लड् टॉनिक्स्) रक्त को पूर्व स्थिति पर लानेवाले द्रव्य । ये द्रव्य रक्त की लाली बढ़ाते हैं रक्त को बढ़ाते हैं और इनके द्वारा रक्त-कण अच्छे होते हैं जैसे--लोह, प्रवाल, जवाखार, सांवरसींग की भस्म, कल्शियम् (सुधा-चुना) के बने द्रव्य, कोयले का पत्थर (Manganese--मॅन्गॅनीझ,) फॉस्फॉरस्, फॉस्फॉरस् के चूने के मेल से बने क्षार, मच्छी का तेल । रक्तस्कन्दन (सु. सू. अ. १४ श्लो. ३३) Styptics--स्टिप्टिक्स् --ये द्रव्य चुपड़े जानेपर अपने कषाय गुण के कारण तथा प्रत्यक्ष सयोग से रक्त का स्राव बन्द करते हैं, ये रक्त को जमाते हैं किंवा केशिकाओं को संकुचित करते हैं ; जैसे--फिटकरी, माजूफल, कसीस । ये केशिकाओं को संकुचित करके स्राव को बन्द करते हैं (स्कन्दन) । कषाय द्रव्य रक्त को जमा करके स्राव बन्द करते हैं (संधान) । रक्तसंग्राहिक (Haemostatics - हिमॉस्टॅटिक्स्) ये द्रव्य पेट में पहुँचकर रक्त-, द्वारा बहते हुए रक्तस्राव को रोकते हैं--जैसे कैल्शियम् क्लोराइड्, अर्गट माजूफल, गंधाविरोजा, सीसा, रानघेवड़ा (जंगली सेम) के मूल (डॉ. वा. दे.) । रक्तप्रसादन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुसफ्फी खून, रक्तस्तम्भन को 'हाबिस दम' तथा 'कातिउन्नजीफ' और रक्तवर्धक औषध को 'मुवल्लिद खून' कहते हैं ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

"शाल[1]-कट्फल-कदम्ब-पद्मक-तुङ्ग-मोचरस-शिरीष-वञ्जुलैलवालुकाशोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति। —च. सू. अ. ४

जो द्रव्य वेदना (पीड़ा) को नष्ट करे, उसे वेदनास्थापन कहते हैं। जैसे—शाल (सखुआ), कायफल, पद्माख, अशोक आदि[2]।

संज्ञास्थापनम्—संज्ञाप्रदम्—

संज्ञां ज्ञानं स्थापयतीति संज्ञास्थापनम् (च. द. यो.)। "हिंगु-कैडर्या-रिमेद वचा-रोचक-वयस्था-गोलोमी-जटिलां-पलङ्कषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति। —च. सू. अ. ४

जो द्रव्य संज्ञा अर्थात् ज्ञान (होश) को पुनः लानेवाला हो, उसे संज्ञास्थापन कहते हैं। जैसे—हींग, बकायन, बच, चोरा, ब्राह्मी, जटामांसी, गूगल आदि।

प्रजास्थापनम्—गर्भस्थापनम्—

प्रजोपघातकं दोषं हृत्वा प्रजां स्थापयतीति प्रजास्थापनम् (च. द.)। प्रजां गर्भं स्थापयति दोषं निरस्येति प्रजास्थापनम् (यो.)। "ऐन्द्री-ब्राह्मी-शतवीर्या-सहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथा-शिवाऽरिष्टा-वाट्यपुष्पी-विष्वक्सेनकान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति। —च. सू. अ. ४

जो द्रव्य प्रजा (गर्भ) की उत्पत्ति या स्थिति के बाधक दोष को नष्ट कर प्रजा की स्थापना करे (गर्भधारण कराये), उसे प्रजास्थापन कहते हैं। जैसे—ब्राह्मी, दूब आदि[3]।

वयःस्थापनम्—वयस्यम्—

वयः तरुणं स्थापयतीति वयःस्थापनम् (च. द., यो.)। "वयसे हितं वयस्यं, जरामभिहत्य यौवनं रक्षति। (र० वं० पृ० १८३)। "अमृताऽभया-धात्री-मुक्ता-श्वेता-जीवन्त्यतिरसा-मण्डूकपर्णी-स्थिरा-पुनर्नवा इति दशेमानि वयः-स्थापनानि भवन्ति। (च. सू. अ. ४) "आमलकं वयःस्थापनानाम्। (च. सू. अ. २५)।

१—"शैल" इति अ. सं. पा.

२—वेदनास्थापन (Anodynes—अॅनोडाइन्स (Analgesics—अॅनाल्जसिक्स्)—ये द्रव्य वेदना कम करते हैं। इनकी क्रिया मस्तिष्क किंवा ज्ञाननाड़ियों पर होती है। जैसे—अफीम, गाँजा, बेलाडोना, बछनाग (डॉ० वा० दे०)। वेदनास्थापन औषध को यूनानी वैद्यक में 'मुसक्किन अलम' और 'मुसक्किन वजा' कहते हैं।

३—प्रजास्थापन—ये द्रव्य प्रजा (संतान) का प्रतिबन्ध करनेवाले रोग को दूर कर प्रजोत्पत्ति में सहायता देते हैं। जैसे—फिरङ्गोपदंश में सोना, पूयमेह में चाँदी इत्यादि (डॉ. वा. दे.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य वय–तरुणावस्था (जवानी) को स्थिर रखे, उसे **वयःस्थापन** कहते हैं। जैसे––गिलोय, हरड़, आँवला आदि। यह वर्ग रसायन वर्ग का ही एक भेद है। जो द्रव्य जरावस्था को रोककर यौवन की रक्षा करे, उसे वयस्य कहते हैं[1]। (र० वै० अ० ४।२७)।

चरक के पञ्चाशन्महाकषाय[2] के नाम से कहे हुए पचास वर्गों का वर्णन किया गया है। चरक के सू. अ. २२ में कहे हुए लङ्घनादि छः वर्गों में से बृंहण का वर्णन पीछे पृ० ३२ पर किया गया है; शेष लङ्घन, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तम्भन इन पाँच वर्गों की व्याख्या की जाती है।

लङ्घनम्––

"यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्। लघूष्ण-तीक्ष्ण-विशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्॥ कठिनं चैव यद् द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम्।" (च. सू. अ. २२) यत्किंचिद् द्रव्य-गुण-कर्मरूपं देहे लघुत्वमुत्पादयति तल्लङ्घनं स्मृतम्। प्रायोग्रहणादेवंगुणमपि किञ्चिल्लङ्घनं न भवति, उष्णगुणस्य पिप्पल्यादेर्वृष्यतया संतर्पणकार्यदर्शनात्। एवं बृंहणेऽप्युन्नेयम्। यथा––शीतस्यापि प्रियंगु-श्यामाकादेः कर्शनत्वम्। (च. द.)। "लङ्घनं लाघवाय यत् देहस्य।" (अ. सं. सू. अ. २४)। देहस्य यल्लाघवाय कल्पते तल्लङ्घनम्। आग्नेय-वायव्य-नाभसं लङ्घनमिति (इ.)। लघ्वादिनवगुणयुक्तमग्नि-वायु-नभोगुणाधिकं च द्रव्यं लङ्घनं भवति। चरकेण द्रव्याद्रव्यरूपं दशविधं लङ्घनमुक्तं; यथा––"चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्।" (च. सू. अ. २२) इति। चतुष्प्रकारा संशुद्धिरिति अनुवासनं वर्जयित्वा, तस्य बृंहणत्वात्। पिपासेति पिपासानिग्रहः। मारुतो यद्यपि सोमसंबन्धात् तथा लङ्घनं न भवति, तथाऽपि स्वरूपेण लङ्घनमेव। पचन्तमग्निं प्रतिपक्षक्षपणेन बलदानेन च यत् पाचयति तत् पाचनम्; तच्च वाय्वग्नि-गुणभूयिष्ठम् (च. द.)। अत्र वमन-विरेचनास्थापनशिरोविरेचन-पाचनानि पञ्च द्रव्यरूपाणि, शेषाणि पिपासादीनि पञ्चाद्रव्यरूपाणि लङ्घनानि ज्ञेयानि। वाग्भटेन शोधन-शमनरूपं द्विविधं लङ्घनमुक्तं; यथा––"शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम्। यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं च तत्॥ निरूहो वमनं काय-शिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः। न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि॥

१––वयःस्थापन (Youth preserver––यूथ् प्रिझर्वर्; Youth restorer-यूथ् रिस्टोरर्)––बुढ़ापे को प्रकट न होने देनेवाले द्रव्य (डॉ० वा० दे०)।

२––अष्टाङ्ग-संग्रह में पञ्चचत्वारिंशन्महाकषायों का वर्णन सूत्रस्थान के १५ वें अध्याय में दिया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

समीकरोति विषमान् शमनं, तच्च सप्तधा। पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्-व्यायामातप-मारुताः॥" इति (अ. सं. सू. अ. २४; अ. हृ. सू. अ. १४)।

जो द्रव्य (गुण और कर्म भी) शरीर में हलकापन लाता है, उसे लङ्घन कहते हैं। जो द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन—इन नौ गुणों से युक्त होता है, वह प्रायः लङ्घन होता है। 'प्रायः' कहने का तात्पर्य यह है कि, ऐसे गुणोंवाला होने पर भी कोई द्रव्य लङ्घन नहीं होता; जैसे—छोटी पीपल वृष्य होने से उसका संतर्पण कार्य देखा जाता है। इसी प्रकार बृंहण आदि में भी 'प्रायः' शब्द का तात्पर्य जानना चाहिए। जैसे—कांग और सामा शीत होनेपर भी शरीर का कर्शन करनेवाले हैं। लङ्घन द्रव्य अग्नि, वायु और आकाश की अधिकतावाले होते हैं। लङ्घन द्रव्यों का कोई विशेष गण-वर्ग नहीं बताया गया है, परन्तु उसे चरक ने छः प्रकार के उपक्रमों में तथा वाग्भट ने दो प्रकार[1] के उपक्रमों में अन्यतम उपक्रम बताया है। चरक ने चार प्रकार का शोधन (वमन-विरेचन-आस्थापन-शिरोविरेचन), तृषा को रोकना (जल कम पीना), वायु तथा धूप का सेवन, पाचन और उपवास ये दस प्रकार के लङ्घन लिखे हैं। इनमें चार प्रकार के शोधन (वमन-विरेचन-आस्थापन-शिरोविरेचन) और पाचन ये पाँच द्रव्यरूप हैं और शेष पाँच अद्रव्यरूप हैं। वाग्भट ने शोधन और शमन दो प्रकार का लङ्घन लिखा है। उन्होंने शोधन में रक्तमोक्षण और द्रव्यरूप लंघन में दीपन अधिक बताया है।

रूक्षणम्—

"रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात् तद्धि रूक्षणम्। रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्॥ प्रायशः कठिनं चैव यद् द्रव्यं तद्धि रूक्षणम्।" (च० सू० अ० २२)। रौक्ष्यमित्यादौ रोक्ष्यमेव प्रधानं बोद्धव्यं, खरत्व-वैशद्ये तु तदनुगते। रूक्षणद्रव्यकथने यद्गुणमेव लङ्घनद्रव्यमुक्तं तद्गुणमेव रूक्षणं यद्यप्युक्तं, तथाऽपि रूक्षगुणस्यात्र प्राधान्यं, लङ्घने तु लघुगुणप्राधान्यं ज्ञेयं; तथा लङ्घनमद्रव्येणोपवासेनापि क्रियते, रूक्षणं तु द्रव्यकार्यतयैव प्राधान्यादुक्तं; तेन लङ्घन-रूक्षणयोर्नैकता। यत्तु वक्ष्यति—"कृतातिकृतलिङ्गं यल्लङ्घिते तद्विरूक्षिते।" (च० सू० अ० २२।३९) इति, तत् प्रायोवादात्। विरूक्षणस्य हि मुख्यः स्नेहाभावः साध्यः, लङ्घनस्य तु गौरवाभाव इति स्फुट एव भेदः प्रतिभाति (च० द०)। प्रायश इति क्वचिदेवंगुणमपि द्रव्यं रूक्षणं न भवति। यथा—लघ्वपि सार्षपं

१—वाग्भटने संतर्पण (बृंहण) और अपतर्पण (लङ्घन) ये दो उपक्रम लिखे हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तैलं छागं दुग्धं च स्नेहनम् । एवं वक्ष्यमाणस्नेहनेऽपि ज्ञेयम् । यथा--यवो गुरु-शीत-सारादिगुणयुक्तोऽपि रूक्षणः, तथा राजमाषोऽपि (यो०) ।

जो द्रव्य शरीरमें रूक्षता, खरता तथा विशदता (अपिच्छिलता) लाता है, उसे रूक्षण कहते हैं जो द्रव्य रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण और स्थिर-इन छः गुणोंवाला तथा अपिच्छिल हो, वह प्रायः रूक्षण होता है 'प्रायः' कहने का प्रयोजन यह है कि कोई द्रव्य इन गुणोंवाला होता हुआ भी रूक्षण नहीं होता। जैसे--सरसों का तेल तथा बकरी का दूध लघु होते हुए भी स्नेहन है। स्नेहन द्रव्य के विवरण में आये हुए 'प्रायः' शब्द का भी यही प्रयोजन जानना चाहिए। जैसे--यव तथा लोबिया गुरु, शीत, सर आदि गुणयुक्त होता हुआ भी रूक्षण होता है। यहाँ यह जानना चाहिए कि लङ्घन द्रव्यके जो गुण कहे हैं वही रूक्षण द्रव्य के भी, परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है कि लङ्घन द्रव्य में लघु गुण की प्रधानता होती है और रूक्षण द्रव्य में रूक्ष गुण की प्रधानता होती है। अपरं च, लङ्घन अद्रव्यभूत उपवास आदि से भी होता है, परन्तु रूक्षण केवल द्रव्य का ही कार्य है[1]।

स्नेहनम्--

"स्नेहनं स्नेह-विष्यन्द-मार्दव-क्लेदकारकम् । द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम् ॥ प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत् स्नेहनं स्मृतम् ।" (च० सू० अ० २२)। विष्यन्दो विलयनम् (द्रवीभाव इत्यर्थः--यो०) (च० द०)। स्नेहविष्यन्दः शरीरस्य स्नेहविलयनं, शरीरात् स्नेहक्षरणमिव। स्नेहविष्यन्दादिभिरनुमीयते देहे स्निग्धत्वमिति (ग०)।

जो द्रव्य शरीरमें स्निग्धता, द्रवपना अथवा स्नेह का क्षरण (शरीरसे स्नेह चूना, टपकना-सा), मृदुता तथा क्लेद उत्पन्न करें, उसे स्नेहन कहते हैं। जो द्रव्य द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द तथा मृदु-इन नौ गुणोंवाला हो, वह प्रायः स्नेहन होता है। जैसे--घृत, तैल, वसा, मज्जा आदि[2]।

स्वेदनम् स्वेदजनकम्--

"स्तम्भ-गौरव-शीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम् । उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् । द्रव्यं गुरुच यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते।" (च०सू०अ० २२)।

१--रूक्षण द्रव्य को यूनानीवैद्यक में 'मुजफिफ' कहते हैं।

२--स्नेहन (Demulcents--डिमल्सन्ट्स्)--इन औषधों का स्पर्श जिस-जिस भाग से होता है, उस-उस भाग का ये द्रव्य रक्षण करते हैं। ये स्निग्ध या तैलयुक्त होते हैं। जैसे--अलसी, बादाम, निशास्ता, मुलेठी (डा० वा० दे०)। स्नेहन द्रव्य को यूनानी वैद्यकमें 'मुरत्तिब' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्वेदकारकं घर्मकारकम्। स्वेदनगुणकथने स्निग्धं रूक्षमिति स्निग्धं वा रूक्षं वेत्यर्थः। एवं सर-स्थिरावपि विकल्पेन ज्ञेयौ (च० द०)। स्तम्भो गात्राणां निश्चलीभावः (यो०)। "स्वेदनाश्चरणायुधाः" (च० सू० अ० २७)।

जो द्रव्य स्तम्भ (अङ्गोंकी निश्चेष्टता-जकड़ना-सा), गौरव तथा शीत को नष्ट करे और पसीना लावे, उसे स्वेदन कहते हैं। जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, स्निग्ध वा रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, सर वा स्थिर तथा गुरु हो वह प्रायः स्वेदन होता है[1]।

स्तम्भनम् स्तम्भी—

"स्तम्भनं स्तम्भयति यद्गतिमन्तं चलं ध्रुवम्। शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्॥ यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम्।" (च० सू० अ० २२)। गतिमन्तमिति प्रव्यक्तगतियुक्तं, चलं किंचिद्गतिमन्तम् (ग.)। गतिमन्तं बहिर्निःसरन्तम्; एतद्वम्यतिसार-शोणितस्रावादौ बोद्धव्यम्। तथा चलमन्तश्चलनशीलं, यथा—रुधिरपित्ते; एतच्च पित्त-क्षाराग्निदाह-विषार्तादौ (यो.)। "रौक्ष्याच्छैत्यात् कषायत्वाल्लघुपाकाच्च यद्भवेत्। वातकृत् स्तम्भनं तत् स्याद्यथा वत्सक-टुण्टुकौ॥" (शा० प्र० ख० अ० ४)। यद् द्रव्यं रौक्ष्यात् रूक्षगुणत्वात् शैत्यादिति शीतवीर्यत्वात्, कषायरसत्वात्, लघुपाकाच्च लघुपरिपाकाद् वातकृद्भवति तत् स्तम्भनं स्यात्; वातगुणसाधर्म्ये हेतुचतुष्टयम्। अनिलस्य शोषणात्मकत्वेनानिलगुणभूयिष्ठं द्रव्यं स्तम्भनं भवतीत्यभिप्रायः। यथा—वत्सक-टण्टुकौ; वत्सकः कुटजः, टुण्टुकः श्योनाकः। वातकृदित्यनेन कोष्ठवायोर्विष्टम्भकं, तस्मात् तद् द्रव्यं स्तम्भनं भवतीत्यर्थः (अ.)।

जो द्रव्य गतिमान्, (स्पष्टगतियुक्त— ग.; वमन, अतिसार आदि के रूप में शरीर से बाहर निकलते हुए—यो.) या चल (किंचित् गतिमान्—ग.; शरीर के अन्दर गतिमान् रुधिर और पित्त—यो.) द्रव पदार्थ को रोके, उसे **स्तम्भन** कहते हैं। जो द्रव्य शीत, मन्द, मृदु, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर तथा लघु-इन नौ गुणोंवाला हो, वह प्रायः स्तम्भन होता है (च.)। जो द्रव्य रूक्ष, शीत, कषाय रसवाला और वातकर हो, वह स्तम्भन होता है। जैसे—कुड़ा और सोनापाठा (शा.)। सुश्रुत ने लोध्रादि गण को स्तम्भी कहा है (सु० सू० अ० ३८)। वमन, अतिसार,

---

१—स्वेदन (Diaphoretics – डाएफॉरेटिक्स्; Sudorifics – सुडॉरिफिक्स्)-इन द्रव्यों से पसीना छूटता है। इनकी क्रिया अनेक प्रकार से होती है। (१) सुषुम्णाकाण्ड के स्वेदकेन्द्र को उत्तेजित करके। (२) त्वचा की रक्तवाहिनियों को विकसित करके; जैसे—सुरमा, इपिकाक्युआना आदि द्रव्य। (३) स्वेदग्रन्थियों में स्थित नाड़ियों के सिरों को उत्तेजित करके (डा० वा० दे०)। स्वेदन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुअर्रिक' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रक्तपित्त, अतिस्वेद आदि के रूप में शरीर से निकनेवाले द्रव पदार्थ को रोकने-वाला द्रव्य स्तम्भन कहलाता है[1]।

संशमनम्--शमनम्--

"आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनम्" (सु. सू. अ. ४१)। "वायु-सोम-मही-जातं तथा संशमनं विदुः॥" (र. वै. पृ १८७)। "न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा॥ पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातप-मारुताः। बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च।" (अ. हृ. सू. अ. १४)। संप्रति शमनाख्यस्य लक्षणं प्रभेदं चाधिकृत्याह—नेत्यादि। यदौषधं दोषान् वातादीन् न शोधयति नान्तःस्थितान् बहिर्निष्कासयति, तथा समान् स्वप्रमाणस्थान्नोदीरयति न चोत्क्लेशयति, विषमांश्च स्वप्रमाणाद्धीनाधिकभावावस्थितान् समीकरोति स्वप्रमाणस्थान् विदधाति, तच्छमनमुच्यते। तच्च सप्तधा सप्तप्रकारं पाचनादिभेदेन। तत्रान्तरे दीपन-पाचनयोर्लक्षणमुक्तं; यथा—"यदग्निकृत् पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम्। पाचनं तद्विपर्यस्तं यथा वक्ष्यामि लङ्घनम्॥" इति; क्षारपाणिनाऽप्युक्तं—"पाचनं पाचयेद्दोषान् सामान् शमनमेव तु। दीपनं ह्यग्निकृत्त्वामं कदाचित् पाचयेन्न वा॥" इति। क्षुतृट्शब्दाभ्यां क्षुत्तृष्णानिग्रहावेह गृहीतौ। पाचनादीनां दोषशमनत्वमुक्तम्। तच्च वाते वात-पित्ते च न संभवतीत्याह—बृंहणमित्यादि। तुशब्दो विशेषे। विशेषस्तु लङ्घनापेक्षया। शोधनं शमनं चेति द्विधा लङ्घनमुक्तम्। बृंहणमपि शोधनं भवति। यथा--दुग्धादिद्रव्यम्, शोधनस्वभावद्रव्यत्वाद्। तेन तथाविधेन द्रव्येण केवलस्य वातस्य पित्तयुक्तस्य वा कोप आशंक्यते; यथा—शोधनद्रव्येण केवलस्य वातस्य पित्तयुक्तस्य वा कोप आशंक्यते; यथा—लङ्घनेन शोधन-द्रव्येण हरीतक्यादिना। ततो बृंहणस्य विशेषार्थस्तुशब्दः कृतः। बृंहणं यच्छोधनं तन्मरुतः केवलस्य पित्तसहितस्य वा शमनं, न तु लङ्घन-शोधनवत् कोपनम्। एवकारोऽवधारणार्थः;। बृंहणं शोधनरूपं वातस्य पित्तयुक्तस्य वा शमनमेवोक्तं, न कोपनं जातुचिदित्यर्थः। लङ्घनं तूभयरूपमपि वातस्य वात-पित्तयोर्वा कोपनमेव (अ. द.)। ×××। शोधन-शमनव्यतिरिक्तस्यौषधस्याभावात्, तयोश्च लङ्घनभेदत्वाद् बृंहणस्यानौषधत्वे प्राप्ते बृंहणं शमनमेवेत्याह--बृंहणं शमनं त्विति। शुद्धस्य पित्तसंसृष्टस्य च वायोर्विषमस्य समीकरणाच्छमनम् (हे.)। "न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषांस्तथोद्धतान्। समीकरोति विषमाञ्छमनं तद्यथाऽमृता॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यत्किंचित् पीत-लीढाशितमनिर्हृत्य दोषं संशमयति तत् संशमनम्। एतेन किमुक्तं ? यद् द्रव्यं न

१--यूनानी वैद्यक में स्तम्भन द्रव्य को 'हाबिस' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वामयति न विरेचयति किन्तु व्याधिना सह एकीभूय तत्स्थमेव व्याधिमुपशमयति तत् संशमनमिति भावः। दोषशब्दोऽत्र दोषेषु दोषकार्येषु व्याधिष्वपि वर्तते, कार्ये करणोपचारात्। असमं समं करोतीति समीकरोति। यथा—अमृता गुडूची संशमनी प्रसिद्धा। ×××। केचित्तु—"न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति च क्रुद्धांस्तत् संशमनमुच्यते॥" इति पठन्ति। अत्रापि स एवाभिप्रायः। सम्यक् शमयतीति संशमनं, सम्यग्दुष्टदोषस्यानिर्हरणपूर्वकं शमनमदुष्टस्यानुदीरणं च; व्याधिशमने तु प्रस्तुतव्याधिशमनमप्रस्तुतव्याधेरनुदीरणमिति (अ.)।

जो द्रव्य सम अवस्था में स्थित दोषों का वमन-विरेचनादि के द्वारा शोधन नहीं करता, एवं उन्हें बढ़ाता भी नहीं—उनका प्रकोपण भी नहीं करता, किन्तु बढ़े हुए दोषों को शरीर के भीतर ही शान्त करता है—पुनःसाम्यावस्था में लाता है, उसे संशमन या शमन कहते हैं[1]। जैसे—गिलोय। 'दोष' शब्द से दुष्ट वातादि और उनके कार्यभूत व्याधि दोनों लिये जाते हैं। 'दोष' शब्द से वातादि-दोषपक्ष में अर्थ ऊपर दिया है; व्याधिपक्ष में—उत्पन्न व्याधि का शमन करनेवाला और अनुत्पन्न व्याधि को उत्पन्न न करनेवाला, ऐसा अर्थ लेना चाहिये (शा.)। संशमन द्रव्य आकाश के गुणों की अधिकतावाला होता है (सु.)। संशमन द्रव्य वायु, जल और पृथिवी के गुणों की अधिकतावाला होता है (र. वै. भा.)।

संशमन द्रव्य के **वातसंशमन, पित्तसंशमन** और **कफसंशमन** ये तीन भेद करके उनके उदाहरणार्थ तीन वर्ग सु. सू. अ. ३८, अ. सं. सू. अ. १४, तथा अ. हृ. सू. अ. १५ में दिये गए हैं। उन्हे जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिए। यहाँ विस्तारभय से नहीं दिये गये हैं।

आयुर्वेद में सब प्रकार के औषधद्रव्यों का **शोधन** और **शमन** इन दो वर्गों में अन्तर्भाव माना गया है ("शोधन-शमनव्यतिरिक्तस्यौषधस्याभावात्" हे.।) जो द्रव्य प्रकुपित दोषों को वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीर से बाहर निकाले उनको **शोधन** और जो औषध दोषों को बाहर न निकाले परन्तु उनको शरीर के भीतर ही शान्त करके पुनः समावस्था में लावे उसे **शमन** कहते हैं। शमन के विषय में थोड़ा कहने का होने से शमन की व्याख्या पहले देकर अब शोधन के भेद और उनकी व्याख्या दी जाती है—

वमनम्-ऊर्ध्वभागहरं—छर्दनीयम्—

"दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्।" (च. क. अ. १)। ऊर्ध्वं मुखेन दोषनिर्हरणं

१—संशमन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुअदिल' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भजत इत्यूर्ध्वभागम् (च. द.)। "तत्रोष्ण[1] तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशी-न्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयन्ति[2], तैक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः परि-प्लवन्[3] स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणु-प्रवणभावादामा-शयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्नि-वाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते" (सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधःप्रवर्तते, उभयतश्चोभयगुण-त्वात्) इति लक्षणोद्देशः।" (च. क. अ. १)। संप्रति द्वयोरपि वमन-विरेचन-द्रव्ययोः साधारणोष्ण-तीक्ष्णत्वादिगुणयोगकृतदोषविष्यन्दनादिसाधारणकार्यदर्शन-पूर्वकमग्नि-वाय्वात्मकत्वादिविशिष्टधर्मयोगकृतं विशिष्टं च कार्यं वमन-विरेचनं दर्शयन्नाह—तत्रोष्णेत्यादि। उष्णमिति उष्णवीर्यम्। स्ववीर्येणेति स्वप्रभावेण। धमनीरनुसृत्येति सकलदेहगता धमनीरनुसृत्य; सकलदेहगतधमन्यनुसरणं च वीर्येण ज्ञेयं, न साक्षात्। आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्तीति विलीनं कुर्वन्ति। विच्छिदन्ति छिन्नं कुर्वन्ति। परिप्लवन् इतस्ततो गच्छन्। असज्जन्निति न क्वचिदपि सङ्गं गच्छन्। अणु-प्रवणभावादिति अणुत्वात्, प्रवणभावाच्च; प्रवणत्वमिह कोष्ठ-गमनोन्मुखत्वम्, अणुत्वं च अणुमार्गसंचारित्वम्। उदानप्रणुन्न इति उदानवायु-प्रेरितः। अग्नि-वाय्वात्मकत्वादिति अग्नि-वायूत्कर्षवत्त्वात्। ऊर्ध्वभागप्रभावादिति ऊर्ध्वभागदोषहरत्वरूपप्रभावात्। (एवं सलिल-पृथिव्यात्मकत्वमपि व्याख्येयम्। उभयतश्चेतिऊर्ध्वमधश्चक्षिप्यतइत्यर्थः। उभयगुणत्वादिति अग्नि-वाय्वात्मकत्वात् सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादूर्ध्वाधोभागप्रभावाच्चेत्यर्थः)। इति लक्षणोद्देश इति अनन्तरग्रन्थेन वमन-विरेचनद्रव्यस्वरूपाभिधानां कृतिमित्यर्थः। अत्र च प्रकरणे सामान्येनैव वमन-विरेचनद्रव्याणाम् 'आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्ति' इत्यनेनाग्नेयत्वं प्रतिपादितं, पुनश्च विशेषेण 'अग्नि-वाय्वात्मकत्वात्' इति पदेन वमनद्रव्यस्याग्न्या-त्मकत्वं प्रतिपाद्यते; तेन, सामान्ये विशेषे च वमनद्रव्याणामाग्नेयत्वप्रतिपादनात् प्रकृष्टमाग्नेयत्वं भवति; विरेचनद्रव्याणां तु सामान्योक्ताग्नेयत्वसंबन्धाद् विशेष-

---

१—"तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्म-व्यवायिविकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य सौक्ष्म्याद् व्यवायित्वाच्च धमनीरनुसृत्य स्नेहेन मृदूकृतेऽन्तःशरीरे स्वेदोष्मणा ऽऽर्द्रदारुवद्विष्यण्णे स्थूलाणुस्रोतोभ्यः सकलमपि दोषसंघातमौष्ण्यात् पुनर्विष्यन्द-यन्ति, तैक्ष्ण्याद्विकाशित्वाच्च विच्छिन्दयन्ति; स विष्यण्ण-विच्छिन्नो दोषसंघातः परिप्लवः स्नेहाक्तभाजनस्थ इवोदकाञ्जलिरसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमनु गम्य उदानप्रणुन्नोऽग्नि-वाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वं प्रवर्तते, सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः, उभयतश्चोभयगुणात्मकत्वा-दुभयभागप्रभावाच्च।" (अ. सं. सू. अ. २७)।

२—'विष्यन्दयन्ति महानिग्ने (कोष्ठे) स्रावयन्ति' (इन्दु)।

३—'परिप्लवः' इति ग।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणकथाप्रस्तावे च सलिल-पृथिव्यात्मकत्वाभिधानाद्वमनद्रव्यापेक्षयाऽपकृष्टमाग्नेयत्वं भवति। ×××। यच्चात्रोच्यते—वमनं यद्यूर्ध्वभागहरत्वप्रभावादूर्ध्वयति, तदाऽग्नि-वाय्वात्मकत्वादिति हेतुवर्णनं न युज्यते; यतः, यत् सोपपत्तिकं कार्यं न भवति तत् प्रभावकृतमिति व्यपदिश्यते; उक्तं हि—"प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते।" (सू. अ. २६) इति। तन्न, यतः प्रभावस्येवेह वमनकार्ये वाय्वग्न्यात्मकगुणतया वाय्वग्न्यात्मकत्वं हेतुरुपदिश्यते, न तु वाय्वग्न्यात्मकत्वं स्वतन्त्रो वमनहेतुः; तथा हि सति यदन्यदपि वाय्वात्मकमूर्ध्वभागदोषहरत्वप्रभावरहितं तदपि वमनकरं स्यात्; यथा—कटुकरसे द्रव्ये तत् स्यात्; तस्मात् प्रभावगुणतयैव हेतुवर्णनम्। एवं विरेचनद्रव्येऽपि पूर्वपक्ष-सिद्धान्तावनुसर्तव्यौ (च. द.)। ×××। स दोषसंघातः विच्छिन्नः सन् परिप्लवः सर्वतः प्लावितः संश्च स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थं क्षौद्रं यथा न तद्भाजने सज्जते तथा असज्जन्, प्रवणभावात् प्लावनत्वादामाशयमुपेत्य, उदानप्रणुन्नः सन्नग्नि-वाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रेरण-प्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते। प्रवणेति 'प्लु, प्लु गतौ' धातू, संतरणादिगति-विशेषार्थत्वात् प्रवणं प्लवनमित्येकोऽर्थः। ×××। ऊर्ध्वज्वलनत्वादग्नेः प्लवनत्वाद् वायोरग्नि-वाय्वात्मकद्रव्येण वमनं, निम्नगत्वस्वभावात् सलिलस्य, गुरुत्वात् पृथिव्याः सलिल-पृथिव्यात्मकेन द्रव्येण विरेचनं भवति। उभयतश्चोभय-गुणत्वादिति यद् द्रव्यमग्नि-वायु-सलिल-पृथिव्यात्मकं तदूर्ध्वाधोगमनप्रभावादुभयतो भागहरं, तेन दोषसंघात उभयतश्च प्रवर्तते (ग.)। "सरत्व-सौक्ष्म्य-तैक्ष्ण्य-विकाशित्वैर्विरेचनम्। वमनं तु हरेद्दोषं प्रकृत्या गतमन्यथा॥ यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनम्॥ गुणोत्कर्षाद् व्रजत्यूर्ध्वमपक्वं वमनं पुनः॥" (सु. चि. अ. ३३) विरेचनद्रव्येण सह गुणसाम्ये सति कथं वमनद्रव्यस्योर्ध्वभाग-गामित्वमित्याह—सरत्वेत्यादि। सरस्य भावः सरत्वमानुलोम्यं, गयी तु विसरण स्वभावत्वं सरत्वमाह; सूक्ष्मस्य भावः सौक्ष्म्यं, सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारित्वं; तीक्ष्णस्य भावस्तैक्ष्ण्यं, शीघ्रतरदोषस्रावणकरत्वम्; उष्णस्य भाव औष्ण्यं, सौम्यद्रव्योप-मर्दनकरणसामर्थ्यं; विकाशिनो भावः विकाशित्वं, विकाशिभावेन धातोः शैथिल्य करणसामर्थ्यम्। अत्र प्रकृतिः, स्वभावः, शक्तिविशेषः, प्रभावो, वीर्यम्, इत्यनर्था-न्तरम्। तेन प्रकृत्या वीर्येण, अन्यथागतम् ऊर्ध्वगतं; सत्यपि सरत्वादिविरेचन-गुणसाम्ये वमनस्योर्ध्वगामित्वं प्रभावप्रभावितम्। ×××। तथाहि—"ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्।" (च. सू. अ २६) इति। एतेनैत दुक्तं भवति—सरत्वादिभिर्गुणैर्विरेचनमधो दोषानपहरेत्; वमनस्य तुल्य-गुणत्वेऽपि वीर्येणोर्ध्वगामित्वम्। पञ्जिकाकारेण 'प्रकृत्या गतमन्यथा' इत्यत्र 'सम्यग्युक्त्याऽतथाऽन्यथा' इति पठित्वैवं व्याख्यातं—सम्यग्युक्त्या सरत्वादिगुणै-र्विरेचनमधोभागेन. वमनमूर्ध्वभागेन, दोषानपहरेत्; अतथाऽन्यथेति नञत्रवैपरीत्ये,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतथा असम्यग्युक्त्या विरेचनं वमनं चान्यथा वैपरीत्येन दोषान् हरेदिति। केचित्तु 'सम्यग्युक्तं, वृथाऽन्यथा' इति पठन्ति। अयमर्थो युक्तः किल; सरत्वादयो गुणाः सुयुक्ता आशुतरदोषहराः, तथैव चान्यायोपयुक्ता एव जीवशोणित-धातु रसेन्द्रिय-मन-ओजः प्रभृतीनाकृष्य सारयन्तीति कीदृशं सत् पुनर्विरेचनं वमनद्रव्यं च दोषानादाय अध ऊर्ध्वं च यातीत्याह—यात्यधो दोषमित्यादि। विरेचन-द्रव्याणि स्थिर-गुर्व्योः पृथिव्यम्भसोर्गुणभूयिष्ठानि, अत एव स्थिरत्वात् पच्यमानानि गुरुत्वादधो यान्ति; वमनद्रव्याणि तु वाय्वग्न्योः शीघ्र-लघुगुणयोर्गुणभूयिष्ठानि, अतः शीघ्रगत्वादपक्वान्येव लघुत्वादूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति। द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाच्च कार्मुकाणि भवन्ति (ड.)। लघुत्वादूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ते इत्यत्र प्रभावसहितादिति ज्ञेयम्। वायुश्च यद्यपि तिर्यग्गतिः, तथाऽप्यूर्ध्वगेनाग्निना युक्तो योगवाहित्वादूर्ध्वं गच्छतीति युक्तम् (च. द)। "वमनद्रव्याग्नि-वायु गुणभूयिष्ठानि; अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमन-मूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्।" (सु. सू. अ. ४१)। लघुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं मदनफलादिसमवेतं ग्राह्यं, न लघुत्वमात्रम्; अन्यथा कपिञ्जललावादीनां वामनीयत्वं स्यात्। ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्तीति धूमवज्ज्वालावच्च। वमनद्रव्यमूर्ध्व-गुणभूयिष्ठम् अग्नि-वायुगुण-भूयिष्ठमित्यर्थः (ड.)। 'अपक्वपित्त-श्लेष्माणौ-बलादूर्ध्वं[1] नयेत्तु यत्। वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)। यद्द्रव्यमपक्वं पाकमगच्छन्तं पित्त-श्लेष्माणं व्यस्तं मिश्रितं वा बलात् हठात्कारेणोर्ध्वं नयेत् मुखेन कृत्वा वामयेदित्यभिप्रायः, तद्वमनं ज्ञेयं; यथा—मदनस्य फलम्। बलादिति प्रभावसूचकः शब्दः, यतो वमनद्रव्याणि वाय्वग्निगुणभूयिष्ठानि, वाय्वग्नी हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति; लघुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं मदनफलादिद्रव्यसमवेतं ग्राह्यं, न तु लघुत्व-मात्रम्; अन्यथा कपिञ्जल-लाजा (वा) दीनामपि वामनीयत्वं स्यात्। ननु, कफस्य वमनं, पित्तस्य विरेचनं प्रशस्तमिति प्रसिद्धिः, तत् कथं पित्तस्य वमनमिति? उच्यते—अपक्वपित्तस्य वमनादेव निबर्हणं बोद्धव्यम्। तच्च दृश्यते हि कटु-तिक्त हरित्पीताम्लवमनेन; यतः पित्तं विदग्धमम्लतामुपैति, अत एवाम्लपित्तचिकित्सायामादौ वमनमित्यदोषः (आ.)। यद्द्रव्यम-पक्वपित्त-श्लेष्मान्नचयमूर्ध्वं नयेत् हि निश्चयेन, तद्वमनं विज्ञेयम्। अपक्वं पित्तं च, अपक्वः श्लेष्मा च, अपक्वमन्नं च, तेषां चयमपक्वपित्त-श्लेष्मान्नचयम् (का.)। "तत्र सर्वान् रसानाश्रित्य छर्दनीयम्।" (र. वै. ४।२)। तेषु वीर्येषु सर्वान् रसान् मधुराद्यानाश्रित्य वर्तते छर्दनीयं वीर्यम् (भा.)। "तदाग्नेय-

१—'अपक्व-पित्त-श्लेष्मान्नचयमूर्ध्वं' इति का० संमतः पाठः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वायव्यं च।" (र. वै. ४।३) "तेजोवायुजमूर्ध्वगम्।" (र. वै. अ. ४ सू. ३० पर भाष्य)। "वमनं श्लेष्महराणां (श्रेष्ठम्)" (च. सू. अ. २५)॥

जो द्रव्य ऊर्ध्वभाग (मुख) से दोषों को बाहर निकाले उसे **वमन, ऊर्ध्वभागहर या छर्दनीय** कहते हैं। वमन द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकाशी गुणवाले होते हैं। वे अपने वीर्य (शक्ति-प्रभाव) से हृदय में जा, वहाँ से अपने सूक्ष्म और व्यवायी गुण से धमनियों द्वारा समग्र शरीर में पहुँच, स्थूल-सूक्ष्म सब स्रोतों से दोषों को अपने आग्नेय (उष्ण) गुण से द्रवीभूत और तीक्ष्णता से विच्छिन्न करते हैं (उखाड़ते हैं)। वह द्रवीभूत और विच्छिन्न (अपने स्थान से हटा हुआ) दोष (अपक्व पित्त, कफ तथा अन्न) वमन से पूर्व शरीर के स्नेहभावित किये जाने के कारण, जैसे स्नेह लगाये हुए पात्र में शहद नहीं चिपकता इस प्रकार शरीर में कहीं भी न चिपकता हुआ वमन द्रव्य के सूक्ष्म स्रोतोनुसरण और आमाशयगमनोन्मुख प्रभाव से आमाशय-(आमाशयोर्ध्वभाग) में आकर और उदान वायु से प्रेरित होकर वमन द्रव्य के ऊर्ध्वभाग से दोष निकालने के प्रभाव और अग्नि तथा वायु के गुणों की अधिकता से मुखमार्ग से बाहर निकलता है (च०, सु०)। जो द्रव्य अपक्व पित्त[1], कफ या दोनों और अन्न को मुख द्वारा बाहर निकाले, उसे **वमन** कहते हैं; जैसे—मैनफल (शा०)। यद्यपि कफ के लिये वमन और पित्त के विरेचन को प्रधान शोधन कहा गया गया है, तथापि अपक्व पित्त का वमन से ही निर्हरण होता है। इसी लिये अम्लपित्त चिकित्सा में प्रारम्भ में वमन का उपदेश किया गया है।

रेचनं-विरेचनम्- अधोभागहरम्-अनुलोमनीयम्—

"दोषहरणमधोभागं विरेचनसंज्ञकम्।" (च. क. अ. १)। अधो गुदेन दोषनिर्हणं भजत इत्यधोभागम् (च. द.)। "तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य, (सौक्ष्म्याद् व्यवायित्वाच्च वृ. वा.) धमनीरनुसृत्य, स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद्विच्छिन्दन्ति, सविच्छिन्नः परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्ननुप्रवणभावादामाशयमागम्य × × × सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधो-

---

१—वामक (Emetics—एमेटिक्स्)—इन द्रव्यों से उलटी होकर आमाशय खाली हो जाता है। इनके दो भेद हैं। (१) **प्रत्यक्ष**—ये द्रव्य आमाशय में क्षोभ या दाह उत्पन्न कर वमन कराते हैं। जैसे—नीलाथोथा, राई, बाबुना का गर्म फाण्ट, नमक, फिटकरी। (२) **अप्रत्यक्ष**—ये रक्त में मिल, रक्त द्वारा वमन केन्द्र में पहुँचकर उसे क्षुभित करते हैं, और इस प्रकार वमन कराते हैं। जैसे—सुरमा, इपिकाक्युआना, अडूसा, जंगली प्याज। इस वर्ग के बहुत से द्रव्य रक्त के साथ बहते हुए आमाशय की कला द्वारा बाहर पड़ते हैं और उसे उत्तेजित करते हैं (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यक में वमन द्रव्य को 'मुकई' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भागप्रभावाच्चौषधस्यापानप्रणुन्नोऽधः प्रवर्तते ।" (च. क. अ. १) । "विरेचन-द्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो गुर्व्यः, ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति ; तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठामनुमानात् ।" (सु. सू. अ. ४१) । गुरुत्वादिति गुरुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं त्रिवृतादिसमवेतं ग्राह्यं, न तु गुरुत्वमात्रम् ; अन्यथा मत्स्य-पिष्टान्नमसूरादीनां विरेचकत्वं स्यात् (च. द.) । "विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत् । रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा ।" (शा. प्र. ख. अ. ४) । यद्द्रव्यं विपक्वमपक्वं वा., मलादि दोषादिकं, द्रवतां नयेत् द्रवभावं करोतीत्यर्थः, न केवलं द्रवतां नयेत् रेचयत्यपि च, तद्रेचनं ज्ञेयं ; यथा—त्रिवृता। मलादिकमिति आदिग्रहणाद् दूष्यादीनामत्र संग्रहः । ××× (आ.) । "तथाऽनु-लोमनीयम् । तत् पार्थिवमाप्यं च ।" (र. वै. ४।४,५) । तथेति पूर्वोक्तमाश्रय-माकर्षतीति सर्वान् रसान् सर्वान् गुणांश्चाश्रित्य वर्तत इति। पृथिवी गुरुत्वादेवाधो गच्छति, आपो द्रवत्वात् सरणमुपजनयन्तीति (भा.) । "अब्भूमिजमधो भागम्" (र. वै., अ. ४ सू. ३० पर भाष्य) । "विरेचनं पित्तहराणां (श्रेष्ठम्), त्रिवृत् सुखविरेचनानां, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम् (श्रेष्ठम्) ।" (च. सू. अ. २५) ॥

जो द्रव्य अधोभाग (गुद) से दोषों का निर्हरण करे, उसे **रेचन, विरेचन अनुलोमनीय** या **अधोभागहर** कहते हैं। उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी, विकाशी (च.) तथा सर (सु०) गुणयुक्त विरेचन द्रव्य अपनी शक्ति (प्रभाव) से हृदय में पहुँच, वहाँ से अपने सूक्ष्म और व्यवायी गुण से धमनियों द्वारा स्थूल और अणु स्रोतों में होकर समस्त शरीर में पहुँचता है, और समग्र शरीर में स्थित दोषों के संघात को अपने आग्नेय गुण के कारण विलीन (द्रवीभूत) करता है और तीक्ष्णता के कारण विच्छिन्न करता है (उखाड़ता है) । वह द्रवीभूत तथा विच्छिन्न हुआ दोषसंघात सारे शरीर में भ्रमण करता हुआ विरेचन के पूर्व शरीर के स्नेह से भावित किये होने के कारण जैसे स्नेह से लिप्त पात्र में शहद नहीं चिपकता उसी प्रकार शरीरावयवों में कहीं भी नहीं चिपकता हुआ अपने अणुप्रवण (अणु-सूक्ष्म-स्रोतों में संचार करनेवाले) तथा कोष्ठाभिमुखगमन स्वभाववाला होने से आमाशय (आमाशयाधोभाग) में आता है । विरेचन द्रव्य अधोगमन और अधो-भागहरत्वरूपप्रभावविशिष्ट पृथिवी तथा जल के गुणों (गुरुत्व-स्थिरत्व-अधोगति) की अधिकतावाले होते हैं । अपने इन विशेष प्रभाव तथा गुणों के कारण नीचे की ओर गमन करते हुए अपने साथ अपान वायु द्वारा प्रेरित पच्यमान दोषों को बलात् नीचे की ओर ले जाकर बाहर निकालते हैं (च., सु.) । जो द्रव्य पक्व या अपक्व मलादि को द्रव करके विरेचन के द्वारा बाहर निकाले, उसे **रेचन** कहते हैं ; जैसे—निशोथ (शा०) ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चरक में पचास कषायवर्गों में केवल भेदनीय (या भेदन) गण दिया गया है, विरेचन गण नहीं दिया है। चरक ने विरेचन द्रव्य के तीन भेद बताये हैं; (१) सुखविरेचन, जैसे--निशोथ, मृदुविरेचन, जैसे-- अमलतास ; तीक्ष्ण-विरेचन, जैसे--थूहर का दूध[1]।

१--रेचन (Purgative--पर्गेटिव्स्)-- इन द्रव्यों से शौच (पाखाना) जल्दी होता है किंवा अधिक होता है। न्यूनाधिक क्रिया के अनुसार इन द्रव्यों के पाँच भेद हैं। (१) आनुलोमिक (च०) सर(सु०) Laxatives--लॅक्सेटिव्स्)--मल और वायु की स्वाभाविक प्रवृत्ति के उत्तेजक। इनसे मल नरम होता है और आँतों की हलन-चलन की क्रिया (पेरिस्टाल्सिस्) कुछ बढ़कर शौच होता है। इनसे अपक्व मल नहीं आता। जैसे--यामशर्करा (तुरंजबीन), गंधक, सूखे अंजीर, आलू बुखारा, जैतून का तेल (ऑलिव् ओइल), हरड। (२) स्रंसन (च०) SimplePurgatives--सिंपल् पर्गेटिव्स् --इनसे आँतों की हलन-चलन क्रिया बढ़ती है, आँतों की ग्रन्थियों को कुछ उत्तेजन मिलता है और इस कारण साधारण पतला-ढीला शौच होता है। इनसे पक्व और अपक्व मल और मल की गाँठें निकलती हैं। जैसे--एरंड तैल, सनाय, पारा, एलुआ। (३) भेदन (च०) (Drastic Purgatives--ड्रॅस्टिक् पर्गेटिव्स्) -- ये द्रव्य स्रंसन द्रव्यों के समान किन्तु उनकी अपेक्षया जोरदार क्रिया करते हैं। इनसे आँतों में थोड़ा दाह होता है और ऐंठन होकर पतला शौच होता है। जैसे--निशोत, इन्द्रायन, रेवन्दचीनी, पोडोफाइलम (पाप्रा)। स्रंसन द्रव्य अधिकमात्रा में दिये जाने से भेदन होते हैं। (४) विरेचन (च०) (Hydragogue Purgatives--हाईड्रॅगॉग पर्गेटिव्स् ; Hydragogues--हाइड्रॅगॉग्स्)--इनसे आँतों में बहुत सा द्रव उत्पन्न होता है और पानी जैसा शौच होता है। ये रक्त में से पुष्कल रक्तद्रव का विरेचन कराते हैं। भेदन-वर्गीय द्रव्य अधिक मात्रा में दिये जाने पर विरेचन क्रिया कराते हैं। जैसे--जमालगोटा, कंटीली इन्द्रायन। कुछ लवण विरेचन हैं ; जैसे--सैन्धा नमक, खारी नमक (सोडियम् सल्फेट्), द्राक्षा-क्षार (पोटॅशियम् टार्टरेट्)। (५) पित्तविरेचन (Cholagogue-Purgatives कॉलगॉग् पर्गेटिव्स्)--ये द्रव्य शौच द्वारा पित्त को निकालते हैं। इनसे हरे रंग का पतला शौच होता है। इनकी यकृत् और ग्रहणी पर उत्तेजक क्रिया होती है। यकृत् उत्तेजन से पित्तस्राव अधिक होता है और ग्रहणी के उत्तेजन से उसमें स्रुत हुआ पित्त शीघ्र नीचे (पक्वाशय में) चला जाता है। जैसे--पारा, पाप्रा, यकृत् के उत्तेजक ; पारा एलुआ और रेवन्दचीनी ग्रहणी के उत्तेजक हैं। ये द्रव्य अल्प मात्रा में पित्तसारक हैं। चरक ने विरेचन के तीनविभाग किये हैं--(१) मृदु-विरेचन --जैसे--एरंडतेल --आनुलोमिक ; (२) सुख-विरेचन --जैसे--निशोथ--स्रंसन, पित्तविरेचन ; (३) तीक्ष्णविरेचन--जैसे--थूहर का दूध--भेदनविरेचन (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यक में मृदुविरेचन को 'मुलय्यिन' और तीक्ष्णविरेचन को 'मुसहिल' कहते हैं। इन दोनों का भेद बताते हुए यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान में लिखा है कि--वह औषध जिससे कब्ज निवारण होकर सरलतापूर्वक मलोत्सर्ग हो जाय और केवल आमाशय और अन्त्रस्थ--

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वमन और विरेचन द्रव्यों के गण चरक सू० अ० २ तथा वि० अ० ८, सु० सू० अ० ३९, अ० सं० सू० अ० १४ और अ० हृ० सू० अ० १५ में दिये गये हैं। उन्हे जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिए। यहाँ विस्तारभय से नहीं दिये गये हैं। चरक ने उभयतोभागहर गण नहीं दिया है।

अनुलोमनम्–सरम्–

"सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः।" (सु० सू० अ० ४६)। अनुलोमनो वातमलप्रवर्तनः (ङ)। 'कृत्वा पाकं मलानां यद्विबन्धमधो नयेत्। तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी॥" (शा. प्र. ख. अ. ४) यद् द्रव्यं मलानां दोषाणां पाकं कोपशान्तिं कृत्वा, बन्धं विबन्धं च भित्त्वा भिन्नतां नीत्वा, अधो नयेत् अधः करोति 'वातादिकम्' इति शेषः; तेन प्रतिलोमादनुलोमं करोतीत्यर्थः; तच्चानुलोमनं ज्ञेयम्। अनुलोमनं वातादीनामधःप्रवर्तनं, सरगुणत्वात्; यथा—हरीतकी। सैवानुलोमनी प्रसिद्धैव। बन्धमिति दोषाणां परस्परग्रथितत्वम्; एके वात-मूत्र-पुरीषादीनामप्रवृत्तिरूपं विबन्धमाहुः (आ.)। यद् द्रव्यमपरिपच्यमानानां मलानां पाकं कृत्वा, बन्धं च भित्त्वा अधो नयेत् कोष्ठादधः पातयेत् तदनुलोमनं ज्ञेयम् (का.)।

जो द्रव्य मलों और दोषों को पकाकर और उनके विबन्ध को तोड़कर उन्हें अधोमार्ग द्वारा बाहर निकालता है, उसको अनुलोमन या सर (सारक) कहते हैं। जैसे—हरड़। वात-मूत्र-पुरीषादि की अप्रवृत्ति को विबन्ध कहा जाता है। दोषों के परस्पर ग्रथित होने को भी कोई विबन्ध कहते हैं। यह अधोभागहर वर्ग का ही एक भेद है[1]।

स्रंसनम्–

"पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्। नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात् कृतमालकः॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं मलादिकमपक्त्वैव तेषां पाकमकृत्वैव, अधो नयति अधःपतनं करोति, तत् स्रंसनं स्यात्; यथा—कृतमालकः। कीदृशं मलादिकमित्याह—पक्तव्यमिति।—पच्यमानम्; अत एव कोष्ठे श्लिष्टम्। कोष्ठे इति पाचकस्थाने। श्लिष्टमिति आश्रितम् (आ.)। स्रंसनशब्दो विरेचनसामान्येऽपि प्रयुज्यते-यथा—"पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्। स्रंसनं" (च. चि. अ. ३)। स्रंसनं विरेचनम् (यो.)।

←—दोष विसर्जित हो जाय, उसे 'मुलय्यिन' कहते हैं; और जो द्रव्य संपूर्ण शरीरस्थ दोष का मलमार्गसे निर्हरण करे, उसे 'मुसहिल' कहते हैं।

१—अनुलोमन (सर) द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुलय्यिन' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य कोष्ठ (पेट) के अन्दर चिपके हुए पच्यमान (पकते हुए) मलादिकों को पकाये बिना ही बाहर निकाल देता है, उसे स्रंसन कहते हैं । जैसे--अमलतास। यह अधोभागहर वर्ग का ही एक भेद है। शार्ङ्गधर ने 'स्रंसन' वर्ग को किसी तन्त्रान्तर से लेकर भिन्न बताया है; चरक ने 'विरेचन' द्रव्य के लिये ही 'स्रंसन' शब्द का प्रयोग किया है।

शोधनम्--संशोधनम्--देहसंशोधनम्--उभयतोभागम्--

"उभयतश्चोभयगुणत्वात्।" (च. क. अ. १)। उभयतश्चेति ऊर्ध्वमधश्च क्षिप्यत इत्यर्थः। उभयगुणत्वादिति अग्नि-वाय्वात्मकत्वात् सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादूर्ध्वाधोभागप्रभावाच्चेत्यर्थः (च. द.)। "उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्।" (सु. सू. अ. ४१)। उभयगुणभूयिष्ठमिति विरेचनवमननिर्दिष्टभूतचतुष्टयगुणभूयिष्ठमित्यर्थः (ड)। "स्थानाद्बर्हिर्नयेदूर्ध्वमधश्च मलसंचयम्। देहसंशोधनं तत् स्याद्देवदालीफलं यथा॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं स्थानात् प्रकुपितस्थानात्, मलसंचयं दोषादीनां संचयं, स्वस्थानादूर्ध्वमधश्च नयेत् बहिः करोति, तद्देहस्य शरीरस्य संशोधनं कथितम्। यथा--देवदालीफलम्। ऊर्ध्वं मुखेन, अधः पायुमार्गेण (आ.)। यद्यपि देहसंशोधनशब्देन वमन-विरेचनास्थापन-शिरोविरेचन-मूत्रविरेचन-शोणितावसेकादीनि सर्वाण्यपि प्राप्यन्ते, तथाऽपि तेषां पृथक्तत्वात् पारिशेष्यान्मुख-गुदोभयभागनिर्हरणमेवात्र गृह्यते। "वातलान् रसान् पित्तलांश्च गुणानुभयतोभागम्। तत् पार्थिवाप्य-तैजस-वायव्यम्।" (र. वै. ४।६) वातलान् वातजनान् कटु-तिक्त-कषायान् रसान्, पित्तलान् पित्तजनान् तीक्ष्णोष्णलघून् गुणान्, आश्रितमुभयतोभागम्। तदुभयतोभागं पृथिव्युदकाभ्यां गुरुभ्यामग्निवायुभ्या लघुभ्यां च निर्वर्तते। उभयतोभागं वमनविरेचनकरम् (भा.)। "तथैवोभयतोभागं मह्याग्न्यनिलजं मतम्।" (र, वै, अ. ४, सू. ३० पर भाष्य)।

जो द्रव्य ऊर्ध्वभाग (मुख) और अधोभाग (गुद) दोनों मार्गों से दोषों को निकाले, उसे संशोधन, शोधन, या उभयतोभाग (हर) कहते हैं। संशोधन द्रव्य भी वमन और विरेचन द्रव्यों के समान तीक्ष्णत्वादि गुणोंवाले होते हैं। इनकी पूर्वोक्त क्रिया से दोषसंघात आमाशय (आमाशयके ऊर्ध्व और अधोभाग) में आकर उपस्थित होता है। संशोधन द्रव्य उभयतोभागहरत्वरूप प्रभाव से विशिष्ट पृथिवी जल, अग्नि और वायु के गुणों की अधिकतावाले होते हैं। ये दोनों मार्गोंसे निकलते हुए अपने साथ उदान और अपान से प्रेरित दोषों का भी ऊर्ध्वाधोभाग से बलात् निर्हरण करते हैं (च० सु०)। जो द्रव्य मलों (पुरीष और दोषों) के संचय को अपने स्थान से हटाकर ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से बाहर निकाल दे, उसको

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

देहसंशोधन कहते हैं ; जैसे--बन्दाल (शा०)। वमन और विरेचन दोनों एक साथ करनेवाले द्रव्य को संशोधन कहते हैं।

छेदनम्--छेदनीयम्--

"श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद्बलात्। छेदनं तद्यथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु।" (शा प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं श्लिष्टान् संचितान्, परस्परग्रथितानित्येके, अत्यर्थं कुपितानित्यपरे ; कफादिकान् दोषान् ; आदिग्रहणेन वात-पित्त-शोणित-कृमिग्रहणम्। × × ×। बलादिति स्वशक्तितः, उन्मूलयति उच्छेदयति, तच्छेदनं ज्ञेयम्। यथा—क्षारा यवक्षारादयः, मरिचानीति बहुवचनेन श्वेतमरिचमपि ग्राह्यम् (आ.)। यद्द्रव्यं श्लिष्टान् मलादिकान् दोषान् बलादुन्मूलयति स्वभावान्नाशयति तच्छेदनं ज्ञेयम् (का.)। "छेदनोपशमने द्वे कर्मणी।" (च. सू. अ. २६)। द्रव्याणि हि अम्ल-लवण-कटूनि शारीरक्लेदादीनि छिन्दन्ति (ग.)। "हिंगुनिर्यासच्छेदनीय-दीपनीयानुलोमिक-वातश्लेष्महराणाम्।" (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य शरीर में संचित और चिपके हुए कफादि दोषों को अपने प्रभाव से अपने स्थान से उखाड़ दे (पृथक कर दे), उसे छेदन[1] या छेदनीय कहते हैं। जैसे--क्षार, काली मिर्च, शिलाजीत, हींग आदि।

रसायनम्--

'दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥ वाक्सिद्धिं प्रणतिं[2] कान्तिं लभते नरो रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥" (च. चि.; अ १, पा. १; अ. सं. उ. अ ४९ ; अ. हृ. उ. ३९) रसादिग्रहणेन स्मृत्यादयोऽपि गृह्यन्ते (च. द.)। शस्तानां रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां लाभोपायः प्राप्त्युपायः × × × अतः रसायनमित्युच्यते (यो.)। दीर्घायुःप्रभृतीन् रसायनादधिगच्छति। कस्मादेतानि रसायनाल्लभ्यन्ते ? इत्याह—लाभोपाय इति। श्रेष्ठानां रस-रुधिरादीनां यो लाभोपायः स रसायनमुच्यते (अ. द.)। "रसायनतन्त्रं (रसायनं) नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च।" (सु. सू. अ. १।८)। वयःस्थापनं वर्षशतमायुःस्थापनम्। आयुष्करं शताधिकमपि करोति। अन्ये तु वयःस्थापनं जरापहरणं, तारुण्यं बहुकालं स्थापयतीत्यर्थः। रसानां रस-रक्तादीनामयनमाप्यायनं रसायनम। अथवा रसानां रस-वीर्य-विपाकादीनामायुःप्रभृतिकारणानामयनं विशिष्टलाभोपायो

१--यूनानी वैद्यक में छेदन द्रव्य को 'जाली' और 'मुकत्तिक' कहते हैं।

२--प्रणतिं लोकवन्द्यताम् (च.द.)। 'वृषतां इति पाठान्तरम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसायनम् (ड.)। वयःस्थापनमिति प्रशस्त-तरुणवयःस्थापनम्। यदुक्तं—"अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति।" (च. चि. अ. १, पा. १) इत्यादि। अनियतायुषि युगनियतादधिकस्यायुषः करणम् आयुःकरणम् (च. द.)। "रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्। यथाऽमृता रुद्रन्ती च गुग्गुलुश्च हरीतकी।" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं जरा-व्याधिनाशनं भवति तद्रसायनं ज्ञेयम्। रसादीनां धातूनामयनमाप्यायनरूपं रसायनम्। जरा वार्धक्यं, व्याधयो ज्वरादयो रोगा ग्राह्याः। ननु व्याधिग्रहणेन जराग्रहणं, तत् कथमत्र जरा पृथगभिहिता? उच्यते—जरा स्वाभाविकी ज्ञेया, यतः सप्ततेरूर्ध्वं स्वभावाद्भवतीति स्वभावकथनत्वेन पृथगभिधानमित्यदोषः (आ)।

जिस द्रव्य से प्रशस्त रस-रक्तादि धातु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तारुण्य, प्रभा, अच्छा वर्ण, उत्तम स्वर, वाक्सिद्धि, लोकवन्दनीयता, कान्ति और शरीर तथा इन्द्रियों का उत्तम बल आदि प्राप्त हों, उसे रसायन कहते हैं (च०, सु०)। जो द्रव्य जरावस्था और व्याधि का नाश करता है, उसे रसायन कहते हैं[1]; जैसे—गिलोय, रुद्रवन्ती, गूगल, हरड़ आदि (शा०)। चरक के पचास महाकषायोंमें कहे हुए वयःस्थापन और जीवनीय ये दो गण भी रसायन के ही भेद हैं।

सूक्ष्मम्—

"सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः।" (सु, सू. अ. ४६) देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते। तद्यथा-सैन्धवं क्षौद्रं निम्बतैलं[2] रुबूद्भवम्॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं देहस्य शरीरस्य, सूक्ष्मच्छिद्रेषु रोमकूपप्रभृतिषु, विशेत् प्रवेशं करोति, तत् सूक्ष्ममुच्यते। यथा—सैन्धवादिकम्। सूक्ष्मो गुणविशेषः, सूक्ष्मस्रोतोऽनुसरणशीलत्वात्। सैन्धवं प्रसिद्धं, क्षौद्रं मधु; निम्बतैलं निम्बः, तैलं च; यद्वा निम्बस्य तैलं, रुबूद्भवं एरण्डसंभवम् (आ.)।

जो द्रव्य देह के सूक्ष्म स्रोतों (मार्गों-छिद्रों) के अन्दर प्रवेश कर सके, उसे सूक्ष्म कहते हैं; जैसे—सैन्धव, शहद, नीम या नीम का तेल, तिलतैल, एरण्डतैल आदि।

१—रसायन (Alterative–ऑल्टरेटिव) ये द्रव्य वैद्यकीय मात्रा में देने से शरीर पर उनकी क्रिया प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती, परन्तु इनसे रोग दूर होता है। इनसे शरीर की धातुपाक (मेटाबॉलिज्म) की क्रिया सुधरती है और शरीर पूर्वस्थिति प्राप्त करता है (अन्य औषधों से अच्छे न होनेवाले रोगों को अच्छा करनेवाले द्रव्य)। जैसे—सोना, सुंरजान, सुरमा, पारा, सोमल (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यक में रसायन औषध को 'अक्सीरुल बदन' कहते हैं।

२—'निम्बस्तैलं' इति पाठान्तरम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्यवायि--

व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते।" (सु० सू० अ. ४६)। अपक्व एवाखिलं देहं व्याप्नोति पश्चान्मद्य-विषवत् पाकं याति (ड)। "पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति। व्यवायि तद्यथा--भङ्गा फेनं चाहिसमुद्भवम्।।" (शा. प्र. ख. अ. ४)। व्यवायी गुणविशेषः, अपक्वमेवाखिलं देहं व्याप्नोति पश्चान्मद्य-विषवत् पाकं याति। यथा--भङ्गा, अहिफेनं च। अन्ये तु 'ततो भवाय कल्पते' इति पठन्ति। तत्रापि स्थितये कल्पते नोर्ध्वमधो वा प्रवर्तते इति स एवार्थः। अन्ये पुनर्भावशब्दमभिप्रायार्थमिच्छन्ति। तत्र नियतद्रव्य-प्रभावेणात्मशक्त्यानुरूपं तद् द्रव्यं मद्य-विषवद् विशेषाभिप्रायाय कल्पते (इत्यर्थः (आ.)।

जो द्रव्य जठराग्नि के द्वारा परिपक्व होने के पूर्व ही अपने प्रभाव से सारे शरीर के अन्दर व्याप्त होकर अपने गुण-कर्म दिखलाते हैं, उसे व्यवायी कहते हैं; जैसे— भाँग, अफीम, और वत्सनाभ आदि।

विकाशि (सि)-

"विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्।" (सु. सू. अ. ४६)। व्यवायिनः सकाशाद्विकासिद्रव्यस्य किंचिद् भेदं दर्शयन्नाह-विकासीत्यादि। विकासी गुणः। विकसन् प्रसर्पन्। एवमिति अपक्व एव सकलं देहं व्याप्य, धातुबन्धान् विमोक्षयेत् धातुशैथिल्यं करोतीत्यर्थः (ड)। "संधिबन्धांस्तु शिथिलान् यत् करोति विकाशि तत्। विश्लिष्यौजश्च धातुभ्यो, यथा—क्रमुक-कोद्रवाः।।" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं संधिबन्धान् शिथिलीभूतान् करोति तद्विकाशि बोद्धव्यम्। 'विकाशी' इत्यपि गुणविशेषः। न केवलं संधिबन्धान् शिथिलान् करोति, किंतु धातुभ्य ओजो बलं विश्लेष्य विभज्य 'पाकं गच्छति' इत्यध्याहारः; धातुशैथिल्यमपि करोतीत्यर्थः। चकारात् 'अपक्वमेव' इत्यत्रापि सम्बध्यते। क्रमुक-कोद्रवा इति क्रमुकं पूगफलं, कोद्रवः कुधान्यविशेषः। अत्र क्रमुक-कोद्रवा मदकरा ज्ञेयाः, धातुशैथिल्यकरत्वात् ओजो बलमिति; सुश्रुतेन तदुक्तं—"रसादीनां शुक्रान्तानां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते।" (सु. सू. अ. २१); यतः "देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्" इति। संधिप्रभृतीनां शिथिलत्वेन श्रम उत्पद्यते, तेन ओजःक्षयो भवतीत्यभि-प्रायः, अत एवाह कश्चित्—"अभिघातात् क्षयात् कोपाद्धचानाच्छोकाच्छ्रमात् क्षुधः। ओजः संक्षीयते म्ह्योयो धातुग्रहणनिःसृतम्।।" (सु. सू. अ. २१) इति। अन्ये तु सरविशेषो व्यवायी, तीक्ष्णविशेषो विकाशीति ब्रुवते, तन्न सर्वसम्मतम् (आ.)।।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य जठराग्नि के द्वारा पाक होने के पहले ही धातुओं से ओज को विभक्त करके संधियों के बन्धनों को शिथिल करता है, उसे विकाशी (सी)[1] कहते हैं। जैसे--कच्ची और ताजी सुपारी, कोदो[2] आदि।

मद्यम्--मादकम्--मदकारि--

"मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्। दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्॥ लघूष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्माम्ल-व्यवाय्याशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥ गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥ गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावतः। माधुर्य, मार्दवं तैक्ष्ण्यात्, प्रसादं चाशुभावनात्॥ रौक्ष्यात् स्नेहं, व्यवायित्वात् स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि। विकासिभावात्, पैच्छिल्यं वैशद्यात्, सान्द्रतां तथा॥ सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान्। सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम्॥" (च. चि. अ. २४)। मद्यं यथा मादयति तथा प्राह--मद्यमित्यादि। दशभिरिति लघ्वादिभिर्गुणैः, दशापि गुर्वादीनोजोगुणान् संक्षोभ्य, न द्वित्रादिकैः; चेतोविक्रियां नयति विकृतं करोति। येन गुणेन मद्यस्य ओजोगुणक्षोभो भवति तदाह--गुरुत्वं लाघवादित्यादि। प्रसादं चाशुभावनादिति प्रसादाख्यगुणमाशुगत्वाद्धन्ति; आशुगत्वं च यद्यपि प्रसादविरुद्धं न भवति, तथाऽपि मद्यमेव प्रतिकूलतया ओजःप्रसाद हन्ति, तत्राशुगुण आहनेन व्याप्रियत इति ज्ञेयम्। व्यवायित्वात् स्थिरत्वमिति व्यवायित्वं व्यापकत्वं, तच्च स्थिरत्वं तद्विपरीतत्वादेव हन्ति; आशुगत्व-व्यवायित्वयोश्चायं विशेषः--यदाशुगं शीघ्रं गच्छति, व्यवायि तु सर्वव्यापकम्। विकासित्वं विकासनशीलत्वं सरत्वमिति यावत्; तच्च श्लक्ष्णविपरीतत्वादेव श्लक्ष्णतां हन्ति। सान्द्रता घनता। एते विकासित्वाशु-

---

१--विकाशिन् (Antispasmodics--अँन्टिस्पॅझ्मॉडिक्स्)--इस वर्ग के द्रव्यों की क्रिया अनेक प्रकार से होती है। जैसे--(१) कई द्रव्य कर्म के केन्द्रोंपर या चेष्टावह नाड़ियोंपर शामक (अवसादक) क्रिया करते हैं। (२) कई सारे शरीरपर अत्यन्त जोरदार शामक क्रिया करते हैं, जिसके कारण शरीर के सब अवयव शिथिल हो जाते हैं। जैसे--तमाखू, बछनाग, देवनल, कुटकी, पद्मकाष्ठ आदि अवसादक द्रव्य। (३) कई आँतो की शक्ति बढ़ाते हैं, जिससे अधोवायु छूटता है और उदरशूल शान्त होता है। जैसे--हींग, कस्तूरी, तगर और सुगन्धित द्रव्य। इस प्रकार के द्रव्यों को Aromatics--अँरोमॅटिक्स या Carminatives--कार्मिनेटिक्स् कहते हैं। (४) कई द्रव्य अपस्तम्भशाखा (श्वासनलिका) के संकोचविकास को कम करते हैं। जैसे--धतूरा, खुरासानी अजवायन, बेलाडोना (डॉ० वा० दे०)।

२--कोदो की एक जाति जो मादक होती है, वह यहाँ 'कोदो' शब्द से अभिप्रेत है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गत्वादयो गुणा यद्यपि विंशतिगुणगणनायां न पठिताः, तथाऽप्यसंख्येयत्वाद् गुणानामेषामपि गुणत्वं सिद्धं; ये तु तत्र पठितास्ते तावदाविष्कृततमा ज्ञेयाः। आश्रयोपघातादाश्रितोपघातो भवतीति दर्शयन्नाह—सत्त्वमित्यादि। सत्त्वस्य च ओज आश्रयः, ओज उपकार्यम्; यथा—राजाश्रितः पुरुषः (च. द.)। "बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते। तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्।" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं बुद्धिं ज्ञानविषयं लुम्पति आच्छादयति, अत एव तमोगुणप्रधानं तमोगुणबहुलमित्यर्थः। यथा—सुरादिकं मद्यम्। बुद्धिशब्दस्तु मेधा-धृति-स्मृति-मति-प्रतिपत्तिषु वर्तते। एतेषां लक्षणं प्रसंगादुच्यते; तद्यथा—मेधा गन्थाकर्षणसामर्थ्यं; धृतिः संतुष्टिः, अन्ये नियमात्मिकां बुद्धिमाहुः; स्मृतिः पूर्वानुभूतस्य स्मरणम्, अर्थधारणशक्तिरित्यन्ये; मतिः अनागतविषयोपदेशः, त्रिकालविषया बुद्धिरित्यन्ये; प्रतिपत्तिः अर्थावबोधप्रागल्भ्यमिति। सुरादिकमित्यादिग्रहणात् सर्वे मद्यविकारा गृह्यन्ते। ननु, मद्यं तु बुद्धि-स्मृति-वाग्विचेष्टादिकरमुक्तं, यदुक्तं—"बुद्धि-स्मृति-प्रीतिकरः सुखश्च पानान्न-निद्रारतिवर्धनश्च। संपाठ-गीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि॥" (मा. नि. म. अ. १८।७); तत् कथं बुद्धिलोपकमभिहितम्? उच्यते—मदस्य चतस्रः पानावस्था कथिताः; तत्र प्रथमं मदपानं बुद्ध्यादिकं करोति, शेषास्तु बुद्ध्यादिकं लुम्पन्तीत्यदोषः तदुक्तं माधवेन—"अव्यक्तबुद्धि-स्मृति-वाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः। आलस्य-निद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन॥" इत्यादि (आ.)। "सर्वान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-लघु-विशदांश्च गुणान् मदनीयम्। तदाग्नेयं वायव्यं च।" (र. वै. ४।११,१२)॥

जो द्रव्य तमोगुणप्रधान (किंचित् राजस गुणवाला भी) होने से बुद्धि का नाश करके मद (नशा) उत्पन्न करता है, उसे **मदकारि, मद्य, मदनीय, मादन** और **मादक** कहते हैं[1]। जैसे—नाना प्रकार के सुरा आदि मद्य (शा०)। मादक द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, आशुग (आशुकारी), रूक्ष, विकाशि और विशद—इन दस गुणोंवाला होता है। ओज गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, बहल, सान्द्र, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल और स्निग्ध—इन दस गुणोंवाला होता है। मद्य हृदय में प्रविष्ट होकर अपने दस गुणों से ओज के ऊपर लिखे हुए दस गुणों को उनसे विपरीत गुणवाला होने से क्षुभित और नष्ट करके हृदय को विकृत कर देता है तथा उसके आश्रित सत्त्व (मन) को भी क्षुभित करके मद उत्पन्न करता है।

१—**मदकारि** (Delirifacients—डिलिरिफेशिअन्ट्स्)—इन द्रव्यों से प्रारम्भ में मद उत्पन्न होता है और पीछे बेहोशी आती है। जैसे—गाँजा, बेलाडोना, खुरासानी अजवायन (डॉ० वा० दे०)। मादक को यूनानी वैद्यक में **मुस्किर'** कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मद्य अपने लघु गुण से ओजके गुरु गुण का, उष्ण से शीत का, अम्ल से मधुर का, तीक्ष्ण से मृदु का, आशुकारिता से प्रसाद का, रूक्ष से स्नेह का, व्यवायी से स्थिर का, विकासी से श्लक्ष्ण का, विशद से पिच्छिल का और सूक्ष्म से सान्द्र गुणका नाश करता है (च०) मद्य सर्व रसवाला तथा तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, लघु और विशद गुणवाला तथा आग्नेय और वायव्य होता है (र० वै०)।

विषम्-प्राणहरम्-प्राणघ्नम्--

"लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विष तज्ज्ञैः।। रौक्ष्याद्वातमशैत्यात् पित्तं, सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति। कफमव्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम्।। शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्। तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं तद्विकासित्वात्।। दुरुपक्रमं लघुत्वाद्वैशद्यात् स्यादसक्तगतिदोषम्। दोष-स्थान-प्रकृतीः प्राप्यान्यतमं हचुदीरयति।।" (च. चि. अ. २३)। विषगुणानाह--लघ्वित्यादि। प्रत्येकं गुणानां कार्यमाह--रौक्ष्यादित्यादि। अशैत्यादिति उष्णत्वात्। सौक्ष्म्यादसृक्प्रकोपणम्, असृजोऽपि सूक्ष्ममार्गानुसारित्वात्। अव्यक्तरसत्वं च कफकोपनाय अव्यक्तरसत्व-कफयोरेकजलरूपकार्यत्वाद्भवति। अन्नरसांश्चानुवर्तते इति अव्यक्तरसत्वेन जलं यथा गन्धग्रहणे योगवाहि भवति, तथा विषमपि अन्नरसान् झटित्यनुगतं भवति, ततः शीघ्रं तेन भावितमन्नं भवति। शीघ्रमित्यादौ शीघ्रत्वादाशु व्याप्नोति, व्यवायित्वात् केवलं देहं व्याप्नोतीति ज्ञेयम्। व्यवायित्वं सर्वतः प्रसरणशीलत्वं पानीयपतिततैलवत्। तीक्ष्त्वान्मर्मघ्नमिति मर्मणां सौम्यानां मृदूनां तीक्ष्णेन विरुद्धत्वं बोद्धव्यम्। बिकासि-वादिति हिंसनशीलत्वात्; 'वि' पूर्वश्च कसतिर्हिंसार्थः। लघुत्वादिति अनवस्थितत्वात्; यस्य चानवस्थितत्वं तस्य भेषजेनासंबन्धादुपक्रमणमर्किंचित्करम्। असक्ता अविश्रान्ता दोषेषु गतिर्यस्य तत् असक्तगतिदोषं; विशदं हि पिच्छाभागरहितत्वात् क्वचिन्न सज्जति। अत्र च गुणानां प्रतिनियमेन विरुद्धकर्मकरणे विषस्याशिवत्वमेव नियामकं ज्ञेयं; तेन रौक्ष्यादिभिः श्लेष्मक्षयादि नाशङ्कनीयम्। सुश्रुते च विषगुणे यत् पाकित्वमुक्तं, तदाशुकारिविषे निष्प्रयोजनमिति नेहोक्तं; तथाहि--विषं नैतावन्तं कालमपेक्षते येन यावत्तस्य पाको भवत्यविचार्यः। सुश्रुते च कालान्तरप्रकोपित्वमपि दूषीविषगोचरतयोक्तं, तदिहापि दूषीविषे चिन्तनीयमिति (च. द)। "रौक्ष्य-सौषिर्य-व्यवायित्व-विकाशित्वानि च प्राणघ्नम्।" (र. वै. ४।१३,)। शैष्यादीन् विशेषगुणान् पूर्वोक्तान् सर्वान् रसानाश्रित्य वर्तते प्राणघ्नम्। चशब्दात्ते च संगृहीताः, षड्रसं विषमिति वचनात्। "उष्णं सूक्ष्मं च तीक्ष्णं च विकाशि विशदं लघु। व्यवायि रूक्षं शीघ्रं च विषं नवगुणं स्मृतम्।। पापक्ति धातूनुष्णत्वात्तैक्ष्ण्यान्मर्मच्छिदं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषम्। सौक्ष्म्याद्धातून् प्रविशति, विकाशित्वाद्विसर्पति ॥ विश्लेषयति वंशद्यात् सन्धीन् धावति लाघवात्। व्याप्नोति तद् व्यवायित्वाद्रूक्षत्वात् स्नेहनाशनम् ॥ शीघ्रत्वान्मारयत्याशु विषं गौतम! षड्रसम्" इति (भा.)। "तदाग्नेयम्।" (र. वै. अ. ४।१४)। अग्नेर्दहन-पचन-शक्तितत्वादप्यकार्यस्य जीवनस्य च प्रतिपक्षत्वात् प्राणघ्नमाग्नेयं भवति (भा.)। "व्यवायि च विकाशि स्यात् सूक्ष्मं छेदि मदावहम्। आग्नेयं जीवितहरं योगवाहि स्मृतं विषम् ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं व्यवाय्यादिगुणयुक्तं भवति तज्जीवितहरं प्राणहरं स्मृतं कथितम्। यथा—विषम्। तदेव योगवाहि स्मृतमित्यर्थः। व्यवायीति समस्तदेहं व्याप्य पश्चात् पाकं गच्छतीति व्यवायि गुणः, विकाशी गुणश्च सकलदेहं व्याप्य धातुशैथिल्यं करोति, सूक्ष्मो गुणस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतस्स्वनुसरः स्मृतः। मनोदोष-धातु-मलादीन् बलादुन्मूलयति तच्छेदि कथितम्। मदावहमिति मदकारकम्। आग्नेयमिति आग्नेयगुणभूयिष्ठम् (आ.)॥

विष द्रव्य लघु, आशु (आशुकारी), विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण तथा अव्यक्तरस—इन दस गुणोंवाला होता है। विषद्रव्य अपने रूक्ष गुण के कारण वायु को, उष्णता के कारण पित्त को, सूक्ष्मता के कारण रक्त को तथा अव्यक्त रस के कारण कफ को कुपित करता है; आशुकारी होने से अन्नरस का शीघ्र अनुसरण करता है, व्यवायी होने से शीघ्र ही संपूर्ण शरीर में व्याप्त होजाता है, तीक्ष्ण होने के कारण मर्मघ्न होता है, विकासी (हिंसनशील) होने से प्राणहर होता है, लघु (अनवस्थित-चञ्चल) होने के कारण दुश्चिकित्स्य होता है, विशद (अपिच्छिल) होने से दोषों में उसकी गति निर्बाध (अटके विना) होती है। इन कारणों से विषद्रव्य दोषों, उनके स्थानों और वातादि प्रकृति को प्राप्त होकर सर्व दोषों को विकृत कर देता है (च०)। विष सर्व रसवाला तथा शीघ्र, सुषिर व्यवायी और विकासी गुणवाला तथा आग्नेय होता है। विष अपने उष्ण गुण से धातुओं को पकाता है, तीक्ष्ण गुण से मर्मों का छेदन करता है, सूक्ष्म और विकासी गुणों से धातुओं में फैल जाता है, विशद गुण से धातुओं से ओज को अलग करता है, लघु गुण से संधियों में प्रवेश करता है, व्यवायी गुण से समग्र शरीर में व्याप्त होता है, रूक्ष गुण से स्नेह का नाश करता है और शीघ्र गुण से शीघ्र मारता है (र० वै०)। जो द्रव्य व्यवायी, विकाशी, सूक्ष्म, छेदी (छेदन), मादक, आग्नेय योगवाही और प्राणहर हो, उसे विष, प्राणहर या प्राणघ्न कहते हैं[1] (शा०)।

प्रमाथि—

"निजवीर्येण यद्द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसंचयम्। निरस्यति प्रमाथि स्यात्,

---

१—यूनानी वैद्यक में विष को 'सम्मी' और 'कातिल' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तद्यथा-मरिचं वचा ।।" (शा. प्र. ख. अ. ४) यद् द्रव्यं निजवीर्येण स्वप्रभावेणकृत्वा स्रोतोभ्यः कर्ण-मुख-नासिकादीनामन्यतमविवरेभ्यो दोषबाहुल्यं निरस्यति, तत् प्रमाथिसंज्ञं कथितम् । यथा--मरिचं, वचा च । दोषशब्दोऽत्र व्याधिष्वपि वर्तते, कारणे कार्योपचारात् ; तेन व्याधिसंचयमपीत्यर्थः (आ.) । यद् द्रव्यं निजवीर्येण स्वप्रभावेण, स्रोतोभ्यो रसवाहिसिरामार्गेभ्यो, दोषसंचयं निरस्यति दूरीकरोति, तत् प्रमाथि स्यात् । (का.) ।

जो द्रव्य अपनी शक्ति से स्रोतों से अर्थात् रस-रक्तादि का वहन करनेवाली सिराओं और मार्गों तथा कर्ण, मुख, नासिका आदि के छिद्रों से दोषों के संचय को दूर करे, उसे प्रमाथि[२] कहते हैं । जैसे--कालीमिर्च और वच ।

अभिष्यन्दि-

अभिष्यन्दि दोष-धातु-मलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम् (सु. सू. अ. ४७।५१ ड.) । "मन्दकं दध्यभिष्यन्दजननानाम् ।" (च. सू. अ. २५) । "पैच्छिल्याद्-गौरवात् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः । धत्ते यद्गौरवं तत् स्यादभिष्यन्दि यथा-दधि ।" (शा. प्र. ख. अ. ४) । यद् द्रव्यं पैच्छिल्यात् पिच्छिलगुणयोगात् गौर-वात् गुरुगुणयोगात् गुरुपाकस्वभावाद्वा, रसवहाः सिराः रुद्ध्वा संरुध्य, गौरवं गुरुतां धत्ते, तदभिष्यन्दि कथितम् । यथा--दधि अभिष्यन्दीति, श्लेष्मप्रकोपीति रूढिः ; गुणसाधर्म्यात् श्लेष्माऽपि पिच्छिल-गौरवादिगुणयुक्तः (आ.) । यद् द्रव्यं पैच्छिल्याच्चैक्कण्याद् गौरवाच्च रसवहाः सिरा रुद्ध्वा गौरवं धत्ते तदभि-ष्यन्दि स्यात् (का.) । अभिष्यन्दो दोष-धातु-मलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिः ; कफजोऽयं विकारः । (च. सू. २६।६४ पर यो.) ।

जो द्रव्य अपनी पिच्छिलता तथा गौरव (गुरु गुण या गुरु विपाक) से रस-वह सिराओं को रुद्ध करके शरीर में गौरव-भारीपन उत्पन्न करे और कफ का प्रकोप करे, उसको अभिष्यन्दी कहते हैं । जैसे--दही ।

आशुकारि--आशुगम्--आशु--

आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत् ।" (सु. सू. अ. ४६)

जो द्रव्य अपने शीघ्रत्व गुण के कारण शरीर में शीघ्रता से फैल कर क्रिया करे, जैसे--जल में तैल, उसे आशुकारी कहते हैं ।

विदाहि--

"द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात् । पित्तप्रकोपं

२--प्रमाथि औषध को यूनानी वैद्यक में 'मुफत्तिह' कहते हैं ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि।" (सु. सू. अ. ४५।१५८ पर डल्हण टीका में उद्धृत तन्त्रान्तरीय वचन)।

जो द्रव्य अपने द्रव्यस्वभाव से अथवा पचने में भारी होने से देर में हजम हो और पकते समय पित्त का प्रकोप करके अन्नवहा नली में जलन, खट्टी डकार आदि उत्पन्न करे, उसे विदाही कहते हैं।

योगवाहि--

"गृह्णाति योगवाहि द्रव्यं संसर्गिवस्तुगुणान्।" (भा.)। एतदेव हि योगवाहित्वं यत् स्वगुणापरित्यागेनांशेन सादृश्यात् परस्य शक्तिपूरणम् (इ.)। "योगवाहि परं मधु।" (सु. च. सू. अ. २७)।

जो द्रव्य अपने गुणों को न छोड़ता हुआ अपने साथ संसर्ग में आनेवाले द्रव्य के गुणों को बढ़ावे, उसे योगवाहि कहते हैं; जैसे--मधु, पारद आदि।

षाण्ढ्यकरम्--पुंस्त्वोपघाति--

षण्ढस्य भावः षाण्ढ्यं[1], तत् करोतीति षाण्ढ्यकरम्, शुक्रनाशनम् (इ०)। पुंस्त्वमुपहन्तीति पुंस्त्वोपघाति। क्षारः पुंस्त्वोपघातिनाम्" --च. सू. अ. २५॥

जो द्रव्य वीर्य का क्षय करके षण्ढता (नपुंसकता) लावे (पुरुषत्व का नाश करे) उसको षाण्ढ्यकर या पुंस्त्वोपघाति कहते हैं। जैसे--क्षार।

स्वप्नजननम्--

स्वप्नं निद्रां जनयतीति स्वप्नजननम्। यथा--पारसीकयवानी-सर्पगन्धादि। "माहिषं क्षीरं स्वप्नजननानाम्" --च. सू. अ. २५

जो द्रव्य निद्रा लावे, उसको स्वप्नजनन या स्वापजनन कहते हैं। जैसे--खुरासानी अजवायन, पीपलामूल, चान्दर (सर्पगन्धा) आदि। चरक ने भैंस के दूध को स्वप्नजनन[2] कहा है।

स्वेदापनयनम्--

स्वेदं स्वेदातिप्रवृत्तिमपनयतीति स्वेदापनयनम्। "उशीरं × × स्वेदापनयनप्रलेपनानाम्।" --च. सू अ. २५

१--षाण्ढ्यकर इन द्रव्यों से संभोगशक्ति कम होती है। जैसे--कपूर, तमाखू (Anaphrodisiac--अॅनेप्रॉडिझिआक्) (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यक में पुंस्त्वोपघाति औषध को 'कातिअ बाह' कहते हैं।

२--स्वप्नजनन--ये द्रव्य प्रारम्भ में मद उत्पन्न किये बिना ही निद्रा लाते हैं। (Hypnotics - हिप्नॉटिक्स्; या Soporifics--सोपोरिफिक्स्) (डॉ० वा० दे०) यूनानी वैद्यक में निद्राकारक औषध को 'मुनब्बिम' और 'मुसब्बित' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य स्वेद (पसीना निकलने) की अतिप्रवृत्ति को रोके, उसे **स्वेदापनयन**[1] कहते हैं। **चरक ने** खस के प्रलेप को स्वेदापनयन द्रव्यों में श्रेष्ठ बताया है।

सौमनस्यजननम्--

सौमनस्यं मनसः प्रसन्नतां जनयतीति सौमनस्यजननम्। "मद्यं सौमनस्य-जननानाम्।" —च. सू. अ. २५

जो द्रव्य मनको प्रसन्न (आनन्दित) करे, उसको **सौमनस्यजनन**[2] या **मनःप्रसादकर** कहते हैं। जैसे--मात्रा और विधि से पिया हुआ मद्य (च०)।

चक्षुष्यम्[3]**--**

चक्षुषे हितं चक्षुष्यम्। "मधुकं चक्षुष्य-वृष्य-केश्य-कण्ठ्य-वर्ण्य-विरजनीया-नाम्।" (च. सू. अ. २५)। **"त्रिफला × × × चक्षुष्या × × ×।"** (सु. सू. अ. ३८)। **"चक्षुष्यमग्र्यं बल्यं च गव्यं सर्पिः।"** (सु. सू. अ. ४५)।

जो द्रव्य नेत्र के (दर्शनशक्ति के) लिये हितकर हो, उसे **चक्षुष्य** कहते हैं; जैसे--मुलेठी, गाय का घी, त्रिफला आदि।

केश्यम्--

केशेभ्यो हितं केश्यम्। "केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्य फलमुच्यते।" —सु. सू. अ. ४६

जो द्रव्य बालों को स्थिर रखने और बढ़ानेवाला हो उसको **केश्य** कहते हैं; जैसे--मुलेठी, गम्भारी का फल, भृँगरा आदि।

मेध्यम्--

मेधायै हितं मेध्यम्। "मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः, क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्। रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्पः, कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः॥ मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी॥"— च. चि. अ. १ पा ३

१—अत्यन्त पसीना आता हो तो ये द्रव्य उसको बन्द करते हैं। इनमें से (१) कई रक्ताभिसरणपर, (२) कई स्वेदग्रन्थियोंपर (३) कई स्वेदकेन्द्रपर और (४) कई स्वेदग्रन्थियों में जानेवाली नाड़ियों के अन्तिम भागोंपर क्रिया करते हैं। जैसे--बेलाडोना, खुरासानी अजवायन, धतूरा, कुनैन (स्वल्प प्रमाण में), जस्त, कषाय द्रव्य आदि (Anhydrotics—अॅन्हाइड्रोटिक्स्) (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यक में स्वेदापनयन औषध को **'मानिअ अरक'** कहते हैं।

२--Exhilerents—एग्झिलरन्ट्स् (डॉ० वा० दे०)। सौमनस्यजनन को यूनानी वैद्यक में **'मुफर्रक'** कहते हैं।

३--चक्षुष्य औषध को यूनानी वैद्यक में **'मुकब्बी बसर'** कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य मेधा (स्मरणशक्ति या बुद्धि) को बढ़ानेवाला हो, उसको मेध्य कहते हैं ; जैसे--ब्राह्मी, शङ्खपुष्पी, सुवर्ण आदि ।

पुरीषजननम्--

पुरीषं जनयति प्रमाणाधिकं पुरीषमुत्पादयतीति पुरीषजननम् । "माषाः पुरीषजननानाम् ।" (च. सू. अ. २५) । "बहुवातशकृद्यवः" (च. सू. अ. २७)।

जो द्रव्य अधिक प्रमाण में मल उत्पन्न करे, उसको **पुरीषजनन** कहते हैं ; जैसे--उड़द, जौ, पत्रशाक आदि ।

अब **सुश्रुत** के कहे हुए शल्यचिकित्सोपयुक्त विम्लापनादि वर्गों की व्याख्या दी जाती है--

विम्लापनम्--शोथविलयनम्--

यानि द्रव्याणि व्रणशोथे आरम्भत एव प्रयुक्तानि शोथमपाचयित्वैव विम्लापयन्ति, तानि 'विम्लापनानि' इत्युच्यन्ते । वातज-पित्तज-श्लेष्मज सान्निपातिक-व्रणशोथविल (ला) यनार्थं सुश्रुते मिश्रकचिकित्सिते (सू. अ. ३७) विम्लापनाः प्रलेपा उक्ताः ।।

जो द्रव्य व्रणशोथ की प्रारम्भावस्था में ही प्रलेप के रूप में प्रयुक्त होनेपर व्रणशोथ को बिना पकाये ही बैठा देते हैं, उनको **विम्लापन**[1] कहते हैं । सुश्रुत सू० अ० ३७ में वातज, पित्तज, कफज और सान्निपातिक व्रणशोथ के विम्लापन के लिये प्रलेप लिखे हैं ।

पाचनम्--

पाकाभिमुखं व्रणशोथं यानि द्रव्याणि शीघ्रं पाचयन्ति, तानि 'पाचनानि' इत्युच्यन्ते ; यथा--"शण-मूलक-शिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः । सक्तवः किण्व-मतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम्" (सु सू. अ. ३७) । पाचनद्रव्याण्युपनाहरूपेण प्रयुज्यन्ते ।।

जो द्रव्य पकने लगे हुए व्रणशोथ को शीघ्र पकाते हैं, उन्हें **पाचन (व्रणशोथ-पाचन)** कहते हैं ; जैसे--सन-मूली और सहेंजन के बीज, तिल, सरसों, सत्तू,

---

१--ये द्रव्य व्रणशोथ को बैठाते हैं । जैसे--पारा, बछनाग, सुरमा, कुटकी आदि (Antiphlogestic--ॲन्टिफ्लॉजेस्टिक) । **ग्रन्थिविलयन** (Resolvents--रिझॉल्वन्ट्स् ; Disentient--डिसेन्शिअन्ट्--ये द्रव्य व्रणशोथ किंवा सूजी हुई ग्रन्थियों को ठीक करते हैं । ये रसग्रन्थियों को उत्तेजन देते हैं । जैसे--उषक, कुन्दरू, अमरकन्द, पारा । इनसे पूय उत्पन्न हुए बिना शोथ बैठ जाता है (डॉ० वा० दे०) । यूनानी वैद्यक में विम्लापन औषध को 'मुहल्लिल वरम' कहते हैं ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किण्व, अलसी-तीसी और उष्णवीर्य द्रव्य (सु०)। इन द्रव्यों का उपनाह (पोल्टिस) के रूप में व्रणशोथ पर बाँधने में प्रयोग होता है[1]।

दारणम्-प्रदरणम्--

पक्वमपि स्वयमविदीर्यमाणं व्रणशोथं यानि द्रव्याणि दारयन्ति तानि दारणानि इत्युच्यन्ते। यथा--चित्रक-कपोतविट्-क्षारादीनि (सु. सू. अ. ३७)। 'पित्तलान् रसान् गुणांश्च प्रदरणम्। तत् पार्थिवमाग्नेयं च" (च. वै अ. ४।१५ १६)। पित्तलान् कटुकाम्ल-लवणान् रसान् तीक्ष्णोष्णौ च गुणावाश्रितं प्रदरणम्। तत् पृथिव्याग्निभ्यां निर्मितम्। पृथिवी खलु रौक्ष्यात् तत्रस्थं स्नेहमपास्य पृथिवी-परमाणूनामप्लंग्रहमपाकरोति ; ततस्तैक्ष्ण्यादग्निर्विदारयति॥

पकने पर भी अपने आप न फूटनेवाले व्रणशोथ को जो द्रव्य फोड़ दें, उन्हें दारण कहते हैं, जैसे--चित्रक, कबूतर की बीट, क्षार आदि। दारण द्रव्य पित्त-कर रस (कटु-अम्ल-लवण) और गुण (तीक्ष्ण और उष्ण गुण) को आश्रय करके रहता है तथा पृथिवी और अग्नि के गुणों की अधिकतावाला होता है[2] (च० वै०)।

प्रपीडनम्--

पक्वप्रभिन्नानां मर्मादिसमीपस्थानां सूक्ष्ममुखानां व्रणानां स्वयमेव सम्यक्पूयम-वहतां प्रपीडनं कृत्वा यानि द्रव्याणि तेभ्यः पूयं सम्यग्वाहयन्ति, तानि 'प्रपीडनानि' इत्युच्यन्ते। तथा च सुश्रुते--"पूयगर्भाणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि। यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत्॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति। न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते" (सु. चि. अ. १)। पीडनमिति शाल्मली-त्वगादीनां व्रणे कर्मविशेषः (सु. सू. अ. ४०। ५० ङ)। "द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्। यव-गोधूम-माषाणां चूर्णानि च समासतः॥

(सु. सू. अ. ३७)।

जो द्रव्य पककर फूटे हुए किन्तु मुख सूक्ष्म होने के कारण अच्छी तरह पूय को न निकालनेवाले व्रणों को पीड़ितकर (दबाकर) पूय को निकालते हैं, उन्हें **प्रपीडन** कहते हैं। प्रपीड़न के लिए पिच्छिल वृक्षों की छाल और मूल, जौ, गेहूँ तथा उड़द का आटा--इनका कल्क पूययुक्त, सूक्ष्म मुखवाले तथा किसी मर्मस्थान के समीपवर्ती

१--यूनानी वैद्यक में व्रणशोथपाचन को **'मुन्जिज वरम'** या **'मुकय्यिह'** कहते हैं।

२-- ये द्रव्य जहाँ लगाये जायँ उस भाग का नाश करते हैं, और उस भाग के अन्दर के जल को सुखाकर उसका नाश करते हैं ; जैसे--द्रावकाम्ल, क्षार, सोमल, संखिया (Escharotic--एस्कॅरॉटिक् ; Caustic--कॉस्टिक्) (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यक में दारण औषध को **'मुफज्जिर वरम'** कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्रणों के चारों ओर प्रलेप के रूप में लगाया जाता है। इन प्रलेपों को सूखने देना चाहिए, तथा इनका लेप व्रण के मुख को छोड़कर चारों ओर करना चाहिये।

शोधनम्--

स्वयमेव विदीर्ण शस्त्रेण भेदितं वा व्रणं यानि द्रव्याणि शोधयन्ति, तानि 'शोधनानि' इत्युच्यन्ते शोधनं। पुनरष्टविधं—कषाय-वर्ति-कल्क-घृत-तैल-रसक्रिया-चूर्ण-धूपन-भेदेन। शोधनद्रव्यविस्तरस्तु सुश्रुते सूत्रस्थाने ३७ तमेऽध्याये चिकित्सास्थाने प्रथमेऽध्याये च द्रष्टव्यः॥

जो द्रव्य अपने आप फूटे हुए वा शस्त्र से भेदन किये हुए व्रणोंको शुद्ध करते हैं उन द्रव्यों को शोधन (व्रणशोधन) कहते हैं। इनका उपयोग कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया, चूर्ण और धूपन के रूप में आठ प्रकार से होता है। उनका विस्तार सु० सू० अ० ३७ तथा चि० स्था० अ० १ में देखें।

रोपणम्--

शुद्धं व्रणं यानि द्रव्याणि रोपयन्ति, तानि 'रोपणानि' इत्युच्यन्ते। रोपणं कषाय-वर्ति-कल्क-घृत-तैल-रसक्रिया-चूर्णभेदेन सप्तविधं भवति। रोपणद्रव्य-विस्तरस्तु सुश्रुते सूत्रस्थाने ३७ तमेऽध्याये, चिकित्सास्थाने प्रथमेऽध्याये च द्रष्टव्यः।

जो द्रव्य शुद्ध व्रण का रोपण करते हैं (व्रण को भर लाते हैं), उनको रोपण कहते हैं। इनका उपयोग कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया और चूर्ण के रूप में सात प्रकार से होता है; रोपण द्रव्यों का विस्तृत वर्णन सु० सू० अ० ३७ तथा चि० स्था० अ० १ में देखें[1]।

उत्सादनम्--

परिशुष्कालपमांसान् गम्भीरान् व्रणान् यानि द्रव्याणि मांसवर्धनेनोत्सादयन्ति, तानि 'उत्सादनानि' इत्युच्यन्ते। "अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुवर्चला। उत्सादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिश्च यो गणः॥" (सु. सू. अ. ३७)। उत्सादनं मांसवर्धनं; लेपप्रयोगादुत्सादनं भवति (ङ)।

जो द्रव्य शुष्क, अल्प मांसवाले तथा गहरे व्रणों में मांस की वृद्धि करके उन्हें ऊँचे लाते हैं (समतल करते हैं), उन्हें उत्सादनकहते हैं[2]।

अवसादनम्--

उत्सन्नमृदुमांसान् व्रणान् यानि द्रव्याण्यवसादयन्ति, तानि 'अवसादनानि' इत्युच्यन्ते। "कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मनःशिला। कुक्कुटाण्डकपालानि

१—रोपण द्रव्य को यूनानी वैद्यक में मुदम्मिल' और मुल्हिम' कहते हैं।
२—उत्सादन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'मुम्बित लहम' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुमनोमुकुलानि च ॥ फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च। व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने।" (सु. सू. अ. ३७)। अवसादने इति मांसस्फोटने (ङ)।

जो द्रव्य उभरे हुए कोमल मांसयुक्त व्रणों को बैठाकर समतल करते हैं, उन्हें अवसादन कहते हैं, जैसे—कासीस, सैन्धव आदि।

उपशोषणम्—

उपशोषणं यच्छरीरे आर्द्रभावं शोषयति (अ. स सू. अ. १३ में इन्दु)। "कुटजत्वक् × × उपशोषणानाम्।" (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य शरीर में आर्द्रता (गीलापन) को सुखाते हैं, उन्हें उपशोषण कहते हैं। जैसे--कुडा की छाल[1] (च०)।

रोम (लोम) शातनम्—

प्रलेपाद् रोमाणि शातयति नाशयतीति रोमशातनम्। यथा—हरितालमिश्रं शङ्खचूर्णादि (सु. चि. अ. १)॥

जो द्रव्य त्वचापर लगाने से बालों को निकाल दे, उसको रो(लो)मशातन कहते हैं; जैसे--हरताल और शङ्खचूर्ण (या चूने) का लेप[2]।

रोम (लोम) संजननम्—

रोमाणि सम्यग्जनयतीति रोमसंजननम्। यथा—हस्तिदन्तमसीयुक्तरसाञ्जनप्रलेपनम् (सु. चि. अ. १)॥

जो द्रव्य जहाँ से बाल निकल गये हों वहाँ प्रलेप करने से बालों को उत्पन्न करे, उसे रोमसंजनन[3] कहते हैं; जैसे--हाथी के दाँत की मसी मिलाई हुई रसौंत का लेप। (सु० चि० अ० १)।

रक्षोघ्नम्—

रक्षांसि अन्तरिक्षचरान् हिंसकान् जन्तून् धूपनादिभिर्हन्तीति रक्षोघ्नम्। यथा—गुग्गुल्वगुरु-वचा-सर्षप-निम्बपत्रादि (सु. सू. अ. ५)॥

१—ये द्रव्य शरीरपर के लसीका, पूय आदि दुःखदायक और दाहजनक मल पदार्थों का शोषण करते हैं; किंवा महास्रोतस् के अन्दर के वायु का शोषण करते हैं। जैसे—लकड़ी का कोयला; विशेष प्रक्रिया से तैय्यार की हुई रूई (अॅब्सॉर्बेन्ट कॉटन) व्रणलेखन (सु०) Absorbent—अॅब्सॉर्बेन्ट्) (डॉ० वा०दे०)। उपशोषण द्रव्य को यूनानी वैद्यक में 'नाशिफ' और 'मुनशिफ' कहते हैं।

२—रोमशातन औषध को यूनानी वैद्यक में 'हालिक' कहते हैं।

३—रोमसंजनन औषध को यूनानी वैद्यक में 'मुंबित शअर' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य अन्तरिक्षचर और हिंसक राक्षसों को (रोगोत्पादक जन्तुओं को) धूपन आदि से नष्ट करे, उसे रक्षोघ्न कहते हैं। जैसे--गूगल, अगर, सरसों, वच, अजवायन, नीम की पत्ती आदि।

वक्तव्य--स्व० वा० डॉ० वामन गणेश देसाई ने ओषधिसंग्रह नाम के मराठी ग्रन्थ में द्रव्यों के कुछ और वर्ग लिखे हैं, वे आगे दिये जाते हैं--

स्वाप[1] **(सुप्ति) जनन**-- (Anaesthetics--ॲनिस्थेटिक्स्) --ये द्रव्य मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकाण्ड में स्थित नाड़ीकेन्द्रों पर क्रिया करते हैं और बेहोशी, संज्ञानाश तथा स्पर्शनाश उत्पन्न करते हैं। ये द्रव्य उड़नेवाले होते हैं। इस वर्ग में मद्य, अफीम आदि मादक द्रव्यों का अन्तर्भाव नहीं होता। जैसे--क्लोरोफार्म। कई द्रव्य त्वचा किंवा क्षतपर लगाने से शून्यता उत्पन्न करते हैं। इनकी क्रिया प्रत्यक्ष ज्ञानतन्तुओं के सिरों पर होती है। इन्हें जहाँ लगाया जाता है, उस स्थान पर क्षति नहीं होती। जैसे--जटामांसी, तगर, बर्फ आदि (डॉ. वा. दे.)।

विरुद्ध-- (Antagonists--ॲन्टॅगोनिस्ट्स्)--ये द्रव्य एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करते हैं, कोई वीर्यविरुद्ध और कोई संयोगविरुद्ध। जैसे--मद्य और कुचला। अफीम और बेलाडोना। इनकी क्रिया परस्पर विरुद्ध होती है, अतः इनका संयोग नहीं होता; जैसे--बेलाडोना और धारीकून, धतूरा और पद्मकाष्ठ (डॉ.वा. दे.)।

स्तन्यनाशन—(Lactifuge--लॅक्टिफ्युज्)--स्त्रियों के स्तन्य (दूध) को उड़ानेवाले द्रव्य; जैसे--पान का पत्ता, मोगरे के फूल, कपूर का पत्ता (डॉ.वा. दे.)।

अश्मरी नाशन[2]--(सु० सू० अ० ३८) (Antilithics--ॲन्टिलिथिक्स्), **शर्करानाशन**((Lithontriptics--लिथोन्ट्रिप्टिक्स्) ये द्रव्य शरीर में बनी हुई या संचित पथरियों को पिघला देते हैं। जैसे--द्रावकाम्ल फॉस्फोरस की पथरी को; क्षार लाल रंग की पथरी को; सोडा सेलिसिलेट पित्ताश्मरी को पिघलाते हैं। Antilithics--ॲन्टिलिथिक्स्--पथरी का बनना रोकनेवाले द्रव्य (डॉ.वा. दे.)।

कोथप्रशमन (ॲन्टिसेप्टिक्स्)--ये द्रव्य सूक्ष्मजन्तुओं की वृद्धि का नाश करते हैं और इन जन्तुओं की वृद्धि से होनेवाली सड़ने की क्रिया (कोथ) को रोकते हैं। ये रोगजन्तुघ्न और दुर्गन्धनाशन वर्ग से भिन्न हैं; जैसे--लवङ्ग का तैल, सुहागा, पोदीने का सत्त्व, पारा, सर्वसुगन्धित तैल (डॉ. वां. दे.)।

पित्तसारक--(Cholagogues--कॉलॅगॉग्स्)--ये द्रव्य यकृत् को उत्तेजित करके पित्त का स्राव बढ़ाते हैं; जैसे--नौसादर, सज्जीखार, पारा, पौडोफिलम् (पाप्रा), रेवन्दचीनी, एलुआ (डॉ. वा. दे.)।

१--यूनानी वैद्यक में स्वापजनन औषध को 'मुखद्दिर' कहते हैं।

२--यूनानी वैद्यक में अश्मरीनाशन औषध को 'मुफत्तित हसात' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दुर्गन्धहर—((Deodorants—डिओडरन्ट्स्)—ये द्रव्य दुर्गन्ध का नाश करते हैं ; जैसे—कोयला (डॉ. वा. दे.) ।

रोगजन्तुघ्न—(Disinfectants—डिसिन्फेक्टन्ट्स्) ये द्रव्य रोग उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म जन्तुओं का नाश करते हैं ; जैसे—कार्बोलिक ऍसिड, गर्म हवा, (डॉ. वा. दे.) ।

गर्भपाति—(Ecbolics—एक्बॉलिक्स् ; Abortifacients—ॲबॉर्टिफॅश्यन्ट्स्)—ये द्रव्य गर्भाशय की पेशियों का संकोच करते हैं ; जैसे—सर्पगन्धा इशरमूल, गाँजा, टंकण, सताप, कुनैन, अर्गट । ये द्रव्य अल्प प्रमाण में लेने से आर्तव को बढ़ाते हैं और अधिक प्रमाण में लेने से गर्भ को गिराते हैं (डॉ. वा. दे.) ।

आर्तवजनन—((Emmenagogues—एमिनॅगॉग्स्) —ये द्रव्य आर्तव बढ़ाते हैं । इनकी क्रिया दो प्रकार से होती है ; (१) प्रत्यक्ष गर्भाशय को उत्तेजित करके आर्तवस्राव कराते हैं ; जैसे—अर्गट, सताप, कपास की जड़ । (२) जिस कारण से आर्तव बन्द हो उसे दूर करते हैं । जैसे—लोहा, कुचला, एलुआ, कीड़ामारी (डॉ. वा. दे.)।

मार्दवकर—(Emollients—इमॉलिअन्ट्स् ; Protectives—प्रोटेक्टिव्स्) ये द्रव्य जहाँ लगाये जाते हैं उस भाग में मृदुता लाते हैं तथा हवा से उसकी रक्षा करते हैं ; जैसे—तैल, चर्बी, निशास्ता (डॉ. वा. दे.) ।

श्लेष्मनिःसारक[1]—(Expectorant—एक्स्पेक्टोरन्ट्)—श्वासनलिका और फेफड़ों से कफ को बाहर लानेवाले द्रव्य । इनकी क्रिया अनेक प्रकार से होती है । (१) **श्वासहर**—ये श्वासनलिका के संकोच-विकास को कम करते हैं । जैसे—देवनल, तमाखू, धतूरा । (२) **उत्क्लेशक**—इनसे जी मिचलाकर तथा उलटी की इच्छा-सी होकर कफ निकलता है । इनसे कफ पतला भी होता है । अधिक मात्रा में देने से ये द्रव्य उलटी कराते हैं । जैसे—सुरमा । (३) **उल्लेखन**—ये श्वासनलिका की कला का शोथ कम करते हैं तथा कफ का स्राव कराते हैं । सब वमन द्रव्य अल्प मात्रा में देने से उनकी इसी प्रकार क्रिया होती है । इन्हें Nauseating or depressant expectorant—नॉशिएटिंग् एक्स्पेक्टोरन्ट् या डिप्रेसन्ट् एक्सपेक्टोरन्ट् कहते हैं ; जैसे—सुरमा खडकी, रास्ना, एपिकाक्युआना । (४) **छेदन**—ये श्वासनलिका की कला को उत्तेजित करते हैं तथा कफ को पतला करते हैं । कफ का लेस कम होने से वह खाँसते ही बाहर निकल पड़ता है । इन्हें Stimulating expectorant—स्टिम्युलेटिंग् एक्स्पेक्टोरन्ट् कहते हैं ; जैसे—

१—श्लेष्मनिःसारक द्रव्य को यूनानी वैद्यक में **'मुनफ्फिस बल्गम'** और **'मुखरिज बल्गम'** कहते हैं ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नौसादर, उपक, प्याज, शिलारस, हींग, गन्धा-विरोजा, अडूसा। (५) **उद्भ्रंसिकाहर**--ये श्वास-क्रिया के केन्द्रों को शान्त करते हैं। खाँसी के साथ कफ पड़ना चाहिये। कफ न पड़ने से जो बहुत ही दुःखदायी खाँसी होती है, वह इन द्रव्यों से कम होती है। ये द्रव्य बहुत भयंकर और अवसादक होने से सावधानी से बरतने चाहिये। ये केवल सूखी खाँसी कम करते हैं। जैसे--अफीम। (६) **स्नेहन**--ये द्रव्य गले और श्वासनलिका के द्वारों में स्निग्धता लाते हैं। जैसे--गोंद, मिश्री, मुलेठी। (७) **उत्तेजक**--ये श्वास-क्रिया के केन्द्रों में स्फूर्ति लाते हैं। उन को उत्तेजन मिलने से खाँसने की शक्ति बढ़ती है और जोर से खाँसने के साथ कफ ठीक पड़ता है। जैसे--कुचला, बेलाडोना, पुष्करमूल (डॉ० वा० दे०)।

तारकाविकासि[1]-- (Mydriatics--मिड्रिएटिक्स्)--ये द्रव्य कनीनिका (आँखकी पुतली) को विकसित करते हैं। इनसे कनीनिका की पेशी दुर्बल होती है और कुछ काल दिखना कम होता है। जैसे--धतूरा, बेलाडोना (डॉ० वा० दे०)।

तारकासंकोचन--(Myotics--मायोटिक्स्)--इन द्रव्यों से कनीनिका का संकोचन होता है और आँखों का तनाव कम होता है। जैसे--अफीम। (डॉ० वा० दे०)।

मोहजनन--(Narcotics--नार्कोटिक्स्)--ये द्रव्य मस्तिष्क पर क्रिया करते हैं और निद्रा लाते हैं। इन से आरम्भ में थोड़ा-बहुत मद उत्पन्न होता है। जैसे--अफीम, गाँजा, मद्य। ये द्रव्य स्वप्नजनन वर्ग से भिन्न हैं; कारण, स्वप्नजनन वर्ग से प्रारम्भ में मद नहीं होता (डॉ० वा० दे०)।

आविजनन[2]--(Oxytocics--ऑक्सिटॉसिक्स्)--ये द्रव्य प्रसूति के समय या प्रसूति के पीछे गर्भाशय की संकोचन-क्रिया बढ़ाने के लिये दिये जाते हैं। जैसे--कुनैन, अर्गट आदि (डॉ० वा० दे०)।

शोणितोत्क्लेशक[3]--(Rubefecients--रुबिफेशिअन्ट्स्)--ये द्रव्य त्वचा पर लगाने से त्वचा लाल हो जाती है। जैसे--राई, हुलहुल, चित्रक, पोलु, कॅन्थॅरिडीस्। किन्हीं से त्वचा लाल होती है और किन्हीं से छाले उठते हैं (डॉ० वा०दे०)।

स्फोटजनन[4]--(Vesicant--वेसिकन्ट)--जैसे--कॅन्थॅरिडीस्, राई, चित्रक-मूल (डॉ० वा० दे०)।

१--तारकाविकासि द्रव्य को यूनानी वैद्यक में **'मुफत्तिह सुकुबहे इनबिय्या'** कहते हैं।

२--आविजनन औषध को यूनानी वैद्यक में **'मुखरिज जनीन व मशीना'** कहते हैं।

३--शोणितोत्क्लेशक द्रव्य को यूनानी वैद्यक में **'मुहम्मिर'** कहते हैं।

४- स्फोटजनन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में **'मुकर्रह'** कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अवसादक[1]--(Sedatives--सिडेटिव्स्; Depressants--डिप्रेसन्ट्स्) --ये द्रव्य शरीर के विभिन्न अवयवों का अवसाद करते हैं। मात्रा अधिक हो तो वह दुर्बल हो जाता है। (१) नाड़ीसंस्थान के केन्द्रों के अवसादक; जैसे--तमाखू, देवनल। (२) रक्ताभिसरण के अवसादक; जैसे--बछनाग, सुरमा, पद्मकाष्ठ (डॉ० वा० दे०)।

लालाप्रसेकापनयन--(Antisialogogues--ॲन्टिसाएलॉगोग्स्)--ये द्रव्य लाला का स्राव कम करते हैं। जैसे--बेलाडोना (डॉ० वा० दे०)।

लालाप्रसेकजनन[2]--(Sialagogues--साएलॅगॉग्स्)--ये द्रव्य लाला-स्राव को बढ़ाते हैं। (१) कई द्रव्य मुख में रखनेपर लालाग्रन्थियों को उत्तेजित करते हैं और लार बढ़ाते हैं। जैसे--अकरकरा तमाखू, राई, लाल मिर्च। (२) कई द्रव्य रक्त में मिश्रित होकर लालाद्वारा बाहर निकलते हैं और लाला-स्राव को बढ़ाते हैं। जैसे--पारा (डॉ० वा० दे०)।

उत्तेजक[3]--(Stimulants--स्टिम्युलन्ट्स्)--इन द्रव्यों से अङ्गों में उत्तेजना आती है चाहे इन्हें मुख द्वारा लिया जाय अथवा त्वचापर मसला जाय। इन की क्रिया विभिन्न अवयवोंपर होती है। (१) सुषुम्णाकाण्ड के उत्तेजक; जैसे--कुचला, फॉस्फरस। (२) यकृत् के उत्तेजक; जैसे--नौसादर, पित्त-सारक वर्ग। (३) आँतों के उत्तेजक; जैसे--रसकपूर। (४) रक्ताभि-सरण के उत्तेजक; जैसे--डिजिटेलिस, बेलाडोना, कपूर। (५) आमाशय के उत्तेजक; जैसे--सुगन्धित द्रव्य, मसाले। (६) त्वचा के उत्तेजक; जैसे--राई। (७) नेत्रों के उत्तेजक; जैसे--रसौत। (८) व्रणशोथ किंवा व्रण के उत्तेजक; जैसे--नीम की पत्ती, संभालू की पत्ती (डॉ० वा० दे०)।

हृदयोत्तेजक--(Cordial--कॉर्डिअल्)--सुगन्धि और उष्ण द्रव्य। ये रक्ताभिसरण की गति को बढ़ाते हैं (डॉ० वा० दे०)।

सुश्रुतने तथा सुश्रुतमतानुयायी **भदन्त नागार्जुन** नें अपने-अपने ग्रन्थ में द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक इनमें से प्रत्येक की एकीयमत से प्रधानता दिखलाकर अन्त में इन सब में द्रव्य ही प्रधान है और द्रव्यादि सब मिलकर कार्य करते हैं, यह सिद्धान्त स्थापित किया है। इस ग्रन्थ में द्रव्यविज्ञानीय, गुणविज्ञानीय आदि प्रत्येक अध्याय में द्रव्यादि में से एक-एक की प्रधानता दिखाकर अन्त में उपसंहार प्रकरण में दोनों आचार्यों का सिद्धान्त दिया जायगा। द्रव्यविज्ञानीयाध्याय में मूल में **सुश्रुत** और टिप्पणी में

१--अवसादक औषध को यूनानी वैद्यक में '**मुसक्किन**' कहते हैं।
२--लालाप्रसेकजनन द्रव्य को यूनानी वैद्यक में '**मुद्दिर लुआब दहन**' कहते हैं।
३--उत्तेजक द्रव्य को यूनानी वैद्यक में **मुहर्रिक**' और '**मुहब्बिह**' कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नागार्जुन के मत से **द्रव्यप्राधान्यवाद** (द्रव्यप्राधान्य के विषय में एकीयमत) लिखा जाता है--

केचिदाचार्या[1] ब्रुवते--द्रव्यं प्रधानं, कस्मात् ? व्यवस्थितत्वात्; इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादयः, यथा--आमे फले ये रसादयस्ते

१--**द्रव्यप्रभृतीनां तु प्रधानं द्रव्यमेके ब्रुवते** (र०वै०सू०अ०१सू० ९९)--एवं परीक्षितव्यानि परीक्ष्य, तत्र बलाबलचिन्तां चोक्त्वा, द्रव्यादीनां षण्णां पदार्थानां तत्र शरीरभूतानामिदंप्रधानतेदानीं परीक्ष्यते--द्रव्येत्यादि। अत्र षष्ठी निर्धारणलक्षणा। 'तु' शब्दोऽधिकारनिवृत्त्यर्थः (भा०)। द्रव्यं प्रधानं रसादिभ्य इति प्रतीज्ञा; कुतः! **तर-तमयोगानुपलब्धेः** (सू० १००)।--तर-तमयोगो रसादिषु दृष्टः। तत्र द्वयोरतिशये तरप्, बहुभ्योऽतिशये तमप्। मधुरतरो, मधुरतमः; शीततरः, शीततमः; छर्दनीयतर, छर्दनीयतमं; लघुतरो लघुतमः; कर्मतरं, कर्मतममिति। द्रव्येषु नास्ति यष्टीमधुकतरो यष्टीमधुकतम इति। तस्मात् तर-तमयोगाभावाद् रसादिभ्यो द्रव्यं प्रधानमिति। × × ×। (भा०)। **सर्वेन्द्रियोपलब्धेः** (सू० १०१)।--द्रव्यप्राधान्यसाधनार्थमयं च हेतुः--सर्वेत्यादि श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्द्रव्यं गृह्यते, रसादयो ह्येकेन्द्रियग्राह्याः। रसनेन रसः शीतादिस्पर्शनेन वीर्यं फलदर्शनाच्चक्षुषेति कल्पयामः, विपाकस्तथैव, कर्म चक्षुषा। द्रव्यं पुनश्चक्षुषा दृष्ट्वा यष्टीमधुकं जानाति,स्पृष्ट्वा च रात्रौ यष्टीमधुकमिति प्रतिपद्यते,रसनेनास्वाद्य यष्टीमधुकमिति वेत्ति, घ्रात्वा च यष्टीमधुकमित्यवगच्छति, श्रुतं च यष्टीमधुकज्ञानं भवति; एवमनेकेन्द्रियग्राह्यत्वात् प्रधानं द्रव्यमिति (भा०) **व्यवस्थानात्** (सू० १०२) × ×। व्यवस्थानादिति द्रव्यं व्यवस्थितं, गुणा ह्यनवस्थिताः। उक्तं च--"दूर्वांकुरनिभं भूत्वा फलं जम्बवास्ततः पुनः। मेचकं भजते वर्णं पुनरञ्जनसंनिभम् ॥" इति। एवं तद्गताश्च स्पर्श-रस-गन्धाश्चानवस्थिताः।। जम्बूफलमिति द्रव्यं सामान्यम्। × × ×। (भा०)। **अधिष्ठानादाश्रयात्** (सू० १०३)। ××। द्रव्यमाश्रयः. आश्रयिणो रसादय इति। आश्रयभूतः प्रधानः स्वामी दृष्ट इति (भा०)। **आरम्भसामर्थ्यात्** (सू० १०४)। आरम्भश्चिकित्सायां क्रियारम्भः--मूलमाहरेत्यादि। तस्मिन् द्रव्यस्यैव सामर्थ्यं, न रसादीनामारम्भसामर्थ्यम्। अविकलेन्द्रियः पुरुषः प्रधानो दृष्टः पङ्गोरिति (भा०)। **विकल्पसामर्थ्यात्** (सू० १०५)। × ×। विविधः कल्पो विकल्पः कल्ककषायादिभेदेन तस्मिन् विकल्पे सामर्थ्यात्, तत् सर्वं द्रव्यस्यैव नान्यस्येति। × × ×। (भा०) **प्रतीघातसामर्थ्यात्** (सू० १०६)। प्रतीघात आवरणं, तस्मिन् सामर्थ्यं द्रव्यस्यैव भवति, मूर्तिमत्त्वात्। अप्रतीघातात्मनां काल-दिगात्मादीनां किं प्राधान्यं निवार्यत इति ? न सर्वेभ्यः प्राधान्यं साधयितुमिष्टं, (किन्तु) रसादिभ्य इत्यदोषः। तेषामपि मूर्तिमत्वमिष्यत एव कैश्चिदिति। तदप्यसत्। तस्मादयमन्यः कल्पः--प्रतीघातसामर्थ्यात् स्वस्थानेऽन्यस्यानवकाशदानादिति। रसादयःसंपृक्तास्तिष्ठन्तीति। आवरणार्थोऽपि स एव घटते यः स्वस्मिन् स्थानेऽन्यस्यावकाशं निरुणद्धि, स प्रधानो दृष्टः--चक्रवर्तीति (भा०)। **शास्त्रोपदेशसामर्थ्यात्** (सू० १०७)। × ×। आगमादित्यर्थः। शास्त्र एवोपदिश्यते हि--"य एव हि गुणा द्रव्ये शरीरेष्वपि->

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पक्वे न सन्ति; नित्यत्वाच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणाः. यथा[1]—कालादिप्रविभागात्तदेव संपन्नरसगन्धं व्यापन्नरसगन्धं वा भवति; स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि—पार्थिवं द्रव्यमन्यभावं न गच्छत्येवं शेषाणि; पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसादयः; आश्रयत्वाच्च, द्रव्यमाश्रिता रसादयः; आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याश्रित आरम्भः, यथा—'विदारिगन्धादिमाहृत्य संक्षुद्य विपचेत्' इत्येवमादिषु न रसादिष्वारम्भः, शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानमुपदेशे हि योगानां, यथा—"मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च" (सु. सू. अ. ३७) इत्यादौ न रसादय उपदिश्यन्ते; क्रमापेक्षितत्वाच्च रसादीनां, रसादयो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते, यथा—तरुणे तरुणाः, संपूर्णे संपूर्णा इति; एकदेशसाध्यत्वाच्च, द्रव्याणामेकदेशेनापि व्याधयः साध्यन्ते (न रसादिभिः, कस्मात् ? निरवयवत्वात्[2]), यथा—महावृक्षक्षीरेणेति; तस्माद् द्रव्यं प्रधानम्। द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति ।।

पाको नास्ति विना वीर्याद् वीर्यं नास्ति विना रसात् ।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठमतः स्मृतम् ।।
जन्म तु द्रव्य-रसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम् ।
अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद्देह-देहिनोः ।।
वीर्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः ।
रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः ।।

←ते स्मृताः। तान् द्रव्यैस्तद्गुणैरेव प्रयोगेणाभिवर्धयेत्।।" इति। सामान्य प्रयोगवचने विशिष्टेन प्रयोगो निर्दिश्यत इति (भा०) **अवयवेन सिद्धे-** (सू० १०८)। ×× । अवयवेन एकदेशेन प्रदेशेन सिद्धेः, 'प्रयोगेषु' इति वाक्यशेषः यथा—मूलत्वगादिना अवयवेन यः साधयति स प्रधानो दृष्टः। ×× । (भा०)। **तदनुविधानाच्चेतरेषाम्** (सु० १०९)। ×× । इतरेषां रसादीनां द्रव्यस्यानुविधानात्। द्रव्यमनुवर्तन्ते हि रसादयः; तारुण्ये तरुणाः, संपत्तौ संपन्नाः, विपत्तौ विपन्ना भवन्तीति। ये यमनुवर्तन्ते ते तस्मादप्रधाना दृष्टाः। तद्यथा—गुरोः शिष्या इति (भा०) **द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम्** (र० वै० सू० अ० १, सू० १६६)। रसादीनां पदार्थानां यदाश्रयभूतं तद् द्रव्यम् (भा०) ।।

१—'यथा कल्कादिप्रविभागः, स एव संपन्नरसगन्धो व्यापन्नरसगन्धो वा भवति इति डल्हणसंमतः पाठः। २—कोष्ठकान्तर्गतः पाठो हाराणचन्द्रेण न पठ्यते।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः ।
श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं शेषा भावास्तदाश्रयाः ॥

--सु. सू. अ. ४०

अत्र द्रव्यादीनां प्रत्येकं प्राधान्यमेकीयमतेन दर्शयितुं द्रव्यप्राधान्ये प्रथमं सहेतुकमेकीयमतमाह--तत्रेत्यादि । एतच्च एकीयमतोपदर्शनं सम्यग्द्रव्यादिस्वभावकज्ञानार्थम् ; अभिनिविष्टो हि वादी स्वपक्षसाधनार्थं सर्वं स्वरूपं प्राधान्यख्यापकं दर्शयति, तेन चान्ते वक्ष्यमाणाचार्यसिद्धान्तसहितेन सम्यक् प्रतीतिर्भवति ; एतदर्थमेव चरकेऽपि वातादिप्राधान्ये एकीयमतान्युपन्यस्य वातकलाकलीयादवाचार्यमतमुपदर्शितम् । व्यवस्थितत्वादिति अवस्थाभेदेन रसादिभेदेऽपि द्रव्यस्य व्यवस्थितत्वात् ; यथा—आम्रफलं प्रथमं कषायाम्लं, मध्येऽम्लं, ततो मधुरम् ; एवं रसाव्यवस्थानेऽपि द्रव्यमात्ररूपतया व्यवस्थितम् हेत्वन्तरमाह—नित्यत्वादिति । नित्यत्वं रसादिनाशेऽप्यव्यस्थितत्वमिह ज्ञेयं ; व्यवस्थितत्वं तु रसाद्यन्यथात्वे तद्रूपतया व्यवस्थितत्वमिति विशेषः । कालादीत्यत्रादिशब्देन जल-वातादयो गृह्यन्ते । व्यापन्नरस-गन्धमिति नष्टरस-गन्धम् । अत्रैकस्मिन् द्रव्यप्राधान्ये साध्ये बहुहेतूपदर्शनं शास्त्रत्वादेव भवति, वादे हि द्वितीयादिहेतुकथनमसाधनाङ्गवचनमिति नोपादीयते । स्वजात्यवस्थानादिति परिणामेऽपि द्रव्यं स्वजातावतिष्ठते, न जात्यन्तरं भवति ; यत् पार्थिवं तत् पार्थिवमिति, यदाप्यं तदाप्यमेवेत्यादि जात्यपरित्यागः ; रसस्तु क्षीरे मधुरत्वं परित्यज्य (दध्नि) चाम्लतां यातीत्याद्यनुसर्तव्यम् । जातिश्चेह पार्थिवत्वादिरूपा व्यवस्थिता अभिप्रेता ; तेन क्षीरस्य दधित्वं, गुडस्य शर्करात्वमित्यादि जातिभेदो नोद्भावनीयः । पञ्चेन्द्रियग्रहणादित्यत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्द्रव्यं गृह्यत इति चक्षुषा स्पर्शनेन तावद्द्रव्यग्रहणमविवादसिद्धमेव, घ्राण-रसन-श्रोत्राणामपि सुरभिचन्दनं, तथा मधुरः कोषकारः, तथा सुस्वरा वीणेत्यादि सामानाधिकरण्यज्ञाने द्रव्यग्रहणं प्रति स्फुटतरव्यापाराद् द्रव्यग्राहकत्वं ज्ञेयम् । आश्रयत्वाच्चेति रसादीनां द्रव्यमाश्रयः ; तेनाश्रिता रसादयः परतन्त्रत्वादप्रधानाः ; आश्रयस्तु प्रधानमित्यर्थः । आरम्भसामर्थ्यादिति षष्ठो हेतुर्व्यक्तः । शास्त्रप्रामाण्यादिति शास्त्रेण प्रमाणेन प्राधान्येनोपदेशात् । क्रमापेक्षितत्वादिति द्रव्यक्रमापेक्षितत्वाद्रसादीनाम् । तरुणा इति असंपूर्णाः । एकदेशसाध्यत्वादिति नवमो हेतुर्व्यक्तः । कस्माद्रसादीनामप्येकदेशेन न व्याधयः साध्यन्त इत्याह—निरवयवत्वादिति । व्युत्पादितप्राधान्यस्य द्रव्यस्य लक्षणमाह—द्रव्यलक्षणमित्यादि । क्रियावत्, गुणवत्, समवायिकारणं द्रव्यमिति । क्रिया कर्म, गुणा रसादयः, समवायिकारणं स्वसमवेतकार्यजनकम् । एते क्रियावत्त्वादयो रसादिव्यावर्तका इतीहोक्ताः । × × × । सर्वद्रव्य-व्यापक-विजातीयव्यावृत्तं तु लक्षणमिह गुणवत्त्वमेव । एतदेव क्रिया-गुणयोर्यथाक्रमं द्रव्यव्याप्यक्रिया द्रव्ये विद्यते, गुणाः समवयन्तीति

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यमवतिष्ठन्ते, न हि निर्गुणं किंचिदस्ति। संप्रति पाकाद्यपेक्षणीयतया पाकाद्याश्रयतया च द्रव्यप्राधान्यं दर्शयन्नाह—पाको नास्तीत्यादि। शीतवीर्यं पृथिवीजलाश्रयं मधुरं गुरु पाकं निष्पादयति तथा उष्णवीर्यमग्न्याश्रयमनिलाकाशलाघवसहितं कटुकं लघुपाकं जनयति। यदुक्तं—"द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते॥" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादि। यत्तु शालिषु मधुरशीतेष्वपि कटुपाकत्वं, तद् द्रव्यप्रभावसहितवीर्याद्भवतीति नोत्सर्ग-सिद्धवीर्यकार्यता। विपाकस्य वीर्यस्य वीर्यव्यापकस्य रसस्य च द्रव्यमाधारकारणमिति विपाक-वीर्य-रसानां सर्वेषामेवाधारकारणतया द्रव्यं प्रधानमित्युक्तं भवति। किंवा विपाकादीनां मुख्यकार्योपदर्शनमेतत्; यथा द्रव्योपयोगादनन्तरं रसः स्वकार्यं करोति, तदनु वीर्यं परिणामावस्थायां कार्यं करोति, ततोऽन्ते विपाकः; तदुक्तं चरके—'रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया। वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते॥" (च. सू. अ. २६) इति। अथ द्रव्यं चेद्रसस्य कारणं, कारणं च नावश्यं कार्यं जनयति, तत् किं रसं विनाऽपि द्रव्यं भवतीत्याशङ्क्यं निराकुर्वन्नाह—जन्मत्वित्यादि। तत्र द्रव्यं कार्यद्रव्यं धान्य-फलवृक्षादि; जन्मशब्देन चाभिव्यक्तिरुच्यते। उत्पादस्य परस्परापेक्षित्वे इतरेतराश्रयादुत्पादश्च न स्यात्; तेन स्वकारणोत्पन्नं द्रव्यं रसं विना द्रव्यमेव न भवति, नीरसस्य कार्यद्रव्यस्यानुपलम्भात्। किंवा रसशब्देन रसधर्मतयोक्ताः सर्व एव गुणा गृह्यन्ते; तेन रसं विना द्रव्यं गुणशून्यतया द्रव्यमेव न भवति, यतो 'गुणवत्' इति द्रव्यलक्षणं व्यापकमुक्तं; रसस्तु द्रव्यं विना आश्रयाभावादेव न भवति। एवं दृष्टान्तेऽपि देहो देहिनं विना न भवति; देहिभोगायतनं हि देहः, स शुक्रशोणितावच्छिन्नोऽपि देहिनो जीवस्य संबन्धं विना देहशब्दं लभते। देही त्वात्मविशेषः, स नित्योऽपि देहसंबन्धप्रयुक्तं देहित्वं न देहमन्तरेण लभते इत्यर्थः। अथ 'पाको नास्ति विना वीर्यात्' इत्यादिना मुख्यतया रसं द्रव्याश्रयं प्रतिपाद्य रसाश्रयतया वीर्यस्यापि द्रव्याश्रयत्वं परम्परया प्रतिपादितम्। संप्रति रसवद्वीर्यस्यापि द्रव्याश्रयत्वं प्रतिपादयन्नाह—वीर्यसंज्ञा इत्यादि। अपिशब्दात् स्थूल-सूक्ष्म-संख्या-रूपादयोऽपि गुणा द्रव्याश्रयत्वेन गृह्यन्ते। एतद्गुणकार्यत्वं च स्वल्पं, तच्च द्रव्यधर्मतया रसादिधर्मतया वा वैद्यकतन्त्रव्यवहाराद् गृह्यते। अथ रसाश्रयाः पूर्वममी गुणा उक्ताः, तथा रसगुणकथने च "मधुरो रसः शीतः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादिना रसाश्रया वीर्यादयो गुणा वक्तव्याः, तत् कथमिह द्रव्याश्रया उच्यन्त इत्याह—रसेषु न भवन्तीत्यादि। एतेन परमार्थतो रसे गुणे निर्गुणत्वाद् वीर्यरूपा गुणास्तथाऽन्ये संख्यादयो गुणा न भवन्त्येव, एकाश्रयतया तूपचारात् सुखेन द्रव्यगुणप्रतीत्यर्थं रसगोचरतयोच्यन्ते। तदुक्तं चरके—"गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्। विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः॥' (च. सू. अ. २६) इति। विपाकस्यापि द्रव्याश्रयत्वेन द्रव्यप्राधान्यमाह—द्रव्ये

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्याणीत्यादि । द्रव्ये आहाररूपे; द्रव्याणीति आहारगतानि पच्यन्ते; न रसा इति रसानां परतन्त्रत्वेन स्वतन्त्रपाकाविषयत्वात्; द्रव्ये त्वग्निसंयोगात् पच्यमाने पाकाज्ञा (ज्ञा) यमानतया रसः पच्यत इति व्यपदिश्यत इत्यर्थः । यदा 'द्रव्यं 'द्रव्येण पच्यते' इति पाठस्तदा द्रव्येणेति 'जठराग्निना' इति विशेषः । यत्तु पठ्यते 'द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः ।' इति, यतो न सर्वत्र द्रव्येषु षड्रसाः पच्यन्ते, येनैकरसं द्रव्यं क्षीरादि मातुलुङ्गादि मधुराम्लं द्विरसं, त्रिरसं न्यग्रोध-फलादि "कषायमधुराम्लानि न्यग्रोधादि न च ।" (सु. सू. अ. ४६) इति वचनात्; चतूरसं तिलादि, पञ्चरसमामलकादि, षड्रसं त्विह द्रव्यं न; हारीते तु एणमांसं षड्रसमुक्तं, यथा—"एणमांसं लघु स्वादु षड्रसं कटु पच्यते ।" इत्यादि; एतच्च प्रकृतार्थासंगतार्थत्वान्न मनोहारि । प्रकरणव्युत्पादितं द्रव्यप्राधान्यं निगमयति द्रव्यं श्रेष्ठतममिति । शेषा भाव इति रस-वीर्य-विपाकाः (च. द.) । × × × व्यवस्थितत्वात् स्वस्वगुणाभावेऽप्यवस्थानात् उक्तमर्थमवगमयति—इहेत्यादिना । नन्वेवं द्रव्यप्राधान्यमनुपपन्नं, य एव हि रसादय आमे फले दृश्यन्ते काल-परिणामात् पक्वे त एवान्यथाभावमापद्यन्ते, न तु ते विनश्यन्ति, अन्ये च उत्पद्यन्त इति निश्चीयते, "अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णलवणो रसे । माधुर्यं भजते" (सु. सू. अ. ११) इत्यादिना पररसादेः पूर्वरसादिपरिणामसंभवत्वेनाभ्युपगमात्; ये त्वेवं प्रत्यवतिष्ठन्ते तान् प्रति हेत्वन्तरमुपन्यस्यति—नित्यत्वाच्चेति । द्रव्यं प्रधानमिति पूर्वेणान्वयः । नित्यत्वं च द्रव्याणां कालपरिणामेनान्यथाभावेऽपि तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानत्वादवगन्तव्यम् । नित्यत्वाद् द्रव्यस्य प्राधान्य-मप्राधान्यं च रसादीनां दर्शयति—नित्यमित्यादिना । परिणामान्यत्वे द्रव्यान्यत्वमिति येषां दर्शनं, तेषामाम-पक्वफलयोर्मात्रया परिणामभेदाद् द्रव्यभेदोऽपीति मत्वाऽनु-रूपं दृष्टान्तमाह—कल्कादिप्रविभाग इति । कल्कादिरूपेण प्रविभक्तो द्रव्यनिचयः कल्कादिप्रविभागः । अत्र पूर्वापरकालावस्थायिन्यभिन्नपरिमाणे कल्कादि-प्रविभागे सत्येव तस्य गन्ध-रसयोः, सत्त्वमसत्त्वं चेत्यनियतावस्थायिनो गुणा अनित्या उच्यन्ते, द्रव्यं च तदपेक्षया नियतावस्थायि नित्यमाख्यायते इति द्रष्टव्यम् । न चायं कल्कादिप्रविभागो रूपादितो व्यापन्नः सहसा प्रत्यभिज्ञाविषयो भवतीति संप्रधार्य रस-गन्धावेवोपात्तावित्यनुसंधेयम् । ननु, चम्पककुसुमादिद्रव्यनाशेऽपि तद्वासनावासिततैलादौ तद्गन्धोपलब्धेर्नित्यो गुणो द्रव्यमनित्यमिति वैपरीत्यमा-पद्यते इति नित्यत्वहेतोरनैकान्तिकतेत्याह—स्वजात्यवस्थानाच्चेति । स्वजात्य-वस्थानत्वं विवृणोति—यथेत्यादि । शेषाणि परिशिष्टान्यप्यादीनि । रसादयस्तु नैवमिति शेषः, ते हि स्वां जातिं परित्यज्य जात्यन्तरमाश्रयन्ते । वक्ष्यति हि—"भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादि । नन्विदमप्यश्रद्धेयं मांसत्वेन परिणतस्याप्यस्यापि शोणितस्य पार्थिवत्व-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दर्शनादित्येवं विवक्षूनपाचिकीर्षुर्हेत्वन्तरमाश्रयते--पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्चेति। पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वं तु द्रव्यस्य पञ्चीकृतत्वात् "भूमौ करकराशब्दो जले चुलुचुलुध्वनिः।" इत्यादि वेदान्तवाक्यान्यनुसंधायाध्यवसितव्यम्। यद्वा पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वमिह द्रव्यस्य तत्तद्गुणपुरस्कारेण तत्तदिन्द्रियग्रहणविषयत्वम्। तथा च लोकेऽनुभवः--दीर्घा शष्कुली मया श्रुता, दृष्टा, स्पृष्टा, आघ्राता, आस्वादिता चेति। नन्वेवं पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वं पञ्चीकृतत्वादेव वेदान्तवाक्येनाङ्गीक्रियते, वस्तुतस्तु वाग्वस्तुमात्रत्वेनैतत्पर्यवस्यत्यनुभवेनाविषयीकरणात्, गुणपुरस्कारेण पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वे च गुणानामेव प्राधान्यं स्यात्; किंच कणादानां सत्ता-गुणत्वयोः पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वात् प्राधान्यं स्यादित्यर्थान्तरम्, किंञ्च 'गुणा एवं इंद्रियग्राह्या न गुणवन्ति द्रव्याणि' इति येषां दर्शनं तेषां स्वरूपासिद्धो हेतुरर्थान्तरं चेत्यत आह—आश्रयत्वाच्चेति। आश्रयत्वात् समवायसंबन्धेन रसादीनामधिष्ठानत्वात्। नन्वाश्रयत्वस्य प्राधान्यं प्रत्यकिंचित्करत्वमित्युत्पश्यामो युक्त्यभावात्, नियमेन हि रसादीनामेव कार्यकरत्वमध्यवस्यन्ति कुशलाः; न हि भिषजः सहस्रमपि संभूय प्रनष्टरसादिकेन केनचिद् द्रव्येण किंचन व्याधिं प्रतिकर्तुमीशते, अत एव गुणप्रकर्षमात्रमभिसमीक्ष्य नवं पुराणं वा द्रव्यं ग्राहयितुमिदमुक्तं च--"विगन्धेनापरामृष्टमव्यापन्नं रसादिभिः। नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेव विनिर्दिशेत्॥" (सु. सू. अ. ३६) इति; यद्यत्र द्रव्यं परमार्थतः प्रधानमभविष्यत् तर्हि द्रव्यविवेकमप्यकरिष्यदित्येवं विप्रतिपन्नानपनुदति-आरम्भसामर्थ्याच्चेति। आरम्भसामर्थ्यात् आहरणादिकर्महित्वादित्यर्थः। अस्त्वारम्भसामर्थ्यं द्रव्यस्य, किं त्वत्र "मधुराम्ललवणा वातघ्नाः।" (सु. सू. अ. ४२) इत्याद्यनुशासनादीनां कर्तृत्वमध्यवस्य तेषामेव प्राधान्यं पश्यामो नत्वेव द्रव्यस्येति चेन्नेत्याह--शास्त्रप्रामाण्याच्चेति। अन्वयोऽत्र प्राग्वदेव। उक्तमर्थमवगमयति--शास्त्र इत्यादिना। हिरेको हेतौ, अपरश्चावधारणार्थः। यस्माद्योगानां मिश्रकाद्युक्तानां भेषजानामुपदेशे यथा "मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च" (सु. सू. अ. ३७) इत्येवंक्रमेण द्रव्यमुपदिश्यत इति शेषः, न तथा रसादर्थ उपदिश्यन्ते; तस्मात् शास्त्रे द्रव्यमेव प्रधानमिति योजना। नन्वनया युक्त्या द्रव्यस्य प्राधान्यं चेदिष्टं तर्हि रसस्यापि प्राधान्यमनिवार्यं स्यात् "लवणानि मनःशिला।" (सु. सू. अ. ३७) इत्यादिना लवणरसद्रव्योपदेशेन परमार्थतो लवणरसस्याप्युपदेशात्, न हि विनष्टरसानि तानि लघीयसामपि व्याधीनामुपशमार्थं कस्मिंश्चिदपि योग उपदिश्यन्त इत्याह--क्रमापेक्षितत्वाच्चेति। नन्विदमप्यनुपपन्नं, परस्परापेक्षिणामेषां द्रव्य-रसादीनां क्रमापेक्षितत्वानुपपत्तेः; वक्ष्यति च—"जन्म तु द्रव्य-रसयोरन्यापेक्षिकं स्मृतम्॥" (सु. सू. अ. ४०) इत्येवं प्रत्यवस्थामपास्यन्नाह-एकदेशसाध्यत्वाच्चेति। रसादीनां तु निरवयवत्वादेकदेशसाध्यत्वं नोपपद्यते, तस्माद् द्रव्यमेव प्रधानमित्ययमभिसन्धिः। स्यादेतत्

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किं नाम तद् द्रव्यम् ? इत्यपेक्षायां विनिगमनाविरहाद् द्रव्यलक्षणत्रितयमेवोपदिशति--द्रव्येत्यादिना । अत्र हि त्रयाणामेव लक्षणानां लक्षणत्वमेकविधं भवतीति "द्रव्यलक्षणम्" इत्येकवचनं नानुपन्नम् ; तथा च--क्रियावत्, गुणवत् समवायिकारणं च द्रव्यमित्यर्थः । क्रियावत्त्वमत्र कर्मवद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम् । एवमेव गुणवत्त्वं समवायिकारणं च व्याख्येयम् ; तेन गगनादौ, घटादावुत्पत्तिकाले, उत्पन्ने च यथाक्रमं क्रिया-गुण-समवायिकारणत्वाभावेऽपि नाव्याप्तिः । नन्विह किंचिन्नैवं भेषजमस्ति यद्गुणेन विनाकृते भवति, तथा च द्रव्याद्विना रसस्याभावाद् द्रव्यं चेत् श्रेष्ठं स्यात् तर्हि रसाद्विनाऽपि द्रव्यस्याभावाद्रसस्यापि श्रेष्ठत्वं प्रसज्येत, इत्याशंक्य परिहरति--जन्मेति । देह-देहिनोर्यथा आश्रयाश्रयिभावेनान्योन्यापेक्षिकं जन्म, तथैव द्रव्य-रसयोरित्यर्थः । एतेनाश्रयत्वाद् द्रव्यस्य प्राधान्यमिति सूचितं भवति । रसाश्रयत्वेन द्रव्यस्य प्राधान्यं निरूप्य 'पाको नास्ति विना वीर्यात्' इत्यादिना वीर्य-रसाधीनत्वेनोपदिष्टयोर्विपाक-वीर्ययोरपि परमार्थतो द्रव्यमेवाश्रय इति कृत्वा द्रव्यस्य प्राधान्यं निरूपयति--वीर्येत्यादिना श्लोकद्वयेन । द्रव्ये आहारौषधात्मके शालि-षष्ठिकनागरादौ सम्यगुपयुक्ते सति, द्रव्याणि क्षित्यादीनि विपच्यन्ते रसरूपेण परिणम्य स्वयमेव विशिष्टं पाकमापद्यन्त इत्यर्थः । विपाको हि नाम सम्यक्परिणत-रसपरिणामविशेष इत्यवोचाम । हि शब्दो विशेषणार्थः । रसादयस्तु द्रव्यवत् स्वयमेव न विपच्यन्त इत्यर्थः । कुतः ? आह--शेषा भावास्तदाश्रया इति । शेषा द्रव्यातिरिक्ता रसादय इत्यर्थः । अतो द्रव्यं श्रेष्ठं ज्ञेयमिति समन्वयः (हा.) ॥

कई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य, गुण, रस, विपाक और वीर्य इन में द्रव्य प्रधान है । क्योंकि (१) द्रव्य व्यवस्थित (स्थिर, अपरिवर्तनशील) हैं । अपने गुणों के बदलनेपर भी जो उसी रूप में रहे, उसे 'व्यवस्थित' कहते हैं । द्रव्य व्यवस्थित होने से प्रधान है । क्योंकि द्रव्य-गुण-रस आदि में द्रव्य ही स्थिर रहता है, रसादि नहीं । जैसे—एक ही आम्रफल प्रारम्भ में कषायाम्ल, मध्य में अम्ल और अन्त में मधुर होता है । इस प्रकार रसों के बदलने पर भी आम्ररूप द्रव्य आम्र ही रहता है, बदलता नहीं । इस प्रकार द्रव्य व्यवस्थित और रसादि अव्यवस्थित होने से रसादि की अपेक्षया द्रव्य प्रधान है । (२) नित्य होने से द्रव्य प्रधान है । नित्य उस को कहते हैं, जिस में कालपरिणाम में से अन्यथाभाव को प्राप्त होनेपर भी 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती हो । जैसे—काल, जल, वातादि के प्रभाव से द्रव्य संपन्न रस-गन्ध वा व्यापन्न रस-गन्धवाला होनेपर भी वही रहता है । इस प्रकार रस-गन्धादि गुणों का परिवर्तन होनेपर भी रहने से (नित्य होने से) द्रव्य प्रधान है । (३) द्रव्य अपनी पार्थिवादि विशिष्ट जाति में ही रहता है । जो द्रव्य पार्थिव है, वह पार्थिव ही रहता है; जो आप्य है, वह

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आप्य ही रहता है ; अपनी जाति को छोड़कर अन्य जाति में परिवर्तित नहीं होता। रस दूध में मधुरता को छोड़कर अम्लता को भी प्राप्त होता है। परन्तु द्रव्य अपनी पार्थिवादि जाति को नहीं छोड़ता, इसलिये द्रव्य रसादि से प्रधान है। (४) पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने से भी द्रव्य प्रधान है। द्रव्यों का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों द्वारा होता है, परन्तु रसादि का ग्रहण एक-एक इन्द्रिय द्वारा होता है, पाँचों इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता। (५) रसादि का आश्रयभूत होने से द्रव्य प्रधान है ; रसादि द्रव्य के आश्रित होने से परतन्त्र हैं, और परतन्त्र होने से अप्रधान हैं। (६) आहरण, कूटना आदि विविध प्रकार के कर्म द्रव्योंपर ही हो सकते हैं, इसलिए द्रव्य प्रधान है। जैसे—'विदारिगन्धादिगण के द्रव्यों को लाकर कूटे, फिर जल में पकावे' इत्यादि सब क्रियाओं का आरम्भ द्रव्यों में ही हो सकता है, रसादि में नहीं हो सकता। (७) शास्त्र के प्रमाणों से भी द्रव्य प्रधान है। जैसे—वातशोथविम्लापन प्रयोग का वर्णन करते समय विजौरा, अरणी आदि द्रव्यों का ही उपदेश किया गया है। (८) द्रव्य के क्रम (स्थित्यन्तर) के अनुसार रसादिकों की क्रमापेक्षा (स्थित्यन्तर) होने से द्रव्य ही प्रधान है। क्योंकि रसादि द्रव्य की स्थिति बदलने से बदलते रहते हैं। जैसे—तरुण पदार्थ में रसादि अपूर्ण (अप्रशस्त) होते हैं और परिपक्व पदार्थ में पूर्ण (प्रशस्त) होते हैं। (९) द्रव्यों के एक-एक अङ्ग का उपयोग करके व्याधियों की चिकित्सा होती है। जैसे थूहर के दूध से कई रोगों की चिकित्सा होती है, परन्तु रसादि निरवयव होने से उनके एकदेश से चिकित्सा नहीं होती। इसलिए द्रव्य ही प्रधान है। जिसमें कर्म और गुण रहते हैं और जो समवायिकारण हैं उनको द्रव्य कहते है। (सु.)। **नागार्जुन ने** द्रव्य का लक्षण इस प्रकार लिखा है—जो गुण, रस, विपाक, वीर्य और कर्म का आश्रयभूत होता है, उसको द्रव्य कहते हैं (र. वै. सू. १. सू. अ. १६५)। वीर्य के विना विपाक नहीं, रस के विना वीर्य नहीं और आश्रयभूत द्रव्य के विना रस नहीं, इसलिए द्रव्य सबसे श्रेष्ठ है। जैसे शरीर और शरीरी (आत्मा) का आश्रयाश्रयिभाव होने से उनका जन्म एक दूसरे की अपेक्षा रखता है, वैसे ही द्रव्य और रस का आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध होने से दोनों का जन्म अन्योन्यापेक्षी (एक दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला) है। वीर्यसंज्ञक शीतादि जो आठ गुण है, वे भी द्रव्य में ही आश्रित होते हैं, रसों में आश्रित नहीं हो सकते; क्योंकि गुण स्वयं निर्गुण होते हैं (रस स्वयं गुण होने से उस में शीतोष्णादि गुण नहीं हो सकते)। आहारौषधात्मक द्रव्यों में आहारगत पृथिव्यादि द्रव्यों का पाक होता है, रसों का नहीं। द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य रसवीर्यादि द्रव्य में ही आश्रित होकर रहते हैं, इसलिये द्रव्य ही सबसे श्रेष्ठ है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाय्वग्निगुणभूयिष्ठं स्वभावादूर्ध्वमार्गगम्। वमनीयं भवेत्तद्धि करहाटफलादिकम्॥ अधोगामि च यद्द्रव्यं तद्भूजलगुणाधिकम्। विरेचनं भवेद्दन्ती-कर्णिकार-फलादिकम्॥ संग्राहकं भवेद्द्रव्यं प्रभञ्जनगुणाधिकम्। बृंहणं च जलाधिक्यादाकाशात् स हि संमतम्॥ अग्न्याधिक्यादीपनं च किंचिद्वारिगुणैर्युतम्। बहूर्वीसत्त्वसहितं द्रव्यं बलकरं मतम्॥ एतेषां लक्षणं चाथ संक्षेपेणावलिख्यते। पक्त्वाऽऽमं पावकं कुर्यात् तत्तु दीपनमुच्यते। कुर्यान्न वह्निमामं यत् पचेत्तत् पाचनं मतम्॥ अथ जिज्ञासा––पाचनदीपनयोः को भेदः? तत्रोच्यते––आग्नेयगुणभूयिष्ठ मामादींस्तद्विपाचयेत्। तदुक्तं पाचनं द्रव्यं, यथा स्यात् कासमर्दकः॥ कासमर्दः कथं नाम पाचनो नास्ति दीपनः। वाय्वग्निगुणभूयिष्ठं द्रव्यं पाचनमुच्यते॥ औष्ण्यात् कटुविपाकित्वात् पाचनोऽयमुदाहृतः। माधुर्याच्छीतभावाच्च न पुनर्दीपनो मतः॥ कृष्णात्रेयात्––"यदग्निकृत् पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम्। पाचनं विपरीतं स्याद्यथा वक्ष्यामि लङ्घनम्।" इति। लङ्घनपाचने सत्यपि (किञ्चित्) न दीपनम्। तद्यथा––"संशोधनास्रविस्राव-स्नेहयोजन-लङ्घनैः। यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत्॥ स्रोतसां कफदुष्टानां निर्मलीकरणं परम्। पाचनं तत् समाख्यातं धातोः पाचनमिष्यते॥ जिज्ञासा वर्तते चात्र पाचने वदतांवर। दोषान् पचति आमं वा सप्तधातूनथापि वा॥ दोषपाकाद्धातुपाकान्मरणं दृश्यते तदा। इति सर्वत्र कथितः पाचनो दोषपाचनः॥" अस्योत्तरम्––स्वहेतूपचितान् दोषान् सामान् रसपथानुगान्। रसमामं पाचयित्वा कुर्याद्दोषं पृथक् ततः॥ स एव पाचनो ज्ञेयो न च दोषान् विपाचयेत्॥ अत्राह––दोषस्य पाको दृश्यते ऊर्ध्वाधोगमनं तथा। अति प्रवृद्धवातस्य पित्तस्य श्लेष्मणस्तथा। पाचनीयेन द्रव्येण दृश्यते पाचनं तथा। वमनीयेन द्रव्येण दृश्यते वमनाद्यपि॥ अत्रोच्यते––स्वयोनिवर्धनद्रव्यैः सुरातक्र-जलासवैः। घृतादिभिः प्रवृद्धास्ते प्रकृत्या वृद्धिमाप्नुयुः॥ यथा क्षीरे जलं क्षिप्तं क्षीरवद् दृश्यते बहु। सुस्वादुगुणनिर्मुक्तं भस्माग्नितपनात् पुनः॥ जले दग्धे भवेत् क्षीरं तत् स्वादु स्वगुणैर्युतम्। तथाऽत्र धातुसंश्लिष्टाः सामाः स्वहेतुदूषिताः॥ लङ्घनात् पाचनोल्लेखात् स्वप्रमाणं भजन्त्यपि। पच्यन्ते नैव दोषास्तु पचन्त्याम-रसादयः॥ कुर्यान्न वह्निमामं यत् पचेत्तत् पाचनं मतम्॥ न शोधयति यद्दोषान् समान्नो दूषयत्यपि। शमनं तद्विजानीयात्, को भेदः स्वस्थरक्षणात्॥ अत्राहात्रिः––"क्षयस्थाने विवृध्यर्थं दोषाणां यत् प्रयुज्यते। विना संशोधनद्रव्यैस्तत् संशमनमुच्यते॥" तच्चानुलोमनं द्रव्यं यद्वातमनुलोमयेत्। यद्बन्धभेदनं कृत्वा मलान् पक्वान्नयत्यधः। स्रंसनं तद्विजानीयाद्, भेदनं प्रोच्यते ह्यतः॥ अधो नयति यद्बद्धमबद्धं भेदनं मतम्। मलं पक्वमपक्वं यद्विद्राव्य पातयत्यधः॥ श्लेष्मपित्ताद्यपक्वं यदूर्ध्वं नयति वामनम्। दोषानुन्मूलयति यत् श्लिष्टांस्तच्छेदनं बलात्। उष्णत्वाद्दीपनं यच्च पाचनं ग्राहि

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तद्भवेत् । लघुपाकात् कषायत्वाद्भवेद्यत् स्तम्भनं हि तत् । रसायनं तदुद्देश्यं जराव्याधिविनाशि यत् ॥ द्रव्येण येन हर्षः स्यात् स्त्रीषु वाजीकरं हि तत् । यस्माच्छुक्रस्य वृद्धिः स्याच्छुक्रलं हि तदुच्यते । यथाऽश्वगन्धा मुशली शर्करा च शतावरी । प्रवर्तकानि कथ्यन्ते जनकानि च रेतसः ॥ शुक्रप्रवर्तनी योषा, क्षुद्रा शुक्रस्य रेचनी । तत्स्तम्भकृज्जातिफलं, कालिङ्गं तत्क्षयप्रदम् ॥ तनुच्छिद्रेषु सूक्ष्मेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते । तद् व्यवायि तनुं व्याप्य पूर्वं यत् पाकतां व्रजेत् ॥ विकाशि तद्यत् करोति बन्धान् संधिस्थिताञ्छ्लथान् । हस्तपादाञ्छिथिलयेद् भवेच्छ्लेष्मि च तन्मतम् ॥ यद् बुद्धिनाशने दक्षं मदकारि तदुच्यते । वीर्येण दोषान् स्रोतःस्थान् निरस्यति प्रमाथि तत् । रुणद्धि गौरवाद् द्रव्यं स्नैग्ध्याद्रसवहाः सिराः । कलेवरे गुरुत्वं च धत्तेऽभिष्यन्दि तन्मतम् ॥ उदाहरणमेतेषां क्रमाद् द्रव्येण वक्ष्यते । दीपनश्चित्रको ज्ञेयः, पाचनं नागकेसरम् ॥ गुडूची शमनी ज्ञेया हरीतक्यनुलोमिनी । स्रंसनं कृतमालः स्याद्, भेदिनी कटुरोहिणी ॥ रेचनी त्रिवृता ज्ञेया, मदकारि सुरादिकम् । योगवाहि विषं ज्ञेयं, प्रमाथि मरिच स्मृतम् ॥ दध्यभिष्यन्दि विज्ञेयं सिराणां सन्निरोधनात् (टोडरानन्द-तृतीयहर्ष) ॥

इति आचार्योपाह्वेन त्रिकमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे द्रव्यविज्ञानीयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः

पूर्वाध्याये द्रव्यं स्वरूपतो भेदतश्च व्याख्यातम्। अग्रे रस-विपाक-वीर्याण्यभिधेयानि। तत्र रस-वीर्य-विपाकानां गुणरूपत्वात्तत्व्याख्यानतः पूर्वं गुणा एव लक्षणतो भेदतश्च निरूपणीया भवन्ति। अतस्तन्निरूपणार्थं गुणविज्ञानीय आरभ्यते—

अथातो गुणविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेय-धन्वन्तरिप्रभृतयः ॥

पहले अध्याय में द्रव्य का स्वरूप और उसके भेद विस्तार से कहे गये हैं। आगे रस, विपाक और वीर्य का निरूपण करना है। रस, विपाक और वीर्य ये भी गुण-विशेष ही हैं। अतः उनका व्याख्यान करने के पहले आयुर्वेदोक्त समग्र गुणों का निरूपण करना आवश्यक है। इसलिए आत्रेय, धन्वन्तरि आदि आचार्यों के मतानुसार गुणविज्ञानीय अध्याय का आरम्भ किया जाता है। द्रव्यगुणविज्ञान में रस, विपाक, वीर्य ये गुणरूप होनेपर भी विशेष ज्ञातव्य विषय हैं, और उनके विषय में बहुत कहने का है, अतः उनका निरूपण एक-एक स्वतन्त्र अध्याय में ही किया जायगा। इस अध्याय में शेष गुणों में से जो आयुर्वेद में विशेष ज्ञातव्य हैं उनका विस्तार से और अन्यों का संक्षेप से निरूपण किया जायगा।

गुणलक्षणम्—

समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥ —च० सू० अ० १

समवायीति समवायाधेयः (च. द.)। गुणः समवायी द्रव्यसमवायी। द्रव्यसमवायवान् गुणः कारणं भवति। समवायिकारणं द्रव्यमपीत्यत आह—निश्चेष्टस्त्विति। तुकारो द्रव्याद् व्यवच्छिनत्ति। नास्ति चेष्टा यस्य स निश्चेष्टः निष्क्रियः। निर्गुणश्चापि "गुणा गुणाश्रया नोक्ता" (च. सू. अ. २६) इति। द्रव्यं गुण-कर्माश्रयः, गुणस्तु गुण-कर्मानाश्रय इति द्रव्यतो भेदः (यो.) × × × प्रमादितस्तु वैशेषिके कणादोक्तगुणलक्षणं "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्वकारणमन्यापेक्षो गुणः।" इति गुणलक्षणं दृष्ट्वा गुण-कर्मणी असमवायिकारणे भवत इत्याहुः, तेषामयं हि प्रमादः। सूत्रकृत्कणादेन समवायिकारणमिति पूर्वस्मादनुवर्त्य असमवायिकारणपदं 'द्रव्याश्रयी' इत्यादिसूत्रं कृतम्। तेन 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमन्यापेक्षः कारणं गुणः' इति गुण-लक्षणं पर्यवसितम्। यदि हि गुणो गुणान्तरस्य समवायिकारणं न भवति कथं तर्हि "गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते" (१।१।१०) इति वचनं तत्रैव कणादेनोक्तं संगच्छते। गुणा द्रव्याश्रिता रूप-रसादयः खल्वन्यापेक्षाः स्वाश्रयद्रव्यनिष्ठ-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्रियया परिणमन्तः क्वचित् साधारणभूताः पृथक्त्वगुणं समवायेनापद्यमानाः पृथग्भूय तेजोऽम्बु-भूमिषु लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपेण मधुराम्लादिरूपेण गुणान्तर-हीनाः सन्तो द्रव्याश्रयिणः सन्तश्च समवयन्ति कार्ये, इति समवायिन एव कारणानि गुणाः। न च ते स्वाश्रयद्रव्याणां संयोग-विभागेषु कारणानीति लक्षणसमन्वयः (ग.) ॥

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्वकरणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥
--वै. द. अ. १, आ. १ सू. १६

यो द्रव्यमाश्रयति, न गुणवान्, न चानपेक्षः सन् संयोग-विभागेषु कारणं भवति, सोऽयंगुणः। कश्च संयोग-विभागेष्वनपेक्षः कारणं ? कर्मेत्याह। कर्म संयोगविभागौ जनयन्न किञ्चिदपेक्षते, संयोग-विभागौ त्वपेक्षेते किञ्चिदिति। द्रव्यं नाम द्रव्यमाश्रयादपि गुणवदेव भवति न त्वगुणवत्। कर्म त्वित्थंभूतमपि कर्मैव। गुणस्तु द्रव्यमाश्रयति न गुणवान्नो खल्वपि कर्मेति (चन्द्रकान्तभाष्यम्) ॥

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः ॥
--कारिकावली गुणग्रन्थ

जो द्रव्य में आधेय (आश्रित) रूप से रहनेवाला (द्रव्याश्रयी[1]) हो, निष्क्रिय हो (जिसमें किसी प्रकारकी क्रिया--संयोग-विभाग रूप कर्म न होती हो), या चेष्टा (क्रिया) रूप जो कर्म उससे भिन्न हो, गुणरहित हो, जिसमें अन्य गुण गुणान्तर न रहता हो, और स्वसमान गुण की उत्पत्ति में कारणभूत हो, उसको गुण कहते हैं। तात्पर्य कि--जो द्रव्य में आश्रय करके रहा हुआ (द्रव्याश्रयी) हो, गुणरहित[2] हो, जो कर्मरहित या कर्मसे भिन्न[3] हो और जो स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति में कारण[4] हो उसे गुण कहते हैं।

१--द्रव्य और गुण का जो परस्पर सम्बन्ध है उसको समवाय सम्बन्ध कहते हैं--"समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।" (च. सू. अ. १)--पृथिव्यादि का गुणों के साथ जो अपृथग्भाव (नित्य साथ रहना) है उसको समवाय-सम्बन्ध कहते हैं। गुण द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहता है (समवायाधेयः) (च. द.)। द्रव्य और गुण के समवाय में द्रव्य आधाररूप से और गुण आधेय (आश्रित) रूप से रहता है।

२--क्योंकि गुण द्रव्यों में रहते हैं, गुणों में गुण नहीं रहते।

३--क्योंकि कर्म भी द्रव्य को आश्रय करके ही रहते हैं, गुणों में नहीं रहते (क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। (वै. द. अ. १. आ. १, सू. १५)।

४--द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्चगुणान्तरम् (वै. द. अ. १, आ. १, सू. १०)। अन्यद् द्रव्यं द्रव्यान्तरम्। येनारभ्यते यच्चारभ्यते तदुभयमपि द्रव्य-मिति सजातीयमारभन्ते द्रव्याणि। पृथिवी पृथिवीजातीयमापोऽब्जातीयमिति,→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भदन्तनागार्जुनविरचित रसवैशेषिकसूत्र में गुण का लक्षण एक और ही प्रकार का कहा गया है। जैसे--

विश्वलक्षणा गुणाः। --र. वै. अ. १, सू. १६८

विश्वं विकीर्णं भिन्नं लक्षणं येषां ते विश्वलक्षणा गुणाः। इदमत्रोक्तं भवति—शेषाणां पञ्चानां (द्रव्य-रस-वीर्य-विपाक-कर्मणां) पदार्थानामेकलक्षणावरोधो विद्यते। यथा—शब्दादीनामाश्रयत्वं सर्वद्रव्यभेदानां तुल्यम्, आस्वादग्राह्यावरोधश्च रसभेदानां, कर्मलक्षणावरोधत्वं वीर्याणां, विपाकयोश्च परिणामलक्षणावरोधस्तुल्यः; गुणानामेवमेकलक्षणावरोधो नास्ति। यथा--शीतोष्णादयः स्पर्शनेन्द्रियस्य ग्राह्याः, स्निग्ध-रूक्षौ चक्षुर्ग्राह्यौ स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यौ वा, एवं सर्वे एकलक्षणावरोधं न गच्छन्ति गुणाः। यस्मादेवमेकलक्षणावरोधं न गच्छन्ति तस्मादेवैतेषामतुल्यं विकीर्णलक्षणत्वमेव लक्षणमिति। चतुर्षु वासस्सु स्थितेषु त्रीणि चिह्नितान्येकमचिह्नितं, तदेव तस्याचिह्नितत्वं तेषु चिह्नं भवति, तद्वदिहापीति; लक्षणलक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वाल्लक्षणप्रसिद्धिरिति (भा.)॥

जिनका लक्षण विश्व (विकीर्ण-भिन्न) हो, वे गुण हैं। गुण को छोड़कर अन्य पदार्थ--द्रव्य, रस, वीर्य विपाक और कर्म इन प्रत्येक का एक-एक लक्षण में अवरोध होता है। जैसे—शब्दादिकों का जो आश्रय वह द्रव्य, रसनेन्द्रिय से जिसका ग्रहण हो वह रस, कर्मलक्षण वीर्य, परिणाम लक्षण विपाक; इन लक्षणों में जैसे समस्त द्रव्यभेद, रसभेद, वीर्यभेद और विपाकभेदों का अवरोध होता है, ऐसा गुण का कोई एक लक्षण नहीं है जिसमें सब गुणों का अन्तर्भाव होता हो। क्योंकि शीतोष्णादि स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य हैं, स्निग्ध और रूक्ष चक्षुर्ग्राह्य या स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य हैं; इस प्रकार सब गुणों का एक ऐसा लक्षण नहीं बन सकता, जिसमें सब गुणों का अवरोध-अन्तर्भाव होता हो। अतः वे विश्वलक्षण--भिन्न-लक्षण वाले हैं, और वही उनका लक्षण है।

गुणसंख्या--

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
गुणाः प्रोक्ताः.... —च. सू. अ. १

संप्रति गुणान्निर्देष्टुमाह—सार्था इत्यादि। अनेन त्रिविधा अपि वैशेषिकाः,

←एतेन गुणा व्याख्याताः। × × ×। अथापि खलु नायं नियमो द्रव्येण सता सजातीयं द्रव्यमारब्धव्यमिति। किन्तु द्रव्यं द्रव्यमारभमाणं सजातीयमारभते न विजातीयमिति। एतेन गुणस्य गुणारम्भकत्वं व्याख्यातम् (चं. कां. भा.)। क. गङ्गाधरजी गुण को समवायिकारण मानते हैं। वैशेषिकवाले गुण को समवायिकारण नहीं मानते॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सामान्याः, आत्मगुणाश्चोद्दिष्टाः। तत्रार्थाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः। यदुक्तम्—"अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।" (च. शा. अ. १) इति। एते च वैशेषिकाः; यत आकाशस्यैव शब्दः प्राधान्येन, वायोरेव स्पर्शः प्राधान्येन, एवमन्यादिषु रूपादयः। अन्यगुणानां चान्यत्र दर्शनं भूतान्तरानुप्रवेशात्। वचनं हि—"विष्टं ह्यपरं परेण" (न्या. द. अ. ३, आ. १, सू. ६६) इति। गुर्वादयस्तु गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल श्लक्ष्ण-खर-स्थूल-सूक्ष्म-सान्द्र-द्रवा विंशतिः। एते च सामान्यगुणाः, पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्। एते यज्जःपुरुषीये प्राय आयुर्वेदोपयुक्तत्वात् परादिभ्यः पृथक् पठिताः। बुद्धिःज्ञानम्; अनेन च स्मृति-चेतना-धृत्यहङ्कारादीनां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम्। प्रयत्नोऽन्ते येषां निर्देशे ते प्रयत्नान्ताः; एतेन चेच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-प्रयत्नानां ग्रहणम्। वचनं हि—"इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः॥" (च. शा. अ. १) इति (एते चात्मगुणाः)। इह चेतनादीनां बुद्धिग्रहणेनैव ग्रहणं, शारीरे तु चेतनादीनामपि पृथगात्मगमकत्वेन पृथक् पाठः। एतच्च तत्रैव व्याकरणीयम्। परादयो यथा—"परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च॥ संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः।" (च. सू. अ- २६) इति। एते च सामान्यगुणा अपि नात्युपयुक्तत्वात्तथा बुद्धिप्राधान्याच्चान्ते प्रोक्ताः प्रोक्ता इति प्रकर्षेण विशेषगुणत्वादिनोक्ताः (च. द.)। गुणानाह—सार्था इत्यादि। अर्थैः सह वर्तमानाः सार्थाः। × × ×। अर्था इन्द्रियाणामर्थाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः। × × × मनसश्च अर्थः चिन्त्यादिः। तथा च—"चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च। यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥" (च. शा. अ. १) इति। मनसः अर्थोऽपि इह गुणः। अस्य गुणत्ववचनं पुनरिन्द्रियोपक्रमणीयेऽपि; तथा च—"मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्य-गुणसंग्रहः॥" (च. सू. अ. ८) इति। × × ×। कणादेनाप्युक्तं—"रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुख-दुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः॥" (वै. द. १।१।६) इति (यो.)। गुर्वादय इति एते आविष्कृततमा एव यज्जःपुरुषीये उक्ताः, तेन गुणानामसंख्येयत्वादन्येऽपि ज्ञेयाः। अत एव प्रमेहे श्लेष्मगुणेषु अच्छत्वादयो गुणाः पठ्यन्ते। एते च द्रव्याश्रिता वैद्यनये गुणत्वेन परिभाष्यन्ते (शिवदाससेनः)।

अर्थ—(श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), सूत्रस्थान के यज्जःपुरुषीय (२५ वें) अध्याय में कहे हुए गुरु आदि बीस गुण (गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल सूक्ष्म, सान्द्र, द्रव), बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रयत्न, परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिणाम, संस्कार, और अभ्यास ; ये ४१ **गुण** हैं।

वक्तव्य—इन में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच **वैशेषिक गुण** कहलाते हैं; क्योंकि शब्दादि क्रमसे आकाशादि पाँच भूतों के एक-एक विशेष गुण हैं; एक के गुण जो दूसरे भूत में देखे जाते हैं वे भूतान्तर के अनुप्रवेश से होते हैं। गुर्वादि द्रवान्त २० **सामान्य गुण**[1] कहलाते हैं, क्योंकि ये पृथिव्यादि पाँचों महाभूतों में सामान्यतया रहते हैं। 'बुद्धि' शब्द से स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार आदि बुद्धिविशेषों का भी ग्रहण होता है। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये छः **आत्म गुण** कहलाते हैं। परत्वादि दस भी **सामान्य गुण** हैं, परन्तु गुर्वादि की अपेक्षया आयुर्वेद में कम उपयुक्त होने से वे अन्त में कहे गये हैं (च. द.) **कविराज योगीन्द्रनाथ सेनजी** ने पाँच इन्द्रियों के पाँच विषयों के साथ छठे मन के अर्थ चिन्त्य-विचार्य आदि का भी अर्थों में ग्रहण किया है, क्योंकि "मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्य-गुणसंग्रहः" (च. सू. अ. ८) इस सूत्र में मन के अर्थों का भी अध्यात्मगुणों में उल्लेख है। इस प्रकार 'मनोऽर्थ' को लेकर योगीन्द्रनाथसेनजी के मत में गुणों की संख्या ४२ होती है।

नागार्जुनमतेन दश कर्मण्या गुणाः—

शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्णगुणाः कर्मण्याः (र. वै. अ. ३. सू, १११) ॥

रसपदार्थः सर्वथा परीक्षितः। इदानीं गुणपदार्थः परीक्ष्यते। एते शीतादयो गुणाः कर्मण्या इति कर्मणि चिकित्सायां पृथक्-पृथक् शास्त्रे योग्या इत्युद्दिष्टाः। रसादयोऽपि गुणा इति तांत्रिकस्य गुणाभिधानस्य ज्ञापनार्थं 'कर्मण्या गुणाः' इति वचनम् (भाष्यम्) ॥

भदन्तनागार्जुन ने रसवैशेषिकसूत्र में शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, गुरु, लघु, मृदु, और तीक्ष्ण इन दस गुणों को कर्मण्य (चिकित्साकर्म में विशेष योग्यता रखनेवाले—उपयोगी) गुण बताया है।

चरक-सुश्रुत आदि में अष्टविधवीर्यवादी के मत में नागार्जुनोक्त कर्मण्य गुणों को वीर्य माना है परन्तु नागार्जुन ने वीर्यशब्द से छर्दनीय, अनुलोमनीय आदि भिन्न ही वीर्य बताये हैं। अतः परसामर्थ्यसंपन्न शीतादि को नागार्जुन ने **कर्मण्य गुण** माना है।

१—कविराज **गङ्गाधरजी** ने गुर्वादि द्रवान्त बीसगुणों को **शारीरगुण** कहा है। क्योंकि इन गुणों का शरीर और शरीरपर प्रयुक्त होनेवाले द्रव्यों से ही विशेष सम्बन्ध है 'गुर्वादयः इति गुरु × × × द्रवा इति विंशतिः **शारीरगुणाः** स्वयं वक्ष्यन्ते" इति (ग.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्थनिरूपणम्–

अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥

—च. शा. अ. १

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पञ्चभूतों के गुणतया कहे हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये श्रोत्र, त्वक, चक्षु, रसन और घ्राण-इन पाँच इन्द्रियों के विषय हैं; इनको गोचर और अर्थ भी कहते हैं। इन में रस को छोड़कर शेष चार अर्थों का विशेष विचार शारीरक्रियाविज्ञान और मनोविज्ञान का विषय है, द्रव्यगुणविज्ञान का प्रधान विषय नहीं हैं, अतः उनका यहाँ विशेष विचार नहीं किया जाता। इन पाँच विषयों के अन्तर्गत रस का आगे रसविज्ञानीय नाम के तृतीय अध्याय में विस्तार से वर्णन किया जायगा।

गुर्वादिविंशतिगुणनिरूपणम्.—

तस्य (द्रव्यस्य) गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः ॥

—च. सू. अ. २६

स (आहारः) विंशतिगुणः—गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण - स्थिर - सर -मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण खर-सूक्ष्म-स्थूल–सान्द्र-द्रवानुगमात् ॥

—च. सू. अ. २५

गुरु-लघ्वादयो युग्माः परस्परविरोधिनो ज्ञेयाः। अनुगमादिति अनुगतत्वात् (च. द.)। सुश्रुतस्तु व्यवायीति विकासीति च गुणद्वयं पृथक् पठति। × × × अनयोः सर-तीक्ष्णप्रकर्षात्मकतया इह सर-तीक्ष्णयोरवरोधः (यो.) ॥

गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥
इन्द्रियार्था व्यवायी च विकासी चापरे गुणाः।
व्यवायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥
विकासी विकसन् धातून् संधिबन्धान् विमुञ्चति।
सर-तीक्ष्णप्रकर्षौ तु कैश्चित् तौ परिकीर्तितौ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः।

—अ. सं. सू, अ. १

तदेव च द्रव्यमाश्रिता विंशतिर्गुणा गुर्वादयः सविपर्यया सविपरीताः। गुरुः, लघुः, मन्दः, तीक्ष्णः, हिमः, उष्णः, स्निग्धः, रूक्षः, श्लक्ष्णः, परुषः, सान्द्रः, द्रवः,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मृदुः, कठिनः, स्थिरः, चलः, सूक्ष्मः, स्थूलः, विशदः, पिच्छिलः। खरादयस्त्वेतद्भेदा एव यथासंभवं व्याख्येयाः। एतेभ्योऽन्ये गुणा इन्द्रियार्थाः शब्दादयः, व्यवायी, विकासी च। इन्द्रियार्थानां प्रसिद्धत्वात् लक्षणं नोच्यते। सर्वं देहं व्याप्य यत् पाकं याति स व्यवायी, विकासी धातून् विकषन् हिंसन् संधिबन्धानुपलेपादिकान् विमुञ्चति नाशयति। कैश्चिदाचार्यैर्व्यवायी सरस्यैव प्रकर्ष इति परिकल्पितः, विकाषी तीक्ष्णप्रकर्षस्तथा। सत्त्वं, रजस्तमश्च तन्त्रे व्यवहारार्थं महागुणशब्देनोक्ताः (इन्दु)॥

गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्ययाः॥

—अ. हृ. सू. अ. १

द्रव्यस्य गुणानाह—तत्र द्रव्ये गुर्वादयो दश गुणाः सविपर्यया विंशतिर्ज्ञेयाः। एषां क्रमाद्विपरीता लघु-तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-खर-द्रव-कठिन-सर-स्थूल-पिच्छिलाः। गुरुः तद्विपर्ययो लघुः। मन्दः, तद्विपर्ययस्तीक्ष्णः। हिमः, तद्विपर्यय उष्णः। स्निग्धः, तद्विपर्ययो रूक्षः। श्लक्ष्णः, तद्विपर्ययः खरः। सान्द्रः, तद्विपर्ययो द्रवः। मृदुः, तद्विपर्ययः कठिनः। स्थिरः, तद्विपर्ययः सरः। सूक्ष्मः, तद्विपर्ययः स्थूलः। विशदः तद्विपर्ययः पिच्छिलः (अ. द.)। गुणभेदानाह—गुरु-मन्देत्यादि। ते च विंशतिः। तत्र गुर्वादयो दश, तद्विपर्ययाश्च लघु-तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-खर-द्रव-कठिन-चल-स्थूल-पिच्छिला दश। यस्य द्रव्यस्य बृंहणे कर्मणि शक्तिः स गुरुः, लङ्घने लघुः शमने मन्दः, शोधने तीक्ष्णः, स्तम्भने हिमः, स्वेदने उष्णः, क्लेदने स्निग्धः, शोषणे रूक्षः, रोपणे श्लक्ष्णः, लेखने खरः, प्रसादने सान्द्रः, विलोडने द्रवः, श्लथने मृदुः, द्रढने कठिनः, धारणे स्थिरः, प्रेरणे चलः, विवरणे सूक्ष्मः, संवरणे स्थूलः, क्षालने विशदः, लेपने पिच्छिल इति। ननु व्यवायि-विकाश्याशुकारि-प्रसन्न-सुगन्धादयः सविपर्ययाश्चान्येऽपि गुणा दृश्यन्ते। तद्यथा स्वयमेवाह—"तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-सूक्ष्माम्ल-व्यवाय्याशुकरं लघु। विकाशि विशदं मद्यमोजसोऽस्माद्विपर्ययः॥" (अ. हृ. नि. अ. ६) चरकः (सू. अ. २७)—"स्वादु[1] शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्ण-पिच्छिलम्। गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥ तदेवंगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्॥" सुश्रुतः (सु. अ. ४६)—"कषायं कफपित्तघ्नं किञ्चित्तिक्तं रुचिप्रदम्। हृद्यं सुगन्धि विशदं लवलीफलमुच्यते॥" अयमेव (सू. अ. १)—"पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रव्यम्॥" चरकः (सू. अ. २७) "शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते॥" इत्यादि। तत्

१—'शीतं स्थिरं स्निग्धं' इति गङ्गाधरसंमतः पाठः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कथं विंशतिर्गुणाः ? इति। अत्रोच्यते--य एतेऽतिरिक्ता गुणा दर्शिताः, ते विंशतावेवान्तर्भूताः। तथाहि--व्यवायि-विकाश्याशुकारिणस्तावन्मद्ये पठ्यन्ते, प्रसन्नः क्षीरे, मद्यगुणविपरीता ओजसि, य एवौजसि त एव क्षीरे ; ततश्च तद्गुणपरस्परविपर्ययपर्यालोचनया व्यवायी द्रवेऽन्तर्भूतः, विकाशी खरे, आशुकारी चले, प्रसन्नः स्थूले ; ते हि पारिशेष्याद् बहल-श्लक्ष्ण-स्थिर-सूक्ष्माणां विपर्ययाः। स्वादु-शीत-मन्द स्निग्ध-पिच्छिल-गुरूणां ह्यम्लोष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विशद-लघवो विपर्ययाः प्रसिद्धा एव। व्यवाय्यादिलक्षणं च द्रवादिष्वेव सम्भवति। यदाह सुश्रुतः (सू. अ. ४६) "व्यदायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते। विकाशी विकषन्[1] धातून् सन्धि-बन्धान् विमुञ्चति॥ आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत्॥" इति। प्रसन्नत्वं स्फुटत्वं, तच्च स्थूल एव, तस्य स्फुटप्रत्यक्षत्वात्। सुगन्ध-दुर्गन्धौ तु मन्द-तीक्ष्णविशेषौ, इन्द्रियप्रसादनोद्वेजनद्वारा शमन-शोधनरूपत्वात्। यदाह सुश्रुतः (सू. अ. ४६)--"सुगन्धो[2] रोचनो मृदुः। दुर्गन्धो विपरीतोऽस्मात्" इति। शुचि-विमलौ तु विशदविशेषौ ; अदृष्टानां[3] हि मलानां क्षालने शक्तिः शुचित्वं, दृष्टानां विमलत्वम्। शिवं परिणामे हितं, मृष्टं जिह्वाप्रियं ; ते च गुणकार्ये ; गुणशब्दस्तूपचारात्। यथा--"क्षुद्वोधनो बस्तिविशोधनश्च प्राणप्रदः शोणितवर्धनश्च। ज्वरापहारी कफ-पित्तहन्ता वायुं जयेदष्टगुणो हि मण्डः॥" इत्यादौ। यत्तु व्यवायि-विकाशिनौ प्रस्तुत्योक्तं संग्रहे (सू. अ. १) "सर-तीक्ष्ण-प्रकर्षौ तु कैश्चित्तौ परिकल्पितौ" इति, तदेकीयमतत्वादनादरणीयम्। तदादरणे यत्तैले व्यवायि-बद्धविट्कयोरभिधानं तद्विरुद्धं स्यात्, यच्च मद्ये तीक्ष्ण-विकाशिनोस्तत्पुनरुक्तं स्यात्। यत्तु पित्ते तीक्ष्ण-विस्रयोरभिधानं, तदिन्द्रियोद्वेजकत्वे सत्यपि घ्राणेन्द्रियस्योद्वेजनातिशयार्थम् × × × (हे.)॥

गुर्वादिविंशतिगुणकर्माणि--

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम्।
कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः॥
ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छा-तृट्-स्वेद-दाहजित्।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः॥
स्नेह-मार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद्विशेषात् स्तम्भनः खरः॥

१--'विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्' इति मुद्रितसुश्रुते पाठः।
२--'सुगन्धी, इति पा०।
३--'प्रदिग्धानां' इति पा०।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः ।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषण-रोपणः ॥
दाह-पाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो, मृदुरन्यथा ।
सादोपलेप-बलकृद् गुरुस्तर्पण-बृंहणः ॥
लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा ।
दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्मविशेषणैः ॥
दशैवान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादींस्तान्निबोध मे ।
द्रवः प्रक्लेदनः, सान्द्रः स्थूलः स्याद्वन्धकारकः ॥
श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः, कर्कशो विशदो यथा ।
सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः ॥
दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद्ग्लासारुचिकारकः ।
सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो, मन्दो यात्राकरः स्मृतः ॥
व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ।
विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत् ॥
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत् ।
सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतः स्वनुसरः स्मृतः ॥
गुणा विंशतिरित्येवं यथावत् परिकीर्तिताः ॥

—सु. सू. अ. ४६

पूर्वं हि संपादितं "तदस्य शैत्येन निहन्ति पित्तं" (सु. सू. अ. ४६) इति, तत्र न ज्ञायन्ते के पुनस्ते शीतादय इति तान्निर्दिशन् लक्षणमाह—अत इत्यादि । अथ शीतगुणः कथं ज्ञायत इत्याह—ह्लादन इत्यादि । ह्लादनः सुखकारीत्यर्थः ; तृट्-स्वेद-मूर्च्छा-दाहजिदित्यर्थः । पाचनो व्रणादीनाम् । स्नेहेत्यादि स्निग्धो गुणः स्नेहादिकारण इत्यर्थः । रूक्षो गुणस्तद्विपरीतः रौक्ष्य-काठिन्यकर इत्यर्थः । विशेषात् विशेषतः । स्तम्भनः अतिसारादीनाम् । खरः कर्कशः । पिच्छिलो गुणः जीवनः प्राणधारणः । सन्धानो भग्नस्य । विशदो गुणः विपरीतोऽस्मादिति असन्धानोऽजीवनोऽश्लेषी च । क्लेदाचूषणः आर्द्रीभावविनाशकर इत्यर्थः । दाहेत्यादि । अन्यथेति अदाह-पाककरोऽस्रावण इत्यर्थः । सादेत्यादि सादः अङ्गग्लानिः, उपलेपः मलवृद्धिः, बलं श्लेष्मा । गुरुः गुणः तर्पणः तृप्तिजनकः, बृंहणः देहवृद्धिकरः । लघुरित्यादि । लघुस्तद्विपरीत इति असादानुपलेपादिकृत् कफहरश्चेत्यर्थः । लेखनः पत्तलीकरणः । दशाद्या इति दशसंख्योपेता आद्याः शीतादयो गुणाः, कर्मतः प्रोक्ताः कर्मभिः सह प्रोक्ता इत्यर्थः । तेषामिति

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तेषां मध्ये, कर्मविशेषणैः कृत्वा। द्रवो गुणः प्रक्लेदन आर्द्रभावकरः सान्द्रो गुणः बन्धकारक उपचयकारक इत्यर्थः। 'द्रवः प्रक्लेदनो व्यापी शुष्कः स्याद्बन्धकारकः' इति केचित् पठन्ति। शुष्को गुणः बन्धकारकः, शुष्कस्य शोषणत्वेनावयवापृथक्त्वमित्यर्थः। श्लक्ष्ण इत्यादि। श्लक्ष्णो गुणः पिच्छिल-वज्ज्ञेयः; जीवनः श्लेष्मसन्धानकृदित्यर्थः। कर्कशो गुणः विशदो यथेति अजीवनोऽश्लेषो च, तथाऽसन्धान-कार्श्यकृच्च। सुखानुबन्धी सुखोत्पादक इत्यर्थः। सूक्ष्मोऽवग्राहकः। सुगन्धो गुणः हृल्लासारुचिकारक इति पुनररुचिग्रहणं द्विविधा रुचिप्रापणार्थं; तेनाहारं न काङ्क्षति, क्रियमाणाच्च विरसी भवति। हृल्लासः थूत्करणं, छर्दिरित्यन्ये। सरो गुणः अनुलोमनः वात-मल-प्रवर्तनः। मन्दो गुणः यात्राकर इति शरीरस्थायित्वाद्देहस्य यात्रां वर्तनं करोति। व्यवायी गुणः अखिलमित्यादि अपक्व एवाखिलं देहं व्याप्नोति पश्चान्मद्यविषवत् पाकं याति; अन्ये 'भावाय कल्पते' इति पठन्ति, तत्रापि स्थितये कल्पते नोर्ध्वमधो वा प्रवर्तत इति स एवार्थः; अपरे तु पुनर्भावशब्दमभिप्रायार्थमिच्छन्ति, तत्र नियतद्रव्य-प्रभावेणाऽशक्त्यनुरूपं तद्द्रव्यं मद्य-विषवद्विशिष्टाभिप्रायाय कल्पत इत्यर्थः। व्यवायिनः सकाशाद्विकासिद्रव्यस्य किंचिद्भेदं दर्शयन्नाह—विकासीत्यादि। विकासी-गुणः विकसन् प्रसर्पन, एवमिति अपक्व एव सकलं देहं व्याप्य, धातुबन्धान् विमोक्षयेत् धातुशैथिल्यं करोतीत्यर्थः। अन्ये तु 'सरविशेषो व्यवायी, तीक्ष्णविशेषो विकासी' इति ब्रुवते; तन्नेच्छति गयी। आशुकारी गुणः, आशुत्वात्। सूक्ष्मो गुणः। अत्र स्थूलगुणमपि केचित् पठन्ति, स च पाठोऽभावान्न लिखितः। गुणा इति नन्वत्र स्थूलगुणेन सह त्रयोविंशतिर्गुणा भवन्ति, कथं विंशतिः कथ्यन्ते? उच्यते—केचिदत्र संख्याभङ्गभयाद् व्यवायि-विकास्याशुकारिणामपाठमेव मन्यन्ते; अन्ये पुनराहुः—अधिकायामपि गुणविंशतावुक्तायां गुणा विंशतिरुक्ताः, न चात्र नियमो विंशति-रेवेति; व्यवायि-विकास्याशुकारिणां तु स्वतन्त्रे परतन्त्रे च दर्शनात् पाठो न्याय्य एव; अपरे पुनः प्रागेव 'दशैवान्यान्' इत्यस्य स्थाने 'दश चान्यान्' इति चकारं पठन्ति; तेन व्यवायि-विकास्याशुकारिणोऽपि समुच्चीयन्ते (ड.)। नह्यञ्जसा भिषग्विद्यायां विपुलप्रज्ञोऽपि कश्चिद् यथोपदेशं द्रवद्रव्यविधिमन्नपानविधिं वाऽधिगम्य द्रव्याणां तांस्तांश्शैत्यौष्ण्यादिकान् भावान् युक्त्या समन्वीयोपदेष्टुमुपधारयितुं वा प्रभवत्यनायासेन, कर्मानुमेयत्वात्; तदिदानीं पूर्वाचार्यप्रसिद्धेन क्रमेण द्वेधा विभज्य कर्मतः शीतादीन् गुणानुपदिदिक्षति—अत इत्यादिना। ह्लादन उष्णार्तानां सुखसंजननः, स्तम्भनः शोणितादीनां गतिमतां संनिरोधनः। विशेषतः प्राचुर्येण पाचन इति संबन्धः, उष्णो ह्यग्निगुणबहुल इत्ययमाशयः। रूक्ष इत्यादि। स्तम्भनो मल-मूत्रादीनामप्रवर्तनः। खरं कर्कशं करोतीति खरः, णिचि पचाद्यच्। गुरुः चिरपाकी। क्लेदसंशोषणो व्रणरोपणश्चेति क्लेदाचूषण-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोपणः । यथाविभागमर्थमिमं विभज्य शिष्टानर्थानधिकरोति--दशेत्यादिना । तेषां व्याचिख्यासितानां गुणानां मध्ये आद्याः पूर्वाचार्यैरादावुपदिष्टाः शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-पिच्छिल-विशद-तीक्ष्ण-मृदु-गुरु-लघुसमाख्याता दश गुणाः कर्मतः प्रोक्ताः, इदानीं तु कर्मविशेषणैः कर्मविशेषैरुक्तेतरैः कर्मभिरिति यावत्, दशैवान्यान् द्रवादीन् प्रवक्ष्यामि, तान् मे मत्तो निबोधेति योजना । द्रव इत्यादि । स्थूलं करोतीति स्थूलः, सान्द्रविशेषणमेतत् । ये त्वत्र सान्द्रादनन्तरं श्लक्ष्ण-कर्कशयोः पाठात् सूक्ष्मान्ता द्रवादयो द्वादशैव भवन्ति न त्वेव दशेति विप्रतिपद्यन्ते तान् पुनः कटाक्षयन्नाह--श्लक्ष्ण इति । अयमभिसंधिः--संख्येयं कर्मविशेषमाश्रित्योपदिश्यते, श्लक्ष्ण-कर्कशौ तु पिच्छिल-विशद-साम्यादुक्तगुणौ, नातो द्वादशत्वापत्तिर्गन्धमात्रेणाप्युपलभ्यत इति । कर्मतः सुगन्ध-दुर्गन्धगुणावुपदिश्येते सुखेत्यादिना श्लोकेन । मन्दो मन्दाख्यो गुणः, यात्राकरः कालक्षेपकरः, "यात्रा स्याद्यापने गतौ" इत्यमरः (कां. ३, व. ३) । विकासीत्यादि । एवमिति अखिलं देहं व्याप्येत्यर्थः । उक्तमर्थमुपसंहरति--गुणा इत्यादिना । विंशतिरिति शितादिभिर्द्रव सांद्र-सुगन्ध-दुर्गन्ध-सर-मन्द-व्यवायि - विकास्याशुकारि - सूक्ष्मगुणानुगमादित्यनुसंधेयम् (हा.) ॥

लघुर्गुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात् ।
नभो भू वारि वातानां वन्हेरेते गुणाः स्मृताः ॥
लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च ।
गुरु वातहरं पुष्टि-श्लेष्मकृच्चिरपाकि च ॥
स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम् ।
रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम् ॥
तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफ--वातहृत् ।
सुश्रुते तु गुणाः प्रोक्ता विंशतिस्तान् ब्रुवे शृणु ॥
गुरुर्लघुः स्निग्ध-रूक्षौ तीक्ष्णः श्लक्ष्णः स्थिरः सरः ।
पिच्छिलो विशदः शीत उष्णश्च मृदु-कर्कशौ ॥
स्थूलः सूक्ष्मो द्रवः शुष्क आशुर्मन्दः स्मृता गुणाः ।
श्लक्ष्णः स्नेहं विनाऽपि स्यात् कठिनोऽपि हि चिक्कणः ॥
स्थिरो वात-मलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तकः ।
पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः ॥
क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः ।
शीतस्तु ह्लादनः स्तम्भी मूर्च्छा-तृट्-स्वेद-दाहनुत् ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उष्णो भवति शीतस्य विपरीतश्च पाचनः ।
स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत् ॥
देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते ।
द्रवः क्लेदकरो व्यापी शुष्कस्तद्विपरीतकः ॥
आशुराशुकरो देहे धावत्यम्भसि तैलवत् ।
मन्दः सकलकार्येषु शिथिलोऽल्पोऽपि कथ्यते ॥

——भावप्रकाश, पू. खं.

द्रव्यगुण विज्ञान में नाना प्रकार के द्रव्यों में रहे हुए गुरु-लघु आदि गुणों का शरीरपर होनेवाले उनके कर्मों से अनुमान किया जाता है । अतः गुर्वादि बीस गुणों के सुश्रुत भावप्रकाश आदि में कहे हुए कर्म चरकोक्त क्रम से नीचे विस्तार से लिखे जाते हैं——

१. **गुरु**—गुरु गुण (वाला द्रव्य) साद (अवसाद-शरीर की ग्लानि-शिथिलता), उपलेप (मलो की वृद्धि और चिकनाहट), बल, तृप्ति और शरीर की पुष्टि करनेवाला (सु.), वातहर बृंहण, कफ करनेवाला तथा चिरपाकी (देरी से पचनेवाला) है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में शरीर को पुष्ट करने की शक्ति हो, वह **गुरु** है (हे.) । सामान्यभाषा में गुरुगुण को **'भार, वजन'** कहते हैं। जल और भूमि में पतनकर्म (अधोगमन) का जो कारण है, उसे **गुरुत्व** कहते हैं **"गुरुत्वं जल-भूम्योः पतनकर्मकारणम्"** (प्रशस्तभाष्य, गुणग्रन्थ)। महाभूतों में पृथिवी और जल इन दोनों में गुरुत्व रहता है, अतः कार्य द्रव्यों में पृथ्वी और जल के गुणों की (अंश की) अधिकता से गुरु गुण उत्पन्न होता है। **"गौरवं पार्थिवमाप्यं च"** (र. वै. अ. ३, सू. ११६) ।

वक्तव्य——वैशेषिक दर्शन में जिस गुण के द्वारा किसी वस्तु का स्वाभाविक अधः-पतन होता है, उसको **गुरु** कहते हैं । इस लक्षण को मानते हुए भी द्रव्यगुण विज्ञान में **गुरुपाक** तथा **गौरव जनक** द्रव्य को **गुरु** माना जाता है । मूर्त द्रव्यों में जिस प्रमाण में अवयवों (घटक-अणुओं) का संघात और संश्लेष न्यून या अधिक होता है उस प्रमाण में उसमें गुरुत्व न्यून या अधिक होता है । लौकिक भाषा में जो द्रव्य वायु मण्डल में छोड़े जाने पर नीचे गिरता है उसमें **गुरुत्व** और इसके विपरीत में लघुत्व माना जाता है ।

२. **लघु**——लघु गुणवाला द्रव्य गुरु से विपरीतगुणवाला (शरीर में उत्साह-स्फूर्ति, मल का क्षय, अतृप्ति और दुर्बलता लानेवाला), शरीर को कृश करनेवाला, व्रण का रोपण करनेवाला (सु.), परम पथ्य, कफघ्न, वातकर और शीघ्र पचन (हजम) होने वाला है (भा.)।। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में शरीर को

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हलका करने की शक्ति हो, वह लघु है (हे.)। लघु गुण को सामान्य भाषा में 'हलका' कहते हैं। लघु गुण वायु. आकाश और अग्नि के गुणों की अधिकता-वाला होता है "लाघवमन्यदीयम्"[1] (र० वै. अ. ३. सू. ११७)।

वक्तव्य—वैशेषिक दर्शन में लघु को स्वतन्त्र गुण नहीं माना है, गुरुत्व के अभाव (कमी) को ही लघु कहते हैं। जिस प्रमाण में मूर्त द्रव्यों में अवयवों (घटकअणुओं) का संघात और संश्लेष विरल-कम होता है उस प्रमाण में उसमें लाघव अधिक होता है। लघु और गुरुत्व दो सापेक्ष गुण हैं। एक ही द्रव्य अपने से लघु को अपेक्षया गुरु और अपने से गुरु की अपेक्षया लघु होता है। परन्तु द्रव्यगुणविज्ञान में जिस द्रव्य में ऊपर लिखे हुए गुरुत्व के कर्म विद्यमान हों उसको गुरु और लघुत्व के कर्म विद्यमान हों उसको लघु कहा जाता है।

३. शीत—शीत गुण (वाला द्रव्य) उष्णपीडित को सुख देनेवाला, स्तम्भन, तथा मूर्च्छा, तृषा, स्वेद और दाह का नाश करनेवाला है (सु., भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में स्तम्भन करने की शक्ति हो, वह शीत है (हे.)। सामान्य भाषा में शीत गुण को 'ठण्ढा' कहते हैं। द्रव्यों में जल महाभूत के गुणों की अधिकता से शीत गुण उत्पन्न होता है। शीत गुण से द्रव्यों में संघात (संयोग-घनता) भी उत्पन्न होता है। शीत गुण कर्मानुमेय और स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य भी होता है।

४. उष्ण—उष्ण गुण (वाला द्रव्य) शीत गुण से विपरीत (शरीर को असुख देनेवाला, रसरक्तादि की प्रवृत्ति करनेवाला. मूर्च्छा-तृषा-स्वेद तथा दाह को उत्पन्न करनेवाला) और विशेष करके पाचक है (सु., भा)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में स्वेद-पसीना लानेकी शक्ति हो, वह उष्ण है (हे.)। सामान्य भाषा में उष्ण गुण को 'गरम' कहते हैं। उष्ण गुण आग्नेय है "तैजसमौष्ण्यं तैक्ष्ण्यं च" (र. वै. अ. ३ सूत्र ११३)। वैशेषिक दर्शन में शीत और उष्ण इन दो गुणों को स्वतन्त्र गुण नहीं माने हैं, परन्तु स्पर्श गुण के भेद माने हैं। शीत और उष्ण ये दो गुण भी सापेक्ष हैं। सामान्य व्यवहार में हमारे शरीर की उष्णता से अधिक उष्णस्पर्शवाले द्रव्य को उष्ण और कम उष्ण स्पर्शवाले द्रव्य को शीत कहा जाता है। द्रव्यगुणविज्ञान में उष्ण और शीत गुण के जो कर्म लिखे हैं उनको देखकर उन का निर्णय किया जाता है। उष्ण गुण कर्मानुमेय और स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य भी है।

५. स्निग्ध[2] (स्निग्ध गुण वाला द्रव्य) शरीर में स्नेह और मार्दव (मृदुता) करनेवाला, बल और वर्ण को बढ़ानेवाला (सु.), वातहर, श्लेष्मकर और वाजीकर

१:—पृथिव्युदकाभ्यामन्यस्माद्भूतसमूहाद् वाय्वाकाशाग्निलक्षणाद्भवतीति, (तेषां) त्रयाणां भूतानां लघुत्वादिति (भाष्यम्)।

२—"स्नेहोऽपां विशेषगुणः। संग्रह-मृजादिहेतुः।" (प्र. पा. भा.)। "संग्रहः परस्परमयुक्तानां सत्त्वादीनां पिण्डीभावप्राप्तिहेतुः संयोगविशेषः। →

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में शरीर को क्लिन्न (आर्द्र) करने की शक्ति हो, वह स्निग्ध है (हे.)। स्निग्ध गुण आप्य है (र. वै. अ. ३।११२)। स्नेह यह जल भूत का विशेष गुण है। द्रव्यों में जल महाभूत की अधिकता से स्निग्धता उत्पन्न होती है। स्निग्धगुण से अवयवों का संग्रह (चूर्णादि के कणों का परस्पर संयोजन) और मृदुता उत्पन्न होती है।

६. **रूक्ष**—रूक्ष गुणवाला द्रव्य स्निग्ध के विरुद्ध कार्य करनेवाला (शरीर में रूक्षता और कठिनता लानेवाला, बल और शरीर के वर्ण का ह्रास करनेवाला), विशेष करके स्तम्भन, खर (सु.), वातकर, अवृष्य और कफहर है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में शोषण करने की शक्ति हो, वह रूक्ष है (हे.)। द्रव्यों में पृथ्वी, वायु और अग्नि महाभूतोंकी अधिकता से रूक्षता उत्पन्न होती है। वैशेषिक दर्शन में स्नेह के अभाव को ही रूक्ष माना है, उसको स्वतन्त्र गुण नहीं माना है।

७. **मन्द**—मन्द गुणवाला द्रव्य यात्राकर (कालक्षेप करनेवाला—मन्दता (देरी) से कार्य करनेवाला—मन्दश्चिरकारी) होता है (सु.)। मन्द गुण सर्व कार्य करने में शिथिल और अल्पकार्य करनेवाला होता है। (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की शमनकर्म में शक्ति हो, वह **मन्द** है (हे.)। पृथ्वी जल महाभूत की अधिकता से द्रव्यों में मन्द गुण उत्पन्न होता है।

८. **तीक्ष्ण**—तीक्ष्ण गुणवाला द्रव्य दाह, पाक और स्राव करनेवाला (सु.), पित्तकर, प्रायः शरीर को पतला करनेवाला (लेखन) तथा कफ और वायु का नाश करनेवाला है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की शोधनकर्म में शक्ति हो, वह **तीक्ष्ण** है (हे.)। अग्निमहाभूत की अधिकता से द्रव्य में तीक्ष्ण गुण उत्पन्न होता है।

९. **स्थिर**—स्थिर गुणवाला द्रव्य वात और मल (मूत्र-पुरीष-स्वेदादि) का स्तम्भन करनेवाला है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की धारण-स्तम्भन कर्म में (रोकने में) शक्ति हो, वह **स्थिर** है (हे.)। स्थिर गुणयुक्त द्रव्य चिर-स्थायी (अधिक समय तक नष्ट न होनेवाला) होता है। स्थिर गुणयुक्त द्रव्य पृथ्वी महाभूत के गुणों की अधिकतावाला होता है।

१०. **सर**—सर गुणवाला द्रव्य वात और मल की प्रवृत्ति करानेवाला है (सु., भा.)। अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय में **स्थिर**के विपरीत **'चल'** गण

—मृजा कायस्योद्वर्तनादिकृता शुद्धिः। आदिशब्दान्मृदुत्वं च" (**न्यायकन्दली**)। चूर्ण (आटे) आदि के परस्पर असंयुक्त कण के संग्रह (परस्पर मिलने) के कारण भूत गण को **स्नेह** कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिखा है। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की प्रेरणा करने में शक्ति हो वह चल है (हे.)। दोनों वाग्भटों ने चल गुण सर के स्थान में दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। जल महाभूत की अधिकता से द्रव्यों में सर गुण उत्पन्न होता है।

११. मृदु--मृदु गुणवाला द्रव्य दाह, पाक और स्राव का नाश करनेवाला है (सु.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की श्लथन में (कोमल-ढीला करने में) शक्ति हो, वह मृदु है (हे.)। मृदु गुण आकाश और जल महाभूत के गुणों की अधिकतावाला है। "मार्दवमान्तरिक्षमाप्यं च" (र. वै. अ. ३, सू. ११५)।

१२. कठिन--जिस गुण (युक्त द्रव्य) को दृढ़ करने में शक्ति हो उसे कठिन कहते हैं (हे.)। द्रव्यों में कठिन गुण पृथिवी महाभूत की अधिकता से उत्पन्न होता है "कठिनत्वं पार्थिवम्" (र. वै., अ. २. सू. ५८)।

१३. विशद--विशद गुणवाला द्रव्य पिच्छिल से विपरीत कर्म करनेवाला, विशेष करके क्लेद का शोषण करनेवाला और व्रणरोपण है (सु., भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की क्षालन (क्लेदको नाश करने) में शक्ति हो, वह विशद है (हे.)। द्रव्यों में पृथ्वी, वायु, तेज और आकाश महाभूत की अधिकता से विशद गुण उत्पन्न होता है।

१४. पिच्छिल--पिच्छिल गुणवाला द्रव्य जीवन, बलकारक, संधान--टूटी हुई हड्डी आदिको जोड़नेवाला, कफकारक, गुरु (शरीर में भारीपन लानेवाला) (सु.) और तन्तुल (लेसदार) है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की शरीर के लेपन करने में शक्ति हो वह पिच्छिल है (हे.)। पिच्छिल गुण आप्य (चल महाभूत के गुणों की अधिकतावाला) है (र. वै. अ. ३।११२)। पिच्छिल गुण को प्रचलित भाषा में लुआब और पिच्छिल गुण युक्त द्रव्य को लुआबदार कहते हैं।

१५. श्लक्ष्ण--श्लक्ष्ण गुण वाला द्रव्य पिच्छिल गुण के सामान ही कर्म करनेवाला है (सु.)। श्लक्ष्ण अर्थात् चिक्कण गुण स्नेह के बिना भी होता है, जैसे घिसा हुआ मणि आदि कठिन द्रव्य भी चिकना होता है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की रोपण में (व्रण के रोपण करने में) शक्ति हो, वह श्लक्ष्ण है (हे.)। श्लक्ष्ण गुण अग्नि के गुणों की अधिकतावाला है "तैजसं श्लक्ष्णत्वं नाम"[1] (र. वै. अ. २. सू. ५८)।

१६. खर--गुण खरस्पर्श (वाला द्रव्य); जैसे-ककोंड़े का फल। सुश्रुत ने खर के स्थान में कर्कश गुण लिखा है तथा कर्कश गुण के कर्म विशद जैसे बताये हैं। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की लेखन में (व्रणादि के अन्दर उभरे हुए मांस के

१--सुमसृणमणीनामिव स्पर्शः। स खलु भास्वरसामान्यादग्निनोत्पद्यते (भाष्यम्)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

छीलने में) शक्ति हो, वह खर है (हे.)। खर=पुरुष (इन्दु)। कर्कश गुण वायु गुणों की प्रधानतावाला होता है "कर्कशत्वं वायव्यम्"[1] (र. वै., अ. २, सू. ६६)। पृथ्वी, वायु और तेज—इन महाभूतों की अधिकता से द्रव्य में खरत्व उत्पन्न होता है।

१७. सूक्ष्म—सूक्ष्म गुणवाला द्रव्य अपनी सूक्ष्मता के कारण शरीर के अत्यन्त सूक्ष्म स्रोतों में भी प्रवेश कर सकता है (सु., भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की विवरण में (स्रोतों को खुला करने में) शक्ति हो, वह सूक्ष्म है (हे.)। द्रव्य में अग्नि, वायु और आकाश—इन तीन महाभूतों की अधिकता से सूक्ष्म गुण उत्पन्न होता है। यहाँ सूक्ष्म का अर्थ छोटा नहीं है।

१८. स्थूल—स्थूल गुणवाला द्रव्य देह में स्थूलता लानेवाला और स्रोतों का अवरोध करनेवाला है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की संवरण में (स्रोतों के अवरोध में) शक्ति हो, वह स्थूल है (हे.)। स्थूल गुणयुक्त द्रव्य गुरुपाक होता है। द्रव्य में पृथ्वी महाभूत की अधिकता से स्थूल गुण उत्पन्न होता है।

१९. सान्द्र—सान्द्र गुणवाला द्रव्य शरीर को स्थूल (पुष्ट) करनेवाला है (सु)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की प्रसादन में शक्ति हो, वह सान्द्र है (हे.) द्रव्य में पृथ्वी महाभूत की अधिकता से सान्द्र गुण उत्पन्न होता है। सान्द्र को प्रचलित भाषा में 'गाढ़ा' कहते हैं।

२०. द्रव—द्रव गुणवाला द्रव्य शरीर को आर्द्र (तर) करनेवाला (सु.) और सब जगह व्याप्त होता है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की विलोडन में (व्याप्त होने में) शक्ति हो, वह द्रव[2] है (हे.)। द्रव्य में जल महाभूत की अधिकता से द्रव गुण उत्पन्न होता है।

पाठान्तर और मतान्तर में लिखे हुए अन्य अधिक गुण—

१. शुष्क—शुष्क गुणवाला द्रव्य द्रव गुणवाले द्रव्य से विपरीत गुणवाला होता है (भा.)। द्रव्य में पृथ्वी, वायु और तेज महाभूत की अधिकता से शुष्क गुण उत्पन्न होता है।

२. आशु—सुश्रुत और भावप्रकाश में इस गुण का कर्म जल में तैलबिन्दु के समान शरीर में शीघ्र फैलना कहा है। इसे भावप्रकाश में 'आशु-मन्द' इस युग्म में दिया है। द्रव्य में वायु महाभूत की अधिकता से आशु गुण उत्पन्न होता है।

१—वायुः शोषणात्मकत्वाद् व्यूहकरणाच्च पद्मनालादिषु कर्कशहेतुर्भवति (भाव्यम्)।

२—द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् (प्रशस्तपादभाष्य-गुणग्रन्थ)। जिस गुण के कारण कोई वस्तु बहती है, उसको द्रवत्व कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. व्यवायी—व्यवायी गुण (वाला द्रव्य) पहले अपक्वावस्था में ही सर्व-शरीर में व्याप्त होकर पीछे परिपाक को प्राप्त होता है (सु.)। द्रव्य में वायु और आकाश महाभूत की अधिकता से व्यवायी गुण उत्पन्न होता है। कई आचार्य सर गुण की प्रकर्षावस्था को व्यवायी गुण कहते हैं (वृ. वा.)।

४. विकासी (शी-षी)—विकासी गुणवाला द्रव्य अपक्वावस्था में ही समस्त शरीर में व्याप्त होकर धातुओं में शैथिल्य उत्पन्न करता है (सु.)। द्रव्य में वायु महाभूत की अधिकता से विकासी गुण उत्पन्न होता है। कई आचार्य सर गुण की प्रकर्षावस्था को ही विकासी गुण कहते हैं (वृ. वा.)।

५. सुगन्ध—सुगन्ध गुणयुक्त द्रव्य सुख देनेवाला, सूक्ष्म, अन्नपर रुचि उत्पन्न करनेवाला और मृदु है (सु.)।

६. दुर्गन्ध—दुर्गन्ध गुणयुक्त द्रव्य सुगन्ध से विपरीत गुणवाला, तथा हृल्लास (जी मिचलाना) और अरुचि करनेवाला है (सु.)। वैशेषिक दर्शन में सुगन्ध (सुरभि) और दुर्गन्ध (असुरभि) इनको गन्ध गुण के भेद माने हैं। स्वतन्त्र गुण नहीं माने।

वक्तव्य—यद्यपि 'सार्था गुर्वादयः' इत्यादि श्लोक में ४१ या ४२ गुण कहे गये हैं, परन्तु जैसा कि चरकने द्रव्य के लक्षण के अनन्तर लिखा है—कि "तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः" (च. सू. अ. २६) उस पाञ्चभौतिक द्रव्य के शब्दादि पाँच और गुर्वादि द्रवान्त बीस गुण हैं। अर्थात् द्रव्यगुणविज्ञान में प्रधानतया शब्दादि पाँच और गुर्वादि बीस इन २५ गुणों का विचार और उपयोग होता है। वैसे तो परत्वापरत्वादि दस गुणोंका भी गौणरूप से कहीं-कहीं उपयोग किया गया है। बुद्धि, बुद्धि के भेद, प्रयत्नान्त पाँच गुण ये आत्मगुण होने से वे द्रव्य-गुणशास्त्र के विचार्य विषयों में नहीं हैं। इनका विचार मानसशास्त्र में ही प्रधानतया होता है। अष्टविधवीर्यवादियों के मत में शीत, उष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु (मन्द[1]), तीक्ष्ण—ये आठ गुण और द्विविधवीर्यवादियों के मत में शीत और उष्ण ये दो गुण जब उत्कृष्ट शक्तिवाले होते हैं तब उन को वीर्य संज्ञा प्राप्त होती है, परन्तु जब ये उत्कृष्टशक्तिसंपन्न नहीं होते तब ये सामान्यतया गुण ही कहे जाते हैं। जैसा कि वृद्धवाग्भटने लिखा है—"गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्ति-मन्तोऽन्यथा गुणाः। परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः" (अ. सं. सू. अ. १७)। "पूर्वोक्ता गुर्वाद्या अष्टौ यदोत्कृष्टशक्तयः सन्तो द्रव्यं समधिशेरते तदा

१—अष्टांगसंग्रहमें 'मृदु' के स्थान में 'मन्द' पाठ पाया जाता है। सुश्रुत में गुरु और लघु के स्थान में विशद और पिच्छिल पाठ मिलता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीर्यशब्दवाच्याः, यदा तूत्कृष्टशक्तियुक्ता न भवन्ति तदा सामान्यगुणा एव। ये च गुर्वादिविशिष्टा द्वादश गुणास्ते स्वभावेनैव परसामर्थ्यहीना उत्कृष्टशक्तिरहितास्तेऽपि सामान्यगुणशब्दवाच्याः, ते न कदाचिदपि वीर्याख्यां लभन्त इति" (इन्दु)। गुरु और लघु ये दो गुण जब निष्ठापाक के रूप में परिणत होते हैं, तब उन को गुरुविपाक और लघुविपाक यह संज्ञा दी जाती है (सु. सू. अ. ४०, च. सू. अ. २६)। चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में गुर्वादि बीस गुण परस्पर विरोधी दस द्वद्वों (युग्मों-जोड़ों) के रूप में दिये गये हैं। उन में चरक, अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय के दस युग्म या बीस गुण समान हैं। सुश्रुतने मन्द-तीक्ष्ण युग्म के स्थान में मृदु-तीक्ष्ण, स्थिर-सर युग्म के स्थान में मन्द-सर और श्लक्ष्ण-खर युग्म के स्थान में श्लक्ष्ण-कर्कश ये गुण दिये हैं; अर्थात् मन्द के स्थान में मृदु, स्थिर के स्थान में मन्द और खर के स्थान में कर्कश गुण लिखा है। सुश्रुत में कठिन और स्थूल ये दो चरकोक्त गुण नहीं दिये गये हैं। भावप्रकाश में सुश्रुत-मत से दस द्वन्द्व या बीस गुण लिखे गये हैं। चरकोक्त मन्द-तीक्ष्ण और सुश्रुतोक्त मृदु-तीक्ष्ण युग्म के स्थान में भावप्रकाश में तीक्ष्ण-श्लक्ष्ण यह युग्म दिया गया है। चरकोक्त मृदु-कठिन युग्म के स्थान में भावप्रकाश में मृदु-कर्कश, सान्द्र-द्रव के स्थान में द्रव-शुष्क और मन्द-तीक्ष्ण के स्थान में आशु-मन्द ये युग्म लिखे हैं। सुश्रुत के वर्तमान पाठ में जो सुगन्ध-दुर्गन्ध गुण कहे गये हैं, वे गन्ध के ही भेद हैं, अतः गुर्वादि विंशति-गुण में इन की गणना करना ठीक नहीं है। भावप्रकाश में जो सुश्रुत के गुण लिखे हैं उन में ये दो गुण हैं भी नहीं। व्यवायी और विकासी ये दो गुण सुश्रुत के वर्तमान पाठ को छोड़कर किसी भी ग्रन्थ में नहीं लिखे गये हैं। संभव है कि ये चार गुण पीछे से प्रक्षिप्त किये गये हों। संग्रहकार ने व्यवायी को सर-गुण की प्रकर्षावस्था और विकासी गुण को तीक्ष्ण-गुण की प्रकर्षावस्था बता कर के समाधान किया है और सुश्रुत में भी ये बीस की संख्या से अधिक ही होते हैं। चरक में मन्द-तीक्ष्ण के युग्म में मन्द मृदु के स्थान में दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। भावप्रकाश में आशु और मन्द यह युग्म आशु आशुकारी, और मन्द चिरकारी इस अभिप्राय से दिया हुआ है। द्रव्यगुण के प्रकरण में ये दो शब्द आते भी हैं, और उन की टीकाकारों ने ऐसी व्याख्या भी की है। चरक-सुश्रुत आदि ने यद्यपि कुछ हेर-फेर से ये बीस गुण लिखे हैं, तथापि द्रव्यगुण के प्रकरण में अन्य गुणों का भी उल्लेख पाया जाता है। इस विषय में चक्रपाणिदत्तने मद्यगुण के प्रकरण में (च. चि. अ. २४ में) लिखा है कि—"एते विकासित्वादयो गुणा यद्यपि विंशतिगुण-गणनायां न पठिताः, तथाऽप्यसंख्येयतया गुणानामेषामपि गुणत्वं सिद्धं; ये तु तत्र पठितास्ते तावदाविष्कृततमा ज्ञेयाः।" अर्थात् विकासी, आशुकारी और व्यवायी गुण बीस गुणों की गणना में नहीं दिये गये हैं, (किन्तु यहाँ उन्हें गुण कहा है), तथापि गुणों के असंख्येय होने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से **विकासी** आदि भी गुणसंज्ञक हैं। बीस गुणों में जिनकी गणना की गयी है वे गुण आविष्कृततम[1] (प्रसिद्धतम) हैं।

सुश्रुत ने गुणों के प्रकरण में प्रारम्भ में लिखा है कि--"**अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्म विस्तरम्। कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः॥**"--अब गुणों के कर्मों का विस्तार कहा जाता हैं, क्योंकि नाना द्रव्यों में रहे हुए शीतोष्णादि गुणों का उनके कर्म देखकर अनुमान किया जाता हैं। अतः आगे शीतोष्णादि गुण-प्रकरण में प्रत्येक गुण के जो कर्म लिखे हैं, उन कर्मों को देख करके तत्तद् गुण का अनुमान करना चाहिए, ऐसा वहाँ तात्पर्य समझना चाहिए।

बुद्धीच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-प्रयत्नानां निरूपणम्--

बुद्धीच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-प्रयत्ना ह्यात्मगुणाः। एते च मनोविज्ञानविषया इति नेह प्रपञ्चिताः।

बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये आत्मगुण होने से इनका विचार प्रधानतया मनोविज्ञान (मानस-शास्त्र) का विषय है। वहाँ ही इनका विशेष

१--गुण के विषय में **डॉ. भा. गो. घाणेकरजी** सुश्रुत की व्याख्या में लिखते हैं कि--**गुण**--ओषधियों के वैद्यकीय कार्य के द्योतक गुण होते हैं। गुणों को 'फॉर्मालॉजिकल ॲक्शन्स्' कह सकते हैं। ये संख्या में साधारणतया बीस हैं; परन्तु व्यवायी, विकासी इत्यादि अन्य गुण भी होते हैं। × × ×। कुछ आधुनिक विद्वान् गुण से भौतिक गुण (Physical properties) समझते हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं हैं। ४६ वें अध्याय में गुणोंका विवरण करते समय लिखा है--"**कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रया गुणाः**" भौतिक धर्म प्रत्यक्ष होते हैं, परन्तु वैद्यकीय गुण कर्मानुमेय होते हैं। इसलिये रस-वीर्यादि द्वारा ओषधियों के जो-जो कार्य शरीर में होते हैं वे सब उनके गुण होते हैं। ओषधियों के इन गुणों का उत्कर्षापकर्ष भी संस्कार तथा भावनाओं द्वारा किया जाता है--"**गुरूणांलाघवं विद्यात् संस्कारात् सविपर्ययम्। व्रीहेर्लाजा यथा चस्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डिकाः॥**" (च. सू. अ. २७)। इस में संदेह नहीं कि गुरु, लघु, द्रव, कठिन आदि शब्द ओषधियों की भौतिक स्थिति (Physical State) प्रदर्शित करने के लिये भी प्रयुक्त होते हैं, परन्तु ओषधिविज्ञान की परिभाषा में गुण मुख्यतया शरीरगत क्रियाओं के द्योतक होते हैं (पृ. २१९, २२०)। **'गुणा विंशतिरित्येवं'**--यहाँयद्यपि गुणों की संख्या बीस ही निर्दिष्ट की गई है, तथापि वर्णन किये हुए गुण संख्या में बाईस होते हैं। यदि इस बातका समन्वय करने की आवश्यकता हो तो श्लक्ष्ण और कर्कश-गुणोंका समावेश पिच्छिल और विशद में कर सकते है। परन्तु वास्तव में मूल सुश्रुतसंहिताका पाठ कुछ दूसरा ही होने की संभावना प्रतीत होती है। क्योंकि आयुर्वेद के अन्य ग्रंथों में गुणों की संख्या बीस से अधिक नहीं होती और उन में भी सुगन्धी, दुर्गन्धी, विकासी और व्यवायी गुण नहीं हैं। × × ×। भावमिश्रको जो सुश्रुत संहिता उपलब्ध थी उसके अनुसार उन्होंने बीस ही गुण निर्दिष्ट किये हैं (पृ. ३०९-३१०)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विवरण देखना चाहिये। द्रव्यगुणशास्त्र में इनका विशेष विवरण अप्रासंगिक होने से नहीं दिया गया है।

परादिदशगुणनिरूपणम्--

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च ।।
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः।
सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ।।
देश-काल-वयो-मान-पाक-वीर्य-रसादिषु।
परापरत्वे, युक्तिश्च योजना या तु युज्यते ।।
संख्या स्याद्गणितं, योगः सह संयोग उच्यते।
द्रव्याणां द्वन्द्व-सर्वैककर्मजोऽनित्य एव च ।।
विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः।
पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ।।
परिमाणं पुनर्मानं, संस्कारः करणं मतम्।
भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया ।।
इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः।
चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते ।।—च.सू.अ.२६

सम्प्रति पूर्वोक्तगुणातिरिक्तान् परत्वापरत्वादीन् दशगुणान् रस[1] धर्मत्वेनोपदेष्टव्यानाह--परेत्यादि। तच्च परत्वं प्रधानत्वम्, अपरत्वम् अप्रधानत्वम्। तद्विवरणं—देश कालेत्यादि। तत्र देशो मरुः परः, अनूपोऽपरः; कालो विसर्गः परः, आदानमपरः; वयस्तरुणं परम्, अपरमितरत्; मानं च शरीरस्य यथावक्ष्यमाणं शारीरे परं, ततोऽन्यदपरं; पाक-वीर्य-रसास्तु ये यस्य योगिनस्ते तं प्रति पराः, अयौगिकास्त्वपराः। आदिग्रहणात् प्रकृति-बलादीनां ग्रहणम्। किंवा, परत्वापरत्वे वैशेषिकोक्ते ज्ञेये; तत्र देशापेक्षया सन्निकृष्टदेशसंबन्धिनमपेक्ष्य विदूरदेशसंबन्धिनि परत्वं सन्निकृष्टदेशसंबन्धिनि चापरत्वं भवति; एवं सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टकालापेक्षया च स्थविरे परत्वं, यूनि चापरत्वं भवति। वयःप्रभृतिषु परत्वापरत्वं यथासंभवं काल-देशकृतमेवेहोपयोगादुपचरितमप्यभिहितं, यतो न गुणे मानादौ गुणान्तरसंभवः। युक्तिश्चेत्यादौ योजना दोषाद्यपेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना, अत एवोक्तं--या तु युज्यते; या

१—"रौक्ष्यात् कषयोरूक्षाणां" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना ग्रन्थेनेत्यर्थः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते; अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते, पुत्रोऽप्यपुत्रवत् । युक्तिश्चेयं संयोगपरिमाण-संस्काराद्यन्तर्गता-ऽप्यत्युपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते । संख्यां लक्षयति—संख्येत्यादि । गणितमिहैक-द्वि-त्र्यादि । संयोगमाह—योग[1] इत्यादि । सहेति मिलितानां द्रव्याणां योगः प्राप्तिरित्यर्थः । सहेत्यनेनेहार्किंचित्करं परस्परसंयोगं निराकरोति । तद्भेद-माह—द्वन्द्वेत्यादि । तत्र द्वन्द्वकर्मजो यथा—युध्यमानयोर्मेषयोः, सवंकर्मजो यथा—भाण्डे प्रक्षिप्यमाणानां माषाणां बहुलमाषक्रियायोगजः, एककर्मजो यथा—वृक्ष-वायसयोः । अनित्य इति संयोगस्य कर्मजत्वेनानित्यत्वं दर्शयति । विभाग-माह—विभागस्त्वित्यादि । विभक्तिः विभजनम् । विभक्तिमेव विवृणोति—वियोग इति; संयोगस्य विगमो वियोगः । तत् किं संयोगाभाव एव वियोग इत्याह—भागशो ग्रह इति ।—विभागशो विभक्तत्वेन ग्रहणं यतो भवतीति भावः; तेन विभक्तिरित्येषा भावरूपा प्रतीतिः, न संयोगाभावमात्रं भवति, किं तर्हि भावरूपविभागगुणयुक्ते इत्यर्थः । पृथक्त्वं तु 'इदं द्रव्यं पटलक्षणं घटात् पृथग्' इत्यादिका बुद्धिर्यतो भवति तत् पृथक्त्वं भवति । तच्चाचार्यस्त्रैविध्येनाह—पृथक्त्वमित्यादि । तत्र यत् सर्वथाऽसंयुज्यमानयोरिव मेरु-हिमाचलयोः पृथक्त्वम्, एतत् 'असंयोग' इत्यनेनोक्तम् । तथा संयुज्यमानानामपि पृथक्त्वं विजातीयानां महिष-वराहादीनां, तदाह—वैलक्षण्यमित्यादि । —विशिष्टलक्षणयुक्तत्वलक्षितं विजातीयानां पृथक्त्वमित्यर्थः । तथैकजातीयानामप्यविलक्षणानां पृथक्त्वं भवती-त्याह—अनेकतेति । एकजातीयेषु हि संयुक्तेषु न वैलक्षण्यं नाप्यसंयोगः, अथ चानेकता पृथक्त्वरूपा भवतीति भावः । किंवा, पृथक्त्वं गुणान्तरमिच्छन् लोक-व्यवहारार्थमसंयोग-वैलक्षण्यानेकतारूपमेव यथोदाहृतं पृथक्त्वं दर्शयति । मानं प्रस्थाढकादि तुलादिमेयम् । करणं गुणान्तराधायकत्वं संस्करणमित्यर्थः ; यद्वक्ष्यति—"संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते ।" (च. वि. अ. १) इति । भावस्य षष्टिकादेर्व्यायामादेश्चाभ्यसनमभ्यासः । अभ्यसनमेव लोकप्रसिद्धाभ्यां

१—"संयोगमाह—योग इत्यादि । द्रव्याणां योगः संबन्ध इत्युक्ते अवयवा-वयविसंबन्धस्यापि संयोगत्वं स्यात्, अत आह—सहेति । साहित्यरूपो योगः, स च पृथक्सिद्धयोरेव भवतीति भावः । ननु विभुनोरपि संयोगः कुतो न स्यादि-त्याह—द्वन्द्व-सर्वैककर्मज इति द्वन्द्वकर्मजो यथा—युध्यमानयोर्मेषयोः, सर्वकर्मजो यथा—भाण्डे प्रक्षिप्यमाणानां माषाणां बहुमाषक्रियासंयोगः, एकतरकर्मजो यथा—वृक्ष-वायसयोः; एतच्चोपलक्षणं, तेन संयोगजोऽपि बोध्यः, यथा—अंगुलीतरुसंयोगाद्धस्त-तरुसंयोगः, एतेन विभुद्रव्ययोरुक्तकारणाभावादेव संयोगो नास्तीति भावः । ननु, संयोगोऽनित्य एव कारणापेक्षः, विभुनोस्तु संयोगो नित्य एव भविष्यतीत्याह—अनित्य एवेति । एवेत्यवधारणे । नित्यः संयोगो न संभवत्येव, अप्राप्तिपूर्विकायाः प्राप्तेः संयोगत्वात् नित्यत्वे च तद्विरोधात्" इति शिवदाससेनः ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर्यायाभ्यां विवृणोति—शीलनं सततक्रियेति ; यं लोकाः शीलन-सततक्रियाभ्यामभिदधति, सोऽभ्यास इति भावः । अयं च संयोगसंस्कारविशेषरूपोऽपि विशेषेण चिकित्सोपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते । न यथावत् प्रवर्तत इति वचनेन शब्दादिषु च गुर्वादिषु च परादीनामप्राधान्यं सूचयति । (च. द.) । दीर्घञ्जीवतीये गुणेषु परादयः पठिताः—"सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः । गुणाः प्रोक्ताः" (च. सू. अ. १) इति ; संप्रति तानाह—परापरत्वे इत्यादि । ते च चिकित्साया: सिद्ध्युपायाः, सम्यगनुष्ठानस्य तज्ज्ञानाधीनत्वात् । सम्यगनुष्ठानाद्धि कर्मस्य सिद्धिः, अतस्तान् परापरत्वादीन् गुणान् लक्षणैः प्रचक्ष्महे कथयामः । परापरत्वे आह—देशेत्यादि । परत्वं संनिकृष्टत्वम् उपयोगितायामासन्नत्वं, तद्विपर्ययः अपरत्वम् । उक्तं च कणादेन—"एकदिक्कालाभ्यामेककालाभ्यां संनिकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च ।" (वै. द. ७।२।२१) इति । तन्मते परत्वमपरत्वं द्विविधं दिक्कृतं, कालकृतं च । युक्तिमाह—युक्तिरिति । युक्तिरिति लक्ष्यनिर्देशः, लक्षणं—योजनेत्यादि । या युज्यते तादृशी दोष-देश-काल-मात्राद्यपेक्षिणी योजना युक्तिः । गणितं गणनव्यवहारहेतुरेक-द्वि-त्र्यादिसंख्या । संयोगमाह—योग इति । सह योगः परस्परेण सह योगः संहतीभावः, स संयोग उच्यते । रसविमाने च वक्ष्यति—"संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः ।" (च. वि. अ. १) इति । संयोगस्य लक्षणमुक्त्वा भेदमाह—द्रव्याणामिति । स च संयोगो द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजः । द्वन्द्वस्य द्वयोः, सर्वेषां बहूनाम्, एकस्य च कर्मणः जायते ; तेन त्रिविधः । वैशेषिकास्तु आहुः—"अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्च संयोगः ।" (वै. द. ७।२।९) इति । संयोगजः संयोगो यथा—अंगुली-तरुसंयोगात् शरीरतरु-संयोगः । ननु संयोगः किं समवायवन्नित्यः ? उत नेति ? अत आह—अनित्य इति । संयोगोऽनित्य एव, विभागात्तस्य नाशो भवति । विभागमाह—विभागस्त्विति । विभागो विभक्तिः विभक्तप्रत्ययनिमित्तविभजनं ; प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिः विभागः । स च संयोगप्रतिद्वन्द्वी गुणभेदः ; न तु संयोगाभाव एव विभागः, तथात्वे गुण-कर्मणोरपि विभागव्यवहारप्रसंगःस्यात् । तत्पर्यायौ वियोगो भागशो ग्रह इति । वियोगः संयोगस्य विगमः । भागशः विभागशो ग्रहः विभक्तत्वेन ग्रहणम् । संयोगवत् विभागोऽपि द्वन्द्व-सर्वैककर्मजः, अनित्यश्चापि । पृथक्त्वमाह—पृथक्त्वमिति । इदमस्मात् पृथक् अर्थान्तरमिति पृथक्प्रत्ययनिमित्तं पृथक्त्वम् । तत्पर्यायानाह—असंयोग इत्यादि । पृथक्त्वम्, असंयोगः, वैलक्षण्यम्, अनेकना, इत्यनर्थान्तरम् । इदमस्मात् पृथक्, इदमनेन न संयुक्तम्, इदमस्माद् विलक्षणविशिष्टम्, इदमेतच्च नैकमिति प्रतीतीनां शब्दवैशिष्ट्येऽपि अर्थतोऽभिन्नत्वमेव । ननु, अन्योन्याभाव एव पृथक्त्वम्, इदमस्मात् पृथक् अन्यत् इतिवत् भिन्नमिति

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रतीतेरन्योन्याभावालम्बनत्वादिति चेत् ? न, पृथगादिशब्दानां पर्यायत्वेऽपि न अन्योन्याभावार्थत्वं, तत्र पञ्चमीप्रयोगानुपपत्तेः ; इदमस्मात् पृथक्, इदम् इदं न भवति, इति प्रतीत्योर्भिन्नविषयत्वाच्च । परिमाणमाह—परिमाणमिति । परिमितिव्यवहारकारणं परिमाणं मानं प्रस्थाढकादि । संस्कारमाह—संस्कार इति । करणं गुणान्तराधायकसंस्करणं संस्कारः । रसविमाने च वक्ष्यति—"करणं हि स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः । संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते । ते च गुणास्तोयाग्निसंनिकर्ष-शौचमन्थन-देश-कालवशेन भावनादिभिः कालप्रकर्ष-भाजनादिभिश्चाधीयन्ते ।" (च. वि. अ. १) इति । अभ्यासमाह—भावेत्यादि । भावानामभ्यसनं पुनः पुनरनुष्ठानं सातत्येन करणमभ्यासः । शीलनं, सततक्रिया, च तत्पर्यायौ । उपसंहरति—इतीति । इति सर्वे परादयो गुणाः स्वलक्षणरुक्ताः । यैरविदितैः येषामविज्ञाने चिकित्सा न यथावत् प्रवर्तते (यो.) ॥

परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये दस परादि गुण कहलाते हैं। इन दस गुणों के ज्ञान के बिना चिकित्सा ठीक नहीं हो सकती है (और चिकित्सा ठीक होने से ही रोगनिवृत्ति होती है), इसलिए उनके लक्षण यहाँ कहे जाते हैं।—

१-२. परत्व और अपरत्व—देश, काल, वय, मान (परिमाण), पाक (विपाक), वीर्य, रस आदि में परत्व और अपरत्व व्यवहार के हेतुभूत जो गुण उनको परत्व और अपरत्व कहा जाता है। परत्व अर्थात् उत्कृष्टत्व और अपरत्व अर्थात् अवरत्व-निकृष्टत्व; जैसे—देश में मरुदेश पर—उत्कृष्ट, अनूप अपर—निकृष्ट; काल में विसर्ग पर, आदान अपर; वय में तरुणावस्था पर, अन्य अपर; शरीर के मान के विषय में शारीरस्थान में जो प्राकृतमान कहा गया है वह पर, अन्य अपर। विपाक, वीर्य और रसों में जिनके लिए जो उपयोगी हो उन के लिए वह पर, अन्य अपर। मूल के 'वीर्य-रसादिषु' इस पद में आदिशब्द से प्रकृति, बल आदि का ग्रहण करना चाहिए[1]।

१—वैशेषिकवाले 'वह विप्रकृष्ट-दूर है', 'यह सन्निकृष्ट-समीप है' ऐसा प्रयोग जिन गुणों के कारण होता है उनको क्रमशः परत्व और अपरत्व कहते हैं। उन के मत में दैशिक और कालिक दो प्रकार का परत्व और अपरत्व होता है। जिसका देश अर्थात् स्थान से संबन्ध हो उसको दैशिक कहते हैं। यहाँ पर का अर्थ दूरदेशीय और अपर का अर्थ निकटदेशीय होता है। जिसका काल अर्थात् समय से संबन्ध हो उसको कालिक कहते हैं। यहाँ पर का अर्थ दूरकालीन और अपर का अर्थ समीप कालीन होता है। आयुर्वेदाचार्योंने सन्निकृष्ट याने उपयो—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. **युक्ति-योजना**—दोष, देश, प्रकृति, काल आदि को देखकर की हुई औषध की सम्यक् योजना-कल्पना को **युक्ति** कहते हैं। यदि वह कल्पना अयौगिकी (अयुक्त) हो तो कल्पना होनेपर भी युक्ति नहीं कहलाती।

४. **संख्या**—गणना व्यवहार के हेतु एक-दो-तीन आदि को **संख्या** कहते हैं।

५. **संयोग**[1]—दो या अधिक द्रव्यों का साथ योग होना—साथ मिलना **संयोग** कहाता है। यह संयोग द्वन्द्वकर्म (दो के कर्म-चेष्टा) से, सर्वकर्म (अनेकों के कर्म) से, या एक के कर्म से होता है और अनित्य है। लड़ते हुए दो मेढ़ों का संयोग **द्वन्द्वकर्मज**—दो की चेष्टा से होनेवाला संयोग है। एक पात्र में डाले हुए उर्दों का संयोग **सर्वकर्मज** है, क्योंकि इसमें अनेक उर्दों का एकसाथ मिलना होता है[2]। वृक्ष और काक का संयोग **एककर्मज** है, क्योंकि वह अकेले काक की चेष्टा से होता है। विभाग से संयोग का नाश होता है, इसलिए संयोग अनित्य है।

६. **विभाग**[3]—विभक्त होना, संयोगका वियोग होना और विभक्ततया ग्रहण होना इसे **विभाग** कहते हैं। यह भी संयोग की तरह **द्वन्द्वकर्मज, सर्वकर्मज और एककर्मज** इस प्रकार तीन प्रकार का होता है। संयोग से विभाग का नाश होता है, इसलिए विभाग अनित्य है।

←गिता में समीप (प्रधान–उत्कृष्ट) और विप्रकृष्ट याने उपयोगिता में दूर (अप्रधान-निकृष्ट) ऐसा अर्थ लेकर देश, काल, वय, मान, विपाक, वीर्य, रस आदि में परापरत्व का संबन्ध बताया है।

१—संयोग याने दो वस्तुओं का बाह्य संबन्ध। जो पदार्थ पहले संबद्ध नहीं थें उनका समयविशेष में साथ मिल जाना **संयोग** कहलाता है—**"अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।"** वैशेषिकवाले **अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज** ये तीन प्रकार के संयोग मानते हैं। अन्यतरकर्मज (एककर्मज) और उभयकर्मज (द्वन्द्वकर्मज) का उदाहरण मूल में दिया है। हाथ और शाखा के संयोग से शरीर और वृक्ष का जो संयोग होता है उसको **संयोगज संयोग** कहते हैं।

२—उर्द अचेतन द्रव्य होने से उन में कर्म की कल्पना करना ठीक नहीं प्रतीत होता, अतः मेले आदि की भीड़ में परस्पर संलग्न होकर जमे हुए मनुष्यों का उदाहरण देते तो ठीक होता। क्योंकि मनुष्य सचेतन होने से उनका संयोग सर्वकर्मज का ठीक उदाहरण बन सकता है।

३—जिसके द्वारा संयोग का नाश होता है उसे विभाग कहते हैं। जो पदार्थ पहले आपस में संयुक्त थे उनका अलग-अलग हो जाना ही विभाग है। वशेषिक वाले **अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज** ऐसे तीन प्रकार के विभाग मानते हैं। जहाँ एक विभाग हो जाने से दूसरा विभाग भी हो जाता हो उसको **विभागज** विभाग कहते हैं। जैसे किसी शाखा से पत्ता गिरने पर शाखा के साथ वृक्ष से भी पत्ते का विभाग हो जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

७. **पृथक्त्व**—'यह पट घट से पृथक है' इस प्रकार की बुद्धि जिससे उत्पन्न होती है, उसे पृथक्त्व कहते हैं। यह पृथक्त्व तीन प्रकार का होता है: (१) **असंयोग-लक्षण**—जिनका कभी भी संयोग न हो ऐसे मेरु और हिमाचल का पृथक्त्व; (२) **वैलक्षण्यरूप**—विशिष्टलक्षणयुक्त विजातीय द्रव्यों का पृथक्त्व; जैसे-गाय, भैंस, सूअर आदि का; (३) **अनेकतारूप**—सजातीयों का भी एक दूसरे से पृथक्त्व, जैसे—अनेक उर्दो का सजातीय होनेपर भी एक-दूसरे से पृथकत्व होता है।

८. **परिमाण**—माप या तोल से जो मान किया जाता हैं, उस मानव्यवहार का हेतुभूत जो गुण वह **परिमाण** कहलाता है।

९. **संस्कार**—मर्दन, भावना, रन्धन आदि अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा किसी वस्तु में जो गुणान्तर का आधान करना, जैसे—रन्धनक्रिया द्वारा शालि से ओदन (भात)—लावा आदि बनाना, कूटना-पीसना आदि से स्थूल द्रव्य का सूक्ष्म चूर्ण बनाना, इसे **संस्कार**[1] कहते हैं।

१०. **अभ्यास**—जिसे **भावाभ्यसन** (पदार्थों का बारंबार अभ्यास करना—पुनः पुनः सेवन करना), **शीलन** (एक ही पदार्थ का बारंवार अनुशीलन करना) और **सततक्रिया** (एक ही क्रिया बराबर करना) कहा जाता है, वह **अभ्यास** है।

उपसंहार—इस प्रकार ये परादि दस गुण, जिनके यथावत् जाने विना चिकित्साकार्य ठीक नहीं हो सकता है, उनका लक्षण कहा गया है।

एकीयमतेन गुणप्राधान्यनिरूपणम्—

गुणाः प्रधाना इति केचित्।—(र. वै. सू. अ. १, सू. १२१)। गुणाद् रसानामभिभवात् (सु. १२२)।—इदानीं गुणप्रधान्यपक्षः। गुणान् प्रधानान् मन्यन्ते रसेभ्य इति मन्यामहे, रसानामभिभवादिति वचनात्। रसानभिभूय गुणाः स्वं कार्यं निर्वर्तयन्ति। यथा—उष्णोदकं श्लेष्माणं हरति माधुर्यमभिभूय, तथा

१—आयुर्वेदोक्त संस्कार वैशेषिकोक्त संस्कार से भिन्न है। वैशेषिक में संस्कार के तीन भेद बतलाये गये हैं—(१) **भावना**, (२) **वेग** और (३) **स्थितिस्थापक**। पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण या प्रत्यभिज्ञा (पहचान) जिस संस्कार द्वारा होता है, उसको **भावना** कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। मूर्तिमान् द्रव्यों में (पृथिवी जल, अग्नि, वायु तथा मन में) कारण विशेष से जो गतिप्रवाह उत्पन्न होता है उस को **वेग** कहते हैं। जिस गुण के कारण पदार्थों के अवयव स्थानच्युत हो जानेपर पुनः अपने स्वाभाविक स्थान में आ जाते हैं, उसे **स्थितिस्थापक** कहते हैं। जैसे वृक्ष की शाखा को पकड़कर झुका दीजिये, वह नीचे चली जायगी; किन्तु उसे छोड़ दीजिये, वह तुरन्त ही अपने स्थानपर जा पहुँचेगी। एक इस्पात की पट्टी को मोड़ दीजिये, वह टेढ़ी हो जायगी; किन्तु छोड़नेपर पुनः सीधी हो जायगी।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पटोलश्च महत्पञ्चमूलं च तिक्तमौष्ण्याद्वातं जयति। यद् येन अभिभूयते तत्तस्माद-प्रधानं दृष्टम्। यथा—भानोर्नक्षत्रमिति (भा.)। विपाककारणत्वात् (सू. १२३)। × × × गुणा विपाकयोः कारणं ; शीत-स्निग्ध-गुरुपिच्छिला गुरुविपाकस्य, लघु-रूक्ष-विशद-तीक्ष्णा लघुविपाकस्येति। कथमेवं रसेभ्यः प्रधाना ? इति। रसानां कार्यनिवृत्तिः पाकायत्ता, स च पाको गुणायत्त इति। यदपेक्षया-ऽन्यस्य वृत्तिस्तस्मात् तस्य प्राधान्यं दृष्टम्। यथा वायोर्दोष-धातु-मलानाम् (भा.)। बाहुल्यात् (सू. १२४)। × × × रसेभ्यो बहवो गुणाः दृष्टाः- रसाः षड्गुणा[1] दशेति ; अल्पेभ्यो बहवोविशिष्टा इति लोकप्रसिद्धमेककर्मणि (भा.)। बहुधोपयोगात् (सू. १२५)।—किंच, बहुधाऽभ्यङ्ग-परिषेकावगाहरूपेण शीतादय उपयुज्यन्ते, रसास्तु मुखत एवेति गुणाः प्रधानाः, ये बहुधोपयोगं गच्छन्ति ते प्रधाना दृष्टाः। यथा—कल्पवृक्षाः (भा.)। अनेककर्मत्वात् (सू. १२६) अनेकं कर्म धातु-मलानां वर्धनक्षपणादि वर्णयन्ति तन्न युक्तम्, अन्येषां च सामान्यादिति ; तस्मादन्योऽर्थस्य विन्यासः--अनेकेषां कर्म अनेककर्म, तद् येषां तेऽनेककर्माणः, तस्मादनेककर्मत्वात्। रसादिसहितास्तेषां तेषां तत्तत्कर्मणि साहचर्यकरणादनेक-कर्माणि इति (भा.)। महाविषयत्वात् (सू. १२७)। पूर्ववद् रसेषु यथा (भा.) गुणानुगृहीतानां रसानां प्राधान्यात् (सू. १२८)। × × × गुणैः शीतादि-भिरनुगृहीता ये रसास्तेषां प्राधान्यदर्शनाद् रसेभ्यो गुणाः प्रधाना इति विद्मः। कथं—"शैत्यात् स्नेहान्मार्दवाच्च पैच्छिल्यादविभागतः। मधुराणां घृतं श्रेष्ठं विपाके लाघवेन च॥ अविदाहान्मृदुत्वाच्च कषाय-मधुरान्वयात्। अम्लेष्वामलकं श्रेष्ठं विपाके लाघवेन च। नात्युष्णत्वान्मृदुत्वाच्च स्नेहेनानुगमादपि। लवणानां स्मृतं श्रेष्ठमविदाहाच्च सैन्धवम्॥ मृदुत्वाच्च गुरुत्वाच्च वात-पित्तप्रकोपणात्। कटुकानां स्मृताः श्रेष्ठाः पिप्पल्यो गुणसंपदा॥ वृष्यत्वाच्च गुरुत्वाच्च मारुतस्या-प्रकोपणात्। तिक्तानां तु स्मृतं श्रेष्ठं पैच्छिल्येन च कूलकम्[2]॥ वृष्यत्वाद्-बृंहणत्वाच्च हिक्कायां वात-निग्रहात्। कषायाणां स्मृतं श्रेष्ठं विविधैश्च गुणैर्मधु॥" इति (भा.)। उपदेशादपदेशानुमानात् (सू. १२९)।—किं चान्यत् ? उपदेशादिभिस्त्रिभिः पूर्वोक्तैरिति। 'तेषां गुरूष्ण-स्निग्धा वातघ्नाः' इत्यादि-रुपदेशः। अपदेशः—तीक्ष्णोऽयं पुरुषः, मृदुरयं गीत इति। अनुमानं पूर्ववत् (भा.)॥

कई आचार्य कहते हैं कि—रसों से गुण प्रधान हैं। क्योंकि (१) गुणों से रसों का पराभव होता है। गुण रसों का पराभव करके अपना कार्य करते हैं। जैसे—गरम जल मधुर रस का पराभव करके कफ को दूर करता है। पटोल

१— "शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्णा गुणाः कर्मण्याः।" (र. वै. अ. ३, सू. ११०) इत्यस्मिन् सूत्रे कथिता इत्यर्थः।

२—कूलकं पटोलफलम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और बृहत्पञ्चमूल उष्ण होने से तिक्त रस का पराभव करके वात को दूर करते हैं। जिसका दूसरे से पराभव होता हो वह अप्रधान होता है, जैसे सूर्य की अपेक्षा नक्षत्र। (२) विपाक का कारण होने से भी गुण प्रधान हैं। शीत, स्निग्ध, गुरु और पिच्छिल गुण गुरुविपाक और लघु, रूक्ष, विशद और तीक्ष्ण गुण लघुविपाक के कारण हैं। इस प्रकार गुण रसों से भी प्रधान हैं। क्योंकि रसों की कार्य-निष्पत्ति विपाक के अधीन है और विपाक गुण के अधीन है। (३) अधिक होने से भी गुण प्रधान हैं। रस छः हैं, गुण दस[1] हैं। जो ज्यादे होते हैं वे प्रधान होते हैं, यह लोक में भी प्रसिद्ध है। (४) गुणों का अनेक प्रकार से उपयोग होने से भी गुण प्रधान हैं। अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाह इत्यादि अनेक रूप से शीतोष्णादि गुणों का उपयोग होता है; रसों का उपयोग केवल मुखद्वारा ही होता है। जिनका अनेक प्रकार से उपयोग होता है वे प्रधान समझे जाते हैं। (५) गुण रसादि के साथ रहकर अनेक कर्म करते हैं, इसलिये भी गुण प्रधान हैं। (६) गुणों के विषय-आधारभूत द्रव्य अनेक होने से गुण प्रधान हैं। जैसे--अन्य इन्द्रियों की अपेक्षया मन के विषय अधिक होने से मन प्रधान है। (७) गुण से अनुगृहीत रसों का प्राधान्य देखा जाता है। जैसे--घृत के गुणों में लिखा है कि--शैत्य, स्नेह, मार्दव और पैच्छिल्य गुणयुक्त होने से और विपाक में लघु होने से मधुर रसवाले द्रव्यों में घृत श्रेष्ठ है; इत्यादि। (८) गुणों का उपदेश किया जाता है; जैसे--गुरु, उष्ण और स्निग्ध वातघ्न होते हैं; इसलिए गुण प्रधान हैं। (९) उपदेश से--गुणवाचक शब्दों से उपमा दी जाती है; जैसे--यह पुरुष तीक्ष्ण है, यह गीत मृदु है। इस प्रकार गुणों के द्वारा व्यवहार होने से भी गुण प्रधान हैं। (१०) शीतोष्णादि गुण देखकर द्रव्यों के कर्म का अनुमान होता है कि यह शीत होने से पित्तहर है, यह उष्ण होने से वातहर है, इत्यादि। इसलिए भी गुण प्रधान हैं। सुश्रुतने एकीय मत से द्रव्य, रस, वीर्य और विपाक इन चारों के ही प्राधान्य का प्रतिपादन किया है। इस पर चक्रपाणि लिखते हैं कि--"**अथ द्रव्यादिप्राधान्य-विचारे कस्माद्गुणा नोद्भाविता इत्याह--रसेषु तु गुणसंज्ञेति। रसेष्वित्युपलक्षणं, तेन वीर्य-विपाकयोरपि गुणसंज्ञेति बोद्धव्यं; तेन रसादिप्राधान्यव्युत्पादनेनैव गुणविशेषप्राधान्यं लभ्यत इत्यर्थः**"।--द्रव्यादिप्राधान्य के विचार में गुण-प्राधान्य का विचार क्यों नहीं किया गया? इसका उत्तर देते हुए सुश्रुत कहते हैं कि--रसों को (वीर्यों और विपाकों को भी) गुण संज्ञा दी जाती है। इसलिए रसादि के प्राधान्यनिरूपण से गुणों के प्राधान्य का निरूपण भी सिद्ध होता है।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिकमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे गुणविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

१--देखें इसी ग्रंथ में पृ. १२५।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः

गुणविज्ञानीयाध्याये इन्द्रियार्थेषु रसोऽपि सामान्यतया निर्दिष्टः। परमायुर्वेदे रसविषये भूरि ज्ञातव्यतया विस्तरेण रसानां स्वरूपोत्पत्ति-भेद-गुणादीन्निरूपयितुं रसविज्ञानीय आरभ्यते—

अथातो रसविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

गुणविज्ञानीयाध्याय में इन्द्रियों के पाँच विषयों में रसों का भी सामान्यतया निर्देश किया गया है, परन्तु आयुर्वेद में रसों के विषय में बहुत ज्ञातव्य विषय लिखे हैं, अतः रसों का लक्षण, उत्पत्ति, भेद, गुण-कर्म आदि के निरूपण के लिये रसविज्ञानीय अध्याय कहा जाता है।

रसस्य लक्षणमुत्पत्तिक्रमश्च

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥

—च. सु. अ. १

रसलक्षणपूर्वकं रसोत्पत्तिक्रममाह—रसनार्थ इत्यादि। रस्यत आस्वाद्यत इति रसः। रसनार्थ इति जिह्वाग्राह्यः। एतच्च षण्णामपि रसानामनुगतं रूपादिषु च व्यावृत्तत्वात् साधुलक्षणम्। तस्येति रसस्य। द्रव्यमिति आधारकारणम्। द्रव्यशब्दो ह्याधारकारणवाची; यथा—"पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि" (च. सू. अ. ८) इति। क्षिति स्तथेति यथा आप आधारकारणं तथा क्षितिरपि। 'अप्क्षिती' इति वक्तव्ये,'क्षिति-स्तथा' इतिवचनात् क्षितेराधारकारणत्वममुख्यमिति दर्शयति। येनापो हि निसर्गेण रसवत्यः। तथा ह्यात्रेयभद्रकाप्यीये "सौम्याः खल्वापः" (च. सू. अ. २६)। इत्यादिना जल एव रसस्य व्यक्तिरिति दर्शयति। सुश्रुतेऽप्युक्तं—"तस्मादाप्यो रसः" (सु. सू. स्था. अ. ४२) इति। क्षितिस्त्वपामेव रसेन नित्यानुषक्तेन 'रसवती' इत्युच्यते। यतो नित्यः क्षिति-जलसंबन्धः; वचनं हि—"विष्टं ह्यपरं परेण" (न्या. द. ३।१।६०) इति। अस्यार्थः—ख-वाय्वग्नि-जल-क्षितीनामुत्तरोत्तरे भूते पूर्व-पूर्वभूतस्य नित्यमनुप्रवेशः, तत्कृतश्च खादिषु गुणोत्कर्षः। रसस्य किं व्यक्तौ अप्क्षिती कारणं? किंवा विशेषे ? इत्याह—निर्वृत्तावित्यादि। निर्वृत्तौ च अभिव्यक्तौ। एतेन रसोऽभिव्यज्यमानो जल-क्षित्याधार एव व्यज्यत इति दर्शयति। चकाराद्विशेषेऽपि मधुरादिलक्षणे अप्क्षिती प्रत्ययौ। तेन "सोमगुणातिरेकान्मधुरः, पृथिव्यग्निगुणातिरेकादम्लः" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना जल-पृथिव्योरपि विशेषकारणत्वं वक्ष्यमाणमुपपन्नम्। विशेषे च

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रत्ययाः खादय इति मधुरादिविशेषनिर्वृत्तौ निमित्त-कारणं ख-वाय्वनलाः, न त्वाधारकारणभूताः। खादय इत्यनेनैव त्रित्वे लब्धे पुनः 'त्रयः' इति वचनं तेषामेव व्यस्त-समस्तानामपि प्रत्ययत्वदर्शनार्थम्; अत एव व्यस्तसमस्ताकाशादिसंसर्ग-भेदाद्रसानां मधुरतर-मधुरतमाद्यवान्तरभेद उपपन्नः। विशेषे चेति चकारादभिव्यक्तावप्याकाशादीनां निमित्तकारणत्वं दर्शयति। वक्ष्यति हि—"तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गम-स्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, यासु षड्भिर्मूर्च्छन्ति रसाः।" (च. सू. अ. २६) इति। अन्ये तु विशेषे चेति चकारं खादयश्चेत्यत्र योजयन्ति, तेन चकारात् कालोऽपि विशेषेऽभिव्यक्तौ च कारणं लभ्यते। साक्षात् कालस्यावचनेन खादिभ्योऽप्यपकृष्टं कालस्य कारणत्वं दर्शयते। किंवा रसस्यापो द्रव्यं क्षितिस्तथेति पूर्ववदेव; निर्वृत्तौ चेति क्षितिरेव निर्वृत्तावभिव्यक्तौ प्रत्ययो नापः; यत आपो ह्यव्यक्तरसा एव, क्षितिसंबन्धादेव च रसोऽभिव्यक्त उपलभ्यते। उक्तं च—"जङ्गम-स्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति यासु षडभिर्मूर्च्छन्ति रसाः।" (च. सू. अ २६) इति। तेन पार्थिवद्रव्यसंबन्धादेवापां रसो व्यज्यते नान्यथा। विशेषे चेति चकारादपेक्षती विशेषे कारणे। यद्यपि चापेक्षती विशेषे कारणे, तथाऽपि 'सोमगुणातिरेकान्मधुरः"—(सू. अ २६) इत्यादौ तु खादय एव तथा सन्निविशन्ति यथा सोमोऽतिरिक्तो भवति, तेन तत्राप्यूनत्वेन सन्निविष्टाः खादय एव विशेषहेतव इति। यद्यपि चाभिव्यक्तिर्मधुरादिविशेषरहिता क्वचिद्भवति, तथाऽपि सामान्येन सर्वत्र यदभिव्यक्तयेऽनुगतं कारणमुपलभ्यते क्षितिरूपं जलक्षितिरूपं वा तदभिव्यक्तिकारणं; यदनुगमात्तु मधुरादिविशेषोपलब्धिस्तद्विशेषकारणमुच्यते (च. द.) द्रव्यस्य पाञ्चभौतिकत्वात् तदाश्रितरसोऽपि पाञ्चभौतिकः। वचनं च—"षट् पञ्चभूतप्रभवाः" (च. सू. अ. २६) इति। रसस्य पाञ्चभौतिकत्वं दर्शयति—तस्येत्यादि। तस्य द्रव्यमापस्तथा क्षितिः, रसस्य अप्क्षित्योर्गुणत्वात्। तथा च—"तेषामेकगुणं पूर्वं गुणवृद्धिः परे परे। पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥" (च. शा. अ. १) इति। रसोऽपां नैसर्गिकः, क्षितेस्तु अबनुप्रवेशकृतः। तेन रसस्य योनिरापः, क्षितिश्चाधारः; तस्य निर्वृत्तौ निष्पत्तौ विशेषे मधुरादिभेदे च खादयः खं वायुरग्निश्च एते त्रयः प्रत्ययाः कारणानि। गगन-पवन-दहनसमवायात् निर्वृत्तिविशेषो भवतः। अनेन खादीनां त्रयाणां रसं प्रति कारणत्वमुपदर्शितं भवति, अपां क्षितेश्च तदनिर्बाधमेव। एवं पञ्चानां महाभूतानां रसं प्रति कारणतया वर्तमानत्वाद्रसस्य पाञ्चभौतिकत्वमुपपद्यते (यो.)। तत्र यावद्रसस्वरूपं न ज्ञायते तावत्तद्विशेषधर्माः कथं ज्ञेया इति लक्षणतः, कारणतः, संख्यातश्च रसोऽभिनिरूप्यते। तत्र रससामान्यलक्षणं यदाह चरकः—"रसनार्थो रसः" इति (च. सू. स्था. अ. १)। रसेन्द्रियग्राह्यो योऽर्थः स रस इति लक्षणार्थः। "एतच्च षण्णामपि रसानामनुगतं, रूपादिषु च व्यावृत्तत्वात् साधु लक्षणम्।" इति चक्रः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अस्मत्पितृचरणास्तु "यथाश्रुतमेतल्लक्षणं रसत्वे रसाभावे चातिव्यापकं तयोरपि रसनेन्द्रियग्राह्यत्वात्; तथाऽतीन्द्रियरसे चाव्यापकं, तस्मात् "रसनेन्द्रियग्राह्य-वृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत्वं रसत्वम्। इति लक्षणं बोध्यम्" इत्याहुः। ननु, "आप्यो रसः" इति (सु. सू. स्था. अ. ४१) सुश्रुतेनोक्तं, तत्र विप्रतिपद्यामहे--यद्याप्यो रसस्तर्हि कथं पार्थिवद्रव्येषु रसोपलम्भ इति प्रथमा विप्रतिपत्तिः, द्वितीया तु यद्याप्य एव रसस्तर्हि अपामव्यक्तरसत्वेन मधुरादिविशेषोत्पादो नोपपद्यत इति; अथ 'पाञ्चभौतिकत्वमेव रसस्य' इति मन्यसे; तदपि नोपपद्यते, तेजो-वाय्वाकाशानां नीरसत्वाद् रसं प्रति कारणत्वानुपपत्तेः। अत्राहुः--यद्यप्याप्य एव रसस्तथाऽप्युत्तरोत्तरभूतेषु पूर्वपूर्वभूतगुणानुप्रवेशाद्रसवत्त्वं पृथिव्यामप्युप-यद्यते। अत एवोक्तं--"विष्टं ह्यपरं परेण।" (न्या. द. अ. ३, आ. १, सू. ६६) इति। अस्यार्थः--अपरं पूर्वं भूतं परेण भूतेनानुप्रविष्टम्। तेन शब्दगुणस्या काशस्य वायावनुप्रवेशाद्वायोरपि शब्दत्वं, स्पर्शगुणत्वं च स्वत एव; एवं वायोस्तेज-स्यानुप्रवेशात्तेजः शब्दःस्पर्श-रूप-गुणं; तेजसोऽपि जलेऽनुप्रवेशाज्जलं शब्द-स्पर्श-रूप-रसगुणम्; एवं जलस्य च पृथिव्यामनुप्रवेशात् पृथिवी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धगुणेति ज्ञेयम्। न चैवं सर्व एव गुणाः सर्वेषामेव प्रसज्येरन्, तत् कथ-माप्यो रस इति वाच्यं; तेषु तेषु भूतेषु तत्तद्गुणानुप्रवेशेऽप्युत्कर्षाभिप्रायेणाप्य-त्वादिव्यपदेशात्। यत आकाशाधिके द्रव्ये शब्दोऽधिकः, तथा वाताधिके द्रव्ये स्पर्शोऽधिकः, तथा तेजोऽधिके रूपमधिकं, जलाधिके च रसोऽधिकः, पृथिव्यधिके च गन्धोऽधिकः; इति शब्दादीनामाकाशीयत्वादिव्यपदेश इत्यर्थः। तथा, अपा-मव्यक्तरसत्वेऽपि भूतान्तरसंबन्धान्मधुरत्वादिवैजात्यमुपपद्यते। उक्तं च सुश्रुते-- "स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षड्विधो भवति" (सु. सू. स्था. अ. ४२) इति। अस्यार्थः--स आप्यो रसो जलादन्यानि भूतानि शेषभूतानि, तेषां संसर्गा-द्विदग्धः परिणतः कालसहायभूमिवियदनिलानलसंसर्गेण परिणामान्तरं गतः षट्-प्रकारो भवति। "तत्र पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः, पृथिव्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुण-बाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषायः"--(सु. सू. स्था. अ. ४२) इति। ननु, यदि तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लता तर्हि उष्णजलस्याप्यम्लता कुतो न स्यात्? नैष दोषः, नहि भूतसंसर्गमात्रादेव रसविशेषो निष्पद्यते, किं तर्हि विशिष्टं परिणतिमपेक्षते; तद्यथा—पार्थिवस्यापि लोष्ट्रस्याग्नितप्तस्य पृथिव्यग्निगुण-बाहुल्येऽपि न लवणता भवति, लवणत्वसाधनविशिष्टविदाहसंभवादिति। एत-मेवार्थं श्लोकेन कश्चिदाह--"तोयाग्निगुणबाहुल्येऽप्यम्लत्वं नोष्णवारिणः। नैक-स्माद्भूतसंयोगाद्विदाहाच्च रसा यतः॥" इति। ननु, यदि शेषभूतयोगान्मधुरादि-षड्विधत्वं तत् कथं पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यं मधुरेऽभिधाय मधुरेऽपि विशेषेऽपां पृथिव्यामनुप्रवेशात् पृथिव्यपि आधारकारणमेव; तेन जल-क्षिती अपि तदा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

धारतया रसानामभिव्यक्तौ अभिव्यक्तेश्च मधुरादिरूपतामन्तरेणासंभवान्मधुरादि-विशेषेऽपि कारणे भवतः । अग्न्यादयस्तु त्रयो नीरसतया मधुरादिविशेषे निमित्तकारणं प्राधान्येन भवन्ति, तद्व्यतिरेकेणाम्लादिरसाभावात्; रसाभिव्यक्तेश्चाग्न्यादिभूतत्रयसन्निधानं विनाऽनुपलब्धेरभिव्यक्तावपि कारणत्वमग्न्यादीनां भवति। तदुक्तं चरके--"रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥" (च. सू. स्था. अ. १) इति । अत्र हि चकारद्वयाज्जल-क्षित्योरपि विशेषे कारणत्वं,तथा खादीनां च निर्वृत्तावपि कारणत्वमुक्तं; तेन मधुरे विशेषेऽप्यपां कारणत्वात् सुष्ठूक्तं--'पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः' इति, एवं 'तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः' इत्यपि समाधेयम् । न च यथा भूमि-तोयाधिक्यान्मधुरः, एवं तोय-वाय्वाधिक्याद् भूम्याकाशाधिक्याद्वा रसान्तरोत्पत्तिः कुतो न स्यादिति वाच्यं, स्वभावस्यापर्युनुयोज्यत्वात्; यतः पृथिव्यादिभूतानामेवायं स्वभावः--यत्--केनचिदेव भूताधिक्येन व्यवस्थिता रसविशेषोत्पादकाः, न पुनर्यत्किंचिद्भूताधिक्येनेति । अत एव तोयाग्न्योः परस्परविरोधात् कथमेककार्यारम्भकत्वमित्यप्यपास्तमुक्तयुक्तेरेव । ननु च, रसानां षड्विधत्वमनुपपन्नम्, अन्तरिक्षजलादावव्यक्तस्य सप्तमरसस्यापि विद्यमानत्वात्। नैवं, मधुरादीनामेव षण्णां तत्रान्तरिक्षजलादावव्यक्तीभावेन तस्याव्यक्तरसस्य मधुरादिभ्योऽभिन्नत्वात् । नच क्षारस्यापि रसत्वात् सप्तमत्वापत्तिरिति वाच्यं, तस्य क्रिया-गुणयोगेन द्रव्यत्वात् ; तदुक्तं चरके--"क्षरणात् क्षारो नासौ रसः" (च. सू. स्था. अ. २६) इत्यादि । तत्सहचरितस्य लवण एवान्तर्भावः, लवणवर्गपाठात् (शि.) ॥

रसनेन्द्रिय से (जिह्वा से) जिस विषय (गुण) का ग्रहण होता है, उस को रस कहते हैं । जल और पृथ्वी उस के आधारकारण हैं । रस की उत्पत्ति और उस के मधुरादि भेदों में आकाश, वायु और तेज ये तीन निमित्त कारण हैं (इस प्रकार रस पाञ्चभौतिक है) ।

वक्तव्य—'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'--जिसका जिह्वेन्द्रियद्वारा आस्वादन (स्वाद ग्रहण करना) होता है, उस को रस कहते हैं । 'अप्क्षिती' ऐसा द्विवचन-का प्रयोग न करके 'आपः क्षितिस्तथा' ऐसा अलग लिखकर बताया है कि—जल नैसर्गिकरीत्या रसवाला होने से वही रस का मुख्य आधारकारण (उत्पत्ति-कारण) है और पृथिवी जल के अनुप्रवेश से रसवती होने से गौण आधारकारण है । रस की अभिव्यक्ति में जल और पृथिवी आधारकारण हैं यह कहने से यह बताया है कि--अभिव्यक्त होता हुआ रस जल और पृथ्वी में ही अभिव्यक्त होता है । 'निर्वृत्तौ च' इस वाक्य में 'च' से मधुरादि विशेष में भी जल और पृथिवी निमित्त कारण हैं, जैसा कि आगे कहा गया है कि सोम (जल और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पृथिवी) की अधिकता से मधुर रस होता है। 'विशेषे च' यहाँ 'च' कार से 'अभिव्यक्ति में भी आकाश, वायु और अग्नि कारण है' यह बताया गया है; जैसा कि आगे सूत्रस्थान के २६ वें अध्याय में कहा गया है कि--"वह जल अन्तरिक्ष से गिरता हुआ और गिरकर पञ्चमहाभूतों के गुणों से समन्वित होकर जङ्गम और स्थावर सब मूर्त द्रव्यों का पोषण करता है, जिनके अन्दर छः रस बनते हैं।"

वक्तव्य—रसनेन्द्रिय-ग्राह्य गुण (रसनेन्द्रिय से ग्रहण होनेवाले विषय) को रस कहते हैं। रस के ग्रहण (ज्ञान होने) में बोधक कफ भी सहायक होता है। जब तक रसवाले द्रव्यों के सूक्ष्म अंश बोधक कफ में विलीन नहीं होते तब तक रसनेन्द्रिय से रस का ज्ञान नहीं होता। मन का रसग्रहण रूप विषयाभिमुख (विषय में प्रवृत्त) होना, रसनेन्द्रिय का स्वस्थ होना, रसवाले द्रव्यों की यथोचित मात्रा होना और रसवाले द्रव्यांश का बोधक कफ में विलीन होना--इतनी सामग्री एकत्र होने पर ही रस का ज्ञान होता है। यदि मन अन्य विषय में प्रवृत्त हो, रसनेन्द्रिय अस्वस्थ हो, रसवाले द्रव्य की मात्रा कम हो या बोधक कफ का स्राव न हो (मुंह बिल्कुल सूखा हो) तो शर्करागत मधुर रस का या सैंधवगत लवण रस का ज्ञान नहीं होता।

रस जल महाभूत का प्रधान गुण है। जल महाभूत का रस अव्यक्त होता है; पृथिवी महाभूत के सम्बन्ध से जल में मधुरादि रसों की अभिव्यक्ति होती है। जल और पृथिवी ये दो महाभूत रस के आधाररूप हैं। रस के मधुरादि भेद होने में पृथिवी और जल के अतिरिक्त अग्नि, वायु और आकाश भी कारण होते हैं।

रससंख्या--

रसास्तावत् षट्--मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाः ॥

—च. वि. अ. १

स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः ॥

—च. सू. अ. १

रसविशेषानाह--स्वादुरित्यादि। अत्र सर्वप्राणिनामिष्टत्वादादौ मधुर उक्तः; तदनु च प्राण्यभीष्टोत्कर्षक्रमेणाम्लादिनिर्देशक्रमो बोद्धव्यः। षट्क इति पुनः संख्याकरणं परवादिमतसप्तसंख्यत्वादिनिषेधार्थम्। अयं संग्रह इत्यनेनावान्तरभेदबहुत्वं, तथा वक्ष्यमाणरससंसर्गबहुत्वं च दर्शयति (च. द.) ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसाः स्वाद्वम्ल-लवण-तिक्तोषण-कषायकाः ।
षट् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥

—अ. सं सू. अ. १; अ. हृ. सू. अ. १

वातादीनामाध्यात्मिकानां बाह्येन द्रव्येण सादृश्यम् । द्रव्यं च महाभूतकार्यं रस-वीर्य-विपाक-प्रभावैः कार्यकरम् । स्वाद्वादयः षड्रसाः । रसनेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रसाः । द्रव्यं निर्विशेषं पञ्चभूतात्मकं मूर्तमाश्रिताः । तेषां (रसानां) च यो यस्मात् पूर्वः स तस्माद्देहिनो बलावहः स्वभावविशेषात् (इ.) । यथापूर्वं बलावहा इति यो यः पूर्वो यथापूर्वं, बलावहा बलप्रापकाः । बलमावहन्ति प्रापयन्तीति यावत् । तस्मात् सर्वेभ्यो रसेभ्यो मधुरो रसः प्रकर्षेण देहिनां बलकरः, कषायस्तु सर्वेभ्यो जघन्य-बलावहः । तत्र स्वादुर्मधुरो घृत-गुडादिः, अम्लोऽम्लिका-मातुलुङ्गादिः, लवणः सैन्धवादिः, तिक्तो भूनिम्बादिः, ऊषणः कटुको मरीचादिः, कषायो हरीतक्यादिः । स्वादुर्मधुरपर्यायः । ऊषणः कटुकपर्यायः । यथा—त्र्यूषणं त्रिकटुकमुच्यते । कषाय एव कषायकः, यथा कटुरेव कटुकः । षडिति षडेव, न न्यूना अधिका वा । ते रसा गुणाः स्वाद्वादिभेदतस्तथा संसर्गतस्तथाऽनुरसतस्तारतम्यपरिकल्पनावश-तोऽपि भिद्यमानरूपा अपि षट्त्वं नातिवर्तन्ते (अ. द.) । अथ साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञानार्थं द्रव्यधर्मानाह । ते च रस-प्रभाव-वीर्य-विपाक-गुणभेदात् पञ्च । तत्र रसनाग्राह्यो गुणो रसः, कायाग्निपाकजो विशिष्टो रसो विपाकः, तथैवोत्पन्नो गुणो वीर्यं, द्रव्यस्यात्मा प्रभावः । तत्र रसभेदानाह—रसा इति । ते च स्वाद्वादयः षट् । ते च द्रव्यमाश्रिताः, द्रव्यधर्मा इत्यर्थः । क्षारस्य द्रव्यविशेषवाचित्वाद्रस-विशेषवाचित्वेऽपि लवणविशेषवाचित्वान्न सप्तमरसत्वम् । बलावहाख्यं रसकर्माह—ते चेति । ते च रसा यथापूर्वं बलावहाः । यो यस्मात् पूर्वः स तस्मादधिकं बल-मावहति । कषायो बल्यः, तत ऊषणः, ततस्तिक्त इत्यादि (हे.) ॥

मधुर-स्वादु (मीठा), अम्ल, (खट्टा), लवण-पटु (नमकीन), कटु-ऊषण (चरपरा-कडुआ-तीखा), तिक्त (तीता), और कषाय (कसैला), ये छः रस है । ये रस द्रव्य को आश्रय करके रहते हैं[1] । इनमें अन्त से पूर्व-पूर्व रस उत्तर-उत्तर

१—रस के विषय में सुश्रुत की व्याख्या में डॉ. भा. गो. घाणेकरजी लिखते हैं कि—"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः । रसनार्थो रसः" (चरक) । ओषधियों का जिह्वाग्राह्य अर्थ । इसी अर्थ के अनुसार समस्त ओषधियाँ मधुरादि छः रसों में विभक्त की गई हैं । यद्यपि 'रसनाग्राह्य' ऐसी रस की व्याख्या की गई है, तथापि ओषधियों के रसों का ग्रहण जिह्वा के अतिरिक्त अन्य अङ्गों से भी होता है; फर्क इतना-ही है कि जिह्वापर रस की संवेदना अन्य अङ्गों की अपेक्षया अधिक और विशेषरूप से प्रतीत होती है। जैसे कटु या कषाय रस का ज्ञान जैसे जिह्वापर होता है वैसे ही गले में भी होता है, आमाशय में होता है, त्वचापर होता है । शरीर→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रस की अपेक्षया अधिक बल देनेवाला है ; जैसे--कषाय से कटु, कटु से तिक्त, तिक्त से लवण, लवण से अम्ल और अम्ल से मधुर विशेष बल देनेवाले हैं[१]।

षडेव रसा इति सिद्धान्तप्रतिपादनम्--

एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः–यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः, स पुनरुदकादनन्य इति। द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः--छेदनीयः, उपशमनीयश्चेति। त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यः--छेदनीयोपशमनीय-साधारणा इति। चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः–स्वादुर्हितश्च, स्वादुरहितश्च, अस्वादुर्हितश्च, अस्वादुरहितश्चेति। पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः–भौमौदकाग्नेय-वायव्यान्तरिक्षाः। षड्रसा इति वायोर्विदो राजर्षिः-गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाः। सप्त रसा इति निमिर्वैदेहः--मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षाराः। अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवः--मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षारा-व्यक्ताः। अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्

←–में रस का कार्य निपातस्थान के साथ सम्बन्ध होते ही होता है, उसमें रूपान्तर की आवश्यकता नहीं होती--**रसो निपाते द्रव्याणां** (चरक), **रसं विद्यान्निपातेन** (अष्टाङ्गसंग्रह)। रस का यह कार्य बहुधा निपातस्थान के ऊपर प्रत्यक्षतया हुआ करता है और उसी स्थानपर मर्यादित रहता है। यथा फिटकिरी जैसी कषाय रसयुक्त ओषधि का त्वचापर प्रयोग करने से स्थानिक लसिकास्राव तथा रक्त-स्राव बंद होता है, आँखों में करने से पानी का स्राव बंद होता है और मुखद्वारा सेवन करनेपर आमाशय तथा अन्त्र का स्राव (अतिसार) कम होता है। कभी-कभी रस स्थानिक वातनाड़ियों के अग्रों (Nerve terminals) द्वारा प्रत्यावर्तन (Reflex action) से भी कार्य करता है। **'अम्लः क्षालयते मुखं' "लवणः स्यन्दयत्यास्यं" "कटुः स्रावयत्यक्षिनासास्यं"** ; ये सब उदाहरण प्रत्यावर्तन के हैं। पाश्चात्य वैद्यक में आयुर्वेद की भांति यद्यपि रस की कल्पना नहीं है तो भी सुविधा के लिये तिक्त (Bitter) कषाय (Astringent) और अम्ल (Acids) ऐसे रसों के अनुसार ओषधियों के कुछ वर्ग किये गये हैं। पाश्चात्य वैद्यक में रस के लिये कोई ठीक पर्याय नहीं दिखाई देता जो रस के पूरे अर्थ को बतला सके, क्योंकि रुचि (taste) के अतिरिक्त रस में आधुनिक परिभाषा के अनुसार ओषधियों की स्थानिक, प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक क्रिया (Local, direct and primary action of drugs) भी अन्तर्भूत होती है (सू. स्था. पृ. २१९)।

१--चरक में रसों का क्रम 'कटु-तिक्त-कषाय'–ऐसा है, जो ऊपर दिया है।। इन रसों के बलों का तारतम्य वाग्भट के अनुसार दिया है। बल-निर्देश में वाग्भट ने 'तिक्त-कटु-कषाय' यह क्रम रखा है। अतः हम ने भी अर्थ में क्रम बदल दिया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात् । षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाः । तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिः, हिताहितौ प्रभावौ, पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृति-विकृति-विचार-देश-काल-वशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाद्याः ; क्षरणात् क्षारः, नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम् ; अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये ; अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्न युक्तम्, एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषापरिसंख्येयत्वात्, न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते ; परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वान्न चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति । तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः । तच्चैव कारणमपेक्षमाणाःषण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणपृथक्त्वमुपदेक्ष्यामः।।

--च. सू. अ. २६

एक एवेत्यादि । इन्द्रियार्थानामिति निर्धारणे षष्ठी । अन्यतममिति एकम् । अन्यशब्दो ह्ययमेकवचनः, यथा--अन्यो दक्षिणेन गतोऽन्य उत्तरेण, एक इत्यर्थः ; तमप्रत्ययश्च स्वार्थिकः । जिह्वाविषयिकमिति जिह्वाग्राह्यम् । रसाभावोऽपि जिह्वया गृह्यतेऽत आह--भावमिति । उदकादनन्य इति रसोदकयोरेकत्वख्यापनार्थं पूर्वपक्षत्वाददुष्टम् । पूर्वपक्षश्च कपिलमतेन ते हि रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमित्यादिवचनेन गुणाव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति ब्रुवते । छेदनीय इति अपतर्पणकारकः । उपशमनीय इति बृंहणः । साधारण इति आग्नेय-सौम्यसामान्यादुभयोरपि लङ्घन-बृहणयोः कर्ता, परस्परविरोधादकर्त्ता वा । स्वादुरिति अभीष्टः, हित इति आयतावनपकारी । आश्रीयत इत्याश्रयो द्रव्यं, गुणाः स्निग्ध-गुर्वादयः, कर्म धातुवर्धन-क्षपणादि, संस्वादो रसानामवान्तरभेदः, एषां विशेषाणां भेदानामित्यर्थः । तत्र द्रव्यभेदादाधारभेदेनाश्रितस्यापि रसस्य भेदो भवति, आश्रयो हि कारणं, कारणभेदाच्च कार्यभेदोऽवश्यं भवतीत्यर्थः । गुर्वादिगुणभेदास्तथा कर्मभेदाश्च रसकृता एव । ततश्च कार्यभेदादवश्यं कारणभेद इति पूर्वपक्षाभिप्रायः । संस्वादभेदस्तु एकस्यापि मधुरजातावि क्षु-क्षीर-गुडादिगतः प्रत्यक्षमेव भेदो दृश्यते, स तु संस्वादभेदः स्वसंवेद्य एव; यदुक्तं--"इक्षु-क्षीर-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुडादिनां माधुर्यस्यान्तरं महत्। भेदस्तथाऽपि नाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥" इति। सिद्धान्तं पुनर्वसुवचनेनाह—षडेवेत्यादि। पूर्वपक्षोक्तरसैकत्वादि-व्यवस्थामाह—तेषां षण्णामित्यादि। योनिः आधारकारणं, कार्यकारणयोश्च भेदात् सिद्ध उदकाद्रसभेदः प्रत्यक्ष एवेति भावः। क्षितिव्यतिरिक्तमुदकमेव यथा रसयोनिस्तथा "रसनार्थो रसस्तस्य" (च. सू. अ. १) इत्यादौ विवृत्तमेव दीर्घञ्जीवितीये। तयोर्मिश्रीभावादिति कर्मणोरमूर्तयोर्मिश्रीभावानुपपत्तौ तदा-धारयोर्द्रव्ययोर्मिश्रीभावाविति बोद्धव्यम्। साधारणमिति साधारणकार्य-योगित्वम्[1]। भवितः इच्छेत्यर्थः। तेन यो यमिच्छति स तस्य स्वादुः, अस्वादु-रितरः, इति पुरुषापेक्षो धर्मो; न रसभेदकार्यावित्यर्थः; पञ्चमहाभूतेत्यादौ 'तु' शब्दोऽवधारणे; तेन आश्रया एव, न रसा इत्यर्थः। किंभूता भौमादयो भूतविकारा आश्रया इत्याह—प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशा इति; 'वश' शब्दोऽधीनार्थः, स च प्रकृत्यादिभिः प्रत्येकं योज्यः। तत्र प्रकृतिवशा यथा—मुद्गाः कषाया मधुराश्च सन्तः प्रकृत्या लघवः; एतद्धि लाघवं न रसवशं, तथाहि सति कषाय-मधुरत्वाद्गुरुत्वं स्यात्[2]। विकृतिवशं च व्रीहेर्लाजानां लघुत्वं, तथा सक्तु-सिद्धपिण्डकानां च गुरुत्वम्। विचारणा विचारो द्रव्यान्तरसंयोग इत्यर्थः, तेन विचारणावशं यथा—मधुसर्पिषी संयुक्ते विषं, तथा विषं चागदसंयुक्तं स्वकार्य-व्यतिरिक्तकार्यकारि[3]। देशो द्विविधो भूमिः, आतुरश्च; तत्र भूमौ 'श्वेत-कापोती वल्मीकाधिरूढा विषहरी', तथा 'हिमवति भेषजानि महागुणानि भवन्ति।' इत्यादि। शरीरदेशे यथा—"सक्थिमांसाद्गुरुतरं स्कन्ध-क्रोड-शिरस्पदम्।" (च. सू. अ. २७) इत्यादि। कालवशं तु यथा मूलकमधिकृत्योक्तं—"तद्बालं दोषहरं, वृद्धं त्रिदोषम्" (च. सू. अ. २७), तथा "यथर्तुपुष्पफलमाददीत" (च. वि. अ. १) इत्यादि। अत्र चैकप्रकरणोक्ता येऽनुक्तास्ते चकारात् स्वाभावादिष्वेवान्त-र्भावनीयाः। यदुक्तं—"चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रियाः। लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते ॥" (सू. अ. २७) इति। तत्र, चर-शरीरावयव-धातूनां देशेन ग्रहणं, मात्रा विचारे प्रविशति, शेषं स्वभावे; तथा रसविमाने वक्ष्यमाणं चात्राप्रविष्टमाहारविधिविशेषायतनमन्तर्भावनीयं यथा-

---

१—'साधारणकर्मयोगित्वं' इति पाठान्तरम्।

२—"एतद्धि लाघवं स्वाभाविकमेव, न तु रसवशं, तथा सति कषायमधुर-त्वाद्गुरुत्वं स्यात्, वक्ष्यते च— 'स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः।' इति शिवदाससेनः।

३—"विचारणा विचारो द्रव्यान्तरसंयोग इत्यर्थः, तद्वशं यथा—उष्णवीर्य-स्यापि तैलस्य चन्दनोशीरादिशीतवीर्यद्रव्यसंस्काराच्छैत्यं, तथा शीतवीर्यस्यापि घृतस्य तत्तद्द्रव्यसंयोगादुष्णता, तथा मांसरससिद्धस्य रक्तशालेर्गुरुत्वमित्यादि।" इति शिवदाससेनः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संभवम । स्निग्ध-रूक्षाद्या इत्यत्रादिग्रहणेनानुक्ता अपि तीक्ष्ण-मृद्वादयो न रसाः, किंतु द्रव्यगुणाः पृथगेवेति दर्शयति । क्षरणादधोगमनक्रियायोगात् क्षारो द्रव्यं, नासौ रसः, रसस्य हि निष्क्रियस्य क्रियाऽनुपपन्नेत्यर्थः । क्षरणं च क्षारस्य पानीय-युक्तस्याधोगमनेन, वदन्ति हि लौकिकाः—'क्षारं स्रावयामः' इति; शास्त्रं च च—"छित्वा छित्वाऽऽशयात् क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्यधः ।" (च. चि. अ. ५) इति । हेत्वन्तरमाह—द्रव्यं तदनेकरसोत्पन्नमिति; अनेकरसेभ्यो मुष्कका-पामार्गादिभ्य उत्पन्नमनेकरसोत्पन्नं; यतश्चानेकरसोत्पन्नमतएवानेकरसं, कारण-गुणानुविधायित्वात् कार्यगुणस्येति भावः । अनेकरसत्वमेवाह—कटुक-लवण-भूयिष्ठमिति । भूयिष्ठशब्देनाप्रधानरसान्तरसंबन्धोऽस्तीति दर्शयति । हेत्वन्तर-माह—अनेकेन्द्रियार्थसमन्वितमिति; क्षारो हि स्पर्शेन गन्धेन चान्वितः, तेन द्रव्यं; रसे हि गुणे न स्पर्शो नापि गन्ध इति भावः । हेत्वन्तरमाह—करणा-दिभिर्निर्वृत्तमिति; करणेन भस्मपरिस्रावणादिनाऽभिनिर्वृत्तं कृतमित्यर्थः, न रसोऽनेन प्रकारेण क्रियत इति भावः । अव्यक्तरसपक्षं निषेधयति—अव्यक्तीभाव इत्यादि । अव्यक्तीभाव इति अभूततद्भावे च्विप्रत्ययेन रसानां व्यक्तानामेव क्वचिदाधारे, व्यक्तत्वं, नान्यो मधुरादिभ्योऽव्यक्तरस इत्यर्थः । रसानामिति मधुरादीनां षण्णाम् । प्रकृतावित्यादि प्रकृतौ कारणे जले इत्यर्थः । अव्यक्तत्वं च रससामान्यमात्रोप-लब्धिर्मधुरादिविशेषशून्या, सा च जले भवति, यत उक्तं जलगुणकथने सुश्रुते—"व्यक्तरसता रसदोषः" (सु. सू. अ. ४५) इति, इहापि च अव्यक्तरसं च' इति वक्ष्यति, लोकेऽपि चाव्यक्तरसं द्रव्यमास्वाद्य वक्तारो वदन्ति—'जलस्येवास्य रसो न कश्चिन्मधुरादियुक्तः'[1] इति । विशेषमधुराद्यनुपलब्धिश्चानुद्भूतत्वेन । यथा—दूरादविज्ञायमानविशेषवर्णे वस्तुनि रूपसामान्यप्रतीतिर्भवति, नशुक्लत्वादि-विशेषबुद्धिः, तथाऽनुरसेऽव्यक्तीभावो भवति; प्रधानं व्यक्तं रसमनुगतोऽव्यक्त-त्वेनेत्यनुरसः, यथा—वेणुयवे मधुरे कषायोऽनुरसः । यदुक्तं—"रूक्षः कषाया-नुरसो मधुरः कफपित्तहा ।" (च. सू. अ. २७) इति । अनुरससमन्वित इति सर्वानुरसयुक्ते, यथा विषे ; वचनं हि—"उष्णमनिर्देश्यरसं" (च. चि. अ. २३) इत्यादि । किंवा, 'अणुरसमन्विते' इति पाठः ; तेन अणुरसेनैकेन मरिचेन शर्करा-पले[2] कटुत्वमव्यक्तं स्यात् । अपरिसंख्येयपक्षं[3] दूषयति—अपरीत्यादि । तेषा-

---

१—'मधुरादिर्व्यक्तः' इति पाठान्तरम् ।

२—'शर्करापानके' इति पा० ।

३—"अपरिसंख्येयपक्षं दूषयति—अपरिसंख्येयत्वमित्यादि । आदिशब्देन गुण-कर्म-संस्वादानां ग्रहणम्, आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां ये विशेषा भेदा-स्तेषामपरिसंख्येयत्वात्तेषां रसानामपरिसंख्येयत्वं यदुच्यते तत्र हेतुमाह—एकैकोऽपीत्यादि । एषामाश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां विशेषानेकैकोऽपि मधुरादि-—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मिति रसानाम्, अपरिसंख्येयत्वं न युक्तम् ; आश्रयादीनां भावानामिति आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां ; विशेषापरिसंख्येयत्वादिति आश्रयादिभेदस्यापरिसंख्येयत्वात् । अत्र हेतुमाह—एकैकोऽपि हीत्यादि । एषामाश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां विशेषाणामेकैकोऽपि मधुरादिराश्रयणे, न च तस्मादाश्रयादिभेदादन्यत्वमाश्रितस्य मधुरादेर्भवति । एवं मन्यते—यद्यपि शालि-मुद्ग-घृत-क्षीरादयो मधुरस्याश्रया भिन्नाः, तथाऽपि तत्र मधुरत्वजात्याक्रान्त एक एव रसो भवति, बलाका-क्षीर-कार्पासादिषु शुक्लवर्ण इव । तथा गुणानां गुरु-पिच्छिल्ल स्निग्धादीनामन्यत्वेऽपि कर्मणां वा रसादिवर्धनायुर्जनन-वर्णकरत्वादीनां भिन्नत्वे सत्यपि न मधुररसस्यान्यत्वं ; यत एक एव मधुरस्तद्गुणयुक्तो भवति, तत्तत्कर्मकारी चेति को विरोधः । तथा मधुरस्यावान्तरास्वादभेदेऽपि मधुरत्वजात्यनतिक्रमः, कृष्णवर्णावान्तरभेदे यथा कृष्णत्वानतिक्रमः । ननु मैवं भवत्परिसंख्येयत्वं रसानां, परस्परसंयोगात्तु य आस्वादविशेषः स विशेषकार्यकरोऽपि ; नहि यन्मधुराम्लेन क्रियते तन्मधुरेण वाऽम्लेन वा शक्यम् ; अतस्तेन परस्परसंयोगेनापरिसंख्येयत्वं भविष्यतीत्याह—परस्परेत्यादि । संसृष्टमिति भावेक्तः, तेन परस्परसंसर्गभूयिष्ठत्वादेषां मधुरादीनामभिनिर्वृत्तेर्न गुणप्रकृतीनामसंख्येयत्वमिति योजना ; अयमर्थः—यद्यपि रसाः परस्परसंसर्गेणातिभूयसा युक्ताः सन्तोऽभिनिर्वृत्ता द्विरसादौ द्रव्ये भवन्ति, तथाऽपि न तेषां गुणा गुरु-लघ्वादयः प्रकृतयो वा मधुरादीनां या या आयुष्यत्व-रसाभिवर्धकत्वाद्यास्ता असंख्येया भवन्ति, किंतु य एव मधुरादीनां प्रत्येकं गुणाः प्रकृतयश्च उद्दिष्टास्त एव मिश्रा भवन्ति । किंवा गुण[1]प्रकृतीनामिति मधुरादिषड्गुणस्वरूपाणामित्यर्थः ; तेन रसस्य रसान्तरसंसर्गे दोषाणामिव

←राश्रयते, न त्वस्मादाश्रयादिभेदादन्यत्वमाश्रितस्य मधुरादेर्भवति । एतेन, आश्रयादय एव परं भिन्नाः, मधुरादिस्त्वेक एवेत्यर्थः । तथाहि—यद्यपि शालि-मुद्ग-घृत-क्षीरादयो मधुरस्याश्रया भिन्नाः तथाऽपि तत्र मधुरत्वजात्याक्रान्त एक एव रसो भवति, बलाका-क्षीरादिषु शुक्तवर्णवत् । एवं गुणानां गुरु-पिच्छिला-दीनामन्यत्वेऽपि तथा कर्मणां रसादिवर्धनबलवर्णकरणादीनां भिन्नत्वेऽपि तथा मधुरस्यावान्तरास्वादभेदेऽपि न मधुररसस्यान्यत्वं, मधुरत्वजात्यनतिक्रमादिति भावः ।" इति शिवदाससेनः ।

१—"गुणप्रकृतीनामिति परस्परसंसर्गहेतुत्वान्मधुरादिगुणा एव प्रकृतयः, तासां मधुरादिषड्गुणस्वरूपाणामित्यर्थः । तथा च परस्परसंसर्गभूयिष्ठत्वादेषां रसानामभिनिर्वृत्तेः प्रकृतिभूतानां मधुरादिगुणानामसंख्येयत्वं न चेति योजना । तेन, रसानां रसान्तरसंसर्गे रसान्तरभेदसंसर्गे वा तत्संसर्गाणामेवापरिसंख्येयत्वं, न पुनः प्रकृति-भूतमधुरादिषड्रसानां षट्त्वातिक्रमः, यथा—दोषाणां परस्पर-संसर्गभूयस्त्वेऽपि त्रित्वानतिक्रम इत्यर्थः । यतः संसृष्टानां रसानां मधुरादि-षड्रसप्रकृतिकत्वान्न रसान्तरत्वम्, अत एव संसृष्टरसानां पृथक्कर्म शास्त्रान्तरेऽपि नोक्तमित्याह—तस्मान्न संसृष्टानामित्यादि" इति शिवदाससेनः ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दोषान्तरसंसर्गे रसानां नापरिसंख्येयत्वमित्यर्थः। प्रकृतिशब्देन कर्म वोच्यते, तेन गुणकर्मणामित्यर्थः। मधुरादीनामवान्तरास्वादविशेषोऽपि परस्परसंसर्गकृतो ज्ञेयः। यत एव हेतो रसानां संसृष्टानां नान्ये गुणकर्मणी भवतः, अत एव संसृष्टानां रसानां पृथक्कर्म शास्त्रान्तरेऽपि नोक्तमित्याह—तस्मादित्यादि। कर्मशब्देनेह गौरवलाघवादिकारका गुरुत्वादयो रस-रक्तादिजनकादयश्चापि बोद्धव्याः। न केवलमन्यशास्त्रकारैः रसानां संसृष्टानां कर्म नोपदिष्टं, किंतु वयमपि नोपदेक्ष्याम इत्याह—तच्चैवेत्यादि। तच्चैव कारणमिति परस्परसंसर्गेऽपि रसानामनधिकगुण-कर्मत्वम्। लक्षणेन पृथक्त्वं लक्षणपृथक्त्वम्। तत्र लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्; अतस्तु 'मधुरो रसः' इत्यादिना ग्रन्थेन, तथा 'स्नेहन-प्रीणनाह्लाद इत्यादिना च यद्वाच्यं तत् सर्वं गृह्यते। किंवा लक्षणशब्देन 'मधुरो रस' इत्यादिग्रन्थवाच्यं लक्षणमुच्यते; पृथक्त्वं च रसभेदज्ञानार्थं यद्वक्ष्यति—'स्नेहन-प्रीणन्' इत्यादि, तद् गृह्यते (च. द.)। रसैकत्वपक्षं खण्डयति—तेषामित्यादि। तेषां षण्णां रसानां योनिः उत्पत्तिकारणमुदकम्। उक्तं च—"आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्तिहेतवः" (च. सू. अ. २५) इति। तस्मादुदकादन्य एव रसः; न त्वनन्यः कार्य-कारणयोर्भेदात्। छेदनं चोपशमनं च ते द्वे रसानां कर्मणी। छेदनं दोषादीनां भागशः करणम्। तच्चेह वमन-विरेचनात्मकं शोधनम्। आस्थापन-शिरोविरेचने तु नाहाररसकर्मणी। रसानां शोधनत्वं "तत्राग्निमारुतात्मका रसाः" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना पश्चाद्दर्शयिष्यते। उपशमनं दोषाणामनुत्क्लेशेन समीकरणम्। रसानां दोषशमनत्वं च—"स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषाय-स्वादु-तिक्तकाः जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषाय-कटु-तिक्तकाः॥" (च. सू. अ. १) इति। तयोः कर्मणोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वम्। अनेन रसद्वित्व-त्रित्वपक्षौ निराकृतौ। स्वाद्वस्वादुता च भक्ति-द्वेषौ इच्छा-द्वेषौ। यो यमिच्छति स तस्य स्वादुः, यं द्वेष्टि स तस्यास्वादुः। हिताहितौ रसस्य प्रभावौ। प्रभावः शक्तिः। एवं 'चत्वारो रसा' इति हिरण्याक्षेण कौशिकेन यदुक्तं तन्निरस्तम्। भौमौदकाग्नेय-वायवीयान्तरीक्षाः एते पञ्चमहाभूतविकाराः। ते हि षण्णां रसानामाश्रयाः, न तु रसाः। 'पञ्च रसा' इति भरद्वाजवचनमनेन परिहृतम्। गुर्वादीनां षण्णां रसत्वपक्षं निरस्यति—प्रकृतीति। तेषां षण्णां रसानामाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु पञ्चमहाभूतविकारेषु कार्यद्रव्येषु। इह द्रव्यसंज्ञा पञ्चमहाभूतविकाराणाम्। वक्ष्यति च—"सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे।" (च. सू. अ. २६) इति। प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशाः गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाद्याः। आद्यशब्देनान्येषां द्रव्याश्रितधर्माणां ग्रहणम्। गुणा गुर्वादयो हि द्रव्याश्रितगुणाः, न तु रसाः। ते रसेषु उपचर्यन्ते साहचर्यात्। प्रकृति-विकृति-विचार-देश-काल-वशा इति प्रकृतिवशाः, विकृतिवशाः, विचारवशाः, देशवशाः, कालवशाश्च। तत्र प्रकृतिवशा द्रव्येषूत्पद्यमानेषु ये गुणाः प्रकृत्यपेक्षया जायन्तेः; यथा—अग्निमारुतात्मकं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यं प्रायेणोर्ध्वभागं लाघवादुत्प्लवनाच्च वायोः, ऊर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः। विकृतिवशाः ये प्रकृत्यवस्थायां न सन्तोऽपि भूतेषु ऊनाधिकभावेन तथा तथा संहन्यमानेषु जन्यन्ते। विकृतिवशत्वं च "षण्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुण-कर्माणि" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना दर्शयिष्यते। विचारवशा ये विशिष्टमात्रा-दिभिर्जायन्ते। देशो देह-भूमिलक्षणो द्विविधः। तत्र देहवशाद् यथा "सक्थिमांसा-द्गुरुः स्कन्धः।" (च. सू. अ. २७) इति। भूमिवशात् अन्यथा जाङ्गले, अन्यथा आनूपे। एवं कालवशादपि। 'सप्त रसा मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षारा' इति निमिना वैदेहेनोक्तम्। तत्र मधुरादीनां षण्णां रसत्वमनुमतमेव। क्षारस्य रसत्वं निरस्यति—क्षरणादिति 'क्षरणात् क्षारः' इति क्षारस्य निरुक्तिः क्षरणात् दुष्टत्वङ्मांसादीनां चालनात् शातनादित्यर्थः; अथवा क्षरणं दोषाणां चालनम्। "तत्र क्षरणात् खननाद्वा क्षारः" (सु. सू. अ. ११) इति सुश्रुतः। खननं दुष्टत्वङ्मांसादीनां हिंसनम्। असौ क्षारो न रसः, तद्धि द्रव्यम्। तदेव विशेषणैरुपपादयति—अनेकेत्यादि। अनेकरसेभ्यो द्रव्येभ्यः पाञ्चभौतिकेभ्यः समुत्पन्नं, तस्मादनेकरसं; कार्यस्य कारणानुविधायित्वात्। अनेकरसत्वेऽपि कटुलवणरसभूयिष्ठम्। अनेकैरिन्द्रियार्थैः स्पर्श-रूप-रस-गन्धैः समन्वितम्। क्षारः शुक्लः "शुक्लत्वात् सौम्यः" (सु. सू. अ. ११) इति। रसो न रसाश्रयः, न वा तत्र स्पर्शादयः, तस्य गुणत्वात्; "गुणाः गुणाश्रया नोक्ताः" (च. सू. अ. २६) इति। करणेन क्रियया अग्निनिर्वृत्तं, कृत्रिममित्यर्थः; रसस्तु सहजः, तस्मात् क्षारो न रसः द्रव्यं हि तत्। अष्टौ रसा इति अस्मिन् क्षाराव्यक्तौ अननुमतौ। तत्र क्षारस्य रसत्वं प्रागेव परिहृतं, संप्रति अव्यक्तरसपक्षं खण्डयति—अव्यक्तभाव इति। रसानां मधुरादीनां षण्णामव्यक्तभावः अव्यक्तत्वं प्राक् प्रकृतौ योनौ उदके भवति। आपो हि अव्यक्तरसाः। अव्यक्तत्वम् अस्फुटप्रतिभासत्वम्। यो रसनेन्द्रियेण मधुरोऽयम्, अम्लोऽयम्, इत्यादिप्रकारेण स्फुटं नोपलभ्यते सोऽव्यक्तः। अनुरसेऽव्यक्तभावो भवति। अनुरसो हि रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तः। अनुरसलक्षणं पश्चाद्वक्ष्यते—"विपर्ययेणानुरसः" (च सू. अ. २६) इति। ननु, अनुरसेऽपि क्वचित् व्यक्तिरस्तीत्यत आह—अनुरससमन्विते इति। अनुरससमन्विते द्रव्ये वाऽव्यक्त-भावो भवति। द्रव्याणामव्यवहारकाले रस एव व्यज्यते, क्वचिदनुरसस्य यो व्यक्तभावः, स पश्चात्। मधुरादय एव व्यक्ताव्यक्तरसानुरसरूपा। न तेभ्यः षड्भ्योऽन्योऽव्यक्ताख्योऽनुरससंज्ञो वा कश्चिद्रसोस्ति। वक्ष्यति च—"रसो नास्ति हि सप्तमः।" (च. सू. अ. २६) इति। अपरिसंख्येयपक्षं दूषयति—अपरिसंख्येयत्वमियादि। आश्रयादीनां भावानामाश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां, विशेषा-परिसंख्येयत्वात् विशेषाणामपरिसंख्येयत्वाद्, तेषां रसानामपरिसंख्येयत्वं न युक्तम्। आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां विशेषापरिसंख्येयत्वाद्रसा अपरिसंख्येया-भवन्तीति बाह्लीकभिषजा काङ्कायनेन यदुक्तं तन्न युक्तम्। यत आश्रयादीनां

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विशेषेष्वपि रसानामपरिसंख्येयत्वं न भवति। तदेव दर्शयति--एकैकोऽपीति। सत्यम्। एषामाश्रयादीनां भावानामेकैकोऽपि विशेषमेवाश्रयते, न तस्मात्तेषामन्यत्वमुपपद्यते। कुतः ? परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वात्। अयमर्थः--रसानामाश्रया द्रव्यसंज्ञकास्तद्गुणभूयिष्ठाः पञ्चमहाभूतविकाराः। भूतानामन्योन्यसंसर्गबहुलानामल्पोत्कर्षापकर्षाभ्यां तेषां विशेषा भवन्ति, न च तेन ते भिद्यन्ते, किन्तु संसृष्टरूपा भवन्ति। यथा--संसर्गे दोषाः। न चेति एषां विशेषाणामभिनिर्वृत्तौ निष्पत्तौ न च गुर्वादिगुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति, येन गुणा अपरिसंख्येयाः स्युः। अतो गुणादीनां विशेषेष्वपि संख्याभेदो न भवति। कर्मभेदोऽपि न भवति, तदेवाह--तस्मादिति। यस्मात् विशेषेषु गुणप्रकृतीनां भेदो न भवति। रसोऽपि गुण एव। विशेषेऽपि मधुरादिप्रकृतयो न भिद्यन्ते, येन कर्मभेदः स्यात्। तस्मात् कारणात्। संसृष्टानां रसानामल्पोत्कर्षापकर्षाभ्यां संसृष्टरूपाणां रसानाम्। संसर्गो द्रव्यसंसर्गकृतः। कर्म पृथङ्नोपदिशन्ति बुद्धिमन्त; यतस्ते मधुरादिभ्यो न भिद्यन्ते, किंतु संसृष्टरूपा भवति; अतस्तेषां कर्म मधुरादीनां कर्मैव संसृष्टरूपम्। तच्चैवेति तच्चैव कारणमवेक्षमाणाः तस्मात् कारणादित्यर्थः। वयं षण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणम् आस्वादलक्षणं मुखोपलेपादिरूपं, पृथक्त्वेन पृथक् पृथगुपदेक्ष्यामः--'स्नेहनप्रीणन' इत्यादिना न तु संसृष्टानाम्। अतो नास्वादभेदोऽपि भवति, मधुरस्कन्धनिर्दिष्टेक्षु-क्षीर-गुडादिषु माधुर्यस्य विशेषेऽपि मुखोपलेपादिरूपतत्तल्लक्षणस्य तुल्यत्वात्; तस्मात् षडेव रसाः (यो.)।

मधुरस्कन्धनिर्दिष्टघृत-तैल-गुडादिषु।
गुणास्वादादिभेदेन रसषट्कं न युज्यते॥
अस्तु भेदादसंख्यत्वमैक्यं वाऽऽस्वादलक्षणात्।
भूतोत्कर्षापकर्षेण भेदो योऽल्पेन कल्प्यते॥
संकीर्णत्वात् फले चासौ तुल्यत्वान्न विवक्ष्यते।
गुर्वादीनां विशेषेऽपि स्वजातेरनतिक्रमात्॥
संख्याभेदो यथा नास्ति रसानामपि स क्रमः।
दृष्टं मुखोपलेपादि यत् सर्वेषु घृतादिषु॥
न च तद्दाडिमाद्येषु षडेवातो रसाः स्मृताः।
आनन्त्यैकत्वयोश्च स्यान्न विचित्रार्थतन्त्रणम्॥

--अ. सं. सू. अं. १७

ननु रसानां मधुरादित्वेन षट्संख्यानियम उक्तः स न युज्यते; केवलमेकरसत्वमनेकरसत्वं वा। तत्रानेकरसत्वे कारणं वक्ष्यमाणमधुरादिस्कन्धनिर्दिष्टानां घृत-तैल-गुड़-द्राक्षा-शर्करा-मधु-मधुकादीनां गुणास्वादादिभेदः। तथाहि--

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्वया ये मधुरत्वेन निर्दिष्टा गुड़-द्राक्षादयः आस्वादनेन ते न परस्परसदृशाः, न च गुरुत्वादिना गुणेन, न चाम्लादियुक्ता इति वक्तुं युज्यते, अतो ज्ञायते अन्ये विशिष्टा एव त इति प्रतिरसस्कन्धामानन्त्यम् । रसैकत्वे कारणं जिह्वेन्द्रिया-स्वादनसामान्यं ; तत्र प्रतिविधीयते--भूतोत्कर्षापकर्षेणेत्यादि । तत्र प्रथमं गुणभेददूषणं परिहीयते—योऽयमल्पेन भूतानामुत्कर्षेणापकर्षेण मधुराणां गुण-भेदः ; स संकीर्णत्वात् फले च सदृशत्वात् सन्नपि न विवक्ष्यते । आस्वादभेदा-दानन्त्यं परिहियते--गुर्वादीनामित्यादि । गुर्वादीनां द्रव्याणां यद्यपि प्रतिद्रव्यं वैलक्षण्यमस्ति, तथाऽपि गुरुत्वादिजात्यनतिक्रमाद् गुरुर्गुरुर्लघुरिति संख्या-भेदाविवक्षया निर्दिश्यन्ते । तद्वन्मधुरादिस्कन्धपठितानां द्रव्याणां यद्यप्या-स्वादवैलक्षण्यं दृश्यते, तथाऽपि यन्मुखोपलेप-ह्लादनादि घृतादिषु मधुरेषु दृष्टं न तन्मुखोपलेपादि दाडिम-सैन्धवादिष्वम्ल-लवणादिषु दृश्यते, न चैतान् रसानतिक्रम्य जात्यन्तरं संभवति ; अतः षडेव रसाः ; नोनधिकाः । यदि सदेवानन्त्यमैक्यं वा यथोक्तप्रकारेण तन्त्रव्यवहारे गृह्यते, ततो विचित्रस्य रसपृष्ठभाविनो वक्तव्यस्यानेकस्य तन्त्रणं शास्त्रे प्रयोगो न स्यात् । अत आनन्त्येन रसानां तत्स्वरूप-तन्त्रणस्याप्यानन्त्यादवक्तव्यता । एकरसत्वे च विशेष-स्यानुक्तत्वात् स्वरूपतन्त्रणमपि न युज्यत इति (इन्दुः) ॥

षट् सूत्रकारप्रामाण्यादास्वादाच्च (र. वै. अ. ३. सू. ५) । सूत्रकार-प्रामाण्यादिति षडेव रसा न सप्तमोऽस्तीति । आस्वादादिति प्रत्यक्षत उपलब्धे-रिति । आस्वाद्यमानाः षडेवोपलभ्यन्ते न सप्तमः । अनेनाव्यक्तः प्रतिषिद्धः, अव्यक्तस्य ग्रहणाभावात् । अत्राव्यक्तिर्नाम तेषामेव षण्णामपि विवेकाप्राप्तिः । क्षारो गुणः क्षारगुणशक्तिर्द्रव्यस्येति (भा.) ।

'रस छः ही हैं' यह सिद्धान्त स्थापित करने के पूर्व रस के विषय में भिन्न-भिन्न संख्या माननेवाले वादियों का मत क्रमशः देते हैं।-- (१) **भद्रकाप्य** कहता है कि--रस एक ही है, जिसे पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषयोंमें से एक जिह्वेन्द्रिय का विषय तथा भावरूप कहा जाता है, वह जल से भिन्न नहीं है (यहाँ 'भावरूप' कहने का आशय यह हैं कि रसाभाव भी जिह्वा का विषय है, पर उसे रस नहीं कहा जाता) । (२) **शाकुन्तेय ब्राह्मण** कहता है कि—रस दो हैं--छेदनीय (अपतर्पण-कर्शन-लङ्घन करनेवाला) और उपशमनीय (बृंहण-तर्पण करनेवाला) । (३) **पूर्णाक्ष मौद्गल्य** कहता है कि--रस तीन हैं—छेदनीय, उपशमनीय और साधारण (लङ्घन या बृंहण दोनों में से कुछ भी न करनेवाला या दोनों करनेवाला ; जैसे—तैल स्थूल को कृश और कृश को स्थूल करता है)। (४) **हिरण्याक्ष कौशिक** कहता है कि--रस चार हैं--(१) स्वादु (जिह्वा को प्रिय) और हित (शरीर को हितकर), (२) स्वादु और अहित, (३) अस्वादु (जिह्वा को अप्रिय) और हित,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(४) अस्वादु और अहित। (५) **कुमारशिरा भरद्वाज** कहता है कि--रस पाँच हैं--भौम (पार्थिव), औदक, (जलीय), आग्नेय, वायव्य और आन्तरीक्ष (नाभस)। (६) **राजर्षि वार्योविद्** कहता है कि--रस छः हैं-गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। (७) **वैदेह निमि** कहता है कि-रस सात हैं-- मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय और क्षार। (८) **वडिश धामार्गव** कहता है कि--रस आठ हैं--उक्त सात और आठवाँ अव्यक्त। (९) बाल्हीक देश का वैद्य **काङ्कायन** कहता है कि--रस के आश्रयभूत द्रव्य, गुण, कर्म और संस्वाद (एक ही मधुरादि रसवाले द्रव्यों का अपना-अपना विशिष्ट स्वाद) ये अनेक होने से भी अनेक हैं। रस के विषय में इन एकान्तवादी (एक-एक पक्ष की स्थापना करनेवाले) महर्षियों के वचन सुनकर भगवान् **आत्रेय पुनर्वसु** कहने लगे कि--मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये छः ही रस हैं। **भद्रकाप्य** ने कहा है कि रस एक ही है और वह जल से भिन्न नहीं है, परन्तु यह ठीक नहीं है ; क्योंकि जल छहों रसों का आधार है। जल रसों का आधार होने से रस नहीं हो सकता। आधार और आधेय भिन्न ही होते हैं। अतः रस को जल से अभिन्न और एक बताना ठीक नहीं है। **शाकुन्तेयब्राह्मण** ने छेदनीय और उपशमनीय दो रस बताये हैं, और **पूर्णाक्ष मौद्गल्य** ने छेदनीय-उपशमनीय और साधारण ये तीन रस बताये हैं, ये दोनों मत ठीक नहीं हैं ; क्योंकि छेदन, उपशमन और उनके मिश्रण से जो साधारणत्व होता है वे रसों के कर्म हैं, वे रस नहीं हैं। **हिरण्याक्ष कौशिक** ने स्वादु हित, स्वादु अहित, अस्वादु हित और अस्वादु अहित ये चार रस बताये हैं; परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि स्वादुता और अस्वादुता ये भक्ति (प्रति मनुष्य की भिन्न-भिन्न इच्छा) है। जो एक को स्वादु वह दूसरे को अस्वादु, और जो एक को अस्वादु वह दूसरे को स्वादु लगता है। अतः ये रस नहीं हो सकते। हित और अहित ये दोनों प्रभाव हैं। प्रभाव रसाश्रित होता है, वह स्वयं रस नहीं होता। **कुमारशिरा भरद्वाजने** भौम, औदक, आग्नेय, वायव्य और आन्तरिक्ष ये पाँच रस बतायें हैं, परन्तु ये पाँच रस नहीं हो सकते; क्योंकि पञ्चमहाभूतों के विकाररूप भौम आदि कार्यद्रव्य रसों के आश्रय हैं। ये प्रकृति, विकृति (संस्कार), विचार (द्रव्यान्तरसंयोग), देश और काल के वश (अधीन) हैं; अर्थात् इन के हेरफेर से बदलते रहते हैं। अतः ये पञ्चमहाभूत विकार स्वयं रस नहीं हो सकते। **राजर्षि वार्योविद ने** गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये छः रस बताये हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि गुरु, लघु आदि आश्रयभूत द्रव्य के अन्दर रहनेवाले गुणविशेष हैं; रस नहीं हैं। **विदेह राजा निमि ने** कहा है कि मधुरादि सात रस हैं; उन में मधुर अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये छः रस हमें भी संमत हैं; परन्तु सातवाँ क्षार रस नहीं है। क्षार द्रव्य है, क्योंकि वह अनेक रसवाले द्रव्यों से बनता है, अतः अनेक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसवाला तथा कटु और लवण रस की अधिकतावाला है; अनेक इन्द्रियों से इसका ग्रहण होता है--अर्थात् जिह्वा के अतिरिक्त स्पर्श आदि से भी क्षारका ग्रहण होता है (परन्तु रसका केवल रसनेन्द्रिय से ही ग्रहण होता है); और क्षार एक विशिष्ट क्रियाद्वारा तैयार किया जाता है। रस में ये सब बाते नहीं होतीं; अतः क्षार रस नहीं है, किंतु द्रव्य है [१]। **वडिश धामार्गवने** कहा है कि मधुरादि छः, क्षार और अव्यक्त ये आठ रस हैं; इन में मधुरादि छः रस हमें भी मान्य हैं। क्षार के रस होने का खण्डन ऊपर कर चुके हैं। आठवाँ अव्यक्त रस बताया जाता है, यह भी ठीक नहीं है। रसों का अव्यक्तपना रसों की प्रकृति में (दिव्य जल में), अनुरस में या अनुरससमन्वित द्रव्य में होता है; अतः वह छः रसों से भिन्न सातवाँ रस नहीं हो सकता। क्योंकि छः रसों में से किसी का भी व्यक्त न होना ही अव्यक्तीभाव हैं। **बाह्लीक वैद्य काङ्कायनने** आश्रय, गुण, कर्म और संस्वादों के अपरिसंख्येय होने से रस भी अपरिसंख्येय हैं, ऐसा जो कहा है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक मधुरादि रस आश्रय, गुण, कर्म और संस्वाद के विशेषों (भेदों) को आश्रय करता है; परन्तु इन आश्रयादि के भेद से रसों का अन्यत्व (भेद) नहीं हो सकता। जैसे-चावल-दूध-घी आदि मधुर रस के आश्रय भिन्न होते है, तथापि उन सब में मधुरत्व जातिवाला एक ही रस होता है। जैसे बगला-दूध-रूई आदि अनेक आश्रयों में शुक्ल वर्ण एक ही होता है; इसी प्रकार गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल आदि गुण तथा प्रीणन, जीवन, तर्पण आदि कर्म भिन्न होनेपर भी मधुर रस एक ही रहता है। एक ही मधुर रस गुर्वादि अनेक गुणयुक्त, तथा बृंहण-तर्पण आदि अनेक कर्म करनेवाला हो, इस में क्या विरोध है? इसी प्रकार गुड़, द्राक्षा आदि में अवान्तर आस्वाद होने पर भी उन में मधुरत्व जातिवाला एक ही मधुर रस होता है। आप कहेंगे कि--आश्रय-गुण-कर्मादि भेद से रस अपरिसंख्येय न हों, परन्तु परस्पर संयोग से जो आस्वादविशेष उत्पन्न होता है, वह विशेष कार्य करनेवाला भी होता है। मधुर और अम्ल मिले हुए रस से जो कार्य होता है, वह केवल मधुर या अम्ल से नहीं हो सकता। अतः परस्पर संयोग से रस अपरिसंख्येय हैं। तो इसका उत्तर यह है कि--यद्यपि द्वि-त्रिरसादि द्रव्यों में मधुरादि रस अनेक प्रकार के परस्पर संयोग से युक्त होते हैं, तथापि उन के गुरु-लघ्वादि गुण या जीवन-बृंहण आदि प्रकृति (स्वभाव-कर्म) अनेक नहीं होते, किन्तु प्रत्येक मधुरादि के जो गुण-कर्म होते हैं वे ही, द्वि-त्रिरसादि द्रव्यों में संसृष्ट (मिश्रित) होते हैं। इस कारण-से उन को असंख्येय मानना ठीक नहीं है

१--रसवैशेषिकसूत्रका भाष्यकार लिखता है कि--क्षार द्रव्य की क्षार (क्षरण)-गुणयुक्त शक्ति है, रस नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(किंवा गुणप्रकृति अर्थात् मधुरादि छः गुणस्वरूप, उनके अनेक परस्पर संयोग से द्वि-त्रिरसादि संसर्गों की (मिश्ररसों की) उत्पत्ति होती है, इससे इनके प्रकृति-भूत रसों को असंख्येय नहीं माना जा सकता। जैसे--वातादि दोषों के अनेक संसर्ग होने पर भी उनका त्रित्व नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार रसों के अनेक संसर्ग होने पर भी उनका षट्त्व नष्ट नहीं होता--(रस छः से अधिक नहीं होते)। संसृष्ट रसों में भिन्न-भिन्न प्रकृतिभूत रसों के ही गुण-कर्म, मिश्रित होते हैं, इस-लिए संसृष्ट रसों के जुदे गुण-कर्म शास्त्रान्तरों में भी नहीं लिखे गये हैं। इसलिये हम भी यहाँ असंसृष्ट एक-एक रस के ही लक्षण (गुण-कर्म) का उपदेश करेंगे।

रसानामन्यथात्वगमननिरूपणम्--

अन्यथात्वगमनं स्थानात् (र. वै. सू. अ. ३, सू. २९)। एवं रसानां षट्त्वं प्रसाध्येदानीमन्यथात्वगमनं वक्ष्यते—अन्यथात्वेत्यादि। अन्यथात्वगमनं नाम अन्यास्वादस्य प्राप्तिः। अन्यथात्वगमनं स्थानाच्च भवति। स्थानं किंचित् व्यवस्थानम्। यथा—रसतो मधुर ओदन अवस्थापितो धान्याम्लं भवति। अथवा स्थानात् स्थीयतेऽत्रेति स्थानमधिकरणं तद्धेतोरपि रसान्तरं भवति; अम्लभाजने प्रक्षिप्तं क्षीरं मधुरमम्लतामापद्यते (भा)। संयोगतः, अग्नेः पाकात् (सू. ३०)। संयोगतश्च रसानामन्यथात्वं भवति। संयोग इति द्रव्यान्तरसंयोगः। यथा—सुधाचूर्णेन भस्मना वा संयुक्तं चिञ्चाफलमम्लं मधुरं भवति। अग्नेः पाकात् अग्निनिमित्तं पाकादित्युक्तं भवति। तदेव चिञ्चा-फलमग्निपक्वं मधुरं भवति, पाकाज्जाम्ब्रवान्याद्रणि वायुना शोषितान्यम्लानि मधुरीभवन्ति (भा.)। आतपात् (सू. ३१)। तुम्बरुफलान्यातपपरिशोषितानि कषायाणि मधुरीभवन्ति (भा.)। भावनया, देशकालाभ्याम् (सू. ३२)। यष्टि-मधुभावितास्तिलाः कषाय-तिक्त-मधुराः सन्तो मधुरा एव भवन्ति। संयोग-भावनयोर्महान् विशेष इति न विपच्यन्ते। देश-कालाभ्यां देशतः क्वचिद्देशे आमलकफलानि परममधुराणि भवन्ति किल; कालतः कदलीफलं कषायं मधुरतामापद्यते, तदेवान्यरसं भवतीति (भा.)। परिणामतः (सू. ३३)। परिणामोऽन्यथा भावः। यथा क्षीरं दधिभावेन परिणतमम्लं भवति, तथा आसवाश्च। अथवा परिणामतः कालव्यतिक्रमादतिपरिणामतः। यथा -पनसफलमतिक्लिन्नं कालात्ययात् परिणतमम्लं भवति, तथा—तालफलं च (भा)। उपसर्गतः (सू. ३४)। उपसर्गतः कृमिप्रभृतिभिरुपसृष्टास्त्विक्षव स्तिक्ता अम्ला वा भवन्ति (भा.)। विक्रियातः (सू. ३५)। विक्रियात-श्चान्यथात्वगमनं भवति; विरुद्धा विप्रतिषिद्धा वा क्रिया विक्रिया, तद्धेतोश्च रसान्तरप्राप्तिर्भवति। तद्यथा—तालफलं दग्धं भूमौ बहुशः परिवर्तितं तिक्तं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भवतिः पनसफलं हरतेन बहुशः परीपीडितं विलष्टं चाम्लं भवतीति (भा.)।

स्थान से अर्थात् अवस्थान से (कुछ समय रहने से) रसों का अन्यथात्व (एक रस से दूसरे रस में बदलना) होता है। जैसे--मधुर रसवाला ओदन-भात जल के साथ मिलाकर कुछ दिन रखने से धान्याम्ल (काँजी) के रूप में बदल (अम्ल रस वाला) जाता है। अथवा स्थान अर्थात् पात्र, पात्र से भी रस बदलता है; जैसे--खटाईवाले पात्र में रखने से दूध खट्टा बन जाता है। संयोग से (अन्य द्रव्य के संयोग से) रस बदलता है; जैसे चूने या भस्म (राख) के संयोग से इमली का खट्टा फल मीठा हो जाता है। अग्नि में पकाने से द्रव्य का रस बदल जाता है; जैसे--इमली के फल अग्नि में पकाने से मीठे हो जाते हैं, जामुन के खट्टे फल अग्निपर पकाकर हवा में सूखाने से मीठे हो जाते हैं। सूर्य के ताप में सुखाने से द्रव्यों का रस बदल जाता है; जैसे--कषाय रसवाले तुम्बरु (तेजबल) के फल (तोमर) धूप में सुखाने से मीठे हो जाते हैं। भावना से द्रव्य का रस बदल जाता है; जैसे--कषाय, तिक्त और मधुर रसवाले तिलों को मुलेठी के क्वाथ की भावना देने से वे मधुर हो जाते हैं। देशविशेष से कहीं खट्टे फल मीठे होते हैं। काल से भी रस बदल जाता है; जैसे--कषाय रसवाले केले कुछ काल पड़े रहने से मीठे हो जाते है। परिणाम से (रूपान्तर को प्राप्त होने से) द्रव्य का रस बदलता है; जैसे--दूध का दही में रुपान्तर होने से अम्लता उत्पन्न होती है। कृमि आदि के उपसर्ग से द्रव्य का रस बदलता है; जैसे--कीड़े पड़े हुए गन्ने तिक्त या अम्ल रसवाले हो जाते हैं। विक्रिया से द्रव्य का रस बदलता है; जैसे--तालफल को अग्नि में पकाकर भूमिपर रगड़ने से वह तिक्त हो जाता है।

रसानुरसयोर्लक्षणम्--

व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते।
विपर्ययेणानुरसो रसो नास्तीह सप्तमः॥ --च. सू. अ. २६

पूर्वोक्तरसानुरसलक्षणमाह--व्यक्त इत्यादि। शुष्कस्य चेति चकारादार्द्रस्य च, आदौ चेति चकारादन्ते च; तेन शुष्कस्य वाऽऽर्द्रस्य वा प्रथमजिह्वासम्बन्धे वाऽऽस्वादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते, स रसः; यस्तूक्तावस्थाचतुष्टयेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किं तर्ह्यव्यपदेश्यतया छायामात्रेण कार्यदर्शनेन वा मीयते, सोऽनुरस इति वाक्यार्थः। यतश्च मधुरादय एव व्यक्तत्वाव्यक्तत्वाभ्यां रसानुरसरूपाः, अतोऽव्यक्तो नाम सप्तमो रसो नास्ति। अयं चार्थः पूर्वं प्रतिषिद्धोऽप्यनुगुणस्पष्टहेतुप्राप्त्या पुनर्निषिध्यते। अन्ये त्वाहुः--शुष्कस्य चेत्यनेन यस्य द्रव्यस्य शुष्कस्य चार्द्रस्य चोपयोगः, तत्र शुष्कावस्थायां यो व्यक्तः स रस उच्यते; यस्त्वार्द्रावस्थायां व्यक्त

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सन् शुष्कावस्थायां नानुयाति, नासौ रसः, किन्त्वनुरसः । यथा—पिप्पल्या आर्द्राया मधुरो रसो व्यक्तः, शुष्कायास्तु पिप्पल्याः कटुकः ; तेन कटुक एव रसः पिप्पल्याः, मधुरस्त्वनुरसः, यस्तु द्राक्षादीनामार्द्रावस्थायां शुष्कावस्थायां च मधुर एव, तत्र विप्रतिपत्तिरपि नास्ति, तेन तत्र मधुर एव रसः ; नित्यार्द्र-प्रयोज्यानां तु काञ्जिक-तक्रादीनामादौ व्यक्तो य उपलभ्यते स रस,: अनु चोप-लभ्यते यः सोऽनुरसो युक्तस्तिक्तादिः ; तथाऽऽर्द्रावस्थायां शुष्कावस्था-विपरीतो यः पिप्पल्या इव मधुरः, सोऽनुरस इति । किं त्वार्द्राऽपि पिप्पली मधुररसैवेति पश्यामः, यतो वक्ष्यति—"श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली ।" (च. सू. अ. २७) इति ; मधुरस्य तत्रानुरसत्वे गुरुत्व-श्लेष्म-कर्तृत्वे अनुपपन्ने ; तेन आर्द्रा पिप्पली व्यक्तमधुररसैव, शुष्का तु मधुरानुरसेति युक्तम् (च. द.) । ननु रसानुरसौ कथं विज्ञायेते इति ? अत आह—व्यक्त इत्यादि । मुखे क्षिप्तस्य शुष्कस्य द्रव्यस्य व्यक्तो रस आदौ लक्ष्यते । तस्य द्रव्यस्याद्रीभावे पुनस्तद्व्यक्तरसविपर्ययेणानुरसो लक्ष्यते, न त्वतिरिक्तो रसो लक्ष्यते । तस्मादिह जगति सप्तमो रसो नास्ति (ग.) । रसानुरसयो-र्लक्षणमाह—व्यक्त इति । द्रव्यस्य व्यक्तो मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिस्फुट-प्रतिभासो रसो लक्ष्यते । ननु रसैर्द्रव्याणि व्यपदिश्यन्ते, यत्र आर्द्रावस्थायामेकस्य रसस्य अभिव्यक्तिः, शुष्कावस्थायां पुनरन्यस्य यथा—पिप्पल्याः, तत्र केन व्यपदेशः स्यादिति ? अत आह—शुष्कस्येति । शुष्कस्य द्रव्यस्य । शुष्कस्येति सम्यग्रससंपत्तेरुपलक्षणम् । ननु, अनुरसस्यापि क्वचिदन्ते व्यक्तिरस्तीत्यत-स्तद्वारणाय पुनराह—आदौ चेति । आदौ प्रथमजिह्वासम्बन्धे सति यो व्यज्यते स रसः । अनुरसस्य अभिव्यक्तिस्तु अन्ते । अनुरसलक्षणमाह—विपर्ययेणेति; रसलक्षणविपर्ययेण अनुरसः व्यक्तः शुष्कस्य चादौ इति रसलक्षणं तद्विपर्ययश्च अव्यक्तः, आर्द्रस्य च अन्ते य इति रसलक्षणविपरीतलक्षणोऽनुरसः । निष्कृष्टार्थश्चायं—सर्वं द्रव्यं पञ्चमहाभूतसमवायसंभवं, तस्मादनेकरसं; तत्र यो व्यक्तः स रसः, यस्तु रसेनाभिभूतत्वान्न व्यज्यते व्यज्यते वा किंचिदन्ते सोऽनुरसः; इति रसानुरसयोर्लक्षणम् । एवं हि मधुरादीनां षण्णां व्यक्तानु-व्यक्तरूपाणां रसानुरससंज्ञा । तस्मात् सप्तमो रसोऽनुरसाख्यो नास्ति (यो.) ॥

तत्र व्यक्तो रसः । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो, व्यक्तो वा किंचिदन्ते ॥ —अ. सं. सू. अ. १७

तत्र च द्रव्ये रसनेन्द्रियग्राह्यो व्यक्तः स्फुटो 'रस' शब्देनोक्तः । यश्च रसो यस्मिन् द्रव्येऽनुरसत्वेनोक्तः स प्रधानरसेनाभिभूतत्वादव्यक्त एव तिष्ठति । प्रधानरस-विजातीयकार्यकर्तृत्वात्तस्य सद्भावोऽनुमीयते, आगमाच्च । अथवा यो रसः प्रधानरसस्यान्ते किंचिद् व्यक्तोऽप्युपलभ्यते सोऽनुरसः (इन्दुः) ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसंभवात्।
× × × तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः।
अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते॥

—अ. हृ. सू. अ. ९

अथ को रसोऽनुरसो वेत्याह—तत्रेत्यादि। तत्र तस्मिन् द्रव्ये, यो व्यक्तः स्फुट उपलभ्यते, स रसः स्मृतस्तन्त्रकृद्भिः। यश्चाव्यक्तः अस्फुटप्रतिभासो रसनेन्द्रियेणोपलभ्यते, सोऽनुरसः। हीनार्थोऽत्रानुशब्दः, अल्पो रस इत्यर्थः। न चैतावदेवानुरसलक्षणमित्याह—किञ्चिदित्यादि। मुखक्षिप्तस्य हरीतक्यादेर्द्रव्यस्य रसनेन्द्रियेण किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽप्युपलभ्यते यःसोऽप्यनुरस इष्यते, 'मुनिभिः, इति वाक्यशेषः। अन्ते इत्यनैतद्बोधयति—अन्ते अवसाने; न त्वादावापातमात्रे, न च मध्ये। तयोर्हि रसस्यैवोपलम्भः। अनुशब्दस्यात्र पश्चादर्थत्वात् पश्चात् स्फुटोऽपि किञ्चिद्य उपलभ्यते सोऽप्यनुरस इत्यर्थः (अ. द.)। सर्वेषां सर्वधर्मत्वादविशेषे प्राप्ते तन्निरासार्थं धर्मतारतम्यमाह—तत्र व्यक्त इति। तत्र द्रव्ये, कश्चिद्धर्मः सद्यो व्यक्तः, कश्चिदव्यक्तः, कश्चिदीषद्व्यक्तः, कश्चिदन्ते व्यक्तः। तेष्वाद्यो रसाख्यः, इतरे त्रयोऽनुरसाख्याः (हे.)॥

सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होने से अनेक रसवाले होते है। उनमें शुष्क या आर्द्र द्रव्य को जीभ पर रखते ही प्रारम्भ से अन्त तक यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि प्रकार से उसका जो रस व्यक्त–स्पष्टरूप से मालूम होता है, उसको **रस** कहते हैं। अर्थात् द्रव्य की शुष्कावस्था, प्रारम्भावस्था (जिह्वाका संयोग होते ही) और अन्तिमावस्था (खाने के अन्ततक) इन चारों अवस्थाओं में जिसका यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि रूप से स्पष्टतया अनुभव होता हो उसको **रस** कहते हैं; और जो रस इससे विपरीत हो अर्थात् उक्त चारों अवस्थाओं में स्पष्टरूप से न मालूम होता हो किन्तु अव्यक्त-अस्पष्टरूप से (आभासमात्र) मालूम होता हो, या कार्य देखकर जिसका अनुमान किया जा सकता हो उसको, या अन्त में कुछ स्पष्टरूप से मालूम हो उसको, या जो आर्द्रावस्था में उस द्रव्य में स्पष्टरूप से मालूम होने पर भी वह द्रव्य शुष्क होनेपर उस में वह रस दब जाय और अन्य रस मालूम होने लगे तो उस (आर्द्रावस्था के रस) को **अनुरस** कहते हैं। इस प्रकार मधुरादि प्रत्येक रस ही अवस्थाभेद से **रस** या **अनुरस** संज्ञा को प्राप्त होता हैं **अनुरस** नामका कोई सातवाँ रस नहीं है (च. द.)। द्रव्य में जो रस उसको जीभपर रखते ही तुरन्त स्पष्टरूप से मालूम हो, उस को **रस** कहते हैं तथा जो रस अव्यक्त (कार्यदर्शनानुमेय), कुछ व्यक्त या अन्त में व्यक्त होता हो उस को **अनुरस** कहते हैं (हे.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसोपलब्धिहेतवः--

प्रत्यक्षतोऽनुमानादुपदेशतश्च रसानामुपलब्धिः (र. वै. अ. ३. सू. १०८)। आस्वाद्य प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते। अनुमानात् पूर्वोक्तं लिङ्गं दृष्ट्वा मधुरोऽयमित्युपलभ्यते। उपदेशतः आगमात् कषायं मधु, मधुरमुदकम्, इत्यादि। अथवा आस्वादतः रसानां सामान्यत उपलब्धिर्भवति, अनुमानाल्लिगपूर्वकाद् विशेषोपलब्धिर्भवति, उपदेशतः कर्मणि रसानां प्रवृत्त्युपलभ्यत इति। अथवा सर्वत्रास्वादत एव रसो न गृह्यते, आगमतश्च क्वचित्, क्वचिदनुमानाच्चेति। "शीतं कषायं मधुरं विषघ्नं वर्ण्यं च मेधास्मृतिवर्धनं च। रसायनीयं लघु रुक्षमुक्तं, कषायतिक्तं लघु रूप्यमाहुः॥" अत्रास्वादतो रसो न लभ्यते इति (भा.)।

कहीं स्वाद से, कहीं कार्य देख कर अनुमान से और कहीं शास्त्रोपदेश से रसोंका ज्ञान होता है। जैसे नीम्बू के अम्ल रसका ज्ञान प्रत्यक्ष से और सुवर्ण के कषाय और मधुर रसका ज्ञान शास्त्रोपदेश से तथा सुवर्ण के कार्य देख कर अनुमान से होता है।

पाञ्चभौतिकत्वेऽपि रसस्य षड्विभक्तौ हेतुः--

षड् विभक्तीः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तरम्।
षट् पञ्चभूतप्रभवाः संख्याताश्च यथा रसाः॥ -- च सू. अ. २६

षड्विभक्तीरिति मधुरादिषड्विभागानित्यर्थः। षट् पञ्चभूतप्रभवा इति पञ्चभूतप्रभवाः सन्तो यथोक्तेन प्रकारेण 'सोमगुणातिरेकात्' इत्यादिना यथा षट्संख्याताः षट्संख्यापरिच्छिन्ना भवन्ति, तथा वक्ष्यामीति योजना (च. द.)॥

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च, तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता[1] जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभिर्मूर्च्छन्ति रसाः। तेषां षण्णां रसानां सोम[2]गुणा-

---

१—गङ्गाधरस्तु 'पञ्चमहाभूतविकारगुणसमन्विताः' इति पठित्वा "तत्काले पञ्चमहाभूतानां विकारभूता एतदाकाश-पवनार्क-चन्द्रास्तथा सततमाकाशे समुड्डीयमाना भौमास्त्रसरेणवस्तेषां गुरुत्वादिगुणसमन्विताः सत्यस्तदधोगानां सेन्द्रियाणां प्राणिनां मनुष्यादीनां स्थावराणां च वृक्षादीनां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति" इति व्याख्यानयति।

२— "पृथ्वी-सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, भूम्यग्निगुणभूयिष्ठत्वादम्लः, तोयाग्निगुणभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निगुणभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणातिरेकात्तिक्तः, पवनपृथ्वीगुणातिरेकात् कषायः।" इति योगीन्द्रनाथसेनसंमतः पाठः। "ननु कारणानां भूतानां पञ्चविधत्वेन कार्यस्यापि रसस्य पञ्चविधत्व—→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवन-पृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति। एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां, भूतानामिव स्थावर-जङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः; षड्ऋतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः॥ ——च. सू. अ. २६

संप्रति रसानामादिकारणमेव तावदाह——सौम्या इत्यादि। सौम्याः सोमदेवताकाः। भ्रश्यमाना इति वदता भूमिसम्बन्धव्यतिरेकेणान्तरिक्षेरितैः पृथिव्यादिपरमाण्वादिभिः सम्बन्धो रसारम्भको भवतीति दर्श्यते। मूर्तीरिति व्यक्तीः। अभिप्रीणयन्तीति तर्पयन्ति, किंवा जनयन्ति। अभिमूर्च्छन्ति रसा इति व्यक्तिं यान्ति। अत्र चान्तरिक्षमुदकं रसकारणत्वे प्रधानत्वादुक्तं, तेन क्षितिस्थमपि स्थावर-जङ्गमोत्पत्तौ रसकारणं भवत्येव। सोमगुणातिरेकादिति अतिरेकशब्देन सर्वेष्वेव रसेषु सर्वभूतसान्निध्यमस्ति, क्वचित्तु कस्यचिद्भूतगुणस्यातिरेकाद्रसविशेषो भवतीति दर्शयति; एतच्च मधुरं प्रति अब्गुणातिरिक्तत्वं विशेषोत्पत्तौ कारणत्वेन ज्ञेयं; यच्चाधारकारणत्वमपां, तत सर्वसाधारणम्। एवं लवणेऽप्यपां कारणत्वं ज्ञेयम्। लवणस्तु सुश्रुते पृथिव्यग्न्यतिरेकात पठितः, अस्मिंश्च विरोधे कार्यविरोधौ नास्त्येव। ननु, उष्णशीताभ्यामग्नि-सलिलाभ्यां कृतस्य लवणस्याप्युष्णशीतत्वेन भवितव्यं, तल्लवणं कथमुष्णं भवति? नैवं यतो भूतानामयं स्वभावः——यत्——केनचित् प्रकारेण सन्निविष्टाः कञ्चिद्गुणमारभन्ते, न सर्वम्। यथा——मकुष्ठकेऽद्भिर्मधुरो रसः क्रियते, न स्नेहः; तथा सैन्धवे वह्निनाऽपि नोष्णत्वमारभ्यते। अयं च भूतानां सन्निवेशोऽदृष्टप्रभावकृत एव, स च सन्निवेशः कार्यदर्शनेनोन्नेयः। तेन यत्र कार्यं दृश्यते तत्र कल्प्यते, यथा——लवणे उष्णत्वादग्निर्विष्यन्दित्वाच्च जलमनुमीयते। आगमवेदनीयश्चायमर्थ, नात्रास्मद्विधानां कल्पनाः प्रसरन्ति। एतेन यदुच्यते——तोयवत् पृथिव्यादयोऽपि किमिति पृथग्रसान्तरं न कुर्वन्ति, तथा तोयवातादिसंयोगादिभ्यः किमिति रसान्तराणि नोत्पद्यन्त इति, तदपि भूतस्वभावापर्यनुयोगादेव प्रयुक्तम्। इह च कारणत्वं भूतानां रसस्य मधुरत्वादिविशेष

←मेव युक्तमित्यभिप्रेत्य षट्त्वमुपपादयति——सोमगुणातिरेकादित्यादि। सोमो जलदेवता, तेन जलगुणातिरेकादित्यर्थः; किंवा सोमशब्देन पृथिवी-जलयोरेव ग्रहणम्, उभयोरपि सौम्यत्वात्; अत एव सुश्रुतेऽपि "पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः" इत्यादि, तथा तत्रैव "पृथिव्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः" (सु. सू. अ. ४२) इति यदुक्तं तदपि न विरुध्यते, भूमि-जलयोः सौम्यत्वेनैकरूपतया कार्यविरोधाभावात्।" इति शिवदाससेनः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एव निमित्तकारणरूपमुच्यते, तेन नीरसानामपि हि दहनादीनां कारणत्वमुपपन्नमेव व्युत्पादितम्। रसभेदं दृष्टान्तेन साधयन्नाह--एवमित्यादि। रसानां षट्त्वं महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषात् सोमगुणातिरेक-पृथिव्यग्न्यतिरेकादेः षड्विधस्य कारणादुपपन्नं, षड्भ्यः कारणेभ्यः षट् कार्याणि भवन्तीति युक्तमेवेति भावः। भूतानां यथा नानावर्णाकृतिविशेषा महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषात्, तथा रसानामपीति। भूतानां यथोक्तानां न्यूनातिरेकविशेषहेतुमाह--षड्ऋतुकत्वादित्यादि। षड्ऋतुकत्वेन कालो नानाहेमन्तादिरूपतया कञ्चिद्भूतविशेषं क्वचिद्वर्धयति, स चात्मकार्यं रसं पुष्टं करोति; यथा--हेमन्तकाले सोमगुणातिरेको भवति, शिशिरे वाय्वाकाशातिरेकः; एवं तस्याशितीयोक्तरसोत्पादक्रमेण वसन्तादावपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयः। षड्ऋतुकत्वाच्चेति चकारेणाहोरात्रकृतोऽपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयः, तथा ऽदृष्टकृतश्च; तेन हेमन्तादावपि रसान्तरोत्पादः क्वचिद्वस्तुन्युपपन्नो भवति। यद्यपि च ऋतुभेदेऽपि भूतोत्कर्षविशेष एव कारणं, यदुक्तं—"तावेतावर्क-वायू" (सू. अ. ६) इत्यादि, तथाऽपि बीजाङ्कुरकार्यकारणभाववत् संसारानादितयैव भूतविशेषत्वोः कार्यकारणभावो वाच्यः (च. द.)। रसानां पञ्चभूतप्रभवत्वं दर्शयति—सौम्या इति। × ×। अन्तरीक्षप्रभवा दिव्या आपः। प्रकृत्या शीताः लघव्यश्च। चकारात् शुचिशिवत्वादीनामन्येषां वक्ष्यमाणगुणानां समुच्चयः। वक्ष्यति च—"शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकं" (च. सू. अ. २७) इति। ताः अन्तरीक्षाद् भ्रश्यमानाः पतन्त्यः अव्यक्तरसाः। "प्रानीयमान्तरीक्षमनिर्देश्यरसम्" (सु. सू. अ. ४५) इति। भ्रष्टाः पतिताश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विताः "भ्रष्टं पात्रमपेक्षते" (च. सू. अ. २७); भ्रष्टानां पञ्चमहाभूतगुणसंपर्कः पात्रापेक्षया। जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीः व्यक्तीः। × ×। तासु मूर्तिषु षड्रसाः अभिमूर्च्छन्ति व्यज्यन्ते। × × ×। रसानां पञ्चभूतप्रभवत्वमुक्त्वा संप्रति तेषां षट्त्वमुपपादयितुं यद्यद्भूतगुणातिरेकाद्यो यो रसो निष्पद्यते तदेव व्याकृत्य दर्शयति—तेषामिति। तेषां षण्णां रसानां मध्ये मधुरो रसः पृथ्वी-सोमयोः पृथिव्युदकयोर्गुणातिरेकादुत्पद्यतोः पृथिव्यग्न्योर्गुणभूयिष्ठत्वाद् गुणबाहुल्याद्दम्लः। एवं लवणादयो व्याख्येयाः। × × ×। दृष्टान्तेन रसानां षट्त्वमुपपादयति—एवमिति। एवं महाभूतानां पृथिव्यादीनामूनातिरेकविशेषाद्रसानां पञ्चमहाभूतप्रभवत्वेऽपि षट्त्वमुपपद्यते। यथा भूतानां स्थावर-जङ्गमात्मकानां नानावर्णाकृतिविशेषाः महाभूतानामूनातिरेक विशेषादुपपद्यन्ते, एवं रसानां षट्त्वम्। महाभूतानामूनातिरेकश्च कस्माद् भवतीत्यत आह—षड्ऋतुकत्वाच्चेति। कालस्य संवत्सरात्मनः षड्ऋतुकत्वान्महाभूतानामूनातिरेकविशेष उपपद्यते। शिशिरे वाय्वाकाशयोर्नातिगुरुको भवति, वसन्ते पवन-पृथिव्योः, ग्रीष्मे वाय्वग्न्योः। × × ×। (यो.)॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आकाश-पवन-दहन-तोय-भूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाःशब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः, तस्मादाप्यो रसः। परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। न खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते, तद्यथा-मधुरः, अम्लः, लवणः, कटुकः, तिक्तः, कषाय इति। ते च भूयः परस्परसंसर्गात्त्रिषष्टिधा भिद्यन्ते। तत्र, भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः, भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः[1], वाय्वग्निगुण-बाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषाय इति ——सु. सू. अ. ४२

रससामान्यस्य प्रथमं कारणसंभवं दर्शयन्नाह—आकाशेत्यादि। आकाश-पवन-दहन-तोय-भूमिषु यथासंख्यं शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्धा 'जायन्ते' इति शेषः। किंविशिष्टास्ते? एकोत्तरपरिवृद्धा इति; तथाहि——शब्दगुणमाकाशं, शब्द-स्पर्शगुणो वायुः, शब्द-स्पर्श-रूपगुणं तेजः, शब्द-स्पर्श-रूप-रसगुणा आपः, शब्दःस्पर्श-रूप-रस-गन्धगुणा पृथ्वी; परस्परं भूतानुप्रवेशादित्थमेकोत्तरा वृद्धिर्ज्ञेया। आप्यः जलसंभवः। तत्र सर्वेष्वेव भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्तीति दर्शयन्नाह—परस्परसंसर्गादित्यादि। परस्परसंसर्गात् अन्योन्यसंयोगात्, परस्परानुग्रहात् अन्योन्योपकारात्, परस्परानुप्रवेशात् अनुप्रवेशादेकात्मीभावात्, सर्वेषु भूतेषु सर्वेषाम् आकाशादीनां, 'सर्वेषु प्रद्रव्येषु' इत्यन्ते। सर्वेषु भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्तीति सर्व एव गुणाः सर्वेषां भूतानां प्राप्नुवन्तीत्याह——उत्कर्षापकर्षादित्यादि।—उत्कर्षो वृद्धिः, अपकर्षो ह्रासः; आकाशाधिके द्रव्ये शब्दोऽधिकः, वाताधिके द्रव्ये स्पर्शोऽधिकः, एवं शेषेषु भूतेषु शेषगुणाः; तेन सर्वेषामेव भूतानां सर्वात्मकत्वेऽप्युत्कर्षेणाभिधानादाप्य एव रसः; यदि पुनरसौ रस आप्य एव, नान्यभूतजः, स एवमपां स्वभावेनाव्यक्तरसत्वात्तेनाप्यव्यक्तरसेन भवितव्यमित्याह——शेषेत्यादि। पानीयादन्यानि भूतानि शेषभूतानि, तेषां संसर्गो मिलनं, ततो हेतोराप्यो रसोऽव्यक्तोऽपि कालसहाय-भूमि-वियदनिलानलसंसर्गेण परिपाकान्तरं गतः, षोढा विभज्यते षट्प्रकारो भवति। तत्र यस्य यस्य शेषभूतस्य संसर्गाद्यो यो रस उत्पद्यते तं तं रसं दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि। ननु च, शेषभूतसंसर्गः प्रतिपादनीयः, तत् कथमुदकोपादानम्——? उच्यते—निष्पत्तावेव तोयप्राधान्यमुक्तं; विशेषे तु न प्राप्नोतीति विशेषेऽपि तोयस्य प्राधान्यप्रतिपादनाय 'पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यात्' इत्युक्तम्। 'तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्ल' इत्येके पठन्ति

१—'भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लं, तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः' इति पा०।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(ङः)। रसस्य कारणं परिपाट्या प्राह—आकाशेत्यादि। एकैकेन शब्दादिगुणेन उत्तरोत्तरे भूते परिवृद्धा एकोत्तर-परिवृद्धाः। × × ×। तत्रोत्तरोत्तरे भूते शब्दादयो गुणाः पूर्वभूतानुप्रवेशकृताः, शब्दादयस्त्वाकाशादीनां नैसर्गिकाः। यस्मात् क्रमेण शब्दादयो नैसर्गिकास्तस्मादाप्यो रसः। ननु, यद्याप्यो रसस्तत्कथं पार्थिवादि-सर्वद्रव्येषु शब्द-स्पर्श-रूप-रसाद्यभिधानमित्याह—परस्परेत्यादि। परस्परानुग्रहो भौतिककार्यद्रव्येऽपि स्वगुणेऽपीतरभूतानुग्रहकृदुत्पादः। अनुप्रवेशस्तु भूतानां मेलकः। उत्कर्षात्तु ग्रहणमिति यस्मिन्नाकाशीयादिद्रव्ये आकाशादिभूतोत्कर्षस्तदु-त्कर्षात्तद्गुणशब्दाद्युत्कर्षः, स व्यञ्जको भवति; इदमाकाशीयं, शब्दगुणोत्कर्षात्; इदमाप्यं, रसगुणोद्रेकादित्यादि। एवंविधमेव चरके शुद्धाकाशादिस्वरूपकथने उक्तं; यत—'महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा। शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥ तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे। पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥" (च. शा. अ. १) इति। संप्रति अपाम-व्यक्तरसत्वेऽपि यथा मधुरादिविशेषवान् भवत्याप्यो रसस्तदाह—स खल्वित्यादि। × × ×। विदग्ध इति परिणतः; कालसहितभूम्यादिसंसर्गात् पाका-दवस्थान्तरगतः षड्विधो भवतीत्यर्थः। ननु, यदि शेषभूतयोगान्मधुरादिषड्-विधत्वं, तत्कथं पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरो रसः' इत्यनेन मधुरेऽपि रसविशेषेऽपां कारणत्वमुच्यते? ब्रूमः—आपो रसानामाधारकारणम्, अपां पृथिव्यामनु-प्रवेशात् पृथिव्याधारकारणमेव; तेनाप्क्षिती अपि तदाधारतया रसानामभिव्यक्तौ कारणे, अभिव्यक्तेश्च मधुरादिरूपतामन्तरेणासंभवान्मधुरादिविशेषेऽपि कारणे भवतः; अग्न्यादयस्तु त्रयो नीरसतया मधुरादिविशेषे निमित्तकारणं प्राधान्येन भवन्ति, तद्व्यतिरेकेणाम्लादिरसाभावात्; रसाभिव्यक्तेश्चाग्न्यादिभूतत्रय-सन्निधानं विनाऽनुपलब्धेरभिव्यक्तावपि कारणत्वमग्न्यादीनां भवति। तदुक्तं चरके—"रसनार्थो रसस्तस्य द्वयमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्यया खादयस्त्रयः॥" (च. सू. अ. १) इति। अत्र हि चकार-द्वयाज्जलक्षित्योरपि विशेषे कारणत्वं, तथा खादीनां च निर्वृत्तावपि कारणत्व-मुक्तं; तेन मधुरे विशेषेऽप्यपां कारणत्वात् सुष्ठूक्तं—"पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्या-न्मधुर" इति। एवं 'भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवण' इत्यपि समाधेयम्। न च रसानां षडविधत्वमुक्तं रसान्तरयोगाद् बाध्यते इति वाच्यं, यतोऽव्यक्तरसत्व-मन्तरिक्षजलादौ यदुक्तं तदव्यक्तमधुरादिरसरूपमेव। यदुक्तं—'अव्यक्तीभावस्तु रसानां प्रकृतावनुरसेऽनुरससमन्विते च द्रव्ये भवति" (च. सू. अ. २६) इति। क्षारस्य च रसत्वं क्षाराध्याय एव निषिद्धं, तद् युक्तं षड्विधो भवतीति। चरके तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः पठितः, इह तु तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः पठ्यते; तदत्र प्रमेये विरोधो नास्त्येव, उभयथाऽपि वक्ष्यमाणरसगुणानामुपपत्तेः; अम्लस्य गुणपर्यालोचनया तोयाग्निबाहुल्यमेव युक्तं, तेन चरके प्रमादपाठाद्वा अविरोधो-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऽयमिति। अम्ले यद्यपि तोयाग्नयोर्बाहुल्यं, तथाऽम्लस्योष्णत्वेऽग्निः कारणं, स्निग्धत्वे चापः कारणमिति यथादर्शनमदृष्टवशाद् दृष्टत्वाच्च भवति; नात्र वस्तुस्वभावे युक्तयः क्रोशनीयाः, अपर्यनुयोज्यत्वाद्भावस्वभावानाम्। एवं कषायस्य रूक्षत्वे वायुः कारणं, गौरवे पृथिवीत्यादि यथादृष्टं व्युत्पादनीयम्। तथाऽनेकरसे हरीतक्यादौ तद्रसोत्पत्तौ भूतानां व्यापारो, न तु परस्परविरोधादभावो रसानां; नापि रसकारणतयाऽवगतसर्वभूतानां गुरु-लघूष्णत्वादिप्रसङ्गः तत्र यथादृष्टगुणे एव परं कारणं भूतानां दृष्टत्वादि; एवमन्यदप्येवंजातीयं समाधेयम् (च. द.)॥

रसः खल्वाप्यः प्रागव्यक्तश्च। स षड्ऋतुकत्वात् कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तैः संसृष्टो विषमं विदग्धः षोढा पृथग्विपरिणमते मधुरादिभेदेन। तत्र भू–जलयोर्बाहुल्यान्मधुरो रसः, भू-तेजसोरम्लः, जल-तेजसोर्लवणः, वाय्वाकाशयोस्तिक्तः, वायु-तेजसोः कटुकः। वायूर्व्योः कषायः।

—अ० सं० सू० अ० १८

रसः खल्वाप्यः, योऽयं जिह्वेन्द्रियग्राह्यः, सोऽबाख्यान्महाभूतात् संपद्यते। स च रसः प्राक्प्रथममनासादितान्यभूतानुरागोऽव्यक्त एव स्वरूपेण। ततो महाभूतानां पृथिव्यादीनां गुणैः पार्थिवादिभिः कैश्चिदूनैः कैश्चिदभ्यधिकैः संसृष्टस्तैश्च गुणैर्विषममूनाधिक्यादिनियमेन विदग्धः परिणत्या गृहीतमहाभूतगुणानुराग एक एव रसः पृथङ् मधुराम्लादिभेदेन षड्भिर्विकारैर्विपरिणमते। कथं महाभूतानामूनाधिक्यम्? उच्यते—कालस्य संवत्सराख्यस्य षड्ऋतुकत्वाद्रसस्यापि षड्भेदत्वम्। तथा च शिशिरे वाय्वाकाशयोराधिक्याद्रसस्य तिक्तता, वसन्ते वायु-पृथिव्योः कषायता, ग्रीष्मेऽग्निवाय्वोः कटुकता, वर्षास्वग्नि-पृथिव्योरम्लता, शरद्यग्न्युदकयोर्लवणता, हेमन्ते पृथिव्युदकयोर्मधुरतेति प्राधान्याद् व्यपदेशः; तेनान्यर्तूद्भवानामपि रसानां यथोक्तमहाभूतद्वयाधिक्यमेव कारणं विज्ञेयम् (इन्दुः)॥

क्षमाम्भोऽग्नि-क्षमाम्बु-तेज-ख-वाय्वग्न्यनिल-गोऽनिलैः।
द्वयोल्बणैः क्रमाद् भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः॥

—अ. हृ. सू. अ. १०

पृथिव्यादिभिर्महाभूतैर्द्वयोल्बणैः द्व्यधिकैः, क्रमात् परिपाट्या यथासङ्ख्यमित्यर्थः, मधुरादीनां षण्णां रसानामुद्भवः अभिनिर्वृत्तिर्भवति। द्वयमुल्बणं येषु भूतेषु तानि द्वयोल्बणानि, तैः द्वयोल्बणैः। द्वयोल्बणशब्दोपादानाच्च द्रव्यवद्रसस्यापि पाञ्चभौतिकत्वमिति प्रतिपादयति। कतमत् पुनर्भूतद्वयं कतमस्मिन् रसे-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऽधिकमारम्भकं स्यादिति यथासंख्येन दर्शयन्नाह—क्ष्माम्भ इत्यादि। × ××। ननु, यथा भूमि-तोयाधिक्यान्मधुरः, एवमम्बु-वाय्वाधिक्यादन्यो भूम्याकाशाधिक्यादन्य इत्येवमादिविकल्पैरसंख्येयरसप्रसङ्गः प्राप्नोति ? अत्रोच्यते—स्वभावादोषः। एषां भूम्याकाशादीनामीदृशः स्वभावो यत् केनचिदेव भूताधिक्येन व्यवस्थितानि भूम्यादीनि रसान्तरोत्पादनसमर्थानि भवन्ति, न सर्वेणेति (अ. द.)॥

तत्र पृथिव्यपां बाहुल्यान्मधुरं विद्यात्, अम्लमपामग्नेश्च, लवणमग्नेरपां च, कटुकमग्नेर्वायोश्च, तिक्तं खस्य वायोश्च, कषायमवनेर्वायोश्च। —र. बै. अ. ३, सू० ३८—४३

बाहुल्यं च पञ्चात्मकत्वे सत्यपीत्यर्थः। पृथिव्यम्बुविशिष्टो मधुर इत्यर्थः। उभयोर्विशेषप्रदर्शनार्थमग्नेर्लवणकारणत्वे पूर्ववचनं, लवणेऽग्निरधिकः। अम्ले त्वाप अधिका इति (अपां पूर्ववचनम्) (भा.)।

अब, रस पाञ्चभौतिक होनेपर भी उत्पत्तिकाल में पञ्चमहाभूतों के न्यूनाधिक भाव से मिलने के कारण रसों के छः भेद कैसे होते हैं? यह कहा जाता है। अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुआ दिव्य जल स्वभाव से ही ठण्डा, सौम्य, लघु और अव्यक्त रसवाला होता है। वह जल अन्तरिक्ष से गिरता हुआ मध्य में (आकाश में) आकशस्थ और भूमिपर गिरकर भूमिस्थ पञ्चमहाभूतों के (पञ्चमहाभूतविकाररूप आकाश, वायु, चन्द्र, सूर्य), वायुमण्डल में निरन्तर उड़नेवाले पार्थिव अणु और पृथ्वी पर गिरने के अनन्तर भूमिस्थ पार्थिव अणु इनके गुणों से समन्वित होकर जङ्गम और स्थावर मूर्तियों को (साकार पदार्थों को) उत्पन्न और तृप्त करता है; उन मूर्त पदार्थों के अन्दर छः रस उत्पन्न होते हैं। आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथिवी का गन्ध नैसर्गिक (स्वाभाविक) गुण है। परन्तु उत्तरोत्तर महाभूतों में पूर्व-पूर्व महाभूत के अनुप्रवेश (मिलने) से आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण एक-एक की वृद्धि के साथ होते हैं; जैसे—आकाश में शब्द, वायु में शब्द और स्पर्श; इत्यादि। इस प्रकार रस जल का नैसर्गिक गुण होने से रस आप्य (जल से उत्पन्न हुआ किंवा जलप्रधान गुणवाला) कहलाता है। पञ्चमहाभूतों के परस्पर संसर्ग (संबन्ध) से, परस्पर एक दूसरेपर अनुग्रह (उपकार) से और एक-दूसरे में परस्पर अनुप्रविष्ट होने से सब कार्यद्रव्यों में सब भूतों का सान्निध्य पाया जाता है। परन्तु जिस द्रव्य में जिस महाभूत का उत्कर्ष होता है उसपर से उस द्रव्य का **नाभस, वायव्य** आदि नाम से ग्रहण किया जाताहै। यह आप्य रस शेष महाभूतों के विषम संसर्ग से (न्यूनाधिक भाव से मिलने से) परिपाक को प्राप्त होकर छः प्रकार का होता है; जैसे—**मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय**। इनमें सोम (जल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और पृथिवी) के गुणों की अधिकता से मधुर, पृथिवी (सुश्रुत के मत से जल) और अग्नि के गुणों की अधिकता से अम्ल, जल (सुश्रुत के मत से पृथ्वी) और अग्नि गुणों की अधिकता से लवण, वायु और अग्नि के गुणों की अधिकता से कटु, वायु और आकाश के गुणों की अधिकता से तिक्त तथा वायु और पृथिवी के गुणों की अधिकता से कषाय रस उत्पन्न होता है। जैसे पञ्चमहाभूतों के न्यूना तिरेक विशेष से संबन्धित होने से स्थावर और जङ्गम प्राणी आदि के अनेक वर्ण और आकृति आदि विशेष होते हैं, इसी प्रकार पञ्चमहाभूतों के न्यूनाधिकभाव से मिलने से पदार्थों में छः प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं। काल भिन्न-भिन्न स्वभाववाले छः ऋतुओंवाला होने से पञ्चमहाभूतों में कालस्वभाव से न्यूनाधिकभाव होता रहता है।

वक्तव्य—चरक तथा चरकमतानुयायी वृद्धवाग्भट और वाग्भट ने अम्ल रस को भूमि और अग्नि के गुणों की अधिकतावाला तथा लवण रस को जल और अग्नि की अधिकतावाला माना है। सुश्रुत ने अम्ल रस को जल और अग्नि की अधिकतावाला तथा लवण रस को पृथिवी तथा जल की अधिकता वाला माना है। नागार्जुन ने अम्ल और लवण दोनों रसों को जल और अग्नि की अधिकतावाला बताया है। नागार्जुन ने अम्ल में अग्नि की अपेक्षया जल की विशेष अधिकता तथा लवण में जल की अपेक्षया अग्नि की विशेष अधिकता, अम्ल में जल और लवण में अग्नि शब्द को पहले लिखकर बताई है।

मधुरादिरसानां सोमगुणातिरेकत्वादि कथं निर्धार्यते? इतिप्रतिपादनम्—

ते निर्धार्यन्तेऽनुमानात् (र. वै. अ. सू. ४४)। एतैर्भूतैरेते रसा निर्वर्तिता इति कथं निर्धार्यत इत्याह—ते इत्यादि। आगमेन पूर्वमुपलब्धानां प्रमाणान्तरेण दृढीकरणार्थमयमारम्भः, आप्तवचनस्य त्रैविध्यात्—श्रद्धेयार्थम्, अनुमेयार्थं, प्रत्यक्षार्थं चेति। श्रद्धेयार्थम्-उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस इति। अनुमेयार्थं प्रत्यक्षार्थं च यथा—चक्षुरिन्द्रियं रूपस्य ग्राहकमिति। चक्षुष्यसति रूपदर्शनं न भवति, तस्मादस्ति चक्षुरित्यनुमीयते; प्रत्यक्षतश्च रूपमुपलभ्यते इति। इहाप्ययमागमोऽनुमानार्थः (भा.)। कथमिति? वर्धनात् समानजातीयस्य, असमानजातीयस्य क्षपणाच्च (सू. ४५)। आप्यस्य श्लेष्मणो वर्धनादाग्नेयस्य पित्तस्य क्षपणाच्च मधुरस्याप्यत्वमुपपन्नमिति। एवं शेषाणामपि। अनेनैवाम्ललवणयोराग्नेयत्वाच्छ्लेष्मणः प्रतिपक्षत्वं कस्मान्न भवतीत्ययं कुचोद्यप्रकारश्च परिहृतो भवति। न ह्यायुर्वेदे प्रत्यक्षार्थानुमेयार्थाभ्यामागमाभ्यामन्यच्छ्रद्धेयार्थमस्ति, दृष्टफलत्वादिति (भा.)॥

विरुद्ध महाभूतों की अधिकता से उत्पन्न दोषों का क्षय और समान महाभूतों की अधिकता से उत्पन्न दोषों की वृद्धि को देखकर 'यह रस इन महाभूतों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

की अधिकता से उत्पन्न हुआ है' यह अनुमान किया जाता है। जैसे--मधुर रस से आप्य कफ की वृद्धि और आग्नेय पित्त का क्षय होता है यह देखकर, मधुर रस जल और पृथ्वी की अधिकता से उत्पन्न हुआ है, यह अनुमान किया जाता है।

विदाह्यविदाहिभेदेन रसानां द्वैविध्यम्--

"कट्वम्ल-लवणा वेद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः स्वादु-तिक्त-कषायाः स्युर्विदाह-रहिता रसाः॥ विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्ति प्रयोजिताः। विदाहरहिता मूर्च्छां शमयन्तीति निश्चितम्॥" (र. वै. भा.)॥

कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस (वाले द्रव्य) विदाही और मूर्च्छा करने-वाले हैं; तथा मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस (वाले द्रव्य) विदाह न करनेवाले और मूर्च्छा का प्रशमन करनेवाले हैं।

सौम्याग्नेयभेदेन रसानां द्वैविध्यं, तयोर्गुणाश्च--

केचिदाहुः--अग्निषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः--सौम्याश्चाग्नेयाश्च। मधुर-तिक्त-कषायाः सौम्याः, कटुवम्ल-लवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ल-लवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटु-तिक्त-कषाया रूक्षा लघवश्च; सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः॥ --सु. सू. ४२

केचिदित्यादि। अग्निषोमीयत्वादिति अग्निश्च सोमश्च योनिर्जगत इत्यर्थः। सौम्याश्चाग्नेयाश्चेति चकारद्वयात् स्नेह-रूक्ष-गुरुत्व-लघुत्ववैरपि द्वैविध्यं सूचयति (ड.)। केचिदित्यादिना एकीयमतमाह; एतच्चाविशेषादविरुद्धत्वादनुमतमेव (च. द.)॥

कई आचार्य कहते हैं कि--जगत् अग्निषोमीय (अग्निगुण-उष्णता-प्रधान या सोमगुण-शीतता-प्रधान) होने से रसों के **सौम्य** और **आग्नेय** ये दो भेद होते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस **सौम्य** हैं; कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस **आग्नेय** हैं। मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस स्निग्ध और गुरु हैं; तथा कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस रूक्ष और लघु हैं। सौम्य रस शीत और आग्नेय रस उष्ण होते हैं।

तत्राग्नि-मारूतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः, लाघवादुत्प्लवनत्वाच्च वायो-रूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वन्हेः; सलिल-पृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य; व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभाजः॥ --च. सू. अ. २६

भूतविशेषकृतं रसानां धर्मान्तरमाह--तत्रेत्यादि। प्रायेणेति न सर्वे। रसा इति रसयुक्तानि द्रव्याणि। प्लावनत्वादिति गतिमत्वात्; यद्यपि गतिरधोऽपि

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्यात्, तथाऽपि लघुत्वपरिगतगतिरिह वायोरूर्ध्वमेव गमनं करोति ; यथा—शाल्मलीतूलानाम् । हेत्वन्तरमाह—ऊर्ध्वज्वलनत्वाच्चाग्नेरिति ; अग्नेरप्यूर्ध्वगतित्वादित्यर्थः । निम्नगत्वमधोगत्वमेव (च. द.)। रसानां सामान्यतो गुण-कर्माण्याह—तत्रेत्यादि । तत्र तेषु, अग्नि-मारुतात्मका अग्नि-वायुगुणभूयिष्ठा रसाः, वाय्वग्निगुणबहुलानि द्रव्याणीत्यर्थः । प्रायेण न तु सर्वे । उर्ध्वभाजो भवन्ति ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति तूलकवद् धूमवच्च । कस्मात् ? वायोर्लाघवात् लघुत्वात् तथा उत्प्लवनत्वाच्च ऊर्ध्वगतिमत्त्वाच्च, वह्नेरग्नेश्चोर्ध्वज्वलनत्वात् । लाघवमग्नेरपि बोद्धव्यम् । सलिल-पृथिव्यात्मकाः सलिलपृथिवीगुणभूयिष्ठा रसास्तु प्रायेण अधोभागभाजः अधोगच्छन्ति, उपलादिवत् । कुतः ? पृथिव्या गुरुत्वात्, उदकस्य सलिलस्य निम्नगत्वात् अधोगामित्वाच्च । व्यामिश्रात्मकाः पुनः उभयतोभाजः ऊर्ध्वं च अधश्च गच्छन्ति । तदुक्तं सुश्रुतेनापि—"तत्र विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि । पृथिव्यापो गुर्व्यः । ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति । तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात् । वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि । अग्नि-वायू हि लघू । लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति । तस्माद्वमनमूर्ध्वगुणभूयिष्ठम् । उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम् ।" (सु. सू. अ. ४१) इति (यो.) ॥

अग्नि और वायु की महाभूत अधिकतावाले रस प्रायः ऊपर की तरफ गति करनेवाले (वमनादि द्वारा दोष को निकालनेवाले) होते हैं ; क्योंकि वायु लघु और ऊपर की ओर गति करनेवाला है तथा अग्नि ऊर्ध्वज्वलन स्वभाववाला है। जल और पृथिवी महाभूत की अधिकतावाले रस प्रायः नीचे की ओर गति करनेवाले (मल-मूत्रादिका विरेचन करानेवाले) होते हैं ; क्योंकि जल स्वभाव से और पृथिवी गुरु होने से नीचे की ओर गति करनेवाली होती है। जो रस ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारोंवाले (पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि इन चारों महाभूत की अधिकतावाले) होते हैं, वे उभयतोभाग (वमन और विरेचन दोनों करानेवाले) होते हैं ।

षड्रसविज्ञानम्—

षण्णां रसानां विज्ञानमुपदेक्ष्याम्यतः परम् ।
स्नेहन-प्रीणनाह्लाद-मार्दवैरुपलभ्यते ॥
मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवँल्लिम्पतीव च ।
दन्तहृर्षान्मुखास्रावात् स्वेदनान्मुखबोधनात् ॥
विदाहाच्चास्यकण्ठस्य प्राश्यैवाम्लं रसं वदेत् ।
प्रलीयन् क्लेद-विष्यन्द-मार्दवं कुरुते मुखे ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च ।
संवेजयेद्यो रसनं निपाते तुदतीव च ॥
विदहन्मुख-नासाक्षिसंस्रावी स कटुः स्मृतः ।
प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च ॥
सतिक्तो मुखवैशद्य-शोष-प्रह्लादकारकः ॥
वैशद्य-स्तम्भ-जाडचैर्यो रसनं योजयेद्रसः ।
बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि ॥च. सू. अ. २६

विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं लक्षणमित्यर्थः । प्रलीयन्निति विलीनो भवन्[1] । संस्रावयतीति संस्रावी । विकासीति[2] हृदयविकसनशीलः ; उक्तं हि सुश्रुते—"हृदयं पीडयति" (सु. सू. अ. ४२) इति (च. द.) । प्रीणनं प्रसादनमिन्द्रियाणाम् । मुखस्य बोधनं शोधनं-क्षालनं, तस्मात् मुखबोधनात् । विष्यन्दः रसस्रुतिः । यो रसो निपाते रसनायोगे सति रसनं रसनाग्रं संवेजयेत् उद्वेजयति, विदहन् देहं तुदतीव, मुखं नासे अक्षिणी च तत् संस्रावयतीति मुख-नासाक्षिसंस्रावी, स कटुः स्मृतः । यो रसो निपाते रसनं रसनेन्द्रियं प्रतिहन्ति अन्यरसग्रहणशक्तिं नाशयतीत्यर्थः, न च स्वदते, मुखस्य वैशद्य-शोष-प्रह्लादकारकश्च, स तिक्तः स्मृतः । वैशद्यं स्तम्भो जाडचं च । कण्ठं बध्नाति रुणद्धीव (यो.) ॥

रसलक्षणमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, यः परितोषमुत्पादयति, प्रह्लादयति, तर्पयति, जीवयति, मुखोपलेपं जनयति, श्लेष्माणं चाभिवर्धयति, स मधुरः ; यो दन्तहर्षमुत्पादयति, मुखास्रावं जनयति, श्रद्धां चोत्पादयति, सोऽम्लः ; यो भक्तरुचिमुत्पादयतिः कफप्रसेकं जनयति, मार्दवं चापादयति, स लवणः ; यो जिह्वाग्रं बाधते, उद्वेगं जनयति, शिरो गृह्णीते, नासिकां च स्रावयति, स कटुकः ; यो गले चोषमुत्पादयति, मुखवैशद्यं जनयति, भक्तरुचिं चापादयति हर्षं च, स तिक्तः ; यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तम्भयति, कण्ठं बध्नाति, हृदयं कर्षति पीडयति च, स कषाय इति ॥ —सु. सू. अ. ४२

परितोषः परितुष्टिः । प्रह्लादयति सुखमुत्पादयति । तर्पयति तृप्तिं करोति । जीवयति प्राणान् धारयति । उपलेपः मलवृद्धिः दन्तहर्षः दन्तकुण्ठता । कफ-

---

१—प्रलीयन्निति रसनेन्द्रियसंबन्धादेव विलीनो भवतीत्यर्थः ।

२—"विकासी धातूनां हिंसकः" तदुक्तं—"विकासी विकसन् धातून्" इति ; अन्ये तु "हृत्पीडाजनक इत्याहुः" इति शिवदाससेनः ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रसेकः श्लेष्मास्रावः । शिरो गृह्णीते उद्वेजकत्वेन, न तु कफ-वातवेदनाभिः । चोष आकर्षणम् । हर्षो रोमहर्षः (ड.) । परितोषं भोजनकाले आनन्दम् । प्रह्लादयति भोजनायोपनीत एव सुखमुत्पादयति । तर्पयति अभ्यवहृतस्तृप्तिमापादयति, अम्लेतरेषां भोजनेच्छां निवारयतीति यावत् । चोषं चूषणवद्वेदनाविशेषम् । हर्षं दाह-तृष्णाप्रशमनेन संतोषम् (हा) ॥

तेषां स्वादुरास्वाद्यमानो मुखमुपलिम्पति, इन्द्रियाणि प्रसादयति, देहं प्रह्लादयति, षट्पद-पिपीलिकादीनामभीष्टतमः ; अम्लस्तु जिह्वामुद्वेजयति, उरःकण्ठं विदहति, मुखं स्रावयति, अक्षिभ्रुवं संकोचयति, दशनान् हर्षयति रोमाणि च ; लवणो मुखं विष्यन्दयति, कण्ठ-कपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति ; तिक्तो विशदयति वदनं, विशोधयति कण्ठं, प्रतिहन्ति रसनां ; कटुको भृशमुद्वेजयति जिह्वाग्रं, चिमचिमायति कण्ठ-कपोलं, स्रावयति मुखाक्षि-नासिकं, विदहति देहं ; कषायस्तु जडयति जिह्वां, बध्नाति कण्ठं, पीडयति हृदयम् ॥ —अ. सं. सू. अ. १८

ननु केन रूपेण रसविशेषो विज्ञायते ? अत आह—तेषामित्यादि । तेषां रसानां मध्ये यो रसो मुखलेपादिकरः स स्वादुरिति विज्ञेयः । आस्वाद्यमानो जिह्वया संयोगं नीयमानः । आस्वाद्यमान इति सर्वरसानां योज्यम् । प्रह्लादनः आश्वासकरः । अम्लरसो जिह्वोद्वेजनादिस्वरूपः, उरसि कण्ठे च विदाहं करोति । लवणो मुखमन्तर्विष्यन्दयति स्रावयति, कण्ठे कपोलयोश्च विदाहं करोति, अन्ने च रुचिमुत्पादयति । तिक्तो मुखवैशद्यादिकरणस्वरूपः । वैशद्यं पैच्छिल्यनाशः । कण्ठं चोपलेपनाशनेन शोधयति, रसनं रसनेन्द्रियं प्रतिहन्ति अन्यरसग्रहणशक्तिं नाशयतीत्यर्थः । कटुक आस्वाद्यमानो भृशमत्यर्थमुद्वेजयति जिह्वाग्रे उद्वेगं करोतीत्यर्थः, कण्ठे कपोलयोश्च तैक्ष्ण्याच्चिमचिमायनमग्निज्वालासंस्पर्शादिव करोति, मुखादिकं विस्रावयति, सकले च शरीरे विदाहं करोति । कषायो जिह्वां जडयति रसनादिक्रियासु मन्दीकरोति, कण्ठबन्धं श्वासादीनामयथाप्रवृत्तिमिव करोति (इन्दुः) ॥

तेषां विद्याद्रसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिम्पति ।
आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः ॥
प्रियः पिपीलिकादीनामम्लः क्षालयते मुखम् ।
हर्षणो रोम-दन्तानामक्षि-भ्रुवनिकोचनः ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लवणः स्यन्दयत्यास्यं कपोल-गलदाहकृत् ।
तिक्तो विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहन्ति च ॥
उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमचिमां कटुः ।
स्रावयत्यक्षि-नासास्यं कपोलौ दहतीव च ॥
कषायो जडयेज्जिह्वां कण्ठस्रोतोविबन्धकृत् ।

—अ. हृ. सू. अ. १०

ननु, स्वलक्षणं विनाऽनुक्तो रसविशेषः कथं ज्ञायताम् ? इति तल्लक्षणार्थमाह—तेषामित्यादि । तेषां रसानां मध्ये य आस्वाद्यमानो वक्त्रमनुलिम्पति मुखोपदेहं जनयति, तथा देहस्य ह्लादनः आश्वासकः, तथाऽक्षाणामिन्द्रियाणां प्रसादनः प्रसन्नत्वकृत्, तथा पिपीलिकादीनां प्रियः ; एतेनैतद्दर्शयति—प्रमेहादिषु मूत्र-त्वगादौ पिपीलिकोपसर्पणान्माधुर्यानुमानं कृत्वा मधुमेहत्वादि ज्ञायते । आस्वाद्यमान इत्युत्तरत्रापि योज्यम् । अम्लो रस आस्वाद्यमानो मुखं क्षालयते स्रावयति, तथा रोम दन्तानां हर्षणः "हृषु अलीके" अलीककारी, उद्वेजक इत्यर्थः ; तथा अक्षिभ्रुवनिकोचनः अक्षिणी च भ्रुवौ चाक्षिभ्रुवम्, अचतुरादिसूत्रे निपातितम् । लवणो रसो मुखं स्यन्दयति, तथा कपोलयोर्गले च दाहं करोति ; अन्यस्य रोचन इतीहातिप्रसिद्धत्वान्नोक्तं, संग्रहे तु स्पष्टार्थमुक्तम् । यथा— 'कण्ठकपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति" (अ. सं. सू. अ. १८) इति । तिक्तो मुखं विशदयति अपैच्छिल्ययुक्तं करोति, रसनां प्रतिहन्ति जिह्वां कुण्ठति, रसनेन्द्रियं च प्रतिहन्ति अन्यरसग्रहणशक्तिं नाशयतीत्यर्थः । कटुरास्वाद्यमानो जिह्वाग्रमुद्वेजयति सोद्वेगं करोति, चिमचिमां कुर्वन् दहनज्वालासंस्पर्शादिवाक्ष्यादि स्रावयति, गण्डौ च दहतीव । कषायो जिह्वां जडयति रसनादिक्रियायां मन्दीकरोति, तथा कण्ठस्य स्रोतांसि सिराविशेषास्तेषां विबन्धं करोति श्वासादीनामयथाप्रवृत्तिमिव कुरुत इत्यर्थः (अ. द.) । उपलिम्पति पिच्छिलादिगुणसाहचर्यात् । देहस्य ह्लादनः प्रियतमत्वात् सर्वशरीराप्यायनः ? अक्षप्रसादनः इन्द्रियवैमल्यकरः । क्षालयते प्रक्षालयते । रोमहर्षणः रोमाञ्चकृत् । दन्तहर्षणः दन्तकार्याक्षमत्वकृत् । अक्षि-भ्रुवनिकोचनः अक्ष्णोः भ्रुवोश्च संकोचकः । कटुलक्षणे अग्रग्रहणं संबन्धमात्र एवोद्वेजकत्वात् । चिमचिमां सर्षपलिप्त इव दुःखानुभवम् । जडयेत् स्तम्भयेत् । कण्ठसंबन्धिनां स्रोतसां विबन्धमवरोधं करोति (हे.) ॥

लिङ्गं पुनर्मधुरस्य ह्लादनं, श्लेष्मजननं, कण्ठतर्पणं च ; हृद्यत्वं, दन्त-हर्षः प्रस्रावणं प्रक्लेदनं, चाम्लस्य; लवणस्य विसरणम्, उष्णत्वं, प्रसेचनं, च; कटोर्जिह्वाग्रबाधः, उद्वेगो, नासास्रावः,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शिरोग्रहश्च ; तिक्तस्य हर्षणं, हरिमता, शैत्यमास्यस्य, गलद्वार-शोषणं च ; कषायस्य मुखपरिशोषः, श्लेष्मसंवृत्तिः, गौरवं, स्तम्भश्च ॥

--र. व. अ. ३, सू. १८

लिङ्गं पुनर्वक्ष्यते । पुनःशब्दो वाक्यालङ्कारार्थ । मधुरस्य लिङ्गमित्यर्थः । ह्लादनं हर्षणं प्रीणनमिति, श्लेष्मजननं चेति कण्ठे । एतेनास्वादकाल एवोपलभ्यानीमानि, न फलकाल इत्युक्तं भवति ; मुखस्थानामेतानि हि रसानां लिङ्गानि, आस्वादस्य प्रत्यक्षागोचरस्य वक्तुमशक्यत्वात् । कण्ठतर्पणं कण्ठस्य पूरणभावं जनयति । हृद्यत्वादि अम्लस्य मुखस्थस्य लिङ्गानि भवन्ति । हृद्यत्वं हृदयप्रीणनत्वम् । दन्तहर्षः दन्तानां भक्षणेऽसामर्थ्यम् । प्रस्रावणम् आप्यस्य प्रभूतोदकत्वम् । प्रक्लेदः शुष्कगलकण्ठस्यापि । अथवा प्रस्रावणमन्यस्याम्लभक्षणं दृष्ट्वा लक्षणत्वम् । लवणस्य लिङ्गानि विसरणं सर्वास्यव्याप्तिरिति, उष्णत्वनास्ये, प्रसेचनं मुखस्यास्रावप्रायत्वं, चशब्दः समुच्चयार्थः । जिह्वादाहादयश्च कटोर्लिङ्गानि । जिह्वाग्रबाधो जिह्वाग्रस्योषाभावः । उद्वेगः प्रतिकूलता । नासास्रावः नासाया उदकास्रावः । तैक्ष्ण्याच्छिरोग्रहः शिरोरुजा । तिक्तस्य हर्षणमित्यादि तिक्तस्य लिङ्गानि । हरिमता हरिमगन्धता गलसन्धिमाश्रित्य । शैत्यमास्यस्य । गलद्वारस्य शोषणं कण्ठबिलस्येत्यर्थः । मुखपरिशोषः मुखस्य परिशोषः समन्ताच्छुष्कता । श्लेष्मसंवृत्तिः श्लेष्मणः संवृत्तिः घनता । गौरवं मुखस्य । स्तम्भो जिह्वायाः सुखपरिस्पन्दनाभावः ; कषायस्य लिङ्गानि । एवं षण्णां लिङ्गान्युक्तानि, षट्त्वं च (भाष्यम्) ॥

रसों का ज्ञान द्रव्य का जिह्वा के साथ सम्बन्ध होते ही होता है, यह आगे कहा जायगा । यहाँ निपातकाल में (जिह्वा के साथ सम्बन्ध होते ही) प्रत्येक रस की स्वादग्रहण के अतिरिक्त अन्य भी जो विशेष क्रियाएँ होती हैं, जिनसे वह रस अव्यक्त अस्पष्ट होनेपर भी उसका ज्ञान होता है, वे कही जाती हैं । मधुर रस मुख में जाते ही सारे मुख में व्याप्त होता है और मुख को माधुर्य से लिप्त-सा कर देता है ; स्नेहन, सब इन्द्रियों की प्रसन्नता, आह्लाद (सुख), मृदुता (च), भोजनकाल में आनन्द और तृप्ति उत्पन्न करता है, मूर्च्छित को संज्ञाप्रदान करता है, कफ को बढ़ाता है (सु०,) भौरों और चींटियों को अत्यन्त प्रिय (अ. सं.) तथा कण्ठ को तृप्त है करनेवाला (र. वै.) । इन लक्षणों से मधुर रस जानना चाहिए । अम्ल रस खाते ही दन्तहर्ष (दाँतों की भक्षण में असमर्थता), मुख में लालास्राव, शरीर में स्वेद (पसीना आना), मुख की शुद्धि, मुख--छाती (अन्ननली) और कण्ठ का विदाहजलना (च.), अन्न खाने के प्रति रुचि (सु.), जिह्वा का उत्तेजन नेत्र और भौंहों का संकोच, रोमाञ्च (अ. सं) और क्लेदन करता है तथा हृदय (मन) को प्रिय लगता है (र. वै.) । इन लक्षणों (कर्मों) से अम्ल रस का ज्ञान

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करना चाहिए। **लवण रस** खाते ही मुख में घुल जाता है तथा क्लेद (गीलापन-आर्द्रता), लालास्राव, मृदुता, मुख में विदाह (च.), अन्नपर रुचि, कफ का स्राव (सु.), कण्ठ तथा कपोल में जलन (अ. सं.), सारे मुख में शीघ्र फैल जाना और उष्णता उत्पन्न करता है (र. वै.)। इन लक्षणों से लवण रस जानना चाहिये। **कटु रस** जीभपर लगते ही जीभ में उद्वेग, सुई चुभने की-सी वेदना, विदाह के साथ मुखनासिका और नेत्रका स्राव (च.), सिर में वेदना (सु.), कण्ठ और कपोलों में चिमचिमाहट और अन्नपर रुचि (अ. सं.) उत्पन्न करता है। इन लक्षणों से कटु रस जानना चाहिए। **तिक्त रस** जीभपर रखते ही जीभ की अन्य रसों के ग्रहण की शक्ति का नाश करता है, जीभ को अप्रिय लगता है मुख में स्वच्छता लाता है और मुखशोष, प्रह्लाद (अरुचिनाश) (च.), गलेमें कोई खेंचता हो ऐसी पीड़ा, अन्नपर रुचि, रोमहर्ष (सु.) तथा कण्ठ की शुद्धि करता है (अ.सं.), मुंहमें ठण्ढापन लाता है और गले को सुखाता है (र. वै.)। इन लक्षणों से तिक्त रस जानना चाहिये। **कषाय रस** जिह्वा में विशदता, स्तब्धता और जड़ता उत्पन्न करता है, कण्ठको जकड़ता-सा है (च.), मुख को सुखाता है, और हृदय में खीचने की सी पीड़ा करता है (सु.), मुख के कफ (लाला) को गाढा करता है और मुख में भारीपन लाता है (र. वै.)। इन लक्षणों से कषाय रस जानना चाहिए।

आस्वाद्यमानस्य द्रव्यस्य रसः कदा उपलभ्यते ?——

रसो निपाते द्रव्याणां × ×। ——च. सू. अ. २६

रसादीना (रस-वीर्य-विपाकाना) मेकद्रव्यनिविष्टानां भेदेन ज्ञानार्थं लक्षणमाह रसो निपात इत्यादि। निपाते इति रसनायोगे। × × ×। द्रव्याणामिति उपयुज्यमानद्रव्याणाम् (च. द.)। द्रव्याणां निपाते रसनायोगे जिह्वास्पर्शमात्रेण, रसः मधुरादिः, उपलभ्यते (यो.)। यद्येवं द्रव्याणां स्वभावो वीर्यं, गुणाश्च रसादयः सर्वाणि वीर्याणि, तत् कथं रसादीनां भेद उपलभ्यत इत्यत उच्यते——रसो निपात इत्यादि। द्रव्याणामभ्यवह्रियमाणानां मुखे रसनायां निपाते रसो मधुरादिरुपलभ्यते, ननु सर्वं वीर्यम् (ग.)॥

रसं विद्यान्निपातेन × × × × ×। ——अ. सं. सू. अ. १७

रसादीनां द्रव्यस्थितानां स्वरूपविशेषः कथं ज्ञायत इत्याह——रसमित्यादि। निपातेन जिह्वास्पर्शमात्रेण रसविशेषं विद्याद् द्रव्यस्य (इन्दुः)॥

खाये जानेवाले द्रव्य का जीभ के ऊपर स्पर्श होते ही मधुरादि रसविशेषका ज्ञान होता है।

रसानां गुणकर्माणि——

तेषां षण्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुण-कर्माण्यनुव्याख्यास्यामः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जौजः-शुक्राभिवर्धनः, आयुष्यः, षडिन्द्रियप्रसादनो, बल-वर्णकरः, पित्त-विष-मारूतघ्नः, तृष्णा-दाह-प्रशमन,: त्वच्यः, केश्यः, कण्ठ्यो, बल्यः, प्रीणनो, जीवनः, तर्पणो, बृंहणः, स्थैर्यकरः, क्षीणक्षतसंधानकरो, घ्राण-मुख-कण्ठौष्ठ-जिह्वा-प्रह्लादनो[1], दाह-मूर्च्छाप्रशमनः, षट्पद-पिपीलिकाना-मिष्टतमः, स्निग्धः, शीतो, गुरूश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थ-मुपयुज्यमानः स्थौल्यं, मार्दवम्, आलस्यम्, अतिस्वप्नं, गौरवम्, अनन्नाभिलाषम्, अग्नेर्दौर्बल्यम्, आस्य-कण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं, श्वासकास प्रतिश्यायालसक-शीतज्वरानाहास्य-माधुर्यं- वमथु- संज्ञास्वर- प्रणाश-गलगण्ड-गण्डमाला-श्लीपद-गलशोफ -बस्ति - धमनीगलोपलेपाक्ष्यामया-भिष्यन्दानित्येवंप्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजनयति[2]। अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति, क्लेदयति, जरयति, प्रीणयति, लघुः, उष्णः, स्निग्धश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलाय-यति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिली-करोति, क्षीण-क्षत-कृश-दुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि च क्षता-भिहत-दष्ट-दग्ध-भग्न-शून-प्रच्युतावमूत्रित-परिसर्पित-मर्दित - च्छिन्न-विश्लिष्टोद्विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेय-स्वभावात्, परिदहति कण्ठ-मुरो हृदयं च[3]। लवणो रसः पाचनः, क्लेदनो, दीपनः, च्यावनः,

---

१—"प्रसादनः" इति पाठान्तरम्।

२—"इह हि मूर्च्छाद्यभिभूतानां सद्यो जीवनरक्षणं जीवनम्, आयुष्यत्वं कालप्रकर्षेणायुषो हितत्वम्। मधुररससमानाधिकरणाः स्निग्धादयस्त्रयो गुणाः, रसादिवर्धनानि च कर्माणि। अभिष्यन्दो मुखनासादिस्रावः; न तु नेत्राभिष्यन्दो नाम रोगः, अक्ष्यामयवचनेन तस्योक्तत्वात्।" इति गङ्गाधरः।

३—"ऊर्जयति संन्यासादिभिरचेतनस्य मनःप्रबोधनपूर्वकजीवनं स्थापयति। मनोबोधयति मूर्च्छादिभिरचेतनं मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दश दृढीकरोति। बलं च वर्धयति पार्थिवत्वात्। वातमनुलोमयति पार्थिवत्वेन गुरुत्वात्। हृदयं तर्पयति हृदयस्थमनस्तर्पकत्वात्। आस्यमास्रावयति आग्नेयत्वेन तीक्ष्णत्वात्। अम्लो रसो लघुरुष्णः स्निग्धश्च लघूष्ण-स्निग्धसमानाधिकरणः; लघ्वादयस्त्रयो→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

छेदनो, भेदनः, तीक्ष्णः, सरो, विकासी, अधः (व) स्रंसी, अवकाशकरो, वातहरः, स्तम्भ-बन्ध-संघातविधमनः, सर्वरसप्रत्यनीक-भूतः, आस्य-मास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान् मृदूकरोति, रोचयत्याहारम्, आहारयोगी, नात्यर्थं गुरुः, स्निग्धः, उष्णश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वलि-पलित-खालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्त-विसर्प-वातरक्त-विचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारानुपजनयति[1]। कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसक-श्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्द-स्नेह-स्वेद-क्लेदमलानुपहन्ति, रोचय-त्यशनं, कण्डूविनाशयति, व्रणानवसादयति, कृमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुः, उष्णो, रूक्षश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थ-मुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पुंस्त्वमुपहन्ति- रस-वीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लपयति, सादयति, कर्शयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां जनयति; अपि च वाय्वग्निगुणबाहुल्याद् भ्रम-दवथु-कम्प-तोद-भेदैश्चरण-भुज-पीलु-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिषु मारुतजान् विकारानुपजनयति । तिक्तो

←गुणा अम्लरसे-द्रव्ये वर्तन्ते (एवमन्यत्रापि रसगुणवर्णने व्याख्येयम्)। अक्षिणी संमीलयति मुद्रीकरोति। रोमाणि संवीजयति उद्गमयति। इत्यम्लरसातियोग-निमित्तं कर्म। समान-हीन-मिथ्यायोगेभ्यस्तु नैवं, न वा रसान्तरसहितोपयोगा-च्चेति। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्" इति गङ्गाधरः।

१—"च्यवनः स्रावकरः। अवकाशकरः स्रावादिकरणादाकाशांशप्रकाश-करः। आहारयोगी आहारद्रव्यसंस्कारकरत्वेन उपयोगशीलः। मूर्च्छयति तमः प्रवेशयति। मांसानि कुष्णाति हिनस्ति। विषं भुक्तं शरीरस्थं वर्धयति। खालित्यं केशोन्मूलीभावः, नेन्द्रलुप्तं नाम। अम्लपित्तं तु अष्टोदरीये यद्यपि नोक्तं, तथाऽपि महारोगाध्याये पित्तव्याधिष्ववगन्तव्यम्।" इति गङ्गाधर।

२—"वक्त्रं शोधयति मुखगतक्लेदं छेदयति। घ्राणं घ्राणेन्द्रियाधिष्ठानम्। व्रणान् अवसादयति अवसन्नान् करोति। मोहयति रसवीर्यप्रभावात् कटुरस—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसः स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नो. विषघ्नः. कृमिघ्नो, मूर्च्छा-दाह-कण्डू-कुष्ठ-तृष्णाप्रशमनः, त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो, ज्वरघ्नो, दीपनः, पाचनः, स्तन्यशोधनो, लेखनः, क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र-पुरीष-पित्त-श्लेष्मोपशोषणो, रूक्षः, शीतो, लघुश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खर-विशदस्वभावाच्च रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्व-मापादयति, बलमादत्ते, कर्शयति, ग्लपयति मोहयति, भ्रमयति, वदन-मुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति[1]। कषायो रसः-संशमनः, संग्राही, संधानकरः, पीडनो, रोपणः, शोषणः, स्तम्भनः, श्लेष्म-रक्त-पित्तप्रशमनः, शरीरक्लेदस्योपयोक्ता, रूक्षः, शीतोऽलघुश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्व-मापादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वात-मूत्र-पुरीष-रेतांस्यवगृह्णाति, कर्शयति, ग्लपयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खर-विशद-रूक्षत्वात् पक्षवध-ग्रहापतानकादितप्रभृतींश्च वातविकारानुपजनयति[2]। इत्येवमेते षड्रसाः पृथक्त्वेनैकश्येन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना उप-काराय भवन्त्यध्यात्मलोकस्य, अपकारकराः पुनरतोऽन्यथा भवन्त्युप-युज्यमानाः; तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति॥

—च. सू. अ. २६

यथाद्रव्यमिति यद्यस्य रसस्य द्रव्यमाधारस्तदनतिक्रमेण। एतेन रसानां गुण-कर्मणि रसाधारे द्रव्ये बोद्धव्ये इति दर्शयति। तत्रेत्यादि। मधुर आदावुच्यते

←प्रभावाद् रूक्षोष्णप्रभावाच्च। कटेरसस्य कटुविपाकः तत्प्रभावात् पुंस्त्वोपघाती; न तु रसप्रभावाद्वीर्यप्रभावाद्वा। कणा-शुण्ठ्योर्हि रसतः कटुत्वेऽपि विपाकतो माधुर्याद्वृष्यत्वम्। सर्वत्रैवं विपाकप्रभावाद् वृष्यत्वावृष्यत्वमवधार्यम्। कर्षति शरीरधातूनपकृष्टान् करोति। मूर्च्छयति अन्धकारमिव दर्शयंश्चेतो हरति! पीलु हस्ततलम्।" इति गङ्गाधरः।

१—"शरीरस्थविषघ्नः कृमिघ्नश्च। खर-विशदस्वभावाच्च खर-विशद-सहावस्थान-स्वभावाच्च पुनः रसादीन्युपशोषयति, ततश्च स्रोतसां खरत्वमुप-पादयति।" इति गङ्गाधरः।

२—"संग्राही चलद्रवधातुसंक्षेपकारी। सन्धारणः चलत्स्तम्भनकारी। स्तम्भनः चलतां स्खलतां वा भावानां स्थिरीकरणः।" इति गङ्गाधरः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रशस्तायुष्यादिगुणतया प्रायः प्राणिप्रियतया च। षडिन्द्रियाणि मनसा समम्। जीवनः अभिघातादिमूर्च्छितस्य जीवनः। आयुष्यस्तु आयुःप्रकर्षकारित्वेन। क्षीणस्य क्षतसंधानकरो धातुपोषकत्वेन; किंवा क्षीणश्चासौ क्षतश्चेति, तेन क्षीणक्षतस्य उरःक्षतं संदधाति। षट्पदाद्यभीष्टत्वकथनं प्रमेहपूर्वरूपादिज्ञानोपयुक्तम्। यदुक्तं—"मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च।" (च. चि. अ. ६) इति, तथारिष्टे वक्ष्यति—"यस्मिन् गृध्नन्ति माक्षिकाः।" (च. इ. अ. ५) इति, अनेन च मधुरत्वं ज्ञायते। अक्ष्यामयेनैवाभिष्यन्दे लब्धे विशेषोत्पादनार्थं पुनर्वचनं; किंवा अभिष्यन्दो नासादिष्वपि ज्ञेयः। हृदयं तर्पयति हृद्यो भवति। भुक्तमपकर्षयतीति सारयति; क्लेदयति तथा जरयति भुक्तमेव। अवमूत्रितं मूत्रविषेर्जन्तुभिः, परिसर्पितं च स्पर्शविशेषैः कारण्डादिभिः। विकासी क्लेदच्छेदनः। अवस्रंसी विष्यन्दनशीलः। सर्वरसप्रत्यनीकं इति यत्र मात्रातिरिक्तो लवणो भवति तत्र नान्यो रस उपलक्ष्यते। आहारयोगीति आहारे सदा युज्यते। मोहयति वैचित्त्यं कुरुते। मूर्च्छयतीति संज्ञानाशं करोति। विपाकस्य प्रभावो विपाकप्रभावः, विपाकश्च कटूनां कटुरेव; रसस्य वीर्यस्य च प्रभावो रस-वीर्यप्रभावः; अयं च वक्ष्यमाणे सर्वत्र हेतुः। चरणादीनां साक्षाद्ग्रहणं तत्रैव प्रायो वातविकारभावात्; अत्र च विपाकप्रभावादिकथनमुदाहारणार्थं, तेन मधुरादिषु विपाकादिकार्यमुन्नयम्। ग्लपयति हर्षक्षयं करोति। पीडनः व्रणपीडनः। शरीरक्लेदस्योपयोक्तेति आचूषकः। 'शीतोऽलघुश्च' इत्यकारप्रश्लेषादलघुः[1]। अवगृह्णातीति बद्धानि करोति। यक्त्वेनेति एकैकशो मात्रशः। एकैकश्येनेति एकीकृत्य समुदायमात्रश इत्यर्थः। मात्रश इति मात्रया। तच्चैकीकरणं द्वि-त्र्यादिभिः सर्वैर्ज्ञेयम्। अध्यात्म लोकस्येति सर्वप्राणिजनस्य। अन्यथेति अमात्रया (च. द.)। अथ एकैकरसस्य गुण-कर्माणि वक्तुं प्रतिजानीते—तेषामिति। तेषां षण्णां रसानां मध्ये एकैकस्य रसस्य यथाद्रव्यं यस्य रसस्य यद् द्रव्यं पाञ्चभौतिकं तदनतिक्रम्य, तदनुसारेणेत्यर्थः। मधुरस्य द्रव्यं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्, अम्लस्य पृथिव्यग्निगुणबहुलं, लवणस्य सलिलाग्निगुणोत्कटं, कटुकस्य वाय्वग्निगुणभूयिष्ठं, तिक्तस्य वाय्वाकाशगुणोल्वणं, कषायस्य पवन-पृथिवीगुणबहुलम्। मधुरस्य यथाद्रव्यं गुण-कर्माण्याह—तत्रेत्यादि। तत्र तेषु मध्ये। मधुरो रसः। शरीरसात्म्यात् जन्मप्रभृति देहसात्म्यात्; बाल्ये एव क्षीरादिना पुरुषस्य वृत्तिः। रसादिशुक्रान्तानां सप्तानां धातूनामोजसश्च अभिवर्धनः। पित्तादीनां प्रशमनः। त्वचो हितः त्वच्यः। एवं बल्यः, केश्यः, कण्ठ्यश्च। प्रीणयतीति प्रीणनः। तर्पणः तृप्तिकृत्। बृंहणः उपचयकरः। स्थैर्य-

---

१—'शीतोऽलघुश्चेत्यकारप्रश्लेषादलघुः, उक्तं च वाग्भटे —"कषायः पित्तकफहा गुरुरस्रविशोधनः।" (अ. हृ. सू. अ. १०) इति। यत्तु सुश्रुते "कषायो रसो लाघवाद्रातं वर्धयति" (सु. सू. अ. ४२) इत्युक्तं, तत्तस्य लघुपाकतयेति न विरोधः' इति शिवदाससेनः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करः शरीरस्य दाढर्यकृत् । × × × । भग्नानामपि संधानकृत् । घ्राणादीनां प्रह्लादनः । दाहस्य मूर्च्छायाश्च प्रशमनः । षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः । अनेनैतद्दर्शयति-प्रमेहादिषु मूत्रगन्धोदये षट्पदाद्युपसर्पणान्माधुर्यानुमानं कृत्वा प्रमेहादिर्ज्ञायते । वक्ष्यति च प्रमेहनिदाने--"षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्" (च. नि. अ. ४) इति । मधुरस्य अतिसेवनेन दोषहमाह--स इति । एवंगुणोऽपि स मधुरः । एक एव, अत्यर्थम् अतिमात्रया, उपयुज्यमानः सेव्यमानः । स्थौल्यं शरीरस्य स्थूलत्वं, मार्दवं मांसानां शैथिल्यम्, आलस्यम्, अतिस्वप्नम्, अतिनिद्राम्, गौरवं गात्राणां गुरुत्वम्, अनन्नाभिलाषं तृप्तिम्, अग्नेर्दौर्बल्यम् अग्निसादम्, आस्य-कण्ठयोः मांसाभिवृद्धिः; तथा श्वासः, कासः, प्रतिश्यायो नासारोगः, अलसक-विसूचिके आमदोषौ, शीतज्वरः, आनाहः, आस्यमाधुर्यं मुखस्य मधुरास्वादत्वं, संज्ञा-स्वरयोः प्रणाशः, गलगण्डः, गण्डमाला, श्लीपदं, गलशोफः, बस्ति-धमनी-गलानामुपलेपः, अक्ष्यामयो नेत्ररोगः, अभिष्यन्दो दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिः कफजोऽयं विकारः, तदादीन् एवंविधानन्यानपि कफजान् व्याधीन् आपादयति जनयति । × × × । अम्लो रसः भुक्तमन्नं रोचयति तत्र रुचिं जनयति । अग्निं दीपयति अग्निदीपनः । देहं बृंहयति । ऊर्जयति बलं वर्धयति । मनो बोधयति मनसः पाटवं जनयति विकाशयति । इन्द्रियाणि दृढीकरोति तेषां बलं वर्धयति । × × × । अम्लस्य अतिसेव्यमानस्य दोषमाह--स इति । दन्तान् हर्षयति दन्तहर्षमुत्पादयति । तर्षयति तृष्णां जनयति ।। अक्षिणी सम्मीलयति रोमाणि संवेजयति अञ्चयति । कफं विलायति द्रवयति । कायं शिथिलीकरोति शरीरशैथिल्यं जनयति । क्षीणक्षतादीनां श्वयथुमापादयति । अपि च क्षतं नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम्, अभिहतं दण्डादिना, दष्टं व्यालादिना, दग्धमग्नि-क्षारादिना, भग्नं शूनं श्वयथुमत्, च्युतं भ्रष्टं स्वस्थानात्, × × × छिन्नं खड्गादिना द्विधाकृतं, भिन्नं भेदः आशयविदारणं, विश्लिष्टम् अभिघातादिना विच्छिन्नं, विद्धं कण्टकादिना, उत्पिष्टं प्रहारादिना चूर्णितम्, आदिना विचित पीडितादीनां ग्रहणं, तानि आग्नेयस्वभावात् पाचयति । तथा आग्नेयस्वभावात् कण्ठमुरो हृदयं च परिदहति । × × × । पाचयतीति पाचनः । च्यावयतीति च्यावनः प्रत्यवयवानां स्वस्थानाच्युतिकरः । सरः स्थिरविपरीतः अवकाशकरः अवकाशः छिद्रम् । स्तम्भादीनां विधमनो विनाशनः । संघातः काठिन्यम् । सर्वरसानां प्रत्यनीकभूतो विपक्षभूतः उच्छेदक इत्यर्थः । मार्गान् स्रोतांसि शोधयति । आहारं रोचयति आहारे रुचिं जनयति । × × × । न अत्यर्थं गुरुः, न वा अत्यर्थं स्निग्धः । स लवणः । तर्षयति तृष्णां जनयति । मूर्च्छयति मूर्च्छा चेतनाच्युतिः । मोहयति मोहः अत्यन्तं चित्तनाशः दारयति दारणमङ्गानां स्फोटनम् । मांसानि कृष्णाति निष्कर्षति मांसशैथिल्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जनयतीत्यर्थः। कुष्ठानि प्रगालयति स्रावयति। शोफान् स्फोटयति दारयति। पुंस्त्वमुहन्ति पुंस्त्वोपघातः शुक्रक्षयः। इन्द्रियाणि उपरुणद्धि तेषां स्वकर्महानिं करोति। वलिः शिथिलीभूतं चर्म, पलितं केशानां शौक्ल्यं, खालित्यं च, तेषां समाहारः; तत् आपादयति। खालित्यमिह रोम्णां प्रच्युतिमात्रम्। इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं तु शिरसि, इति केचित्। लोहितपित्तं रक्तपित्तम् अम्लपित्तं, वीसर्पः, वातरक्तं, विचर्चिका क्षुद्रकुष्ठभेद, इन्द्रलुप्तम्, प्रभृतीन् कण्डू-कोठादीनां ग्रहणं; तान् विकारानुपजनयति। विमाने च वक्ष्यति—लवणं पुनरौष्ण्य-तैक्ष्ण्योपपन्नमनतिगुर्वतिस्निग्धमुपक्लेदि विस्रंसनसमर्थमन्नद्रव्य-रुचिकरापातभद्रं प्रयोगसमसाद्गुण्याद् दोषसंचयानुबन्धम्। तद्रोचन-पाचनोप-क्लेदन-विस्रंसनार्थमुपयुज्यते। तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानि-शैथिल्य-दौर्बल्याभि-निर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति। ये ह्येनद् ग्राम-नगर-निगम-जनपदाः सतत-मुपयुञ्जते ते भूयिष्ठं श्लास्रवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्य-पालित्यानि तथा वलयश्चाकाले भवन्ति।" (च. वि. अ. १) इति। ×××। वक्त्रं मुखं शोधयति क्षालयति रसस्रावात्। भुक्तमन्नं शोषयति। चक्षुर्विरेचयति स्रावयति। मुखनासाक्षि-संस्रावीति। इन्द्रियाणि स्फुटीकरोति इन्द्रियपाटवं जनयति। अलसकम् आमदोषः, श्वयथुः, उपचयः स्थौल्यम् ××× अभिष्यन्दः दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदीभावः, स्नेहः शरीरस्य स्निग्धत्वं, स्वेदः, क्लेदः, मलश्च, तान् उपहन्ति। अशनमाहारं रोचयति। कण्डूं विलाययति उपशमयति। व्रणान् अवसादयति रोपयतीत्यर्थः। मांसं विलिखति विलेखनम् ईषच्चर्मविदारणम्। शोणित-संघातं भिनत्ति द्रवीकरणात् बन्धान् संधिबन्धान् छिनत्ति विश्लेषयति। मार्गान् स्रोतांसि विवृणोति प्रसारयति। स कटुकः। विपाकस्य प्रभावात् कटुरसस्य विपाकः कटुः, "कटुतिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इति। विपाकप्रभावाद् पुंस्त्वमुपहन्ति शुक्रक्षयं करोति, कटुविपाकस्य शुक्रनाशनत्वात्; शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इति। रसस्य वीर्यस्य च प्रभावः तस्मात्। ×××। सादयति अवसादयति। कर्शयति कार्श्यमापादयति। नमयति शरीरम्। तमयति, क्लमयति, भ्रमयति, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात्; भ्रमः चक्रारूढस्येव। मदः अपस्मारपूर्वरूपं हर्षक्षयो वा। दवथुः दाहः, कम्पः, तोदः सूचीभिरिव व्यधनं, भेदश्च, तै; वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् भ्रमादिकृदित्यर्थः। ×××। मारुतजान् वातजान् विकारान् उपजनयति, वाय्वग्निगुणाधिक्यात्। ×××। स्वयमरोचिष्णुः स्वयं मुखस्य अरोचनशीलोऽपि अरोचकं हन्तीति अरोचकघ्नः। मूर्च्छादीनां प्रशमनः। त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणः स्थैर्यकृत्। क्लेदादीनामुप-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शोषण : × ×। स तिक्तः। रौक्ष्यात् रूक्षत्वात् खर-विशदस्वभावत्वाच्च रसादीन् धातूनुपशोषयति। स्रोतसां मार्गाणां खरत्वमुपपादयति। बलमादत्ते क्षिणोति। धातूनामुपशोषणः। स्रोतसां खरत्वं, बलक्षय-कर्शनादीनि च, एते हि वातजा विकाराः; अन्यांश्च वातविकारान् पक्षवध-शूलापतानकार्दित-प्रभृतीन् उपजनयति। × × ×। संग्राही मलविबन्धकृत्। संधानकरो भग्नस्य। पीडनो हृदयस्य व्रणस्य वा, वातकारित्वात्। रोपणो व्रणस्य। श्लेष्मादीनां प्रशमनः। शरीरक्लेदस्य उपयोक्ता उपशोषणः। स कषायः। आस्यं मुखं शोषयति। वाचं निगृह्णाति, वाङ्निग्रहो वाक्संगः। स्रोतांसि अवबध्नाति रुणद्धि। श्यावत्वं श्याववर्णत्वमापादयति, वातकारित्वात्। विष्टभ्य जरां गच्छति जीर्यति; सवाततोदशूला मलस्याप्रवृत्तिः विष्टम्भः। खर-विशद-रूक्षत्वात् पक्षवधादीन् वातविकारान् उपजनयति। × × × (यो.)॥

रसगुणानत[1] ऊर्ध्वं वक्ष्यामः——तत्र, मधुरो रसो रस-रक्त-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जौजः-शुक्र-स्तन्यवर्धनः, चक्षुष्य, केश्यो, वर्ण्यो, बलकृत्, संधानः, शोणित-रसप्रसादनो, बाल-वृद्ध-क्षतक्षीणहितः, षट्पद-पिपीलकानामिष्टतमः, तृष्णा-मूर्च्छा-दाहप्रशमनः, षडिन्द्रियप्रसादनः, कृमि-कफकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कास-श्वासालसक-वमथु-वदनमाधुर्य-स्वरोपघात-कृमि-गलगण्डानापादयति, तथाऽर्बुद-श्लीपद-बस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतीञ्जनयति। अम्लो जरणः, पाचनो, दीपनः, पवननिग्रहणः, अनुलोमनः, कोष्ठविदाही, बहिःशीतः[2], क्लेदनः, प्रायशो हृद्यश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्ष-नयनसंमीलन[3]-रोमसंवेजन - कफविलयन - शरीरशैथिल्यान्यापादयति, तथा क्षताभिहत-दग्ध-दष्ट-भग्न-रुग्ण-शून-प्रच्युतावमूत्रित-विसर्पित-च्छिन्न-भिन्न विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं चेति। लवणः संशोधनः, पाचनो, विश्लेषणः, क्लेदनः, शैथिल्यकृत्, उष्णः, सर्वरसप्रत्यनीको, मार्गविशोधनः, सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डू-कोठ-शोफ-वैवर्ण्य-पुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपताप-मुखाक्षिपाक-रक्त-पित्त-वातशोणिताम्लीकाप्रभृतीनापादयति। कटुको दीपनः, पाचनो,

---

१——"रसगुणान् रसधर्मान्' इति चक्रः। २——'बहिःशीत इति स्पर्शशीतः' इति चक्रः। ३—'नयनसंमीलनं सर्वदा पिहिताक्षत्वम्' इति चक्रः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोचनः, शोधनः, स्थौल्यालस्य-कफ-कृमि-विष-कुष्ठ-कण्डूप्रशमनः, संधि-बन्धविच्छेदनः, अवसादनः, स्तन्य-शुक्र-मेदसामुपहन्ता चेति ; स एवं-गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रम-मद-गलताल्वोष्ठशोष-दाह-संताप-बलविघात-कम्प-तोद-भेदकृत् कर-चरण-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति । तिक्तश्छेदनो, रोचनो, दीपनः, शोधनः, कण्डू-कोठ-तृष्णा-मूर्च्छा-ज्वरप्रशमनः, स्तन्यशोधनो, विण्मूत्र-क्लेद-मेदो-वसा-पूयोपशोषणश्चेति ; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्र-मन्यास्तम्भाक्षेपकार्दित - शिरःशूल-भ्रम - तोद-भेद-च्छेदास्यवैरस्यान्या-पादयति । कषायः संग्राहको, रोपणः, स्तम्भनः, शोधनोः, लेखनः, शोषणः, पीडनः, क्लेदोपशोषणश्चेति ; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थ-मुपसेव्यमानो हृत्पीडास्यशोषोदराध्मान-वाक्प्रग्रह-मन्यास्तम्भ-गात्र-स्फुरण-चुमचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति ॥— सु. सू. अ. ४२

रसगुणानित्यादि । षष्ठमिन्द्रियं मनः । तस्येदानीमतिसेव्यमानस्याति-सेवां दोषकरीं निदर्शयन्नाह—स एवंगुण इत्यादि । अम्लस्य सेवितस्य गुणान् दर्शयन्नाह—अम्ल इत्यादि । जरण आहारस्य । पाचनो दोषामयोः, व्रण-शोथस्य वा । अनुलोमनो वात-मूत्र-पुरीषाणाम् । तस्यैकस्यातिसेवितस्य दोषं निर्दिशन्नाह—स एवंगुण इत्यादि । रोमसंवेजनं रोमाञ्चः । अभिहतम् अभिघातः, दष्टं व्यालादिभिः, भग्नं काण्डभग्नाद्यनेकधा, रुग्णं वक्रीभूतं, प्रच्युतं-भ्रष्टं स्वस्थानात्, अवमूत्रितं मूत्रविषाणां जन्तूनां मूत्रसंगः, विसर्पितं स्पर्शविषाणां जन्तूनां विसर्पितसंगः, छिन्नं निःशेषतः, भिन्नं कोष्ठादि, विद्धं सिरादि, उत्पिष्टं प्रहारचूर्णितादि । × × × । संशोधनो वमनविरेचनाभ्यां, व्रणस्य च दुष्टस्य । विश्लेषण इति पृथक्करणः प्रत्यवयवानां, छेदित्वात् । क्लेदनो व्रणस्य । सर्वरसानां प्रत्यनीको विपक्ष उच्छेदक इत्यर्थः । मार्गविशोधनो मूत्र-नाडीव्रणादि-मार्गविशोधनः । कोठः पिडका, पुंस्त्वोपघातः शुक्रक्षयः, इन्द्रियोपतापः चक्षुरादीनां स्वकर्म-गुणहानिः, अम्लीकेति अम्लोद्गारः । आपादयति करोति । कटुकस्य प्रकृतिकर्म निर्दिशन्नाह—कटुक इत्यादि । अवसादनः अनुत्साहकृत् । भ्रमः चक्रारूढस्येव; मद उन्मादपूर्वरूपं, हर्षक्षयो वा । × × × । रोचन इति इतरभक्ष्यवस्तूनां, न पुनः स्वयमेव । × × × । मन्ये द्वे, तयोः स्तम्भ इति । रोपणो व्रणस्य । स्तम्भनो गात्राणां, मृदूनां वा दृढ़ीकरणः । शोधनो व्रणस्य । लेखनो व्रणाद्युत्सन्नमांसस्य । शोषणो द्रवधातोः, व्रण-मेहादीनां वा । पीडनो व्रणस्य हृदयस्य वा, वातकारित्वात् × × × । चुमचुमायनं राजिकालिप्तस्येव

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्वक्पीडा, आक्षेपणमतिशयेन कम्पनम्। प्रभृतिग्रहणादन्यानपि वातविकारानदितादीन् करोति[1] (ङ)॥

तत्र मधुरो रसो जन्मप्रभृतिसात्म्यात् सर्वधातुविवर्धन, आयुष्यो, बाल-वृद्ध-क्षतक्षीण-बल-वर्णेन्द्रिय-त्वक्केश-कण्ठहितः, प्रीणनो, बृंहणो, जीवनः, तर्पणः, स्थैर्य-संधान-स्तन्यकरो, वात-पित्त-विष-दाह-मूर्च्छा-तृष्णाप्रशमनः, स्निग्धः; शीतो, मृदुर्गुरुश्च॥

एवं गुणोऽपि स सदाऽत्युपयुज्यमानः
स्थौल्याग्निसाद-गुरुतालसकातिनिद्राः।
श्वास-प्रमेह-गलरोग-विसंज्ञताऽस्य-
माधुर्य-लोचनगलार्बुद-गण्डमालाः॥
छर्द्यु-दर्द-मूर्धरुक्कास-पीनस-कृमीन्
श्लीपद-ज्वरोदर-ष्ठीवनानि चावहेत्॥

अम्लोऽनिलनिबर्हणः, अनुलोमनः, कोष्ठविदाही, रक्तपित्तकृत्, उष्णवीर्यः, शीतस्पर्शो, बोधयतीन्द्रियाणि, रोचनः, पाचनो, दीपनो, बृंहणः, तर्पणः, प्रीणनः क्लेदनो, व्यवायी, लघुः, स्निग्धो, हृद्यश्च॥

जनयति शिथिलत्वं सेवितः सोऽति देहे
कफविलयन-कण्डू-पाण्डुता-दृग्विघातान्।
क्षत-विहतविसर्पं रक्तपित्तं पिपासां
श्वयथुमपि कृशानां तैजसत्वाद् भ्रमं च॥

लवणः स्तम्भ-बन्ध-संहतिविध्मापनः, सर्वरसप्रत्यनीको, दीपनो, रोचनः, पाचनः, क्लेदनः, शोषणः, स्नेहनः, स्वेदनो, भेदनः, छेदनः, सरो, व्यवायी, विकाषी, हरति पवनं, विष्यन्दयति कफं, विशोधयति स्रोतांसि, नातिगुरुः, तीक्ष्णोष्णश्च॥

खलति-पलित-तृष्णा-ताप-मूर्च्छा-विसर्प-
श्वयथु-किटिभ-कोठाक्षेप-रोधास्रपित्तम्।

१—'बहिःशीत इति स्पर्शशीतः। नयनसंमीलनं सर्वदा पिहिताक्षत्वम्। सर्वरसप्रत्यनीकता लवणस्य लवणयोगे सर्वेषामेव रसानामभिभवादनुभवसिद्धत्वाज्ज्ञेया' इति चक्रदत्तः॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्षत-विष-मदवृद्धिं वातरक्तं करोति
क्षपयति वलमोजः सोऽति वा सेवनेन ॥

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुः, अरुचि-विष-कृमि-मूर्च्छोत्क्लेद-ज्वर-दाह-तृट्-कुष्ठ-कण्डूहरः, क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-विण्मूत्र-पित्त-श्लेष्मोप-शोषणो, दीपनः, पाचनो, लेखनः, स्तन्य-कण्ठविशोधनो, मेध्यो, नातिरूक्षः, शीतो, लघुश्च ॥

धातुबलक्षय-मूर्च्छा-ग्लानि-भ्रम-वातरोग-परुषत्वम् ।
खर-विशद-रौक्ष्यभावैः सोऽतिसमासेवितः कुर्यात् ॥

कटुकोऽलसक-श्वयथूदर्द-स्थौल्याभिष्यन्द-कृमि -वक्त्ररोग- विष-कुष्ठ-कण्डूप्रसाधनो, व्रणावसादनः, स्नेह-क्लेदशोषणो, रोचनः, पाचनो, दीपनो, लेखनः, शोधनः, शोषयत्यन्नं, स्फुटयतीन्द्रियाणि, भिनत्ति शोणितसंघातं, छिनत्ति बन्धान्, विवृणोति स्रोतांसि, क्षपयति श्लेष्माणं, लघु-रूक्ष-तीक्ष्णोष्णश्च ॥

कुरुतेऽतिनिषेवितः स तृष्णा-मद-मूर्च्छा-वमि-मोह-देहसादान् ।
बलशुक्रगलोपशोष-कम्प-भ्रम-ताप-ग्लपनातिकर्शनानि ॥
कर-चरण-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिष्वनिलस्य कोपमतितीव्रम् ।
संकोच-तोद-भेदैर्वाय्वग्निगुणाधिकत्वेन ॥

कषायो बलासं सपित्तं सरक्तं निहन्त्याशु बध्नाति वर्चोऽतिरूक्षः ।
गुरुस्त्वक्सवर्णत्वकृत् क्लेदशोषी हिमः प्रीणनो रोपणो लेखनश्च ॥
अत्यभ्यासात् सोऽपि शुक्रोपरोधं तृष्णाध्मान-स्तम्भ-विष्टम्भ-कार्श्यम् ।
स्रोतोबन्धं वात-विण्मूत्रसङ्गं पक्षाघाताक्षेपकादींश्च कुर्यात् ॥

—अ. सं. सू. अ. १८

रसानां स्वरूपमुक्त्वा तत्र मधुर इत्यादिना कर्म निर्दिशति । तत्र तेषु रसेषु मध्ये, मधुर उपयुक्तो धातूनां रसादीनां सप्तानां वृद्धिकरः । कुतः ? आजन्म-सात्म्यात् ; जन्मनः प्रभृति देहस्य सात्म्यादित्यर्थः । बालभाव एव क्षीरादिना मधुरेण देहवृत्तिः पुरुषस्य । हित इति बालादिभिः संबध्यते । प्रीणनः तुष्टिकरः जीवन ओजस्य । एवंगुणोऽपि मधुरो रसः सदैवात्युपयुज्यमानः स्थौल्यादीन् रोगान् कुरुते । यदा त्वतिमात्रत्वेन रहितः सदोपयुज्यते तदा सुखकर एव । स्थौल्यादयो रोगाः केचिद्वक्ष्यमाणलक्षणाः । अर्बुदशब्दस्य लोचन-गलाभ्यां सम्बन्धः । अम्लोऽनिलनिबर्हणत्वादियुक्तः । स चातिसेवितो देहे शैथिल्यादी-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ञ्जनयति। लवणरसः स्तम्भादीनां विध्मापनो विनाशकरः। स्तम्भोऽङ्ग-दोषादेः, बन्धः तस्यैव मार्गरोधः। संघातो भावानां निबिडत्वम्। सर्वेषां च शेषाणां रसानामुपलम्भे प्रत्यनीकः प्रतीपक्षः विघातित्वात्। विष्यन्दयति स्रावयति। नातिगुरुर्नातिस्निग्धश्च। सोऽतिसेवितः खलत्यादीन् करोति, बलादींश्च क्षपयति। तिक्तो रसः स्वयं पुरुषस्यारोचनशीलः, अरुचिं चाहार-द्रव्यविषयां नाशयति विषादींश्च, देहे च क्लेदादीनामुपशोषणः। सोऽतिसेवितो धातुक्षयादीन् करोति खरत्वाद्, वैशद्याद्, रौक्ष्याच्च। कटुको रसोऽलसकादीनां प्रसाधनो विनाशनः। व्रणस्य चावसादनः रोहणप्रतिबन्धकः। अन्नं शोषयति विदहति। सोऽतिनिषेवितस्तृष्णादीन् कुरुते। बल-शुक्रयोरुपशोषो हानिः, गलस्य यत्त्वन्तरुपशुष्कत्वमुपशोषः। करचरणादिष्वनिलस्य वायोः कोपं करोति। किंभूतं ? संकोचाविभिस्तीव्रं दुःसहम्। एतच्च तृष्णादिकं वाय्वग्निगुणाधिक्येन हेतुना करोति। हेतुकीर्तनं देशादिवशाद्धेतोरूनाधिक्येन तत्कार्यस्यापि तथा भावसूचनाय, अन्यत्र च तद्धेतुसद्भावे तथैवेति प्रदर्शनाय च। कषायः बलासं श्लेष्माणं सपित्तं सरक्तं चाशु निहन्ति। वर्चः पुरीषं, बध्नाति रुणद्धि। सोऽप्यत्यभ्यासात् शुक्रोपघातादीन् कुर्यात् (इन्दुः)॥

मधुरो रसः।

आजन्मसात्म्यात् कुरुते धातूनां प्रबलं बलम्॥
बाल-वृद्ध-क्षतक्षीण-वर्ण-केशेन्द्रियौजसाम्।
प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्य-सन्धानकृद् गुरुः॥
आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषापहः।
कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदः-श्लेष्मजान् गदान्॥
स्थौल्याग्निसाद-सन्न्यास-मेह-गण्डार्बुदादिकान्।
अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धो हृद्यः पाचन-रोचनः॥
उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनः क्लेदनो लघुः।
करोति कफ-पित्तास्रं मूढवातानुलोमनः॥
सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम्।
कण्डु-पाण्डुत्व-वीसर्प-शोफ-विस्फोट-तृड्-ज्वरान्॥
लवणः स्तम्भ-सङ्घात-बन्धविध्मापनोऽग्निकृत्।
स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेद-भेदकृत्॥
सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलतिं पलितं वलिम्।
तृट्-कुष्ठ-विष वीसर्पाञ्जनयेत् क्षपयेद्बलम्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं कृमि-विड्विषम् ।
कुष्ठ-मूर्च्छा-ज्वरोत्क्लेश-दाह-पित्त-कफाञ्जयेत् ॥
क्लेदमेदो-वसा-मज्ज-शकृन्मूत्रोपशोषणः ।
लघुर्मेध्यो हिमो रूक्षः स्तन्य-कण्ठविशोधनः ॥
धातुक्षयानिलव्याधीनतियोगात् करोति सः ।
कटुर्गलामयोदर्द-कुष्ठालसक-शोफजित् ॥
व्रणावसादनः-स्नेह-मेदः-क्लेदोपशोषणः ॥
दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः ॥
छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः ।
कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम् ॥
मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटि-पृष्ठादिषु व्यथाम् ।
कषायः पित्त-कफहा गुरुरस्रविशोधनः ॥
पीडनो रोपणः शीतः क्लेद-मेदोविशोषणः ।
आमसंस्तम्भनो ग्राही रूक्षोऽतित्वक्प्रसादनः ॥
करोति शीलितः सोऽति विष्टम्भाध्मान-हृद्रुजः ।
तृट्-कार्श्य-पौरुषभ्रंश-स्रोतोरोध-मलग्रहान् ॥ —अ.हृ.सू.अ. १०

मधुरो रसो धातूनां बलं प्रबलं कुरुते प्रकृष्टचा शक्त्या युक्तं बलं जनयेत्, निजं वलं यत् तत्प्रकृष्टं जनयतीत्यर्थः। स्तन्यं क्षीरं, संधानं श्लेषः, ते करोतीति स्तन्य-संधानकृद्; गुरुश्च । तथा आयुष्यादिगुणः । ननु, आयुष्य-जीवनयोरेकार्थत्वा-देकतरोपादानमेव युक्तं ? मैवम्, एतयोर्भिन्नार्थत्वात् । तथाहि—आयुष्यः स उच्यते योऽपरिमितायुषो हितः, अधिकायुषो हेतुत्वात्; तथा च मुनिः—"तेना-युरमितं लेभे" (च. सू. अ. १) इति । यस्त्वायुषो नियतरूपस्य तामेव मर्यादामनु-बध्नाति, स जीवयतीति जीवन उच्यते । तदनयोः स्पष्ट एव भेदः । तथा जीवन-मोजस्यमित्यभिन्नार्थौ, त्वेतयोरपीह यदुपादानं तदोजसो द्विविधाया अपि वृद्धेः कारकोऽयमिति प्रतिपादयितुम् । तथाच, मधुरो रसो रुधिरादिक्रमेण ओजसो वृद्धिकरः सामान्याद्विशेषाच्च । यथा—क्षीरं धातुवर्धनमुक्तं वृष्यं च । तत्र धातु-वर्धनत्वेनैव वृष्यत्वस्योक्तत्वाद् वृष्यशब्दोपादानं यान्यन्यानि वृष्याणि द्रव्याण्यात्म-गुप्तादीनि, तेभ्यः सकाशाद्विशेषेणाश्वेव वृद्धिकरमिति द्योतयितुं कृतमिति । मूढम् अननुलोमगं वातमनुलोमयतीति मूढवातानुलोमनः । आजन्मसात्म्यात् निरुपाधिक-सात्म्यादित्यर्थः । प्रबलम् इतररसकृतेभ्यो बलेभ्यः । बलं देहधारणसामर्थ्यम् । स्थौल्यादयो मेदः—श्लेष्मजानामुदाहरणम् । हृद्यः हृदयप्रियः । रोचनः जिह्वायाः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्तम्भादीनां विध्मापनो नाशनः। स्तम्भः निष्क्रियत्वम्। संघातः काठिन्यम्। बन्धः स्रोतोरोधः। छेदः विलम्बिमांसादेः। भेदः पक्वशोफादेः। अस्रपवनं वातशोणितम्। खलति-पलिते कपालरोगौ। वलिः शैथिल्यकृत्त्वक्संकोचः। विषजननं विषातिवृद्धिजननम्। कण्ठविशोधनः कण्ठरोधहरः। चलव्याधीन् वातव्याधीन्। कर्माण्याह—कटुरिति। उदर्दस्त्रिधा—स चोक्त आयुर्वेदप्रकाशे —"उदर्द उक्तो वक्षोऽभिष्यन्दोऽन्यैः शीतवेपथुः। शीताम्बुस्पर्शजः शोफो राग-कण्डूयुतः परैः॥" इति। व्रणावसादनः व्रणोत्सेधहरः। स्नेहादीनामुपशोषणः। नाशनः, अन्नस्यादनीयत्वं नाशयतीत्यर्थः। स्रोतांसि विवृणोति प्रसारयति। आकुञ्चनं सिरादिसंकोचः। अस्रविशोधनः रक्तदुष्टिहरः। पीडनः व्रणानामा-चूषणः। आमसंस्तम्भनः आमदोषाणां पाकप्रबन्धकरः। ग्राही स्तम्भनः॥ अतित्वक्प्रसादनः त्वचमतिनिर्मलां करोति। पौरुषभ्रंश शुक्रहानिः (हे०)

अब मधुरादि छः रसों में से प्रत्येक के गुण और कर्म उनके आधारभूत द्रव्य जो पृथिव्यादि महाभूत, उनके अनुसार कहे जाते हैं।—

मधुर रस (मधुर रसवाला द्रव्य) जन्म से ही मनुष्य के शरीरको निरुपाधिक सात्म्य होने से रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-ओज-शुक्र को बढ़ानेवाला, आयुष्य को टिकाने और बढ़ानेवाला, मनसहित छः इन्द्रियो को प्रसन्न करनेवाला, बलकारक, शरीर की कान्ति को अच्छा करनेवाला, पित्त, विष तथा वायु का नाश करनेवाला, तृषा और दाह का शमन करनेवाला, त्वचा-केश और कण्ठ के लिए हितकर, शरीर को बल देनेवाला, शरीर का पोषण करनेवाला, अभिघातादि से मूर्च्छित को जीवन देनेवाला, तृप्तिकर, बृंहण, शरीर को दृढ़ करनेवाला, उरःक्षत और भग्न अस्थि का संधान करनेवाला, घ्राणेन्द्रिय-मुख-कण्ठ-ओष्ठ और जिह्वा को आनन्द देनेवाला, दाह और मूर्च्छा का नाश करनेवाला, भौंरों और चींटियो को अत्यन्त प्रिय, स्निग्ध, शीत, गुरु[1] (च,); स्तन्यवर्धक, नेत्रों के लिए हितकर, रक्त और रस धातु को शुद्ध करनेवाला, बाल-वृद्ध और क्षतक्षीण के लिए हितकर, कृमि और कफ को करने-वाला (सु.); मृदु (अ. सं.) और रस आदि सब धातुओं को उत्तम बल देनेवाला है (अ. हृ.)। मधुर रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेले का अति उपयोग करने से स्थूलता, मृदुता, आलस्य, अतिनिद्रा, भारीपन, अन्नपर अरुचि, अग्निमान्द्य, मुख और कण्ठ में मांस की वृद्धि, श्वास, खाँसी, जुकाम (प्रतिश्याय), अलसक (आमविकार-विशेष), शीतज्वर, आनाह (कब्ज), मुखमाधुर्य, वमन, संज्ञानाश, स्वरभङ्ग, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, गलेकी सूजन, मूत्राशयधमनियों

१—स्निग्ध, शीत और गुरु (मृदु अ. सं.) ये मधुर रस के साथ रहनेवाले (सहचर) गुण हैं तथा रस-रक्त आदि की वृद्धि आदि करना मधुर रस के कर्म हैं (ग.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और गले में क्लेद (मलवृद्धि, चिकनापन), नेत्र के रोग (आँख आना आदि), अभिष्यन्द (नाक-गले आदि की सर्दी) आदि कफरोग (च.); कृमि, अर्बुद, गुदोपलेप (गुदा में चिकनाहट) (सु.); प्रमेह, नेत्रार्बुद, उदर्द, सिरदर्द, उदररोग, बार-बार थूकना (अ. सं.); मेदोरोग और पंन्यास आदि (कफप्रधान) विकारों को (अ. हृ.) उत्पन्न करता है।

अम्ल रस (अम्ल रसवाला द्रव्य) अन्नपर रुचि उत्पन्न करनेवाला, अग्निदीपन, शरीर को बढ़ानेवाला, उत्साहवर्धक, मन को जागरित (उत्तेजित) करनेवाला, इन्द्रियों को दृढ़ करनेवाला, बलवर्धक, मूढ़-वातानुलोमन (रुके हुए) वायु का अनुलोमन करनेवाला, हृदय को तृप्त करनेवाला, मुख में लालास्राव उत्पन्न करनेवाला, खाये हुए अन्न को नीचे ले जानेवाला—विलग्न करनेवाला (गलानेवाला) और पकानेवाला, प्रीणन, लघु, उष्ण, स्निग्ध[1] (च.); व्रणशोथ को पकानेवाला, वातहर, पेट में विदाह करनेवाला, स्पर्श में ठण्डा (परन्तु वीर्य में उष्ण), क्लेदन, प्रायः हृद्य (सु.), रक्त और पित्तको उत्पन्न-प्रकुपित करनेवाला, इन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाला, तर्पण, व्यवायी (अ. सं.) तथा कफकर (अ. हृ.) है। अम्ल रस ऊपर लिखे हुए गुणोंवाला होते हुए भी केवल उस अकेले का अति उपयोग करने से दन्तहर्ष, तृषा, नेत्रसंमीलन (आँख मिची-सी रहना), रोमाञ्च, कफविलयन (कफ का पिघलना), पित्तप्रकोप, रक्तदोष मांस में विदाह (पाक), शरीरशैथिल्य, क्षीण-क्षत, कृश और दुर्बल पुरुषों में श्वयथु (सूजन), क्षत-अभिहत (चोट)—सविष प्राणि का दंश, दग्ध (जला हुआ)—टूटी हुई हड्डी—अस्थि आदि का स्थानभ्रंश—अवमूत्रित (सविष प्राणियों का शरीरपर पेशाब कर जाना)—परिसर्पित (सविष प्राणियों का स्पर्श)—मर्दित (अङ्ग का जोर से मसला जाना)—छिन्न (कटना)—भिन्न (फटना)—विश्लिष्ट (संधि का अलग होना)—विद्ध (अङ्ग का विंध जाना)—उत्पिष्ट (अङ्ग का कुचल जाना) आदि में अपने आग्नेय स्वभाव के कारण पाक (पूय) की उत्पत्ति, कण्ठ-छाती और हृदय में दाह (च.); खाज, पाण्डुरोग, दृष्टि की मन्दता, क्षतविसर्प, रक्तपित्त, भ्रम (चक्कर आना) (अ. सं.); तिमिर (आँखों के आगे अन्धकार लगना), फोड़े-फुन्सी और ज्वर (अ. हृ.) इन विकारों को उत्पन्न करता है।

लवणरस (लवण रसवाला द्रव्य) पाचन, क्लेदन, दीपन, शरीर के धात्वादि अवयवों को अपने स्थान से च्युत करनेवाला, छेदन, भेदन, तीक्ष्ण, अनुलोमन, विकासी, द्रव करके बहानेवाला, स्रोत आदि में अवकाश करनेवाला, वातहर, स्तम्भ (अङ्गका जकड़ जाना) —स्रोतों का अवरोध और काठिन्य को दूर करनेवाला,

---

१—लघु, उष्ण और स्निग्ध ये अम्ल रस के साथ रहनेवाले गुण हैं तथा अन्नपर रुचि उत्पन्न करना आदि अम्ल रस के कर्म हैं (ग.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अन्य सब रसों का विरोधी (उनके स्वाद को छिपा देनेवाला), मुख में लालास्राव करनेवाला, कफ को पिघलानेवाला, स्रोतों का शोधन करनेवाला, शरीर के सब अवयवों को मृदु करनेवाला, रोचक, आहार के साथ उपयोग में आनेवाला; कुछ गुरु, स्निग्ध और उष्ण[1] (च.); संशोधन, विश्लेषण (अपने छेदन स्वभाव से अवयवों को पृथक् करनेवाला), शिथिलता लानेवाला, (सु.); शोषण, स्नेहन, स्वेदन, लटकते हुए मांस आदि का छेदन करनेवाला, अनुलोमन, व्यवायी, तथा कुछ तीक्ष्ण (अ. सं.) है। लवण रस ऊपर कहे हुए गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेले का अति उपयोग करने से पित्तप्रकोप, रक्तकी अतिवृद्धि (प्रकोप), तृषा, मूर्च्छा, ताप, अङ्गों में चीरे पड़ना, मांस में शैथिल्य, कुष्ठ में गलाव, शरीरस्थ विषकी वृद्धि, शोथों का फटना, दाँतों का गिरना, पुंस्त्वनाश (शुक्रक्षय), इन्द्रियों की अपने-अपने कार्यों में अशक्ति, वली (झुर्री), बाल पकना, खालित्य (गंजापन), रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, इन्द्रलुप्त (बाल झड़ना) (च.); खाज, कोठ (ददोड़े-पित्ती), शोथ, शरीर का वर्ण बिगड़ना, इन्द्रियों का उपताप, मुखपाक, नेत्रपाक, खट्टे डकार आदि अन्नविदाह के लक्षण (सु.); किटिभ (कुष्ठविशेष), आक्षेप, घावको बढ़ाना, मदवृद्धि (नशे को बढ़ाना), बलक्षय, ओजःक्षय (अ. सं.) और कुष्ठ (अ. हृ.)--इन विकारों को उत्पन्न करता है।

कटुरस (वाला द्रव्य) मुख को शुद्ध करनेवाला अग्निदीपन, खाये हुए अन्न का शोषण करनेवाला, नासिका और नेत्रों से स्राव करानेवाला, इन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाला, अलसक--सूजन--मांसादि की वृद्धि--पित्ती-अभिष्यन्द-स्वेदक्लेद और मल--इनका नाश करनेवाला, रोचक, कण्डूका नाश करनेवाला, व्रणावसादन (व्रण में उभरे हुए मांस को बैठानेवाला), कृमिघ्न, मांस का लेखन करनेवाला, रक्त के जमाव को तोड़नेवाला, बन्धों (स्रोतों में रुकावट) को दूर करके स्रोतों को खालनेवाला, कफनाशक, लघु, उष्ण, रूक्ष[2] (च.); शोधन, स्थूलता--आलस्य--कफ--विष और कुष्ठ--इनको दूर करनेवाला, संधियों के बन्धों (जकड़ने) को तोड़नेवाला, स्तन्य--शुक्र तथा मेदका नाश करनेवाला (सु.); स्नेह और क्लेदको सुखानेवाला, मुखरोगहर, लेखन (शरीर को कृश करने वाला), तीक्ष्ण (अ. सं.) तथा गलरोगहर (अ. हृ.) है। कटुरस ऊपर लिखे हुए गुणों-वाला होते हुए भी केवल उस अकेले का ही अति उपयोग करने से कटुविपाक के

१--गुरु, स्निग्ध और उष्ण (कुछ तीक्ष्ण अ. सं.) ये लवण रस के साथ रहने-वाले गुण है और पाचन-क्लेदन आदि लवण रस के कर्म हैं (ग.)। लघु, उष्ण और रूक्ष ये कटुरस के साथ रहनेवाले गुण हैं तथा मुखशोधन आदि उनके कर्म हैं (ग.)।

२--रूक्ष, शीत और लघु ये तिक्त रस के सहचर गुण हैं तथा अरुचि नाशन आदि उसके कर्म हैं (ग.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रभाव से पुरुषत्व का नाश करता है; अपने रस और उष्णवीर्य के प्रभाव से मोह, ग्लानि, अवसाद, कृशता, मूर्च्छा, शरीर का झुकना, अंधेरी, चक्कर, कण्ठ में दाह, शरीर में ताप, बलक्षय और तृषा उत्पन्न करता है, वायु और अग्नि के गुण की अधिकता से चक्कर, दाह, कम्प, सुई चुभने-सी वेदना, मेद और हाथ-पाँव-पार्श्व-पृष्ठ आदि में वातविकारों को उत्पन्न करता है (च.); एवं गले-तालु और ओठ का सूखना (सु.); वमन, शुक्रक्षय, हाथ-पाँव-पार्श्व-पीठ आदि में संकोच, और भेदनसी वेदना (अ. सं.)--इन विकारों को उत्पन्न करता है।

तिक्त रस (वाला द्रव्य) स्वयं न रुचनेवाला होनेपर भी अरुचिका नाश करनेवाला, विषघ्न, कृमिघ्न, मूर्च्छा-दाह-कण्डू-कुष्ठ और तृषाका नाश करनेवाला, त्वचा और मांस को दृढ़ करनेवाला, ज्वरघ्न, दीपन, पाचन, स्तन्यशोधन, लेखन, क्लेद-मेद-वसा-मेज्जा-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र-पुरीष-पित्त और कफ को सुखानेवाला रूक्ष, शीत, लघु (च.); छेदन, शोधन, कोठप्रशमन (सु.); कण्ठशोधन, मेधा को बढ़ानेवाला और उत्क्लेद को दूर करनेवाला तथा अति रूक्ष नहीं ऐसा (अ. सं.) है। तिक्त रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेले का अति उपयोग करने से अपने रूक्ष-विशद और खर गुण से रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र इनको सुखाता है, स्रोतों में कठिनता उत्पन्न करता है, बलक्षय, कृशता, ग्लानि, मूर्च्छा, चक्कर, मुख-शोष और इस प्रकार के अन्य वातरोग (च.), शरीर की स्तब्धता, मन्यास्तम्भ, आक्षेप, अर्दित, सिरदर्द, सुई चुभने-सी-वेदना, फटने या कटने-सी वेदना, मुख का वेस्वादपना (सु.) और धातुक्षय (अ. सं.)--इन रोगों को उत्पन्न करता है।

कषाय रस (वाला द्रव्य) संशमन, ग्राही, संधानीय, व्रणपीडन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, कफ-रक्त, और पित्त का शमन करनेवाला, शरीर के क्लेद को सुखानेवाला, रूक्ष, शीत, गुरु[1] (च.); लेखन (सु.); विकृत त्वचा को स्वाभाविक वर्ण में लानेवाला, प्रीणन (अ. सं.); रक्तशोधक, मेद का शोषण करनेवाला और आमस्तम्भक (आम-दोषों के पाक को रोकनेवाला) (अ. हृ.) है। कषाय रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेले का अति उपयोग करने से मुखशोष, हृदय की पीड़ा, पेट का आफरा, वाक्संग (बोल न सकना), स्रोतों का अवरोध, वर्ण की श्यामता और षण्ढता लाता है; पेट में गुड़गुड़ाहट कर के हजम होता है; वात, मूत्र, मल, और वीर्य को रोकता है, शरीर में कृशता, ग्लानि, तृषा और स्तब्धता उत्पन्न करता है, खर, विशद और रूक्ष होने से

१--रूक्ष, शीत और गुरु ये कषाय रस के सहचर गुण है तथा संशमन आदि उस के कर्म हैं (गं)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पक्षाघात, अपतानक (च.); मन्यास्तम्भ, अङ्गों का फड़कना, चुपचुमाहट आकुञ्चन, आक्षेप (सु.) आदि विकारों को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार ये छः रस अलग-अलग या एक से अधिक साथ मिलाकर योग्य मात्रा में ठीक उपयोग करने से लोगों के उपकार के लिए होते हैं। इस से विपरीत यदि अतिमात्रा में उपयोग किये जाएँ तो हानिकर होते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि उपकार के लिए ही इनका योग्य मात्रा में ठीक उपयोग करें।

नागार्जुनमतेन रसानां कर्म--

तत्र बृंहणीयाः, तर्पणीया, बल्या, वृष्याः, स्वादवो, गुरुविपाका, मेदुराः, स्थिराः, पयस्या, हृद्याः, स्निग्धा, जीवनीयाः, सृष्टमूत्र-पुरीषाः, पूजिताश्चाभ्यवहरणाय पूर्वे भूयिष्ठम्। --र. वै. सू. अ. २, सू. ३४

इदानीं रसानां कर्मोच्यते--तत्रेत्यादि। तत्र तेषु पूर्वोद्दिष्टेषु षट्सु, पूर्वे मधुराम्ल-लवणा इति योज्यम्। बृंहणीयाः बृंहणे हिता योग्या वा। तर्पणीयाः प्रीणनशीलाः। बल्याः बले हिता बलकराः। वृष्याः वृषत्वे हिताः। स्वादवः मृष्टाः। गुरुविपाकाः चिरपाकिनः। मेदुराः मेदोवर्धनाः। स्थिराः स्थैर्यकराः, अभेदोपचारात्; अथवा स्थिरकारणात् स्थिराः, 'अन्नं प्राणाः' इतिवत्। पयस्याः स्तन्यवर्धनाः। हृद्याः प्रार्थनीयाः। जीवनीयाः प्राणस्थितिहेतवः। सृष्टमूत्र-पुरीषाः सुखसृष्टमलाः। अभ्यवहरणाय आहाराङ्गत्वाय, पूजिताः पथ्याः, अम्ल-मूर्तिर्मधुरमूर्तिरिति द्विविध एवाहार इति। भूयिष्ठं प्रायशः, तेष्वपि प्रधाना विद्यन्त इत्यर्थः इतरे विपरीताः (सू. ३५)। इतरे कटु-तिक्त-कषायाः (भा.)॥

मधुरादि छहों रसों में पहले तीन रस (मधुर, अम्ल और लवण) आहार में प्रधान और पथ्य, प्रायः बृंहण (शरीर को पुष्ट करनेवाले), तृप्ति करनेवाले, बलकारक, वृष्य, स्वादिष्ट, गुरुविपाक (देरी से हजम होनेवाले), मेद को (चर्बी को) बढ़ानेवाले, शरीर को दृढ़ करनेवाले, स्तन्य (दूध) को बढ़ानेवाले, हृद्य, स्निग्ध, शरीर के धारण में उपयुक्त (जीवनीय) और मल तथा मूत्र की सुख से प्रवृत्ति करानेवाले हैं। शेष तीन रस (कटु, तिक्त और कषाय) रसवाले द्रव्य इन गुणों से विपरीत गुणवाले अर्थात् आहार में गौण, शरीर को कृश करनेवाले, तृप्ति करनेवाले, बल को करनेवाले, अवृष्य, अस्वादु, शीघ्र हजम होनेवाले, मेद को घटानेवाले, शरीर को शिथिल करनेवाले, स्तन्य (दूध) को कम करनेवाले, अहृद्य, रूक्ष, जीवन के लिये कम उपयुक्त तथा मूत्र को रोकनेवाले हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

साहचर्योपचाराद् द्रव्यगुणानां रसेषूपदेशः--

गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक् ।
विद्याद् द्रव्यगुणान्[1] कर्तुरभिप्रायाःपृथग्विधाः ।।

(च. सू. अ. २६) ।

संप्रति रसानां परस्परसंयोगो गुण उक्तः, तथाऽग्रे च स्निग्धत्वादिर्गुणो वाच्यः, स च गुणरूपे रसे न संभवतीति यथा रसनां गुणनिर्देशो बोद्धव्यस्तदाह--गुणा इत्यादि । गुणा गुणाश्रया नोक्ता इति दीर्घञ्जीवितीये "समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः।" (च. सू. अ. १) इत्यनेन । रसगुणानिति रसे स्निग्धादीन् गुणान्निर्दिष्टान् तद्रसाधारद्रव्यगुणानेव विद्यात् । ननु, यदि द्रव्यगुणा एव ते, तत् किमिति रसगुणत्वेनोच्यन्त इत्याह—कर्त्तुरित्यादि । कर्त्तुरिति तन्त्रकर्तुः । अभिप्राया इति तत्र तत्रोपचारेण तथा सामान्यशब्दादिप्रयोगेण तन्त्रकरणबुद्धयः; सामान्यशब्दोपचारादिप्रयोगश्च प्रकरणादिवशादेव स्फुटत्वात् तथा प्रयोजनवशाच्च क्रियते । × × × । इह च द्रव्यगुणानां रसेषु यदुपचरणं तस्यायमभिप्रायो यत्—मधुरादिनिर्देशेनैव स्निग्ध-शीतादिगुणा अपि प्रायो मधुराद्यव्यभिचारिणो द्रव्ये निर्दिष्टा भवन्तीति न मधुरत्वं निर्दिश्य स्निग्धत्वादिप्रतिपादनं पुनः पृथक् क्रियत इति (च. द.) । "नानौषधभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते" इत्यत्र "तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य" (च. सू. अ. २६) इत्युक्तं, संप्रति तदेव विवरीतुमाह—गुणा इति । गुणा न गुणानामाश्रया उक्ताः, गुणेषु गुणा न संभवन्ति; तदुक्तं गुणलक्षणे कणादेन—"द्रव्याश्रय्यगुणवान्" (वै. द. १।१।१६) इति, सुश्रुतेनापि—"निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः।" (सु. सू. अ. ४०) इति; तस्माद् भिषग्रसगुणान् रसगुणत्वेन वक्ष्यमाणान् शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षादीन् द्रव्यगुणान् रसाश्रयतत्तद्द्रव्यस्यैव गुणान् विद्यात् । रसानां गुण-कर्माणि यानि पश्चाद्वक्ष्यन्ते तानि रसाश्रयतत्तद्भूतोल्वणपाञ्चभौतिकद्रव्यस्यैव, रसस्य स्वयं गुणतया गुण-कर्माश्रयत्वायोगात् । (यो.) ।।

तदाश्रयेषु (रसाश्रयेषु) च द्रव्यसंज्ञकेषु पृथिव्यादिषु गुणा प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशाद् गुर्वादयो रसेषु साहचर्यादुपचर्यन्ते ।।

—अ. सं. सू. अ. १७

तेषां च रसादीनामाश्रयभूतेषु पृथिव्यादिषु पञ्चसु द्रव्यसंज्ञकेषु कार्यद्रव्यावस्थायां ये गुणा गुर्वादयो गुरुस्नेहोष्ण-सूक्ष्म-लघ्वादयः ते द्रव्यगुणाः सन्तो रसेषु

१--'गुणा गुणाश्रया नोक्ता इति सगुणत्वे द्रव्यत्वप्रसङ्गादिति भावः, तस्माद्रस-निर्दिष्टान् गुणान् द्रव्यगुणानेव विद्यात् एकार्थसमवायेनोपचारादिति भावः' इति शिवदाससेनः ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणत्वेनोपचारादुच्यन्ते। उपचारस्य बहुहेतुदर्शनाय साहचर्यं विशेषणम्। ननु कथं ते द्रव्यस्येत्याशङ्क्याह—प्रकृतीत्यादि। क्वचित् प्रकृत्यवस्थायां न सन्तोऽपि नानाविधक्रियासाध्यया विकृत्या जन्यन्ते। केचित्तु विचारादिभिः; विचारो विशिष्टमात्रादिकः संयोगः। देशो द्विविध उक्तः, तद्वशाद् गुर्वादिगुणयोगो व्यस्यः। देहदेशवशात् 'सक्थिमांसाद् गुरुः स्कन्धः" (च. सू. अ. २७) इत्यादि। भूमिदेशवशादन्यथा जाङ्गलेऽन्यथाऽऽनूप इति। एवं कालेऽपि। तेन यत्रापि प्रकृत्यादिवशाद्रसानां संभवः, तत्रापि ये रसगुणास्ते द्रव्यस्यैव विज्ञेयाः। एषा च प्रकृत्यादिवशाद् गुर्वादिकल्पना रसाश्रयस्य द्रव्यस्यैव गुणाश्रयत्वात् संभवति, न रसस्य तस्य तु साहचर्यादुपचर्यते (इन्दुः)॥

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये।
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः॥

—अ. हृ. सू. अ. ९

ननु, मधुरादयो रसा गुर्वादिगुणयुक्ताः कथं वक्तुं पार्यन्ते? यतो मधुरादयो रसा गुणाः, गुर्वादयश्च गुणाः, न च गुणानां मधुरादीनां गुर्वादिगुणाधारत्वमुपपन्नं, तथा च वैशेषिकाः—"निर्गुणा गुणाः" इति तस्मिन् पर्यनुयोगे इदमाह—पृथिव्यादावित्यादि। पृथिव्यादौ पृथिव्यादिमहाभूतारब्धे द्रव्ये रसाश्रये गुर्वादयोगुणाः परमार्थत आश्रिताः, न तु रसेषु मधुरादिषु; यत्तु रसेषु व्यपदिश्यन्ते तत् साहचर्योपचारतः। सह चरतीति सहचरः, तस्य भावः साहचर्यम्। यस्मिन्नेव गुडादौ मधुरो रस आश्रितस्तस्मिन्नेव गुरुगुण आश्रित इति मधुररस-गुरुगुणयोः सहचरभावः। साहचर्येण तुल्याश्रयत्वेनोपचारः साहचर्योपचारः, तस्मात् साहचर्योपचारतो गुर्वादयो गुणा रसेषु मधुरादिषु व्यपदिश्यन्ते। यथा—गुरुर्मधुरो रसः, लघुरम्ल इत्यादि। न पुनः परमार्थतो रसेषु गुर्वादयः सन्ति। अस्ति च साहचर्येण व्यपदेशः। यथा—घृतसहचरेण घृतस्थेनाग्निना दग्धो 'घृतदग्ध' इत्युच्यते (अ. द.)। गुर्वादीनां रसाश्रयत्वाद् द्रव्यस्यासर्वधर्मत्वे प्राप्ते परिहारमाह—गुर्वादय इति। गुर्वादयो गुणा द्रव्य एव, न रसेषु। यस्तु मधुरो गुरुः, अम्लो लघुरित्यादि व्यपदेशः, स साहचर्योपचारतः। एकस्मिन्नाश्रये द्वयोरवस्थानं साहचर्यम्। साहचर्यमेव कुतः? इत्याह—रसाश्रय इति। द्रव्यं हि गुर्वादीनामिव रसानामप्याश्रयः। अत एकाश्रयत्वात् साहचर्यं, तेन उपचारः अविद्यमानस्याप्याश्रयाश्रयिभावस्यारोपः। ननु, किमेतद्रसाद् व्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम? इत्यत आह—पृथिव्यादाविति। पृथिव्यादिश द्वाभिलप्यं द्रव्यमित्यर्थः (हे.)॥

गुरु-लघु-शीत-उष्ण आदि गुण रसों के आश्रयभूत पार्थिव आदि द्रव्यों के अन्दर ही रहते हैं; क्योंकि गुण गुणका आश्रय कर के अर्थात् गुणों में नहीं रह सकता है,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसलिए मधुरादि रसों के जो गुण कहे गये हैं वे मधुरादि रसवाले द्रव्य के ही जानने चाहिए। मधुरादि रस और गुर्वादि गुणोंका नित्य साहचर्य--(साथ रहने का सम्बन्ध) होने से, गुर्वादि गुण यद्यपि मधुरादि रसवाले द्रव्यों के हैं, तथापि औपचारिक भाषा में 'मधुर रस गुरु है, अम्ल रस लघु हैं' इत्यादि रूप में कहा जाता है[1]।

वीर्यतो विपाकतश्चाविरुद्धानां रसोपदेशेन गुणोपदेशः, तत्रापवादश्च--

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः।
तयोरम्लं यदुष्णं च यद् द्रव्यं कटुकं तयोः॥
तेषां[2] रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः।
वीर्यतोऽविपरीतानां[3] पाकतश्चोपदेक्ष्यते॥
यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ।
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक्॥
मधुरं[4] किंचिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च।
यथा महत्पञ्चमूलं यथाऽब्जानूपमामिषम्॥
लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा।

१--जिन गुड़ आदि द्रव्यों में मधुर आदि रस रहते हैं उस में गुरु आदि गुण भी साथ ही रहते हैं; जैसे कि रसों के गुण-कर्म में लिखा गया है कि--मधुर रस स्निग्ध, शीत और गुरु हैं; अम्ल रस लघु, उष्ण और स्निग्ध है, इत्यादि; इस प्रकार मधुर आदि रस और गुरु आदि गुणों का सहचरभाव (साथ रहनेका संबंध) होने से मधुर आदि रस और गुरु आदि गुणोंका आश्रयाश्रयिभाव न होनेपर भी मधुरादि रसों में गुर्वादि गुणों का आरोप करके औपचारिक भाषा में मधुर रस गुरु है, अम्ल लघु है, इत्यादि प्रयोग किया जाता है।

२--"संप्रति मधुर-तिक्त-कषायाणां शीतत्वं, तथा कटवम्ल-लवणानां चोष्णत्वं, तथा कटुतिक्त-कषायाणां चावृष्यत्वमित्यादयो रसद्वारेण द्रव्याणां ये गुणा उक्तास्तदपवादमाह--तेषामित्यादि। रसोपदेशेन रसगुणकथनद्वारेण द्रव्याणां यः शीतोष्णादिगुणसंग्रहः कृतः, स वीर्यतः पाकतश्च विपरीतानां तेषां वक्ष्यमाणक्षीरादिद्रव्याणामेव निर्देष्टुं शक्यः, न तु रस विपरीतवीर्य-विपाकानामित्यर्थः। तेष्वविपरीतवीर्यविपाननुपदिशति--उपदेक्ष्यत इत्यादि। उपदेक्ष्यत इति 'यथा पय' इत्यादिभिः संबध्यते। एतानि हि द्रव्यगुणकथनप्रसंगे रसाविपरीतवीर्य-विपाकतयैवोपदेष्टव्यानीति रसानुरूपगुणत्वमेषां ज्ञातव्यमित्यर्थः। इदं तूदाहरणैकदेशमात्रं, तेनापराण्यप्येवंजातीयान्युदाहर्तव्यानीत्याह--एवमादीनीत्यादि। एवमादीनि एवंप्रकाराणि गोधूमादीनीत्यर्थः।" इति **शिवदाससेनः**।

३--'वीर्यतो विपरीतानां' इति गङ्गाधरसंमतः पाठः।

४--"संप्रतिविरुद्धवीर्यत्वेन विरुद्धविपाकत्वेन वा रसद्वारेण येषां गुणा न निर्देश्यास्तानाह--मधुरमित्यादि।" इति **शिवदाससेनः**।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते ॥
किंचिदम्लं हि संग्राहि, किंचिदम्लं भिनत्ति च ।
यथा कपित्थं संग्राहि, भेदि चामलकं तथा ॥
पिप्पली[1] नागरं वृष्यं, कटु चावृष्यमुच्यते ।
कषायः स्तम्भनः शीतः, सोऽभयायामतोऽन्यथा ॥
तस्माद्रसोपदेशेन[2] न सर्वं द्रव्यामादिशेत् ।
दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम् ॥

—च. सू. अ. २६

संप्रति रसद्वारेणैव द्रव्याणां वीर्यमाह—शीतमित्यादि[3] । यद् द्रव्यं रसे पाके च मधुरं तच्छीतं वीर्येण ज्ञेयं, तथा तयोरिति रस-पाकयोर्यदम्लं द्रव्यं तदुष्णं वीर्येण, तथा यच्च द्रव्यं तयोरिति रस-पाकयोः कटुकयुक्तं तच्चोष्णं वीर्येण, 'भवति' इति शेषः । किंवा 'यच्चोष्णं कटुकं तयो' रिति पाठः । तत्र यद्रसतो मधुरं तद्वीर्यतः शीतमिति वक्तव्ये यत् 'रस-पाकयोः' इति करोति, तन्मधुररसोचितपाकस्यैव मधुरद्रव्यस्य शीतवीर्यताप्राप्त्यर्थम् ; एवमम्ल-कटुकयोरपि वाच्यम् । तेषामिति मधुरपाकादीनां, रसोपदेशेनेति रसमात्रकथनेनैव, यतो विपाकोऽपि रसत एव प्रायो ज्ञायते ; यद्वक्ष्यति—"कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ।" (च. सू. अ. २६) इत्यादि । एतच्च न सर्वत्रेत्याह—वीर्यत इत्यादि । वीर्यतोऽविपरीतानां रसद्वारा वीर्यज्ञानं, न तु रसविरुद्धवीर्याणां महापञ्चमूलादीनां ; न केवलं रसेन किं तर्हि पाकतश्च य उपदेक्ष्यते गुणसंग्रहः "शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः ।" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना, स च वीर्यतोऽविरुद्धानां विज्ञेयः ; यदि तत्र वीर्यं विरोधि भवति तदा विपाकोऽपि यथोक्तगुणकारी न स्यात् । किंवा, पाकतश्चाविपरीतानां रसोपदेशेन शीतोष्णलक्षणो निर्देश्यः, यस्यास्तु पिप्पल्याः कटुकाया अपि विपरीतमधुरपाकित्वं, न तत्र कटुरसत्वेनोष्णत्व मित्यर्थः । अस्मिंश्च पक्षे 'उपदेक्ष्यते' इति 'यथा पयः' इत्यादिना संबध्यते । तान्येवा विपरीतवीर्यविपाकान्याह—यथा पय इत्यादि । पयः प्रभृतीनि हि द्रव्यगुणकथनेऽविरुद्धवीर्यविपाकान्युपदेष्टव्यानि । संप्रति यत्र विरुद्धवीर्यत्वेन रसेनोष्णत्वादि न निर्देश्यं तदाह-मधुरामित्यादि । किंचित् कषायं चोष्णं, तिक्तं चोष्णमिति योजना ।

१—"पिप्पलीत्यादि । अत्र पिप्पली-नागरयोः कटुकयोरपि तद्विपरीत-मधुरविपाकित्वेन नोष्णत्वं ज्ञेयम् ।" इति शिवदाससेनः ।

२—"तस्मादित्यादि । उक्तरीत्या तुल्यरसेऽपि द्रव्ये यतो गुणान्तरं दृष्टं, तस्मादित्यर्थः इति शिवदाससेनः ।

३—"इदानी रसविशेषाद्विपाकविशेषाच्च वीर्यविशेषो ज्ञातव्य इत्याह—शीतमित्याति ।" इति शिवदाससेनः ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कषायतिक्त-लवणानामुदाहरणमसूत्रितानामपि प्रकरणात् कृतम्। महत्पञ्चमूलं बिल्वादिपञ्चमूलमिह। एतच्च तिक्तस्य कषायस्य चोष्णतायामुदाहरणम्, अब्जानूपामिषं तु मधुरस्योष्णवीर्यत्वे। वीर्यप्रसङ्गादन्यमप्यम्लादीनांविरुद्धगुणमाह-किंचिदित्यादि। अभयायामतोऽन्येथेति अभयायां कषायो रसो भेदनश्चोष्ण-श्चेत्यर्थः (च. द.)। रसद्वारेण द्रव्याणां गुण-कर्माण्युक्तानि, रसवद्वीर्य विपाक-प्रभावद्वारेणापि द्रव्याणां कर्म दृश्यते, तदेव दर्शयितुं प्रकरणं सोदाहरणमारभते—शीतमित्यादि। यद् द्रव्यं वीर्येण शीतं शीतवीर्यं, रस-विपाकयोर्मधुरं मधुररसं मधुरविपाकं च, वीर्य-विपाकौ वक्ष्येते; तथा यद्द्रव्यं तयो रस-विपाकयोरम्लम् अम्ल रसमम्लविपाकं च, (तत्) उष्णम् उष्णवीर्यं स्यात्। तथा यच्च द्रव्यमुष्णमुष्ण-वीर्यं तयो रस-विपाकयोः कटुकं कटुरसं, कटुविपाकं चोक्तं, तेषां तथाविधानां द्रव्याणां रसोपदेशेन गुणसंग्रहो निर्देश्यः वाच्यः। मधुरो रसः शीतः, अम्ल कटुकौ उष्णौ, विपाकश्च रसैः तुल्यफलः, एवं तत्तद्द्रव्येषु रसस्य वीर्य-विपाकाभ्याम-विरुद्धत्वात्तेषां यथास्वं रसतो गुणान् दोषकोपन-शमनत्वं च विद्यात्। विपरीताना मुक्तेभ्योऽन्येषाम् अर्थात् यत्र रस-वीर्यविपाकानामन्योन्यविरुद्धत्व विजात्यन्वयः; तादृशद्रव्याणां गुणसंग्रहो वीर्यतः, पाकतो विपाकतः, चकारात् रसतोऽपि उप-देक्ष्यते। तथाविधं द्रव्यं रसेन किंचित् कर्म कुरुते, किंचिद्वीर्येण, किंचिद्विपाकेनापि शीतवीर्येण यद् द्रव्यमित्यादौ उदाहरणमाह—यथा पय इत्यादि। यथा पयः क्षीरं यथा सर्पिर्घृतं; गव्ये क्षीर-सर्पिषी मधुररसे, मधुरविपाके, शीतवीर्ये च। यथा वा चव्य-चित्रकौ; एतौ कटुरसौ, कटुविपाकौ, उष्णवीर्यौ च। तयोरम्लं यदुष्णं स्यादित्यस्योदाहरणं मदिरादिकं स्वयमूहनीयम्। भिषक् एवमादीनि चान्यानि तद्विधानि द्रव्याणि रसतो निर्दिशेत्, न तु सर्वाणि; कथमिति चेत्? अत्राह—मधुरमित्यादि। किंचिद् द्रव्यं मधुरमपि उष्णम् उष्णवीर्यम्। यथा—अब्जानूपम् औदकानूपम्, आमिषं मांसम्। किंचित् कषाय-तिक्तं द्रव्यमुष्णवीर्यं स्यात्। यथा—महत्पञ्चमूलम्। औदकानूपपिशितं रसतो मधुमपि न पित्तं जयति किंतु जनयति, उष्णवीर्यत्वात्। कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति न तु पित्तम्, उष्णवीर्यत्वात्। किंचिद् द्रव्यं लवणमपि नोष्णम्। यथा सैन्धवं लवणमपि न उष्णम् उष्णवीर्यं, किंतु शीतवीर्यम्। तथा किंचिदम्लं नोष्णं, यथा—आमलकमम्लमपि नोष्णवीर्यं, किंतु शीतवीर्यम्। लवणं सैन्धवं पित्तं जयति शीतवीर्यत्वात्; न तु वातम्। एवमम्लमामलकम्। तिक्ताना-मर्कगुरुगुडूचीनामुष्णं वीर्यमिष्यते। तिक्ता अपि अर्कगुरु-गुडूच्यः पित्तं जनयन्ति, उष्णवीर्यत्वात्। उक्तेषूदाहरणेषु वीर्यं रसमभिभूयात्मकर्म कुरुते, रस-विपाक-वीर्याणामुत्तरोत्तरातिशायित्वात्; "रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभाव-स्तान्यपोहति।" (च. सू. अ. २६) इति। किंचिदम्लमिति किञ्चित् अम्लम् अम्लरसं द्रव्यं, संग्राहि मलविबन्धकृद् भवति। यथा—कपित्थं संग्राहि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किंचिदम्लं द्रव्यं भिनत्ति भेदि भवति। यथा—आमलकं भेदि। कपित्थामलकयोस्तुल्यरसत्वेऽपि गुणभेदो द्रव्यप्रभावात्। "रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।" (च. सू. अ. ३६) इति। एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्। पिप्पलीति कटु कटुरसं द्रव्यमवृष्यमुच्यते, किन्तु कटुकाऽपि पिप्पली नागरं शुण्ठी च वृष्यमुच्यते। "प्रायः कटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्र पिप्पली-विश्वभेषजात्।' (च. सू. अ. २७) इति। विश्वभेषजं शुण्ठी। कषायो रसः स्तम्भनः शीतश्च, यथा—धातक्याम्; अभयायां हरीतक्यां, स कषायः, अतोऽन्यथा भेदन उष्णश्च। तथा च—"कपित्थं दाडिमं चाम्लं ग्राहि, नामलकीफलम्। कषाया ग्राहिणी शीता धातकी, न हरीतकी॥" (अ. सं. सू. अ. १७) इति। यस्मात्तुल्यरसेऽपि द्रव्ये द्रव्ये प्रतिद्रव्यमेवं दृष्टं गुणभेदो दृश्यते, तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेद्भिषक् (यो.)। अथैषां द्रव्याणामारम्भकभूतन्यून-मध्याधिक-तर-तमादिभेदेनासंख्येयानां गुण-कर्मोपदेशो यथा कर्तव्यस्तदाह—शीतमित्यादि यद् द्रव्यं वीर्येण शीतं रस-पाकयोर्मधुरं तस्य गुणसंग्रहो रसोपदेशेन 'मधुरम्' इत्युपदेशेन निर्देश्यो बुद्धिमद्भिः। 'सोमगुणातिरेकात् पञ्चभूतारब्धद्रव्ये मधुरो रसोऽभिव्यज्यते' इत्युक्त्या तन्मधुररससहचरितास्तु नियता गुणाः स्निग्ध-गुरु-शीताः, 'स्वादुर्मधुरं पच्यते' इति च वक्ष्यते, तेन मधुररसोपदेशेन शीतवीर्य-मधुरविपाकौ ज्ञेयौ। पृथिव्यामम्बुप्रवेशे तदुभयाज्जाता गुणा भूमेर्गुरु-खर कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्धास्तथाऽपां द्रव-स्निग्ध-शीत-मन्द-सर-सान्द्र-मृदु-पिच्छिला गुणा गुणानां संग्रहो निर्देश्यो भवति। तथा यद् द्रव्यं तयो रस-पाकयोरम्लं वीर्येणोष्णं तस्यापि रसोपदेशेनाम्लरसोपदेशेन गुणसंग्रहो निर्देश्यः। भूम्यग्निगुणभूयिष्ठत्वादम्लः, स च "लघुरुष्णः स्निग्धश्च" (च. सू. अ. २६) इत्युक्त्या, तथा "अम्लोऽम्लं पच्यते" (च. सू. अ. २६) इत्युक्त्या 'अम्ल' इति रसमात्रोपदेशेनोष्णवीर्याम्लरस-लघु-पाक-स्निग्धा ज्ञेयाः। तथाऽपि भूम्यग्न्योरनभिभवाच्च शेषा गुणा ये भूमेर्गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्धाः, अग्नेश्च ये उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु-रूक्ष-विशद-रूपाणि गुणाः, तेषामपि गुणानां संग्रहो निर्देश्यः। एवं यच्च द्रव्यं वीर्येणोष्णं तयो रस-पाकयोः कटुकं मरिचादिकं तस्यापि कटुरसोपदेशेन गुणानां संग्रहो निर्देश्यः। वाय्वग्निगुणभूयिष्ठत्वात् कटुकः, स च "लघुरुष्णो रूक्षश्च" (च.सू.अ.२६) इत्युक्त्या, 'कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इत्युक्त्या च. 'कटुकम्' इतिमात्रोपदेशेन लघु-रूक्षोष्णवीर्य-कटुरस-पाका ज्ञेयाः। तत्रापि शेषाणां वाय्वग्निगुणानां वायोर्लघु-शीत-रूक्ष-खर-विशद-सूक्ष्म-स्पर्शगुणानामग्नेरुष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म - लघु-रूक्ष-विशद-रूपगुणानां मेलनेन यादृशलघुत्वादयो भवन्ति तादृशानां तेषां गुणानां संग्रहो निर्देश्यः। विपरीतानां वीर्यतः पाकतश्च विपरीतानां मधुराम्ल-कटुकानां वीर्यतः पाकतश्चोपदेक्ष्यते गुणसंग्रह इति। यच्च व्याख्यायते—यद् द्रव्यं रस-पाकयो-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

र्मधुरं तद्वीर्येण शीतं, यच्च रस-पाकयोरम्लं तद्वीर्येणोष्णं, यच्च रस-पाकयोः कटुकं तद्वीर्येणोष्णमिति; तदयुक्तं, 'तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रह' इति वचनस्या संगतेः। तथा च शीतवीर्य-मधुररस-मधुरपाकद्रव्याणां मधुररसोपदेशेन गुण-संग्रहः--यथा पयो यथा च सर्पिर्मधुरं स्निग्ध-गुरु-शीतादिकम्, एवमुष्णवीर्याम्ल-रसाम्लपाकद्रव्याणामम्लरसोपदेशेन गुणसंग्रहो यथा—भव्यमम्लं, तेन लघूष्ण-स्निग्धत्वादिसंग्रहः। एवमुष्णवीर्य-कटुरस-कटुपाकद्रव्याणां कटुरसोपदेशेन शेषगुण-संग्रहो यथा--चव्य-चित्रको। तत्र चित्रकः--"कटुकः कटुकः पाके, वीर्योष्ण-श्चित्रको मतः।" (च. सू. अ. २७) इति वक्ष्यते, तेन लघूष्ण-रूक्षादीनामपि संग्रहः। एवमादीनि चान्यानि शीतवीर्य-मधुररस-मधुरपाकानि द्रव्याणि मधुररसतो यथा, तथोष्णवीर्याम्लरसाम्लपाकानि द्रव्याणि चाम्लरसतः, तथोष्ण-वीर्य-कटुरस-कटुपाकानि द्रव्याणि कटुरसतो भिषग्गुणतो निर्दिशेत्। वीर्यतो विपाकतश्च विपरीतानां मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त कषायाणां वीर्यतश्च पाकत-श्चोपदेशो यथा तदाह—मधुरमित्यादि। किंचिद् द्रव्यं यथाऽनूपमामिषं मधुरं वीर्यत उष्णं, तद्वीर्यतो रसतश्च निर्देश्यम्। तथा किंचिद् द्रव्यं कषायं तिक्तमेव किंचिद् द्रव्यं यथा वृहत्पञ्चमूलं वीर्यत उष्णं तद्वीर्यत उपदेक्ष्यते। कषाय-तिक्तौ शीतावुक्तौ ननु, तिक्त-कषाययोः पाक एकान्तेन कटुः, तेन तयो रसोपदेशेन गुणसंग्रहो निर्देश्यः कुतो नोक्त इति चेत्? न, रस-विपाक-वीर्याणामसामान्यात्। प्रायेण हि तिक्त-कषाययोः शीतं वीर्यं, कटुः पाक इति। अपरमुदाहरति—लवणमित्यादि। सर्वं लवणमत्यर्थं गुरु-निग्धमुष्णं च, सैन्धवं तु लवणं नोष्णवीर्यम्॥ तथा सर्वमम्लमुष्णं, लघु, स्निग्धं च; आमलकमम्लं नोष्णमिति वीर्यतो विपरीतं वीर्यतो निर्देश्यम्। तथाऽर्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तानामुष्णं वीर्यं न शीतं, "सर्वं तिक्तं शीतमुक्तम्" इति वीर्यतोऽर्कादय उपदेश्या इति। वीर्यतो विपरीतान्युदाहृत्य पाकतोऽमुमुदाहरति—किंचिदम्लमित्यादि। अम्लस्याम्लपाके सृष्टिविण्मूत्रता कर्म; तत्र किंचिदम्लं द्रव्यं संग्राहि, यथा—कपित्थफलं संग्राहि, तेनानुमीयते—कपित्थं; कटुपाकं; वक्ष्यते हि--"शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इति; तस्मात् पाकत उपदेक्ष्यते द्रव्यम्। आमलकं चाम्लं भेदि शीतं च तस्मात् पाकतोऽविपरीतं वीर्यतो विपरीतं वीर्यत उपदेक्ष्यते। एवं सर्वं कटु द्रव्यं कटुपाकादुष्ण-शुक्रघ्नत्वादवृष्यं; पिप्पली-नागरं तु वृष्यं, तस्मान्मधुरपाकं च पाकतो विपरीतं पाकत उपदेक्ष्यते। कषायः सर्वः स्तम्भनः शीतश्च; कटुपाकात् स्तम्भनः, सोमगुणः, स्तम्भनः शीतश्च; अभयायां हरीतक्यां विपर्ययो रेचनश्चोष्ण श्च; इति वीर्यतो विपरीता हरीतकी, पाकतश्चविपरीता, रेचनत्वात्। तस्मात् सर्वं द्रव्यं न रसोपदेशेनादिशेत्। यत्तु शीतवीर्यं-मधुररस-मधुरपाकं तन्मधुररसो-पदेशेन आदिशेत्, यच्चोष्णवीर्याम्लरसाम्लपाकं तदप्यम्लरसोपदेशेनादिशेत्, एवं यदुष्णवीर्य-कटु-रस-कटुपाकं तदपि कटुरसोपदेशेनादिशेदिति निगमनम् (ग.)॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में मधुर होता है, वह शीतवीर्य होता है। जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में अम्ल होता है, वह उष्णवीर्य होता है। जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में कटु होता है, वह भी उष्णवीर्य होता है। जिन द्रव्यों का वीर्य और विपाक रस से विपरीत न हो अर्थात् रस के समान ही हो, उन द्रव्यों के गुण-कर्म, रसों के जो गुण-कर्म विस्तार से कहे गये हैं उनके अनुसार ही जानने चाहिये। जैसे दूध और घी के रस, वीर्य और विपाक समान ही हैं अर्थात् उनका रस मधुर, विपाक मधुर और वीर्य शीत हैं; एवं चव्य और चित्रक का रस कटु, विपाक कटु और वीर्य उष्ण है; ये और इस प्रकार के अन्य द्रव्य जिनके रस, विपाक और वीर्य एक से हों उनके गुण-कर्म रस से ही जानने चाहिए। तन्त्रकारों ने भी उनके गुण-कर्म का निर्देश रसोपदेश से यह मधुर है, यह अम्ल है, यह कटु है, एतावन्मात्र ही किया है। परन्तु ऊपर कहा हुआ नियम सब द्रव्यों में लागू नहीं हो सकता। क्योंकि कुछ मधुर, कषाय और तिक्त रसवाले द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं; जैसे बृहत्पञ्चमूल कषाय और तिक्त, होनेपर भी उष्णवीर्य है; जलचर और आनूप प्राणियों का मांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य है; सैन्धव लवण होनेपर भी उष्णवीर्य नहीं है (किंतु शीतवीर्य है), आँवला अम्ल होनेपर भी उष्णवीर्य नहीं हैं (किंतु शीतवीर्य है); आक, अगर और गिलोय तिक्तरसवाले होने से इनका वीर्य शीत होना चाहिए, परन्तु इनका वीर्य उष्ण है; कुछ अम्ल द्रव्य ग्राही हैं, जैसे-कैथ का फल; कुछ अम्ल द्रव्य भेदन हैं, जैसे--आँवला; कटुरस को अवृष्य बताया गया है, परन्तु पीपल और सोंठ वृष्य हैं; कषाय रस को स्तम्भन और शीतवीर्य बताया गया है, परन्तु हरड़ कषाय रसवाली होनेपर भी उष्णवीर्य और भेदन है। इस प्रकार तुल्यरसवाले द्रव्यों में भी भिन्न-भिन्न गुण पाये जाते हैं, अतः रसों के जो गुणकर्म कहे गये हैं, उनपर से सब द्रव्यों के गुण-कर्म नहीं बताये जा सकते।

ऊपर हमने जो अर्थ दिया है वह **चक्रपाणिदत्त** के मतानुसार है। **चक्रपाणिदत्त** ने मूल में 'वीर्यतोऽविपरीतानाम् (वीर्यतः अविपरितानाम्) ऐसा पाठ मानकर ग्रन्थ लगाया है। कविराज **गङ्गाधरजी** और **योगेन्द्रनाथसेनजी** ने 'वीर्यतो विपरीतानां' ऐसा पाठ मानकर कुछ भिन्न व्याख्या की है। उनके मतानुसार संपूर्ण प्रकरण का अर्थ इस प्रकार होता है--जिन द्रव्यों का रस, विपाक और वीर्य समान हो अर्थात् विपाक और वीर्य रस के समान हों, जैसे--रस मधुर हो विपाक मधुर हो और वीर्य शीत हो; रस अम्ल हो, विपाक अम्ल हो, वीर्य उष्ण हो; तथा रस कटु हो, विपाक कटु हो और वीर्य उष्ण हो; ऐसे द्रव्यों के गुण-कर्म केवल रस के उपदेश से अर्थात् तत् तत् रस के जो गुण-कर्म लिखे गये हैं उनपर से ही जानने--बताने चाहिए। मधुर रस शीतवीर्य है, अम्ल और लवण रस उष्णवीर्य हैं, विपाक रसों के तुल्य फल (गुण-कर्म) वाला होता है। इस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकार ऐसे द्रव्य रस, वीर्य और विपाक में अविरुद्ध होने से उनका केवल रसोपदेश से ही तत्तद्रस के गुण-कर्म और दोषप्रकोपत्व वा दोष-प्रशमकत्व का बोध हो जाता है। अतः तन्त्रकारों ने प्रायः ऐसे द्रव्यों के गुणों में मधुरः, अम्लः, कटुकः, इतना ही संक्षेप में लिख दिया है। परन्तु जो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय रसवाले द्रव्य वीर्य और विपाक से विपरीत हैं, ऐसे द्रव्यों के गुण-कर्म वीर्य और विपाक से कहे जायँगे। जैसे--आनूपमांस मधुर होनेपर भी उष्ण वीर्य है, उसके गुण-कर्म वीर्य से जानने चाहिए। तथा बृहत्पञ्चमूल तिक्त और कषाय रसवाले होनेपर भी उसके विपरीत उष्णवीर्यवाला होने से उसके गुण-कर्म वीर्य के अनुसार होते हैं, क्योंकि वीर्य रस और विपाक दोनों का पराभव करके अपना कार्य करता है। अन्य विरुद्धवीर्य के उदाहरण—लवण रस गुरु, स्निग्ध और उष्ण वीर्य वाला होता है परन्तु सैन्धव लवण होनेपर भी उष्ण नहीं किन्तु शीतवीर्य है; अम्ल रस लघु, स्निग्ध और उष्णवीर्य वाला होता है, परन्तु आँवले अम्ल होनेपर भी शीतवीर्य हैं; तिक्त रसवाले द्रव्य शीत वीर्यवाले होते हैं, परन्तु आक, अगर और गिलोय तिक्त होनेपर भी उष्ण वीर्यवाले हैं; अतः ये सब वीर्य से विपरीत होने से उनके गुण-कर्म उनके वीर्यपर से कहे गये हैं। विपाक-विरुद्ध के उदाहरण जैसे-कैथ का फल अम्ल होनेपर भी ग्राही है, इससे अनुमान होता है कि--इसका विपाक कटु है, और कटुविपाक होने से अम्ल होनेपर भी ग्राही है। कटु द्रव्य कटुविपाकवाले होने से उष्णवीर्य और कटुविपाक शुक्रघ्न होने से अवृष्य होते हैं, परन्तु सोंठ और पीपल मधुरविपाक होने से वृष्य हैं। ऐसे द्रव्यों के गुण-कर्म विपाक से जानने चाहिए। कषाय रस स्तम्भन और शीतवीर्य होता है, परन्तु हरड़ कषाय होनेपर भी रेचन और उष्णवीर्य है। ऐसे द्रव्यों के गुण-कर्म वीर्य और विपाक से जानने चाहिये। तुल्यरसवाले द्रव्यों में भी गुणों में अन्तर देखा जाता है, इसलिये सब द्रव्यों का उपदेश रसों से नहीं हो सकता। अतः जिन द्रव्यों में रस, वीर्य और विपाक समान हों उनके गुण-कर्म रसों से और जिनमें रस से विपरीत वीर्य और विपाक हों, उनके गुण-कर्म वीर्य या विपाक से जानने चाहिये, क्योंकि विपाक रस का और वीर्य तथा विपाक दोनों का पराभव करके अपना कार्य करता है "रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति।"

केषां द्रव्याणां रसेभ्य एव गुणदोषप्रकोपकत्व-प्रशमनत्वं च विज्ञेयम् ?--

तत्र यन्मधुरं रस-विपाकयोः शीतवीर्यं च द्रव्यं, यच्चाम्लं तयोरुष्णवीर्यं च, यद्वा कटुकं, तेषां यथास्वं रसेभ्यः प्रायो गुणान् दोषकोपशमनत्वं च विद्यात्॥ --अ. स. सू. अ. १७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अनन्तरं वाग्भटस्तत्र यन्मधुरमित्यादिना प्रकृतं प्रस्तौति । यद्द्रव्यं मधुररसं, मधुरविपाकं, शीतवीर्यं च ; तथा तयो रस-विपाकयोरम्लं सदुष्णवीर्यं; यद्वा कटुकं तयो रस-विपाकयोरूष्णवीर्यं च ; तेषां त्रयाणामपि यथात्मीयरसगुणान् सातिशयान् विद्यात् । रसानुरूपेण च तेषां दोषकोप-शमौ । तेनैतदुक्तं भवति--यत्र रस-वीर्य-विपाकानामेकजात्यन्वयत्वं तत्रैकगुणत्वमपि । तथा च—क्षीरे मधुररसविपाके शीतवीर्ये च मधुररसवत् श्लेष्मकोपनत्वं, दात-पित्तशमनत्वं च ; एवं मदिराया अम्लरस-विपाकाया उष्णवीर्यायाश्चाम्लरसवद्वातशमनत्वं पित्तश्लेष्मप्रकोपनत्वादिकं च कटुरस-विपाकस्योष्णवीर्यस्य मरिचस्य कटुकरसवत् श्लेष्मशमनत्वं वात-पित्त प्रकोपनं च (इन्दुः) ॥

जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में मधुर तथा शीतवीर्य हो, जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में अम्ल तथा उष्णवीर्य हो और जो द्रव्य रस तथा विपाक दोनों में कटु और उष्णवीर्य हो, उन द्रव्यों के गुण तथा वातादि दोषों का प्रकोपत्व और प्रशमनत्व प्रायः उनके रसों से (रसों के गुणों के अनुसार) जानना चाहिए ।

पूर्वोक्तनियमापवादः--

रसादिसंकरेण त्वन्यथात्वम् । यथा--मधु मधुरं श्लेष्माणं शमयति कटुविपाकतया सकषायत्वाद्रौक्ष्याच्च, वातं जनयति शीतवीर्यत्वाच्च, तथा यवोऽपि ; आनूपौदकपिशितं मधुरमपि पित्तं करोति, उष्णवीर्यत्वात् ; तथा तैलं मधुरं कटुविपाकतया विपाकत एव बद्धविण्मूत्रम् ; अम्लं काञ्चिकं कफं जयति, रूक्षोष्णत्वात् ; कपित्थं तु रौक्ष्यात् कफं, पित्तं तु शीतवीर्यतया ; आमलकं पित्तं शीतवीर्यत्वात् स्वादुपाकतया च, कफं रौक्ष्याल्लाघवाच्च ; लवणं सैन्धवं स्वादुपाकतया पित्तं जयति, लाघवात् कफं च ; कटुकाऽपि शुण्ठी स्नेहौष्ण्य-स्वादुपाकैर्वातं क्षपयति, पिप्पली च लशुनोऽपि स्नेहौष्ण्यगौरवैः पलाण्डुश्च ; स तु स्नेहगौरवाभ्यां जनयति श्लेष्माणम्, वृद्धं मूलकं च स्वादुपाकतया ; स्निग्धानि तिक्तानि व्यापी-विशल्यार्का-गुरुण्युष्णवीर्यत्वात् पित्तं जनयन्ति ; कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति, न तु पित्तमुष्णवीर्यत्वात् ; कषायश्च कुलत्थोऽम्लपाकतया च । इत्येतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥ --अ. सं. सू. अ. १७

यत्र तु रसादीनां विजात्यन्वयेन सङ्करस्तत्र क्वचिद्रसाधिक्येन कार्यकारित्वं, क्वचिद्वीर्याधिक्येन, क्वचिद्विपाकाधिक्येन, इत्यस्यैवार्थस्य यथा मधु मधुरमित्या-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्युदाहरणं । सुबोधम् । वृद्धमूलकस्य त्रिदोषकर्तुः कटुकस्य कफकर्तृत्वे यदाचार्य-वाग्भटेन मधुरपाकित्वं कारणमुक्तं तत् स्वयं हृदयपठितत्वेव वृद्धमूलकस्य कटु-पाकित्वं (वि) स्मृतं, किंवाऽन्यत् किंचिदिति न जाने (इन्दुः) ॥

जहाँ (जिस द्रव्य में) रस, विपाक और वीर्य इनका परस्पर सजातीय (एक-सा-अनुकूल) सम्बन्ध होता है वहाँ रसों के जो गुण-कर्म शास्त्र में लिखे हैं उनपर से द्रव्य के समग्र गुण-कर्म जानने चाहिए, यह ऊपर लिखा गया है; परन्तु जिस द्रव्य में रस, विपाक और वीर्य इनका परस्पर विजातीय (एक-दूसरे के विरुद्ध) सम्बन्ध होता है, उस द्रव्य में रस के गुणों से विपरीत गुण भी पाये जाते हैं । वहाँ केवल उसके रस के गुणों से द्रव्य के समग्र गुण-कर्म नहीं बताये जा सकते । जैसे-- मधु (शहद) मधुर रसवाला है तथापि वह कुछ कषाय, रूक्ष और कटु विपाकवाला होने से कफ का शमन करता है तथा शीतवीर्य होने से वायु को उत्पन्न करता है । वैसा ही जौ के विषय में भी जानना चाहिए । आनूप और औदक प्राणियोंका मांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य होने से पित्त को बढ़ाता है । तैल मधुर होनेपर भी कटुविपाक होने से मल-मूत्रका विबन्ध (कब्ज) करता है। काँजी अम्ल होनेपर भी रूक्ष और उष्ण होने से कफ को शान्त करती है । कैथका फल अम्ल होनेपर भी रूक्ष होने से कफको और शीतवीर्य होने से पित्त को शान्त करता है । आँवले अम्ल होनेपर भी मधुरविपाक और शीतवीर्य से पित्तका और रूक्ष तथा लघु होने से कफ का शमन करते हैं । सैन्धानमक मधुर विपाक से पित्तका और लघु होने से कफका शमन करता है । सोंठ और पीपल कटुरसवाली होनेपर भी मधुरविपाक, स्निग्ध और उष्ण वीर्य से वायुका शमन करती है। लहसुन और प्याज कटुरसवाले होनेपर भी स्निग्ध, उष्णवीर्य और गुरु होने से वायुका शमन करते हैं । प्याज स्निग्ध और गुरु होने से कफ को बढ़ाता है । पकी मूली मधुरविपाक होने से कफ को बढ़ाती है । कटेरी, पाढ़ आक और अगर तिक्तरस और स्निग्ध होनेपर भी उष्णवीर्य होने से पित्त को बढ़ाते हैं । बृहत्पञ्चमूल कषाय और तिक्त रसवाला होनेपर भी उष्णवीर्य होने से वायु का शमन करता है, किन्तु पित्तका शमन नहीं करता । कुलथी कषायरसवाली होनेपर भी अम्लविपाक होने से वायुका शमन करती है, किन्तु पित्तका शमन नहीं करती ।

रसानां गुणतारतम्यम्--

रौक्ष्यात् कषायो रूक्षाणामुत्तमो, मध्यमः कटुः ।
तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः ॥
मध्योऽम्लः, कटुकश्चान्त्यः, स्निग्धानां मधुरः पर
मध्योऽम्लो, लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मध्योत्कृष्टावराः शैत्यात् कषाय-स्वादु-तिक्तकाः[1] ।
स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः ॥
अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमोत्तमः[2] ।
केचि[3]ल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम् ॥
गौरवे लाघवे चैव[4] सोऽवरस्तूभयोरपि । --च. सू. अ. २६

रौक्ष्यादित्यादि । रौक्ष्येण कषाय उत्तम इति रूक्षतमः, तिक्तो रूक्षः कटुस्तु मध्यो रूक्षतरः; एवमन्यत्रापि । कटुकश्चान्त्य इति अवर इत्यर्थः । एवं लवणश्चान्त इति अवर इत्यर्थः । लवणोऽवर इति गुरूत्वेनेत्यर्थः । अम्लात् कटुरित्यादौ अम्लात् कटुर्लघुः, ततः कटुकादुत्तमात्तिक्तो लघुत्वेनोत्तमोत्तमः; उत्तमात् कटुकादुत्तम उत्तमोत्तमः । एकीयमतमाह--केचिदित्यादि । एकीयमतं वचनभङ्ग्या स्वीकुर्वन्नाह--गौरव इत्यादि । एतेन गौरवे लाघवे चावरत्वं लवणस्य स्वीकुर्वन् गौरवेऽवर इत्यनेनाम्ल-कटु-तिक्तेभ्यो गुरुत्वं स्वीकरोति लवणस्य, लाघवे चावर इत्यनेनाम्लादपि लघुनोऽल्पं[5] लाघवं लवणस्य स्वीकरोति ।

तत्र कट्वम्ल लवणा वीर्येण यथोत्तरमुष्णाः, तिक्त-कषाय-मधुराः शीताः, तिक्त-कटु-कषाया रूक्षा बद्धविण्मूत्र-मारुताः, लवणाम्ल-मधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्र-मारुताः, लवणाम्ल-मधुरा गुरवः, तद्वदम्ल-कटु-तिक्ता लघवः; अन्ये पुनर्गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षसाधारणं लवणमिच्छन्ति (अ. सं. सू. अ. १७) ॥

यथोत्तरमिति सर्वत्राभिसंबध्यते । पूर्वादुत्तरो यथोक्तगुणाधिक इत्यर्थः (इं)।

कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस उत्तरोत्तर उष्ण हैं; तिक्त, कषाय और मधुर ये तीन रस उत्तरोत्तर शीत हैं; तिक्त, कटु और कषाय ये तीन रस उत्तरोत्तर रूक्ष तथा विष्ठा, मूत्र और वायु को रोकनेवाले हैं; लवण, अम्ल और मधुर ये तीन रस उत्तरोत्तर स्निग्ध तथा विष्ठा, मूत्र और वायु को साफ लाने-

---

१--'तिक्तात् कषायो मधुरः शीताच्छीततरः परः ।' इति पाठान्तरम्

२--'लघुत्वादुत्तमो मतः' इति पाठान्तरम् ।

३--"मतान्तरमाह--केचिदित्यादि । प्रतिसंस्कर्ता उभयोरपि मतयोरवबोधार्थं मतद्वयं सङ्कलय्य दर्शयति--गौरव इत्यादि । उभययोरपीति मतद्वयेऽपि स लवणोऽवरः ; अग्निवेशमते गौरवेऽवरः, मतान्तरे लाघवेऽवरः । एतेन गौरवेऽवर इति येनोच्यते तेनापि किंचिल्लघुत्वं स्वीक्रियत एव, तथा लाघवेऽवर इति मतेऽपि किंचिद्गुरुत्वमर्थायातमेवेति न कश्चिदर्थभेद इत्यर्थः ।" इति शिवादाससेनः ।

४--'चैवं' इति पाठान्तरम् । ५--अल्पमिति अवरम् ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाले हैं; लवण, अम्ल और मधुर ये तीन रस उत्तरोत्तर गुरु है तथा अम्ल, कटु और तिक्त ये तीन रस उत्तरोत्तर लघु हैं। कई आचार्य लवण रस को गुरु, लघु, स्निग्ध और रूक्ष में साधारण (मध्य) मानते हैं।

न च वाच्यम्—अम्ले पृथिवी कारणं, लवणे तु तोयं, ततः पृथिव्यपेक्षया तोयजन्यस्य लवणस्यैव लाघवमुचितमिति; यतो न भूतनिवेशेन गौरव-लाघवे शक्येते अवधारयितुं, तथा हि—तोयातिरेककृतो मधुरः पृथिव्यतिरेककृतात् कषायाद् गुरुर्भवति (च. द.)॥

रसाः कटूवम्ल-लवणवीर्येणोष्णा यथोत्तरम्।
तिक्तः कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलाः॥
तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा।
कटूवम्ल-मधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्र-मारुताः॥
कटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः।
लघुरम्लः कटुस्तस्मात्तस्मादपि च तिक्तकः॥
—अ. हृ. सू. अ. १०

कटूवम्ल-लवणा रसा यथोत्तरमुष्णवीर्याः। कटुरूष्णः, अम्ल उष्णतरः, लवण उष्णतमः। एवमुत्तरत्रापि यथोत्तरत्वं योज्यम्। तिक्तादयश्च तद्वदेव यथोत्तरं शीतवीर्याः। तेन तिक्तः शीतवीर्यः, कषायः शीतवीर्यतरः, मधुरः शीतवीर्यतम इति स्थितम्। तिक्त-कटु-कषाय रूक्षा विष्टम्भकृतश्च। तथेति यथोत्तरमित्यर्थः। कटूवादयः स्निग्धा निःसारितविण्मूत्र-वाताश्च। तथेत्यत्रापि वर्तते। अर्थात् लवणात् कषायो गुरुतरः, कषायान्मधुरः परमं गुरुः अतिशयेन गुरुरित्यर्थः। अम्लो लघुः, तस्मात् अम्लात् कटुर्लघुतरः, तस्माच्च कटोस्तिक्तो लघुतमः (अ. द.)। अथ रसानां गुणतारतम्यम्। तत्र वीर्यतारतम्यमाह—रसा इति। कटुको रस उष्णवीर्यः, ततोऽम्लः, ततोऽपि लवणः। तिक्तो रसः शीतवीर्यः, ततः, कषायः, ततोऽपि मधुरः। तद्वदेवेति वीर्येण यथोत्तरं च। तिक्तो रूक्षो बद्धमलश्च, ततः कटुः ततोऽपि कषायः। लवणः स्निग्धः सृष्टमलश्च, ततोऽम्लः, ततोऽपि मधुरः। लवणो गुरुः ततः कषायः, ततोऽपि मधुरः। अम्लो लघुः, ततः, कटुः, ततोऽपि तिक्तकः। अत्रापि 'प्रायः' इत्यनुवर्तते। तेनाम्लस्याप्यामलकस्य शीतवीर्यत्वमित्यादि स्वयमूह्यम्। अत एव "मधुराम्ल-लवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटु-तिक्त-कषाया रूक्षा लघवश्च।" (सु. सू. अ. ४२. ६) इति सुश्रुतोक्तमम्लस्य गुरुत्वं, कषायस्य लघुत्वमप्युपपन्नम्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रूक्ष रसों में कषाय रस उत्तम (रूक्षतम), कटु मध्यम (रूक्षतर) और तिक्त अवर हीन (रूक्ष) हैं। उष्ण रसों में लवण उत्तम (उष्णतम), अम्ल मध्यम (उष्णतर) और कटु अवर (उष्ण) है। स्निग्ध रसों में मधुर श्रेष्ठ (स्निग्धतम), अम्ल मध्यम (स्निग्धतर) और लवण अवर (स्निग्ध) है। शीत रसों में मधुर उत्तम (शीततम), कषाय मध्यम (शीततर) और तिक्त अवर (शीत) है। गुरु रसों में मधुर उत्कृष्ट (गुरुतम), कषाय मध्यम (गुरुतर) और लवण अधम (गुरु) है। लघु रसों में तिक्त उत्तम (लघुतम), कटु मध्यम (लघुतर) और अम्ल अधम (लघु) है। कई आचार्य लवण रस को लघुओं में अवर मानते हैं (च.)।

कटु, अम्ल और लवण ये रस उत्तरोत्तर उष्णवीर्य हैं। तिक्त, कषाय, और मधुर ये उत्तरोत्तर शीतवीर्य हैं। तिक्त, कटु और कषाय ये तीनों रस उत्तरोत्तर रूक्ष हैं और मल को बांधनेवाले हैं। लवण, अम्ल और मधुर ये तीनों रस उत्तरोत्तर स्निग्ध और मल, मूत्र तथा अधोवात को साफ लानेवाले हैं। लवण से कषाय और उससे मधुर गुरु है। अम्ल से कटु और उससे तिक्त लघु है (अ. हृ.)। कई आचार्य लवण रस को गुरु, लघु, स्निग्ध और रूक्ष गुणों में साधारण-मध्यम मानते हैं (अ. सं.)।

के रसाः कं दोषं जयन्ति कोपयन्ति च--

स्वाद्वम्ल-लवणा वायुं, कषाय-स्वादु-तिक्तकाः।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषाय-कटु-तिक्तकाः॥
कट्वम्ल-लवणाः पित्तं, स्वाद्वम्ल-लवणाः कफम्।
कटु-तिक्त-कषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्॥

--च सू. अ. १

रसानामुपयुक्ततरं कार्यमाह--स्वाद्वम्लेत्यादि। अत्र च वायोर्नीरसस्यापि रससहचरितस्निग्धत्वादिगुणैर्विपरीतैः प्रशमो ज्ञेयः। एवं मधुररसस्यापि श्लेष्मणोऽम्ललवणाभ्यां स्निग्धत्वाभिष्यन्दित्वादिसहचरितगुणयोगादेव वृद्धिः। अत्र च ये रसा वातादीनां प्रशमकत्वेन नोक्तास्ते वर्धका बोद्धव्याः। यदाह वाग्भटः--"तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्। कषाय-तिक्त-मधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥" (वा. सू. अ. १) इति। रसकर्मातिदेशेनैव गुण-वीर्य-विपाकानामपि कर्मनिर्देशः कृत एव। यतो मधुरादिरसेनैव सर्वगुणान् वीर्य-विपाकांश्च निर्देक्ष्यत्यात्रेयभद्रकाप्यीये--"तत्र स्वादुः" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना; तथा "कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः" (च. सू. अ. २६); तथा "अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।" (च. सू. अ. २६); तथा "शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः। तयोरम्लं यदुष्णं च यच्चोष्णं कटुकं तयोः॥ (च. सू अ.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२६) इत्यादिना (च. द)। जयन्ति शमयन्ति। × ×। एतदुक्तं भवति--मधुरो वात-पित्तघ्नः, श्लेष्मकरः। अम्लो वातं शमयति, कफपित्तं च करोति। लवणो मारुतं हन्ति, कफ-पित्तं तु जनयति। कटुकः कफं नाशयति, वात-पित्तं तु कुरुते। तिक्तः कफ-पित्तं जयति, वातं जनयति। कषायः कफ-पित्तं हन्ति, वातं तु कोपयति (यो.) कर्मण्याह--स्वाद्वम्ल्येत्यादि। स्वाद्वम्ल-लवणा वायुं जनयन्ति वृद्धं समं कुर्वन्ति, समं ह्रासयन्ति, क्षीणमतिह्रासयन्ति। नीरसत्वेऽपि वायोः स्वाद्वादिरससमहचरितैः स्निग्ध-गुरुत्वादिभिर्मधुरः, स्निग्धोष्णादिभिरम्लः, स्निग्धोष्ण-गुरुत्वादिभिर्लवणः, इत्येते वातविजेतृत्वेन व्यपदिश्यन्ते। कषाय-स्वादु-तिक्तकाः पित्तं जनयन्ति; कषायः शैत्य-गौरवाभ्यां, स्निग्ध-शीत-गुरुत्वैः मधुरः, शैत्य-रौक्ष्याभ्यां तिक्तः; तिक्तस्यापि पित्तस्य तिक्तेन जयो वीर्याद्, विदग्धत्वे सामत्वे[1] च। श्लेष्माणं कषाय-कटु-तिक्तका जयन्ति रौक्ष्येण, लघूष्ण-रूक्षत्वैः, रूक्ष-लघुत्वाभ्यामिति क्रमेणोन्नेयम्। एषां वातादिप्रशमकत्ववचनेन कट्वादीनामेभ्यो भिन्नानां वातादि-कोपनत्वमुन्नेयम्। × × ×। अन्ये च पठन्ति--कट्वम्ल-लवणाः पित्तं कोपयन्ति समीरणम्। कषाय-कटुतिक्ताश्च स्वाद्वम्ल-लवणाः कफम्॥" इति। अत्र कट्वम्ल-लवणाः पित्तं कोपयन्ति रूक्षोष्णलघुत्वैः; कटुको रसः पित्तं वृद्धं करोति उष्ण-तीक्ष्ण-कटुत्वैः, क्षीणं समं वा वृद्धं वा; अम्लो रसो लघूष्णत्वाभ्यां पित्तं सममुष्ण-तीक्ष्णत्वादिभिर्वृद्धं करोति, क्षीणं समं वा वृद्धं वा; लवणो रसः उष्णत्वेन पित्तं समं वर्धयति उष्णत्व-तीक्ष्णत्वाभ्यां क्षीणं समं वा वृद्धं वा करोति; स्वाद्वम्ल-लवणाः-कफं कोपयन्ति; मधुरो रसः स्निग्ध-शीतः गुरुत्वैः कफं समं वृद्धं करोति, अम्लो रसः स्निग्धत्वेन, लवणो रसः स्निग्धत्व-गुरुत्वाभ्यां; क्षीणं तु समं वृद्धं वा। कटु-तिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणमिति कटुको रसः समीरणं लघूष्ण-रूक्षत्वैः, तिक्तको रसः शीत-रूक्ष-लघुत्वैः, कषायो रसः शीत-रूक्षत्वाभ्यां समं समीरणं वृद्धं करोति, क्षीणं समं वृद्धं वा (ग.)॥

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा--कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ल लवणास्त्वेनं शमयन्ति; कट्वम्ल-लवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुर-तिक्त-कषाया-स्त्वेनच्छमयन्ति, मधुराम्ल-लवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटु-तिक्त-कषायास्त्वेनं शमयन्ति॥ --च. वि. अ. १

१--"उष्ण-तीक्ष्ण-द्रव-सर-तिक्तत्वविपरीतैः शैत्य-मान्द्य-सान्द्र-स्थिर-कषाय-माधुर्यगुणैः पक्वस्य पित्तस्य प्रशमनम्; आमस्याम्लस्य विपरीतेन तिक्तेन प्रशमः। कट्विति तिक्तं; तेन तिक्त-रसस्य पित्तस्य विदग्धावस्थायामम्लरसत्वे तद्विपरीतत्वेन तिक्तरसः पित्तप्रकोपनाशकत्वेनोपपद्यते। उक्तं च सुश्रुते--"पित्तं × × × कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च।" (सु सू.) इति "सस्नेह-मुष्णं तीक्ष्णं च" (च. सू. अ. १) इत्यस्य व्याख्यायां गङ्गाधरः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसानामसंसृष्टानां कर्माह—तत्रेत्यादि । अनेन च रसकर्मोपदेशेन दोषाणामपि तत्तद्रसोत्पाद्यत्वं तथा तत्तद्रसोपशमनीयत्वमुक्तं भवति । कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्तीति असति परिपन्थिनीति ज्ञेयं, तेनार्कागुरु-गुडूच्यादीनां तिक्तानामपि वातजनकत्वे न दोषः। तत्र ह्युष्णवीर्यता परिपन्थिनी विद्यते, तेन न ते वातं जनयन्तीत्याद्यनुसरणीयम् । एनमिति पदेन यश्च कटूवादिर्जो वायुस्तमेव मधुराद्यः सर्वात्मवैपरीत्याद्विशेषेण शमयन्तीति दर्शयति; जागरणादिजे हि वायौ जागरणादिविपरीताः स्वप्नादय एव विशेषेण पथ्याः । एवं पित्त-श्लेष्मणोरपि एनदेनंशब्दयोस्तात्पर्यं दर्शयति (च. द.) । रसानां प्रभावमाह—तत्र दोषमेकैकमिति । दोषशमनत्वं दोषकोपनत्वं च रसानां प्रभावः, "हिताहितौ च प्रभावौ" (च. सू. अ. २६) इति । कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, कटु-तिक्त-कषायाणां वातजननत्वं सामान्यात् । मधुराम्ल-लवणास्तु एनं वातं शमयन्ति, मधुराम्ल-लवणानां वातशमनत्वं च विपर्यात् । सर्वत्र वृद्धि-ह्रासयोः सामान्य-विपर्ययनियतत्वात् । तदुक्तं— "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् । ह्रासहेतुर्विशेषश्च" (च. सू. अ. १) इति । विशेषो विपर्ययः, "विशेषस्तु विपर्ययः ।" (च. सू. अ. १) इति । "एते रसाः स्वयोनिवर्धनाः, अन्ययोनिप्रशमनाश्च ।" (सु. सू. अ. ४२) इत्याह सुश्रुतः । रसानां समानगुणत्वं समानभूतभूयिष्ठत्वात् । तथा च वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः, पित्तमाग्नेयम्, अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा । पृथिवी-सोमयोर्बाहुल्यान्मधुरः, भू-तेजसोरम्लः, अम्ल-तेजसोर्लवणः, अनिलानलयोः कटुकः, वाय्वाकाशयोस्तिक्तः, वायु-पृथिव्योः कषायः, एवं समानभूतभूयिष्ठत्वात् कटु-तिक्त-कषाया वातस्य समानगुणाः, कटवम्ल-लवणाः पित्तस्य, मधुराम्ल-लवणाः श्लेष्मणः; तस्मात् कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, कटवम्ल-लवणाः पित्तं, मधुराम्ल-लवणाः श्लेष्माणम् । मधुराम्ल-लवणा वातं शमयन्ति, विपरीतगुणत्वात् ; एवं मधुर-तिक्त-कषायाणां पित्तशमनत्वं, कटु-तिक्त-कषायाणां श्लेष्मशमनत्वं च विपर्ययात् । रसानामेवं दोषकोप-शमनत्वं दीर्घजीवितीयेऽप्युक्तम् । ××× । तदुक्तं भेलेनापि—"तत्र वायुगुणैस्तुल्यान् कषाय-कटु-तिक्तकान् । कटवम्ल-लवणैस्तुल्यान् तथा पित्तगुणान् विदुः ॥ मधुरं लवणाम्लौ च विद्यात् कफसमान् रसान् । तस्मादभ्यस्यमानैस्तैर्देहे दोषः प्रवर्धते ॥ गुणसाम्याद्विवर्धन्ते यथास्वं धातवो नृणाम् । यथैकत्र कृतौ राशी द्वौ महत्त्वमिहाच्छतः ॥ रसंस्तद्विपरीतैश्च यान्त्येते क्षयमाहृतैः । यथोदकं समासाद्य शान्तिं गच्छति पावकः ॥ कषाय-तिक्त-कटुकै रूक्षै रूक्षो विवर्धते । मारुतः, स्निग्धभावाच्च ततोऽन्यैरुपशाम्यति ॥ कटवम्ल-लवणैः पित्तमुष्णमुष्णैर्विवर्धते । शीतैः शाम्यति शेषैस्तु गुणानामप्यशेषतः ॥ स्निग्धः स्निग्धैः कफश्चापि वर्धते मधुरादिभिः । रसैः शाम्यति रूक्षैश्च कषाय-कटु-तिक्तकैः ॥ एकैकमेव सामान्याद् वर्धयन्ति त्रयस्त्रयः । घ्नन्ति चान्यगुणत्वेन रसा दोषं शरीरिणाम् ॥" (भेलसंहिता, वि. अ. १) इति (यो.) ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ।
कषाय-तिक्त-मधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ।।
—अ. सं. सू. अ. १; अ. हृ. सू. अ. १

एषां च रसानां दोषविशेषप्रशमन-प्रकोपनविभागं तत्रेत्यादिना दर्शयति । अन्ये तु कुर्वते इत्येतद् घ्नन्तीत्येतच्च मारुतादिभिः प्रत्येकमभिसंबध्यते । तेषु रसेषु मध्ये आद्यास्त्रयः स्वाद्वम्ल-लवणा मारुतमनिलं घ्नन्ति, अन्ये तु तिक्तोषण-कषायाः तमेव चानिलं कुर्वते; तिक्तादयस्त्रयः तिक्तोषण-कषायाः कफं घ्नन्ति, अन्ये तु मधुराम्ललवणाः तमेव कफं कुर्वते; कषाय-तिक्त-मधुराः पित्तं घ्नन्ति नाशयन्ति, अन्ये त्वम्ललवणोषणाः तदेव पित्तं कुर्वते (इन्दुः) । तत्र तेषु रसेषु मध्ये । × × × । एतेनेदमुक्तं भवति—मधुरो वात-पित्तघ्नः, श्लेष्मकरः; अम्लो वातं हन्ति, कफ-पित्ते तु जनयति; लवणो मारुतं हन्ति, कफ-पित्ते तु कुरुते; तिक्तः कफ-पित्ते नाशयति, वातं तु जनयति; ऊषण कफं नाशयति, वात-पित्ते तु जनयति; कषायः कफ-पित्ते हन्ति, वातं तु करोतीति (अ. द.) । वातादीनां साक्षाद्रसाकथनादस्पष्टे दोष-द्रव्ययोः साधर्म्य-वैधर्म्ये स्पष्टयति—तत्राद्या इति । × × × । तेन तिक्तोषणकषाया वायुं कुर्वन्ति, स्वाद्वम्ल-लवणाः कफम्, अम्ल-लवण-कटुकाः पित्तम् । अत एव ते ते रसास्तत्र तत्र सन्तीत्यनुमेयम् । उक्तं च कपिलेन—"कट्वम्ल-लवणं पित्तं, स्वाद्वम्ललवणः कफः । कषाय-तिक्त-कटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः ।।" इति (हे.) ।।

तत्र मधुराम्ल-लवणा वातघ्नाः, मधुर-तिक्त-कषायाः पित्तघ्नाः, कटु-तिक्त-कषायाः श्लेष्मघ्नाः । तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति । त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च × × × । तत्र शैत्य-रौक्ष्य-लाघव-वैशद्य-वैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः; तस्य समानयोनिः कषायो रसः; सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद्वैष्टम्भ्यमिति । औष्ण्य-तैक्ष्ण्य-रौक्ष्य-लाघव-वैशद्यगुणलक्षणं पित्तं ; तस्य समानयोनिः कटुको रसः ; सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यमिति । माधुर्य-स्नेह-गौरव-शैत्य-पैच्छिल्य-गुणलक्षणः श्लेष्मा; तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः; सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद्गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति । तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधूर्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद्गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात् पैच्छिल्यमिति। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तं भवति॥ —सु. सू, अ. ४२

षण्णां रसानां क्रियाविशेषं दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि। दोषाणामुत्पत्तिकारणमाह—तत्रेत्यादि। आत्मैवात्मेति आत्मैव योनिः वायुतो वातोत्पत्तिरित्यर्थः; पित्तमाग्नेयमिति अनल. पित्तस्य योनिरित्यर्थः; श्लेष्मा तु सौम्य इति सोमादुत्पद्यत इत्यर्थः। स्वयोनिवर्धना इति येभ्यः कारणेभ्यो मधुरादयो रसा उत्पद्यन्ते तानि वर्धयन्तीत्यर्थः। ×××। समानयोनिः तुल्ययोनिरित्यर्थः। तस्य श्लेष्मणः। प्रत्यनिकत्वात् विरुद्धत्वात्। निदर्शनमात्रमुक्तमिति दृष्टान्तमात्रमुक्तम् (ङ)। तत्र मधुरेत्यादिना वातादिनाशकत्वे रसद्वि-त्रिकानामभिहितेऽपि रसानां तर-तमभावेनापि शमकत्वं 'तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रस' इत्यादिना वक्ष्यमाणगुणयोगाज्ज्ञेयम्। ×××। स्वयोनिवधना इति स्वकारणवातादिवर्धनाः। तत्र वातारब्धा ये रसाः कटु-तिक्त-कषायास्ते वातवर्धनाः, ये चाग्निकारणकाः कटुकाम्ल-लवणास्तेऽग्निरूपपित्तवर्धनाः, यौ जलकारणकौ मधुराम्लौ तौ जलात्मकं सौम्यं श्लेष्माणं वर्धयतः, तथा लवणोऽपि सौम्यपृथिव्यारब्धतया श्लेष्माणमपि वर्धयति। ये तु भूयसा अनिलाद्यारब्धाश्च कषाय-कटुक-मधुरास्ते भूयसा वात-पित्त-कफान् वर्धयन्तीति तत्रेत्यादिनाऽत्रैव दर्शयिष्यति। एवमन्ययोनि प्रशमना इत्यपि व्याख्येयम्। ×××। उक्तं स्वयोनिवर्धनत्वं व्याकरोति-तत्रेत्यादि। वैष्टम्भ्यं विष्टम्भजनकत्वम्। कषायो रसो यद्यपि गुरुश्चरके प्रोक्तः, तथाऽपि तस्य लघुपाकतया इह वातलाघवेन लघुत्वं तुल्यमुक्तम्। तिक्तरसो यद्यपि वातयोनिस्तथाऽपि तस्य वातं प्रति सर्वथा तुल्यगुणताभावान्नोदाहरणम्। एवं पित्तसमानयोनितया कटुके चोदाहृते, श्लेष्मसमानयोनितया मधुरे चोदाहृते, पित्तयोनितया श्लेष्मयोनितया वा अम्ले लवणे चानुदाहृते व्याख्येयम्। तस्य पुनरित्यादिना अन्ययोनिप्रधानं कटुकमाह। पित्तानिलयोरप्यनेन न्यायेनान्ययोनिप्रधानेन मधुरेण शमनं, तथा तिक्त-कषायाभ्यां च श्लेष्मशमनम्, इत्यादि च सूचयन्नाह—तदेतन्निदर्शनमात्रमिति। निदर्शनं दृष्टान्तः (च. द.)। त एत इत्यादिना। ते प्राग्व्रणप्रश्ने दोषप्रकोपणत्वेनोपदिष्टा एते मधुरादयो रसाः। स्वयोनिः। "भूम्यम्बु गुणबाहुल्यान्मधुरः" (सु. सू. अ. ४२), इत्यादिस्मरणात् तत्तद्भूम्यम्बादिर्योनिरिव योनिर्यस्य तस्य वर्धनाः स्वयोनिवर्धनाः, एतेनैवान्ययोनिप्रशमनाश्चेति व्याख्यातप्रायम्। अत उपपन्नं भवति—मधुरादीनां वातादिप्रशमनत्वं, कट्वादीनां च वातादिप्रकोपणत्वं तत्तद्गुणविवेकतो भेदाभेदादित्ययमभिसंधिः। ×××। संप्रति सुखप्रतिपत्तये रसानां स्वयोनिवर्धनत्वमन्ययोनिप्रशमनत्वं चोदाहरणेनाव-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गमयति--तत्रेत्यादिना। इदमत्रावधेयं--"शुक्लः कम्बलो, रोहिणी धेनुः, नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वाद् द्रव्यात्मकता गुणस्य' इति येषां दर्शनं, तन्मतमवलम्ब्येदमुच्यते--'सोऽस्य शैत्यात् शैत्यम्' इत्यादि, नातो रसानां गुणत्वेन गुणवत्वाभावेऽपि गुणवत्त्वेनायमुपदेशोऽनुपपन्नः; अत एवोक्तं चात्रेयेण--"गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्। विद्याद् द्रव्यगुणान्" (च. सू. अ. २६) इति। तस्य पुनरित्यादि। न तावदेकान्तेन सर्वभिषजः स्वयोनिवर्धनप्रकारपरिज्ञानादेवान्ययोनिप्रशमनप्रकारमपि विज्ञास्यन्ति, नापि च यथाकथंचिदुपदेशगम्यस्यार्थस्यास्य यथाक्रममुदाहरणत्रितयेनोपदेशः प्रशस्यत इति संप्रधार्य श्लेष्मणः संनिहितत्वात् क्रमं हित्वेदमुच्यते--तस्य पुनरन्ययोनिरिति। निदर्शनम् उदाहरणम्। परिशिष्टं निगदव्याख्यातम् (हा.)॥

वात, पित्त, कफ इन में से एक-एक दोष को तीन-तीन रस उत्पन्न करते हैं और तीन-तीन रस उनके प्रकोपको शान्त करते हैं। जैसे--कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस वायु को उत्पन्न (प्रकुपित) करते हैं और मधुर, अम्ल तथा लवण ये तीन रस प्रकुपित वायु को शान्त करते हैं। कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस पित्तको उत्पन्न (प्रकुपित) करते हैं और मधुर, तिक्त तथा कषाय ये तीन रस प्रकुपित पित्तका शमन करते हैं[1]। मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस कफको उत्पन्न (प्रकुपित) करते हैं और कटु, तिक्त तथा कषाय ये तीन रस प्रकुपित कफ को शान्त करते हैं। वायु (वातदोष) वायु महाभूत से उत्पन्न होता है, पित्त अग्नि महाभूत से और कफ जल महाभूत से उत्पन्न होता है। अतः जो रस जिन महाभूतोंकी अधिकता से उत्पन्न होता है, वह स्वभाव से ही उस महाभूत से उत्पन्न होनेवाले दोष को बढ़ाता है और इससे विपरीत महाभूत से उत्पन्न होनेवाले दोष को शान्त करता है (क्योंकि शरीर के धातुओं की समान से वृद्धि और विपरीत से ह्रास होता है)। जैसे शैत्य, रौक्ष्य, लाघव, वैशद्य और वैष्टम्भ्य ये वायु के गुण हैं। उसका समान योनि और समान गुणवाला कषाय रस है। कषाय रस अपने शैत्य से वायु के शैत्यको, रौक्ष्य से रौक्ष्य को, लाघव से लाघव को, वैशद्य से वैशद्यको और विष्टम्भता से विष्टम्भताको बढ़ाता है। इस प्रकार कषाय रस सब प्रकार से वायु को बढ़ानेवाला है। औष्ण्य, तैक्ष्ण्य, रौक्ष्य, लाघव और वैशद्य ये पित्त के गुण हैं। उसका समान योनि और समान गुणवाला कटु रस है। वह अपनी उष्णता से पित्त की उष्णता को, तीक्ष्णता से तैक्ष्ण्य को, रूक्षता से

१--पित्त पक्वावस्था में तिक्त और विदग्ध-आम अवस्था में अम्ल होता है। पक्व पित्तका उसके विपरीत मधुर और कषाय रससे तथा विदग्ध पित्तका उसके विपरीत तिक्त से प्रशमन होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रौक्ष्य को और विशदता से वैशद्य को बढाता है। इस प्रकार कटु रस सब प्रकार से पित्त को बढ़ानेवाला है। मधुरता, स्नेह, गौरव, शैत्य और पैच्छिल्य ये कफ के गुण हैं। उसका समानयोनि और समान गुणवाला मधुर रस है; क्योंकि कफ और मधुर रस दोनों जलमहाभूत की अधिकतासे उत्पन्न होते हैं। इसलिए मधुर रस अपनी मधुरता से कफ के माधुर्य को, स्निग्धता से स्नेह को, गुरुता से गौरव को, शीतता से शैत्य को और पिच्छिलता से पैच्छिल्य को बढ़ाता है। इस प्रकार मधुर रस सब प्रकार से कफ को बढ़ानेवाला है। कफ का असमान (विरुद्ध) योनि कटु रस है; क्योंकि कटु रस अग्नि की और मधुर रस जल की अधिकता से उत्पन्न होता है, जो दोनों परस्पर विरुद्ध गुणवाले हैं। इसलिए विरुद्ध गुणवाला होने से कटु रस अपने रस के प्रभाव से कफ की मधुरता को, रूक्षता से कफ के स्नेह को, लघुता से कफ के गौरव को, उष्णता से कफ के शैत्य को और विशदता से कफ की पिच्छिलता को नष्ट करता है। इस प्रकार कटु रस सब प्रकार से कफ का नाश करनेवाला है। यह कटु रसका विषय हमने उदाहरण के रूप में बताया है। इसी प्रकार अन्य रसों के विषय में भी जानना चाहिए।

कैर्गुणैः के रसाः कं दोषं वर्धयन्ति प्रशमयन्ति वेति न ज्ञायत इति तत्प्रकाशनार्थमिदमुच्यते––माधुर्य-स्नेह-गौरव-पैच्छिल्य-मार्दव-शैत्यैः श्लेष्माणं वर्धयति मधुरः (र. वै. अ. ३, सू. ६२)। × × ×। अस्य हेत्वर्थमाह—स्वयोनेरागमाद् विवृद्धिर्दोष-धातु-मलानाम् (सू. ६३)। स्वयोनेरागमात् स्वजातीयस्यागमात् प्रतिलम्भाद् विवृद्धिर्दोष-धातु-मलानां भवति यस्मात् तस्मादेवमुक्तमित्यवगन्तव्यम्। यस्माच्छब्दो लुप्त इत्यवगन्तव्यः (भा.)। क्षयः कथमिति? क्षयः प्रतिपक्षस्यागमात् (सू. ६४)। प्रतिपक्षस्य प्रत्यनीकस्य असमानजातीयस्यागमाद् दोष-धातु-मलानां क्षयो भवति (भा.)। कोपयति क्लेदयति चैनमम्लः, औष्ण्यात् तैक्ष्ण्याद् गौरवात् स्नेहाच्च (सू. ६५)। एनं श्लेष्माणं, कोपयतीति स्वस्थानात् प्रच्युतं करोति, क्लेदयति चाम्लः। औष्ण्य-तैक्ष्ण्याभ्यामाग्नेयाभ्यां श्लेष्माणं प्रस्तीतं घनं विलीनं कृत्वा क्लेदयति, गौरव-स्नेहाभ्यां तस्योपचयं च करोति। एवं सौम्याग्नेयोऽम्ल श्लेष्मणः सौम्यस्य सौम्य-भावेन चाग्नेय भावेन कोपन-क्लेदने करोतीति प्रदर्शितं भवति। क्लेदयतीति चेत्यत्र 'च' शब्दः संचयं च करोतीत्युपसंग्रहार्थः (भा.)। विष्यन्दयति चैनं लवणः (सू. ६६)। विष्यन्दयति प्रकोपयति चेति औष्ण्यादिभिः पूर्ववत् (भा.)। काटुक्यौष्ण्य-रौक्ष्य-लाघवैश्च पित्तं वर्धयति कटुकः (सू. ६७)। एभिः काटुक्यादिभिरात्मीयैर्गुणैः पित्तस्य तुल्यजातीयैः पित्तं वर्धयति कटुकः। शेषं पूर्ववत्। कटुकस्य वायव्यभागेनोपकारो रौक्ष्य-लाघवाभ्यां भवति (भा.)। पित्तं भृश-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विदाहित्वादुष्णत्वात्तीक्ष्णत्वाच्च विदाहयति कोपयति चाम्लः (सू. ६८)। चशब्दः पूर्ववत् (भा.)। अम्लेन लवणो व्याख्यातः (सू. ६९)। एभिर्गुणैरेतदेव कर्म करोतीति (भा.)। शैत्य-रौक्ष्य-वैशद्य-वैष्टम्भ्यैर्वायुं वर्धयति कषायः (सू ७०)। एभिः शैत्यादिभिर्वायुं वर्धयति कषायः। सर्वत्र वर्धयतीत्युक्ते सर्व एव वृद्धेरवस्थाविशेषाः परिगृहीता भवन्ति, तथाऽपि तत्र तत्र विशेषकार्यप्रदर्शनार्थं प्रकोपादिवचनं। विष्टम्भनं मलानामप्रवृत्तिर्वायोः संचारनिरोधो वा पार्थिवेन भागेन (भा.)। शैत्य-रौक्ष्य-वैशद्य-लाघव-मार्दवैरेनं कोपयति तिक्तः (सू. ७१)। शैत्य-रौक्ष्यादिभिर्भावैर्वायुना तुल्यजातीयैर्वायोरेवमुपकरोति (भा.)। रौक्ष्य-लाघव-काटुक्यैरेव वायुं कोपयति कटुकः। (सू. ७२)। एवशब्दोऽवधारणार्थः। अनयाऽवधारणया नोष्ण-तीक्ष्णाभ्यामित्युक्तं भवति (भा.)॥

भदन्त नागार्जुन कहते हैं कि--मधुर, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, मृदु और शीत इन गुणों से मधुर रस कफ को बढ़ाता है, क्योंकि स्वयोनि-सजातीय के आगम (मिलने) से दोष-धातु तथा मलों की वृद्धि होती है और विजातीय के आगम (मिलने) से उनका क्षय होता है। अम्ल रस अपने उष्ण, तीक्ष्ण, गुरु और स्निग्ध गुण से कफ को क्लिन्न (गाढ़े कफ को पतला) और प्रकुपित करता है। लवण रस अपने उष्ण, तीक्ष्ण, गुरु और स्निग्ध गुण से कफ को पिघलाता है। कटु रस अपने उष्ण, रूक्ष और लघु गुण से पित्त को बढ़ाता है। अम्ल और लवण रस अपने अति विदाही, उष्ण और तीक्ष्ण, गुण से पित्त को विदग्ध और प्रकुपित करता है। कषाय रस अपने शैत्य, रौक्ष्य, वैशद्य और विष्टम्भता इन गुणों से वायु को बढ़ाता है। शैत्य, रौक्ष्य, वैशद्य, लाघव और मार्दव इन गुणों से तिक्त रस वायु को प्रकुपित करता है। कटु रस अपने रौक्ष्य, लाघव और कटुतासे वायुका प्रकोप करता है।

रसानां दोषजननेऽपवाद--:--

प्रायः पित्तलमम्लम्, अन्यत्र दाडिमामलकात् प्रायः ; श्लेष्मलं मधुरम्, अन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालि-षष्टिक-यव-गोधूमात् ; प्रायस्तिक्तं वातलमवृष्यं, अन्यत्र वेत्राग्रामृता-पटोलपत्रात् ; प्रायः कटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्र पिप्पली विश्वभेषजात्॥ --च.सू.अ २७.

प्रायः पित्तलमिति विशेषेणान्येभ्यो लवण-कटुकेभ्योऽम्लं पित्तलम्। एवमन्यत्रापि प्रायःशब्दो विशेषार्थो वाच्यः; किंवा प्रायःशब्दोऽम्लेन संबध्यते। अत्र पित्तमादावम्लजन्यतयोक्तं, दोषप्राधान्यस्यानियतत्वाद् ; उक्तं हि--"न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्यः" (च. सू. अ. १९) इति, तथा "समपित्तानिल-कफाः" (चि.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सू. अ. ७) इति; किंवा पित्तोष्मा वह्निः, स चेहान्नपानपचने प्रधानं; यदुक्तं—"यदन्नं देहधात्वोजो-बल-वर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्नह्यपक्वाद्रसादयः। (च. चि. अ. १५) इति। तेनेह वह्निकारणपित्तजनकमेवादावुच्यते ; यतश्च पित्तजनकमग्रे वक्तव्यम्, अतो रसप्रधानमपि मधुरो नादावुक्तः। मधुन इति विच्छेदपाठेन नवानवस्य मधुनः कफाकर्तृत्वं दर्शयति। इह च षड्रसस्यैव कथनमेतत्त्रयेणैव अनुक्तानां लवण-तिक्त-कषायाणामपि पाकद्वारा ग्रहणात् ; यतो लवणः पाकात् प्रायो मधुरः, तिक्त-कषायौ कटुकौ पाकतो भवतः। 'प्राय सर्वं तिक्तं' इत्यादिस्तु ग्रन्थो हारीतीयः, इह केनापि प्रमादाल्लिखितः (च. द.)। दाडिममामलकं च तयोः समाहारः, तस्मादन्यत्र। दाडिममामलकं च वर्जयित्वा समग्रमम्लरसं द्रव्यं प्रायः पित्तजननम्। प्रायोग्रहणात् क्वचिद् व्यभिचारोऽपि। ×××। मधुनस्तथा पुराणाच्छालि-षष्टिक-यव-गोधूमादन्यत्र पुराणाञ्छाल्यादींश्च हित्वा सर्वं मधुरं द्रव्यं प्रायः श्लेष्मलं श्लेष्मकृत्। ×××। वेत्रस्याग्रम्, अमृता गुडूची, पटोलपत्रं च ; तस्मादन्यत्र वेत्राग्रादिकं विहाय तिक्तकं तिक्तरसं द्रव्यं प्रायो वातलं वातकृत्, अवृष्यं च। पिप्पली विश्वभेषजः शुण्ठी च तस्मादन्यत्र पिप्पलीशुण्ठीवर्जं कटुकं द्रव्यं प्रायो वातलमवृष्यं च। ×××। इहापि—"कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयायामतोऽन्यथा।" इति। भेलेनाप्युक्तं—"सर्वं तिक्तमवृष्यं च विद्यादन्यत्र कूलकात्। श्लेष्मलं मधुरं सर्वं यवगोधूमवर्जितम्॥ दाडिमामलकादन्यत् सर्वमम्लं तु पित्तलम्।" (सू. अ. २७)। ×××। इति कूलकात् पटोलात् (यो.)॥

तत्र प्रायो मधुरं श्लेष्मलम्, अन्यत्र पुराण-शालि-यव-गोधूम-मुद्ग-मधु-शर्करा-जाङ्गलमांसात्। प्रायोऽम्लं पित्तलम्, अन्यत्र दाडिमामलकात्। प्रायो लवणमचक्षुष्यम्, अन्यत्र सैन्धवात्। प्रायस्तिक्तं कटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्रामृता-पटोली-नागर-पिप्पली-लशुनात्। प्रायः कषायं शीतं स्तम्भनं च अन्यत्र हरीतक्याः।

—अ. सं. सू. अ. १८

तत्र सर्वेषां मधुरादीनां सामान्येन श्लेष्मलादित्वमुक्तं, यत्र चैतद् व्यभिचरति तद्दर्शयति—तत्रेत्यादिना। पुराणशाल्यादि वर्जयित्वा सर्वं मधुरं प्रायः श्लेष्मकरम्। मधुरदाडिमादि मधुरमपि न श्लेष्मकरमिति प्रदर्शनार्थं प्रायोग्रहणम्। एवं सर्वेषु प्रायोग्रहणेषूह्यम्। अन्यत् सुबोधम्। अमृता-पटोले तिक्तानां, नागर-पिप्पली-लशुनं कटुकानाम् (इन्दुः)॥

अम्ल रस प्रायः पित्त करता है, परन्तु दाडिम-अनार और आँवला अम्ल रसवाले होनेपर भी पित्त नहीं करते। मधुर रस प्रायः कफ करता है, परन्तु पुराने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शालि-षष्टिक-जौ-गेहूँ और मूंग, शहद, मिश्री और जाङ्गल प्राणियों का मांस मधुर होनेपर भी कफ नहीं करते। तिक्त रस प्रायः वायु करनेवाला और अवृष्य होता है, परन्तु वेत का अग्रभाग, गिलोय, पटोल (कडुए परवल) की पत्ती ये तिक्त रसवाले होनेपर भी वायु नहीं करते। कटु रस प्रायः वायु करनेवाला और अवृष्य होता है, परन्तु छोटी पीपल, सोंठ और लहसुन कटुरसवाले होनेपर भी वायु नहीं करते और वृष्य होते हैं। लवण रस नेत्र को हानि करता है, परन्तु सैंधानमक लवण होनेपर भी नेत्र को हानि नहीं करता।

रसानां दोषजनने दोषप्रशमने च युक्तिः--

रस-दोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुण भूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुण-भूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः। इत्येतद् व्यवस्थाहेतोः षट्त्व मुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम् ।:

--च. वि. अ. १

अथ कया युक्त्या रसा दोषाञ्जनयन्ति, शमयन्ति चेत्याह--रस-दोषेत्यादि। सन्निपाते इति अन्तःशरीरमेलके। तु शब्दो विशेषे, तेन विपरीतगुणा एव विशेषेण विपरीतगुणभूयिष्ठापेक्षया शमयन्तीति दर्शयति। रसानां तु यथा उपचाराद् गुणा भवन्ति तदभिहितं--"गुणा गुणाश्रया नोक्ताः" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना सूत्रे। अभ्यस्यमाना इति न सकृदुपयुज्यमानाः। अथ कस्माद्रस-दोषसंसर्ग-भूयस्त्वं परित्यज्य रसषट्त्वं दोषत्रित्वं चोच्यते ? इत्याह--इत्येतदित्यादि। व्यवस्थेति रस-दोषसंसर्गप्रपञ्चसंक्षेपः परस्परेणासंसृष्टानामिति पदं दोषाणा-मित्यनेनापि योज्यम् (च. द.)। रसानां त्रिंशस्त्रिंश एकैकदोषकोपन-शमनत्व-मुक्त्वा संनिपाते व्यवस्थामाह--रस-दोषसंनिपातेत्विति। रसा दोषाश्च तेषां संनिपातः, तस्मिन्। संनिपात इह समसमवेततया। ये रसाः तदाश्रयद्रव्यं ; यैर्दोषैः बहुवचनमविवक्षितं समानगुणाः समानप्रकृतिकाःसमानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ; तद्यथा--कटु-तिक्त-कषायद्रव्यं वातस्य समानगुणं, तत् श्लेष्मणो विपरीतगुणं, पित्तस्य विपरीतगुणभूयिष्ठं च भवति ; मधुराम्ल-लवणं श्लेष्मणः समानगुणं,पित्तस्य समानगुणभूयिष्ठं, तत् पुनर्वातस्य विपरीतगुणं भवति,एवमुन्नेयं; ते रसा अभ्यस्यमानाः सातत्येनोपयुज्यमानाः, तान् दोषानभिवर्धयन्ति। ये रसाः पुनर्यैः दोषैः सह विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते रसा अभ्यस्य-मानास्तान् दोषान् शमयन्ति। सर्वत्र सामान्य-विपर्यययोः वृद्धि-ह्रासहेतूत्व-नियमात्। रसानां षट्त्वं दोषाणां च त्रित्वमाह--एतदिति। एतद् व्यवस्था-हेतोः सामान्यविपर्ययाभ्यां योऽयं वृद्धि-ह्रास-नियमः तदर्थं, रसानां परस्परेणा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संसृष्टानां षट्त्वं, दोषाणां परस्परेणासंसृष्टानां च त्रित्वमुपदिश्यते। असंसृष्टा रसाः षट्, असंसृष्टा दोषाश्च त्रयः; तत्रैव सा व्यवस्था संभवति, न तु तेषां संसर्गे (यो.) ॥

जब शरीर के अन्दर मधुरादि रस और वातादि दोष आपस में मिलते हैं तब जो रस जिन दोषों के समान गुणवाले या समान गुणकी अधिकतावाले होते हैं, वे बारंबार अभ्यास-सेवन करने से उसको बढ़ाते हैं। इसी प्रकार जो रस जिन दोषों के विपरीत गुणवाले या विपरीत गुणों की अधिकतावाले होते हैं, वे बारंबार अभ्यास करने से उनको शान्त करते हैं। इस प्रकार व्यवस्था के लिए परस्पर असंयुक्त रसों का षट्त्व और दोषों का त्रित्व कहा गया है।

संसृष्टरसानां द्रव्याणां प्रभावविज्ञानोपायः--

तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रस-दोषप्रभावमेकैकशस्येनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्य-विकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्। न त्वेवं खलु सर्वत्र। नहि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानाम-वयवप्रभावानुमानेनैव समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुं शक्यम्। तथा-युक्ते हि समुदये समुदायप्रभावतत्त्वमेवोपलभ्य ततो द्रव्य-विकार-प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् ॥

--च. वि. अ. १

अथ कथं तर्हि संसृष्टानां रसानां दोषाणां च प्रभावो ज्ञेय इत्याह--तत्र खल्वित्यादि। तत्र चानेकरसद्रव्यस्यानेकदोषविकारस्य च प्रत्येकरस-दोषप्रभाव-मेलकेन प्रभावं कथयन् रससंसर्ग-दोषसंसर्गयोरपि तादृशमेव प्रभावं कथयति, यतो रस-दोषसंसर्गप्रभावावत्र द्रव्य-विकाराश्रयित्वाद्रस-दोषयोर्द्रव्य- विकारप्रभावत्वे-नोच्येते। अनेन न्यायेन साक्षादनुक्तोऽपि एकरसद्रव्यैकदोषविकारयोरपि प्रभावोऽसंसृष्टरस-दोषप्रभावकथनादुक्त एव ज्ञेयः। एकैकशस्येनाभिसमीक्ष्येति प्रत्येकमुक्तरसादिप्रभावेणानेकरसं द्रव्यमनेकदोषं च विकारं समुदितप्रभावमभि-समीक्ष्य अयं च रस-दोषप्रभावद्वारा द्रव्य-विकारप्रभावनिश्चयो न सर्वत्र द्रव्ये विकारे चेत्याह--न त्वेवं खलु सर्वत्रेति। अत्रैव हेतुमाह--नहीत्यादिनाऽध्यवसातुं शक्यमित्यन्तेन। ×××। नानात्मकानामिति नानाहेतुजनितानां; किंवा नानात्म-कानामिति नानाप्रमाणानाम्। ×××। परस्परेण चोपहतानामिति अन्योन्य-मुपघातितगुणानाम्। परस्परगुणोपघातस्तु यद्यपि दोषाणां प्रायो नास्त्येव, तथाऽप्यदृष्टवशात् क्वचिद्भवतीति ज्ञेयं; रसानां तु प्रबलेनान्योपघातो भवत्येव। अन्यैश्च विकल्पनैरिति अन्यैश्च भेदकैः; तत्र रसस्य भेदकाः स्वरस-कल्कादयः, एकस्यैव हि द्रव्यस्य कल्पनाविशेषेण गुणान्तराणि भवन्ति; दोषस्य तु द्रव्यान्त-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

राण्येव गुणान्तरयोगाद् भेदकानि भवन्ति। यदुक्तं--"स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः। स्थानान्तरगतश्चैव विकारान् कुरुते बहून्॥" (च.सू. अ. १८) इति। × × ×। द्विविधो मेलको भवति रसानां दोषाणां च प्रकृत्यनुगुणः, प्रकृत्यननुगुणश्च; तत्र यो मिलितानां प्राकृतगुणानुपमर्देन मेलको भवति, स 'प्रकृतिसमसमवाय' शब्देनोच्यते; यस्तु प्राकृतगुणोपमर्देन भवति, स विकृतिविषमसमवायोऽभिधीयते; विकृत्या हेतुभूतया विषमः प्रकृत्यननुगुणः समवायो विकृतिविषमसमवाय इत्यर्थः। अत्रैव विकृतिविषमसमवाये नानात्मकत्वादिहेतुत्रयं यथाविवृतमेव योजनीयम्। × × ×। अथ कथं तर्हि विकृतविषमसमवायप्रभावज्ञानमित्याह--तथायुक्ते हीत्यादि। तथायुक्ते समुदय इति विकृतिविषमसमवाये। समुदयप्रभावतत्त्वमिति मेलकप्रभावतत्त्वम्। समधृते हि मधुसर्पिषि सूर्यावर्ताख्ये वा दोषसमुदये न संयुज्यमाना मधु-घृतगुणकभागतं मारकत्वं, न च वातादिदोषप्रभावगतं सूर्यवृद्धया वर्धिष्णुत्वं सूर्यावर्तस्य, किं तु संयोगमहिमकृतमेवेत्यर्थः। यच्च गतिद्वयं दोष-रस-मेलकस्य, तेन प्रकृतिसमसमवायरूपं सन्निपातं ज्वरनिदाने दोषलिङ्गमेलकेनैवोक्तवान्॥ यदुक्तं--'पृथगुक्तलक्षणसंसर्गाद् द्वान्द्विकमन्यतमं सान्निपातिकं वा ज्वरं विद्यात्।" (च. नि. अ. १) इति। यस्तु विकृतिविषमसमवेतस्त्रिदोषकृतो ज्वरः, तस्य चिकित्सिते--"क्षणे दाहः क्षणे शीतं" (च. चि. अ. ३) इत्यादिना लक्षणमुक्तम्। नहि श्याव-रक्तकोठोत्पत्त्यादि तत्रोक्तं वातादिज्वरे क्वचिदस्ति। एवं रसेऽपि यत्राम्राते मधुरत्वं प्रकृतिसमसमवेतं, तत्राम्रातं मधुरमेतन्मात्रमेवोक्तं; तेन, मधुरसामान्यगुणागतं तस्य वात-पित्तहरत्वमपि लभ्यत एव। यत्रवार्ताके कटु-तिक्तत्वेन वातकरत्वं प्राप्तमपि च विकृतिविषमसमवायात्तन्न भवति, तत्राचार्येण "वार्ताकं वातघ्नम्" (च. सू. अ. २७) इत्युक्तमेव। एवमित्यादि तत्तदुदाहरणं शास्त्रप्रसृतमनुसरणीयम्। यत्तु प्रकृतिसमसमवायकृतरसदोषगुणद्वारा प्राप्तमपि द्रव्यगुणं विकारलक्षणं च ब्रूते, तत् प्रकर्षार्थं स्पष्टार्थं चेति ज्ञेयम् (च. द.)। षण्णां रसानां त्रयाणां दोषाणां च योऽयं यथास्वं प्रभाव उच्यते स तेषां मिलितानां तु समसमवाय एव बोद्धव्यः, न तु विषमसमवाये; तदेवाह--तत्रेति। तत्र अनेके रसाः समसमवेततया येषु तेषु द्रव्येषु, अनेकादोषात्मकेषु समसमवेतानेकदोषारब्धेषु विकारेषु च, रस-दोषप्रभावं रसानां दोषाणां च प्रभावम्, एकैकशेन एकैक्येन, अभिसमीक्ष्य एकैकस्य रसस्य दोषस्य च प्रभावं परीक्ष्य, द्रव्य-विकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् अवधारयेत्। यत्र एको रस एकश्च दोषस्तत्र रस-दोष-प्रभावेण द्रव्य विकारयोः प्रभावज्ञानमबाधितम्। यत्र पुनरनेके रसादोषाश्च समसमवेततया संनिपतिताः, तत्रापि रसानां षट्त्वानतिक्रमात् दोषाणां च त्रित्वानतिक्रमात् एकैकस्य रसस्य एकैकस्य दोषस्य च प्रभावमुपलभ्य तेन द्रव्यविकारयोः प्रभावोऽवधारयितुं शक्यते। नन्वेवं रस-दोष-प्रभावेण द्रव्यविकारयोः प्रभावज्ञाने रस-दोषयोरेव प्रभाव उपदिश्यताम्, न तु पृथग्द्रव्य-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विकारयोरित्यत आह--नत्वेवमिति। एवं रस-दोषप्रभावेण द्रव्य-विकारप्रभावज्ञानं न सर्वत्र सर्वस्मिन्द्रव्ये सर्वस्मिन् विकारे वा भवति। रसानांदोषाणां च पृथक्समसमवेतानां तथा भवति; तु विषमसमवेतानां, विषमसमवायेऽपरिसंख्यविकल्पात्। तदेवाह-- नहीति। प्रकृतौ विकृतौ वा दोषाणां संसर्गो द्विविधः--समसमवेततया, विषमसमवेततया च। तत्र दोषाणां विकृतिविषमसमवेतानां विकृतिः आहारादिवशेन स्वप्रमाणच्युतिः, तया विषमं यथा तथा समवेताः संसृष्टाः, तेषाम्। वैषम्यम् ऊनाधिकभावः, स च दोषाणां वृद्धानां क्षीणानां वा तारतम्यकल्पनया युगपद्वृद्धिक्षयाभ्यां वा भवति। विषमसमवायो वातलाद्यासु प्रकृतिष्वप्यस्ति, अतस्तद्वारणाय--विकृतीति। नानात्मकानां सर्वेषां वृद्धानां वा द्रव्युल्वणैकोल्वणत्वादिना नानाविधानाम्। तथा युगपद्वृद्ध-क्षीणानां परस्परविरोधात् परस्परेणोपहतप्रकृतिकानाम्। अन्यैः युगपद्वृद्धि-क्षयकृतैः "वृद्धि-क्षयकृतश्चान्यो विकल्प उपदेक्ष्यते।" (च. सू. अ. १७) इति विकल्पैः "वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संक्षय।" (च. सू. अ. १७) इत्यादिना उक्तैर्विकल्पितानाम्। दोषाणां विकृतिविषमसमवाये नाना विकल्पाः; प्रकृतिसमसमवायस्तु एकः "समैश्चैकः" (च. सू. अ. १७) इति। तत्र विषमसमवेतानां रसानां दोषाणां च अवयवप्रभावानुमानेन एकैकस्य रसस्य दोषस्य च प्रभावं परीक्ष्य,तेन समुदायस्य अवयविनो द्रव्यस्य विकारस्य च, प्रभावतत्त्वम् उपक्रमोपक्रम्यभावम्, अध्यवसातुम् अवधारयितुं, नहि शक्यं नैव शक्यते। रसानां दोषाणां च विषमसमवेतानामपरिसंख्यविकल्पतया एकैकशः प्रभावज्ञानस्यैव असंभवः, येन तत्र द्रव्य-विकारयोः प्रभावोऽध्यवसातुं शक्यते। तर्हि तत्र कथं द्रव्य-विकारयोः प्रभावोऽध्यवसीयेत? इत्यत आह--तथायुक्ते इति। तथायुक्ते यत्र रसानां दोषाणां वा विषमसमवायः तथाविधे समुदाये अवयविनि द्रव्ये विकारे च, समुदायस्य प्रभावतत्त्वं व्याधेर्बलं द्रव्यस्य तदुपशमनसामर्थ्यं चोपलभ्य ज्ञात्वा एव, ततो द्रव्य-विकारयोः प्रभावतत्त्वम् उपक्रमोपक्रमाख्यं, व्यवस्येत् अवधास्येत् (यो.)। ×××। ननु रस-दोषसंनिपातः खलु रसानां संसर्गो दोषाणां च संसर्गः, तत्र किं कारणसमानरूपेणैव कार्ये कारणसमवायः स्यात्? न, कारणगुण-कर्मवैषम्येणापि भवतीत्यत आह--नत्वेवं खलु सर्वत्रेति। सर्वत्र रससंसर्गे सर्वत्र दोषसंसर्गे च खलु नैवमुक्तप्रकारेण व्यवस्येत्। कस्मात्? न हीत्यादि। हि यस्मात् विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां नानारसात्मकानां रसानां, नानादोषात्मकानां ज्वरादिविकाराणां; परस्परेणोपहतानां नानारसानामारम्भकाणां, कार्यारम्भे तदाश्रयद्रव्यस्थकर्माणि काल-देशादिवशात् प्रकृतिस्थान् रसान् विकृत्य परस्परेणोपहत्य तत्तद्रसप्रभावतो विषमरूपेणापूर्वविशिष्टस्वरूपेण कार्यरसेषु समवायीनि भवन्तीत्येवं परस्परेणोपहतरसजानां; तथा नानादोषाणामारम्भकाणां ज्वरादिकार्यारम्भे तत्तद्दोषस्थकर्माणि काल-देश-निदानविशेषवशाद् विकृत्य, प्रकृतिस्थस्वरूपं विहाय, परस्परेणोपहत्य,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषमकर्मरूपेणापूर्वविशिष्टस्वरूपेण परिणम्य, क्रियमाणे ज्वरादौ समवायीनि भवन्तीति परस्परेणोपहतकर्मवातादिदोषजानां ज्वरादीनां च, अन्यैर्विकल्पनैरेकैकरसप्रभाकर्मविकल्पनैकदोषप्रभावविकल्पनाभ्यां भिन्नैर्विकल्पनैर्गुणकृतगुणविकल्पनैर्विकल्पितानां कार्यरसानां कार्यज्वरादीनां च, अवयवप्रभावानुमानेन तदारम्भकरसाश्रयद्रव्यस्थकृतैः गुणैरवयवैस्तदारम्भकदोषस्थगुणकृतैर्गुणैश्चावयवैरनुमानेन, समुदायस्य विकृतिविषमसमवेतस्य नानारसात्मकरसस्य विकृतिविषमसमवेतस्य नानादोषात्मकस्य ज्वरादेश्च प्रभावाणामारम्भकद्रव्याणां कर्मातिरिक्तकर्मणां तत्त्वं भिषग्भिरध्यवसातुं शक्यं न भवतीति। सर्वे हि भावा द्विविधमारभ्यन्ते––समवायिभिः कारणैर्देश-काल-कारणविशेषशात् प्रकृतिसमसमवायेन, विकृतिविषमसमवायेन च। यैर्द्रव्यैर्यो भाव आरभ्यते तद्भावमारभमाणानि द्रव्याणि चेतनप्रयुक्तानि स्वस्वकर्मभिः परस्परं संयुज्यमानानि पुनः पुनर्विभज्यमानानि खलु संयोग-विभागाभ्यामावर्त्यमानानि देश-काल-कारणादिवशात् स्वाश्रयद्रव्यतद्गुणान् स्वानि चानुरूपेण मेलयित्वैकीकृत्य प्रकृत्यैव जायमाने भावे समवायीनि कुर्वन्तीति प्रकृतिसमसमवेतः स भावो जायते। तत्र द्रव्याणि सजातीयानि द्रव्यान्तराण्यारभन्ते, गुणाश्च सजातीयानि गुणान्तराण्यारभन्ते, कर्माणि तु सजातीयानि कर्मान्तराण्यारभन्ते विरोधीनि च। यैस्तु द्रव्यैर्योऽपरोभाव आरभ्यते तानि द्रव्याणि चेतनप्रयुक्तानि स्वस्वकर्मभिर्देश-काल-कारणविशेषवशेनैकीभूतैर्विजातीयरूपमापद्यमानैः संयुज्यमानानि विभज्यमानानि च पुनः पुनरावर्त्यमानानि कारणानुरूपद्रव्यान्तररूपेण परिणम्य, कारणानुरूपगुणान्तररूपेण गुणाश्च परिणम्य स्वस्वाननुरूपविशिष्टापूर्वविजातीयाचिन्त्यरूपेण च स्वयं स्वयं परिणम्य जायमाने कार्ये समवायीनि भवन्ति सन्ति द्रव्याणि गुणांश्च समवायिनः कुर्वन्तीति विकृतिविषमसमवेतः स भावो जायते। तत्र द्रव्याणि सजातीयद्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्च गुणान्तरं सजातीयमेवारभन्ते, कारणगुणपूर्वको हि कार्यगुणो भवति, कर्माणि तु सजातीयविजातीयं विरोधि कर्म आरभन्ते। तत्तु कर्म भावानां संहतरूपाणां प्रभाव उच्यते इति। ननु च भो द्रव्याणि यदि विकृतिविषमसमवेतानि ज्वरादीनि गुणाश्च रसादयो विकृतिविषमसमवेताः कर्माणि च विकृतिविषमसमवेतानि प्रभावा उच्यन्ते, तर्हि कथं सजातीयारम्भकत्वं द्रव्य-गुणयोर्न कर्मण इति चेत्, न; यतः कार्यद्रव्यारम्भे तत्कार्यस्य कारणानां द्रव्याणां पृथिवी पृथिव्यन्तरं मूर्तिविशेषमारभते न तु जलादिकम् आपश्च शारीररसादि जलान्तरमारभन्ते, तथा तेजः शारीरतेजोन्तरमारभते, इत्येवं सजातीयद्रव्यान्तरमारभन्ते द्रव्याणि, न तु विजातीय द्रव्यान्तरं; तथा गुणाश्च रसादयस्तत्तद्द्रव्यस्थाः सजातीयगुणान्तरमारभन्ते, न तु विजातीयगुणान्तरम्। यथा साधारणो रसोऽप्सु पृथिव्यां च भूतान्तरसंयोगेऽभिव्यज्यमानो मधुरादिरसान् सजातीयानारभते। मधुरादिरसद्रव्यारभ्यमाणे पुनरन्यस्मिन् द्रव्ये प्रकृतिसमसमवेते विकृतिविषमसमवेते वा ते मधुरादयो रसः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सजातीयमेव प्रकृतिसमसमवेतं रसान्तरं विकृतिविषमसमवेतं वा रसान्तरमारभन्ते, न तु रूपान्तरं गन्धान्तरं वा विजातीयगुणान्तरम्। एवं रूपादयो गुणा व्याख्येयाः। कर्माणि तु खलूत्क्षेपणावक्षेपणादीनि द्रव्यस्थानि सजातीयं कर्मान्तरं प्रकृतिसमसमवेतमारभन्ते, सर्वाणि चैकीयभूय विकृतिविषमसमवेतं विजातीयमचिन्त्यं कर्मारभन्ते, यदुच्यते—प्रभाव इति। विजातीयेन कर्मणा सह मिलित्वा कर्म यथा विशिष्टापूर्वविजातीयकर्माण्यारभते, न तथा द्रव्याणि गुणा वा विजातीयद्रव्यान्तरेण विजातीयगुणान्तरेण वा मिलित्वा विजातीयं द्रव्यान्तरं वाऽऽरभन्ते इति। नन्वेवं चेत् तर्हि कथं नानारसात्मकं विकृतिविषमसमवेतं रसं नानादोषात्मकं ज्वरादिकं चावयवेनानुमाय तत्समुदायरूप-रस-विकारयोः प्रभावतत्त्वमध्यवस्येत् ? अत आह—तथायुक्ते हीत्यादि। तथा कारणविशेषाद् विकृतिविशेषेण परस्परोपघातादारम्भकप्रकृतिभूतकारणानां विकृत्या स्वकर्माननुरूपकर्मवत्तया समवायेन युक्ते रसे विकारसमुदाये चैकीभूतरूपे समुदायप्रभावतत्त्वं तथाविधमिलिततयैकीभूतरूपस्यैव प्रभावतत्त्वं तत्तदनुरूपकर्मप्रभावतत्त्वमुपलभ्य ततोऽनन्तरं समुदायप्रभावतत्त्वोपलम्भाद् द्रव्यविकारप्रभावतत्त्वं तत्समुदायकार्यरूपद्रव्य-विकारयोः प्रभावस्य स्वस्वकर्मकरत्वस्वभावस्य, तत्त्वं याथार्थ्यं व्यवस्येत् (ग.)॥

अनेक रसोंवाले द्रव्यों में तथा अनेक दोषोंवाले रोगों में प्रत्येक रस और दोष का जो अलग-अलग प्रभाव कहा गया है उसको देखकर, उस द्रव्य या विकार के प्रभाव का निर्णय करना चाहिए। यह न्याय जिस द्रव्य में अनेक रसों का और जिस रोग में अनेक दोषों का स्वाभाविक रीति से कारणानुरूप समवाय (मिलना) हुआ हो ऐसे प्रकृतिसमसमवेत द्रव्य और रोग में ही लागू होता है। परन्तु यह नियम प्रकृतिसमसमवेत को छोड़कर अन्यत्र विकृतिविषमसमवेत में लागू नहीं हो सकता। क्योंकि जिस द्रव्य में रसों का अस्वाभाविक रीति से कारणों के अननुरूप संयोग हुआ है, जिसमें रसों के गुणों का परस्पर उपघात हुआ है और जिसकी अनेक प्रकार की कल्कस्वरसादि कल्पनाएँ की गयी हैं, ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्यमें एक-एक रस का जो प्रभाव कहा गया है उससे समुदाय के प्रभाव का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इसी प्रकार विकृतिविषमसमवेत रोग में भी एक-एक दोष के प्रभाव को देखकर समुदाय के प्रभाव का निर्णय नहीं हो सकता। ऐसे विकृतिविषम समवेत द्रव्य और रोग में अवयव-प्रभाव से नहीं परन्तु समुदायप्रभाव (मिले हुए रसों और दोषों के प्रभाव) को देखकर द्रव्य और रोग के प्रभाव का निर्णय करना चाहिए। 'प्रकृत्या समः कारणानुरूपः समवायः प्रकृतिसमसमवायः'—द्रव्य में पञ्च महाभूतों तथा रसों का और रोग में दोष-दूष्यों का स्वाभाविकरीत्या सम अर्थात् कारणानुरूप जो समवाय (सम्बन्ध) होता है उसको **प्रकृतिसमसमवाय**, तथा इस प्रकार के सम्बन्ध से मिले हुए रसों दोषों को **प्रकृतिसमसमवेत** कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'विकृत्या विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः'--एवं द्रव्य में पञ्चमहाभूतों और रसों का तथा रोग में दोषदूष्यों का विकृति से अस्वाभाविक रूप में कारणों के अननुरूप जो सम्बन्ध होता है उसको **विकृतिविषमसमवाय** कहते हैं, और इस प्रकार के सम्बन्ध से संयुक्त रसों और दोषों को **विकृतिविषमसमवेत** कहते हैं। प्रकृतिसमसमवेत द्रव्य में कारण के अनुरूप कार्य होता है ; जैसे--वंशलोचन और मिसरी के बनाये हुए चूर्ण में रस-रूप-गुणादि समुदाय में भी अवयवानुरूप ही होते हैं। इसीलिये ऐसे समवाय में (मिले हुए द्रव्य में) अवयवभूत रसों या द्रव्यों के प्रभाव को देखकर उनपर से समवाय के प्रभाव का निर्णय हो सकता है। परन्तु विकृतिविषमसमवेत द्रव्य में कारण के अनुरूप नहीं ऐसे भिन्न ही रूप रस प्रभावादि उत्पन्न होते हैं; जैसे--पारद और गन्धक के संयोग से बनी हुई कज्जली या रससिन्दूर में दोनों की अपेक्षया भिन्न रूपादि उत्पन्न होते हैं,अतः ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्यों में समुदाय के प्रभाव को देखकर ही द्रव्य प्रभाव का निर्णय करना चाहिए।

त्रिषष्टिरसभेदाः, तेषामुपयोगश्च--

भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्य-देश-काल-प्रभावाद्भवति, तमुपदेक्ष्यामः--

स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक् ।
यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु ॥
पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत् ।
मधुरस्य तथाऽम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा ॥
त्रिरसानि यथासंख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः ।
वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च ॥
स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं लवणाद्यैः पृथग्गतौ ।
योगं शेषैः पृथग्यातश्चतुष्करससंख्यया ॥
सहितौ स्वादु-लवणौ तद्वत् कट्वादिभिः पृथक् ।
युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ तथा ॥
कट्वाद्यैरम्ल-लवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक् ।
यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्ल-कटू तथा ॥
युज्येते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ ।
षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात् ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्रसमेव तु ।
इति त्रिषष्ठिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया ।।
त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात् ।
रसास्तर-तमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि ।।
संयोगाः सप्तपञ्चाशत् कल्पना तु त्रिषष्टिधा ।।
रसानां तत्र योग्यत्वात् कल्पिता रसचिन्तकैः ।।

—च. सू. अ. २६

संप्रति द्रव्यमभिधाय विकृतानां रसानामेव भेदमाह--भेदश्चैषामित्यादि । प्रभावशब्दो द्रव्य-देश-कालैः प्रत्येकं युज्यते ; तत्र द्रव्यप्रभावाद्यथा—'सोमगुणातिरेकान्मधुरः' इत्यादि ; देशप्रभावाद्यथा —हिमवति द्राक्षा-दाडिमादीनि मधुराणि भवन्ति, अन्यत्राम्लानीत्यादि ; कालप्रभावाद्यथा--बालाम्रं सकषायं तरुणमम्लं, पक्वं मधुरं ; तथा हेमन्ते ओषध्यो मधुरा, वर्षास्वम्ला इत्यादि । अग्निसंयोगादयो येऽन्ये रसहेतवस्तेऽपि काले द्रव्ये वाऽन्तर्भावनीयाः । भेदमाह—स्वादुरित्यादि । तत्र स्वादोरम्लादियोगात् पञ्च, शेषैरिति आदित्वेनोपयुक्तादन्यैः ; तेनाम्लस्य लवणादियोगाच्चत्वारि, एवं लवणस्य कट्वादियोगात् त्रीणि, कटुकस्य तिक्त-कषाययोगाद् द्वे, तिक्तस्य कषाययोगादेकम्, एवं पञ्चदश[1] द्विरसानी । त्रिरसमाह—पृथगित्यादि । मधुरस्याम्लादिरसचतुष्टयेन पृथगित्येकशो युक्तस्य शेषैर्लवणादिभिर्योगो भवति ; तत्र मधुरस्याम्लयुक्तस्य शेषलवणादियोगाच्चत्वारि, तथा मधुरस्य लवणयुक्तस्य कट्वादियोगात् त्रीणि, तथा कटुयुक्तस्य तिक्तादियोगाद् द्वे, तथा तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकम् ; एवं मधुरेणादिस्थितेन दश । एवमम्लस्यादिस्थितस्य लवणयुक्तस्य कट्वादियोगात् त्रीणि, तथा कटुयुक्तस्य शेषाभ्यां योगाद् द्वे, एवं तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकम् ; एवमम्लस्य षट् । अनेनैव

१--"स्वादोरम्लादियोगात् पञ्च; तद्यथा--मधुराम्लं १, मधुरलवणं २, मधुरकटुकं ३, मधुरतिक्तं ४, मधुरकषायम् ५, इति। शेषैरिति आदित्वेनोपयुक्तादन्यैः, अम्लादयः पृथग्योगं यान्ति, तेनापरे दश ; तथाहि—अम्लस्य प्रत्येकं लवणादिचतुष्कयोगाच्चत्वारः--अम्ललवणम् १, अम्लकटुकम् २, अम्लतिक्तम् ३, अम्लकषायम्, ४, इति ; तथा लवणस्य कटुकादियोगात् त्रयः--लवणकटुकं १, लवणतिक्तं २, लवणकषायम् ३, इति ; कटुकस्य तिक्त-कषाययोगाद् द्वौ भेदौ--कटुतिक्तं १, कटुकषायम् २, इति ; तिक्तस्य कषाययोगादेक इति तिक्तकषायम् १; एवं हि द्विरसानि द्रव्याणि पञ्चदश भवन्ति।" इति शिवदाससेनः ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

न्यायेन लवणस्य त्रीणि, कटोश्चैकमेव। एवं मिलितत्रिरसानि विंशतिः[1]। चतूरसे स्वाद्वम्लावादिस्थितौ लवणादिभिरेकैकशयेन युक्तौ शेषैः कट्वादिभिर्योगात् षड् भवन्ति। स्वादु-लवणौ सहितौ आदिस्थितौ, कट्वादिभिरिति कटुतिक्ताभ्यां पृथग्युतौ, शेषैरिति तिक्त-कषायाभ्यां, तेनेह बहुवचनं जातौ बोद्धव्यम्; एवं त्रीणि। स्वादूषणौ तथेत्यनेन स्वादु-कटुक-तिक्त-कषायरूपमेकम्। कट्वाद्यैरित्यादावपि बहुवचनं जातौ। अम्ल-लवणौ संयुक्तौ कटुना सहितौ शेषाभ्यां योगाद् द्वे, तथाऽम्ल-लवणौ तिक्तयुक्तौ शेषयोगादेकम्। अम्लकटू तथेत्यनेनाम्ल-कटु-तिक्त-कषायरूपमेकम्। युज्येते त्वित्यादिना चैकम्। एवं पञ्चदश चतूरसानि[2]

१—"इदानीं त्रिरसद्रव्याणां विंशतिभेदानाह—पृथगम्लेत्यादि। मधुरस्य-अम्लादिरसचतुष्टयेन पृथगित्येकैकशो युक्तस्य शेषैर्लवणादिभिर्योगो भवेत्। तत्र मधुरस्याम्लयुक्तस्य शेषैर्लवणादिभिर्योगाच्चत्वारो भेदाः—मधुराम्ललवणं १, मधुराम्लकटुकं २, मधुराम्लतिक्तं ३, मधुराम्लकषायम् ४, इति; तथा मधुरस्य लवणयुक्तस्य शेषैः कटु-तिक्त-कषायैर्योगात् त्रयः—मधुरलवणकटुकं १, मधुरलवण-तिक्तं २, मधुरलवणकषायम् ३, इति; तथा मधुरस्य कटुयुक्तस्य तिक्त-कषाय-योगाद् द्वौ—मधुरकटुतिक्तं १, मधुरकटुकषायम् २, इति; एवं मधुरस्य तिक्त युक्तस्य कषाययोगादेकः—मधुरतिक्तकषायम् १, इति। एवमम्लस्य लवणयुक्तस्य प्रत्येकं कटु-तिक्तकषाययोगात् त्रयः—अम्ललवणकटुकम् १, अम्ललवण-तिक्तम् २, अम्ललवणकषायम् ३, इति; तथा तस्यैव कटुकयुक्तस्य तिक्त कषाययोगाद् द्वौ—अम्लकटुतिक्तम् १, अम्लकटुकषायम् २, इति; तथाऽम्लस्य तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकः—अम्लतिक्तकषायम् १, इति। एवं लवणस्य कटुयुक्तस्य तिक्त-कषाययोगाद् द्वौ—लवणकटुतिक्तं १, लवणकटुकषायम् २, इति; तथा लवणस्य तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकः—लवणतिक्तकषायम् १, इति; कटोश्च तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकः—कटुतिक्तकषायम् १; इति मिलित्वा त्रिरसानि द्रव्याणि विंशतिर्भवन्ति"। इति **शिवदाससेनः**।

२—"चतुष्कसंयोगेन पञ्चदशभेदानाह—वक्ष्यन्ते इत्यादि। सहिताविति मिलितौ स्वाद्वम्लौ लवणाद्यैश्चतुर्भिः पृथगेकैकशो योगे गतौ शेषैः कटु-तिक्त-कषायैः पृथग्योगं चतुष्करससंख्यया यातो गच्छतः; तेन षड् भेदाः—मधुराम्ल-लवणकटुकं १, मधुराम्ललवणतिक्तं २, मधुराम्ललवणकषायं ३, मधुराम्लकटु-तिक्तं ४, मधुराम्लकटुकषायं ५, मधुराम्लतिक्तकषायम् ६, इति। अम्लपरि-त्यागेनापरांश्चतुरो भेदानाह—सहितावित्यादि। मिलितौ स्वादुलवणौ कट्वादिभिः कटु-तिक्त-कषायैः पृथग्युक्तौ, शेषैरिति यथाक्रमं तिक्त-कषाय-कटुभिः पृथग्योगं यातो गच्छतः; तेन त्रयो भेदाः—स्वादुलवणकटुतिक्तं १, स्वादु-लवणतिक्तकषायं २, स्वादुलवणकषायकटुकम् ३, इति। अत्राद्यापेक्षया शेषाणां बहुत्वाद्बहुवचनमुपपन्नम्। लवणपरित्यागात् पुनश्चतुर्थो भेद इत्याह—स्वादूषणौ तथेति; स्वादूषणावपि शेषाभ्यां तिक्तकषायाभ्यां योगं यातः, स्वादु-कटुकतिक्तकषायम् १, इति; एवं चतुष्के मधुरयोगेन दश भेदाः। इदानीं मधुरपरित्यागात् पञ्च भेदानाह—कट्वाद्यैरित्यादि। अम्ललवणौ कट्वाद्यैः—→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपवर्जनादिति[1] त्यागात्। अत्र च रसानां गुणत्वेनैकस्मिन् द्रव्ये समवायो 'योग' शब्देनोच्यते। रससंसर्गस्य प्रकारान्तरेणासंख्येयतामाह—त्रिषष्टि स्यादित्यादि। अनुरसः पूर्वोक्तलक्षणः। अत्र च त्रिषष्ट्यात्मकरसे रसानुरस-कल्पना नास्ति, केवले मधुरादौ तदभावात्; तेन यथासंभवं सप्तपञ्चाशत्संयोग-विषयं रसानुरसकल्पनं ज्ञेयम्। किंवा, एकरसेऽप्यनुरसोऽस्त्येवाव्यपदेश्यः। प्रकारा-न्तरेणाप्यसंख्येयतामाह—रसास्तर-तमाभ्यामित्यादि। मधुर-मधुरतर-मधुर-तमादिभेदादसंख्येयता रसानां भवतीति भावः। किंवा, रसानुरसत्वेनैव याऽसंख्येयता तत्रैवायं हेतुः—रसास्तर-तमाभ्यामित्यादि। एवमसंख्येयत्वेऽपि त्रिषष्टि-विधैव कल्पना चिकित्सा-व्यवहारार्थमिहाचार्यैः कल्पितेत्याह—संयोगा इत्यादि। तत्र योग्यत्वादिति तत्र स्वस्थातुरहितचिकित्साप्रयोगेऽनतिसंक्षेपविस्तररूपतया हितत्वादित्यर्थः (च. द.)॥

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्।
दोषौषधादीन् संचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः।
रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति॥

—च. सू. अ. २६

तमेव चिकित्साप्रयोगमाह—क्वचिदित्यादि। अत्रादिग्रहणाद्देश-काल-बला-दीनामुक्तानां ग्रहणम्। एतदेव संयुक्तासंयुक्तरसकल्पनं भिन्नरसद्रव्यमेलका-द्वाऽनेकरसैकद्रव्यप्रयोगादेकरसद्रव्यप्रयोगाद्वा भवतीति दर्शयन्नाह—द्रव्याणीत्यादि। द्विरसादीनि उत्पत्तिसिद्धद्विरस-त्रिरसादीनि; द्विरसं यथा—कषायमधुरो मृद्गः; त्रिरसं यथा—"मधुराम्ल-कषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम्।

←—कटु-तिक्त-कषाराः पृथग्युक्तौ यथाक्रमं शेषैस्तिक्त-कषाय-कटुभिः पृथग्योगं यातो गच्छतः; तेन त्रयो भेदाः—अम्ललवणकटुतिक्तम् १, अम्ललवण-तिक्तकषायम् २, अम्ललवणकषायकटुकम् ३, इति। लवणपरित्यागाच्चतुर्थ भेदमाह—शेषैरम्ल-कटू तथेति; अम्ल-कटू शेषैरिति शेषाभ्यां तिक्त-कषायाभ्यां योगं यातो गच्छतः, अत्र शेषैरिति जातौ बहुवचनम्; अम्लकटुतिक्तकषायम् १। मधुराम्ल-परित्यागात्तु पञ्चमो भेद इत्याह—युज्येते त्वित्यादि। लवणकटु-तिक्तकषायम् १; इति। तदेवं चतुष्के पूर्वं दशभिर्मिलित्वा पञ्चदश भेदा उक्ताः।" इति शिवदाससेनः।

१—"पञ्चके षड्भेदानाह—षडित्यादि। अपवर्जनादिति त्यागात्; यथा—मधुरत्यागात् अम्ललवणकटुतिक्तकषायम् १, एवमम्लत्यागात् मधुर-लवणकटुतिक्तकषायं २, लवणपरित्यागात् मधुराम्लकटुतिक्तकषायं ३, कटुक-त्यागात् मधुराम्ल-लवणतिक्तकषायं ४, तिक्तत्यागात् मधुराम्ललवणकटुक-कषायम् ५, कषायत्यागात् मधुराम्ललवणकटुतिक्तम् ६।" इति शिवदाससेनः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पित्त-श्लेष्महरं भव्यं" (च. सू. अ. २७) इत्यादि; चतूरसस्तिलः, यदुक्तं—"स्निग्धोष्ण-मधुरतिक्तः कषायः कटुकस्तिलः।" (च. सू. अ. २७); पञ्चरसं त्वामलकं हरीतकी च, "शिवा पञ्चरसा" इत्यादिवचनात; व्यक्तषड्रसं तु द्रव्यमिहानुक्तं, विषं त्वव्यक्तषड्रससंयुक्तं; हारीते त्वेणमांसं व्यक्तषड्रससंयुक्तमुक्तम्। एवं द्विरसादिद्रव्ययोगाद् द्विरसाद्युपयोगः। तथा संयुक्तांश्च रसानिति एकैकरसादिद्रव्यमेलकात् संयुक्तान् रसानेकैकशः कल्पयन्ति प्रयोजयन्ति। गदान् प्रतीति प्राधान्येन तेन स्वस्थवृत्तेऽपि बोद्धव्यं; किंवा, द्विरसादिभेदो गद एव, स्वस्थे तु सर्वरसप्रयोग एव; यदुक्तं—"समसर्वरसं सात्म्यं समाधातोः प्रशस्यते।" (च. सू. अ. ७) इति। एवं च व्याख्याने सति 'क्वचिदेकोरस' इत्यादिना सममस्य न पौनरुक्त्यम्। किंवा 'क्वचिदेको रसः' इत्यादिना स्वमतमुक्तम्, अत्रैवार्थे 'द्रव्याणि द्विरसादीनि' इत्यादिनाऽऽचार्यान्तिरसंमतिं दर्शयति; अत एवाचार्यान्तराभिप्रायेण कल्पयन्तीत्युक्तं, तेन न पौनरुक्त्यम् (च. ब.)॥

अविदग्धा विदग्धाश्च भिद्यन्ते ते त्रिषष्टिधा।
रसभेदत्रिषष्टिं तु वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत्॥

द्विकान् वक्ष्यामः—

यथाक्रमप्रवृत्तानां द्विकेषु मधुरो रसः।
पश्चानुक्रमते योगानम्लञ्चतुर एव तु॥
त्रींश्चानुगच्छति रसो लवणः, कटुको द्वयम्।
तिक्तः कषायमन्वेति, ते द्विका दश पञ्च च॥

तद्यथा—मधुराम्लः १, मधुरलवणः २, मधुरकटुकः ३, मधुरतिक्तः ४, मधुरकषायः ५, एते पञ्चानुक्रान्ता मधुरेण; अम्ललवणः १, अम्लकटुकः २, अम्लतिक्तः ३, अम्लकषायः ४, एते चत्वारोऽनुक्रान्ता अम्लेन; लवणकटुकः १, लवणतिक्तः २, लवणकषायः ३, एते त्रयोऽनुक्रान्ता लवणेन; कटुतिक्तः १, कटुकषायः २, द्वावेतावनुक्रान्तौ कटुकेन; तिक्त-कषायः १, एक एवानुक्रान्तस्तिक्तेन; एवमेते पञ्चदश द्विकसंयोगा व्याख्याताः॥

त्रिकान् वक्ष्यामः—

आदौ प्रयुज्यमानस्तु मधुरो दश गच्छति।
षडम्लो, लवणस्तस्मादर्धमेकं तथा कटुः॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तद्यथा--मधुराम्ललवणः १ मधुराम्लकटुकः २, मधुराम्लतिक्तः ३, मधुराम्लकषायः ४, मधुरलवणकटुकः ५, मधुरलवणतिक्तः ६, मधुरलवणकषायः ७, मधुरकटुकतिक्तः ८, मधुरकटुकषायः ९, मधुरतिक्तकषायः १०, एवमेषां दशानां त्रिकसंयोगानामादौ मधुरःप्रयुज्यते; अम्ललवणकटुकः १, अम्ललवणतिक्तः २, अम्ललवणकषायः ३, अम्लकटुतिक्तः ४, अम्लकटुकषायः ५, अम्लतिक्तकषायः ६, एवमेषां षण्णामादावम्लः प्रयुज्यते; लवणकटुतिक्तः १, लवणकटुकषायः २, लवणतिक्तकषायः ३, एवमेषां त्रयाणामादौ लवणः प्रयुज्यते; कटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादौ कटुकः प्रयुज्यते; एवमेते त्रिकसंयोगा विंशतिर्व्याख्याताः ॥

चतुष्कान् वक्ष्यामः--

चतुष्करससंयोगान्मधुरो दश गच्छति ।
चतुरोऽम्लोऽनुगच्छेच्च, लवणस्त्वेकमेव तु ॥

मधुराम्ललवणकटुकः १, मधुराम्ललवणतिक्तः २ मधुराम्ललवणकषायः ३, मधुराम्लकटुकतिक्तः ४, मधुराम्लकटुकषायः ५, मधुराम्लतिक्तकषायः ६, मधुरलवणकटुकतिक्तः ७, मधुरलवणकटुकषायः ८, मधुरलवणतिक्तकषायः ९, मधुरकटुतिक्तकषायः १०, एवमेषां दशानामादौ मधुरः प्रयुज्यते; अम्ललवणकटुतिक्तः १, अम्ललवणकटुकषायः २, अम्ललवणतिक्तकषायः ३, अम्लकटुतिक्तकषायः ४, एवमेषां चतुर्णामादावम्लः; लवणकटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादौ लवणः; एवमेते चतुष्करससंयोगाः पञ्चदश कीर्तिताः ॥

पञ्चकान् वक्ष्यामः--

पञ्चकान् पञ्च मधुरः, एकमम्लस्तु गच्छति ॥

मधुराम्ललवणकटुतिक्तः १,मधुराम्ललवणकटुकषायः २,मधुराम्ललवणतिक्तकषायः ३, मधुराम्लकटुतिक्तकषायः ४, मधुरलवणकटुतिक्तकषायः ५, एवमेषां पञ्चानामादौ मधुरः प्रयुज्यते; अम्ललवणकटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादावम्लः; एवमेते षट् पञ्चकसंयोगा व्याख्याताः ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

षट्कमेकं वक्ष्यामः; एकस्तु षट्कसंयोगः--मधुराम्ललवणकटु-तिक्तकषायः एष एक एव षट्संयोगः ॥

एकैकश्च षड्रसा भवन्ति--मधुरः १, अम्लः २, लवणः ३, कटुकः ४, तिक्तः ५, कषायः ६, इति ॥ --सु.उ.तं.अ. ६३

कीदृशा रसास्त्रिषष्टिभेदान् यान्तीत्याह--अविदग्धा इत्यादि। अविदग्धा असंयुक्ता एकाकिनः समवायतो भिद्यन्त इत्यर्थः। विदग्धाः संयोगतः समवायतश्च संयुक्ता रसान्तरसंयोगाद्भिद्यन्ते। विदग्धशब्दः संयुक्ते वर्तते, धातूनामनेकार्थत्वात्। भिद्यन्ते एकैकेनानुगमनाद् भेदं यान्तीत्यर्थः। ते रसाः। तत्र यथासंभवं केचित् संयोगतः केचित् समवायतश्च भिद्यन्ते। इदानीं रसभेदत्रिषष्टि ग्रन्थेनैव विवृण्वन्नाह--यथाक्रममित्यादि। यथाक्रमप्रवृत्तानामिति मधुरादिक्रमप्रवृत्तानां रसानामित्यर्थः। द्विकेषु द्विकसंयोगेषु। अनुक्रमते अनुगच्छति, अनुगतो भवतीत्यर्थः। दशपञ्चेति पञ्चदशेत्यर्थः। यद्यपि सूत्रस्थाने रसविशेषविज्ञानीयाध्याये पञ्चदश द्विका इत्यादिना द्विकसंयोगादीनां संख्या उक्ता, तथाऽपि पुनरत्र संख्याकरणं नियमार्थम्। तेन इयन्त एव रसभेदा गणनीया न तन्त्रान्तरोक्तास्तर-तमयोगादिजा इत्यर्थः। तेषामेव द्विकानां पञ्चदशसंख्याकानामुदाहरणान्याह--तद्यथेत्यादि। मधुराम्लौ विद्येते यत्र संयोगे स मधुराम्लः। एवं शेषेष्वपि ज्ञेयम्। आदावित्यादि। दशेति दशयोगानित्यर्थः। तस्मादर्धमिति त्रीनित्यर्थः। तेषामेव त्रिकानां विंशतिसंख्याकानामुदाहरणान्याह--मधुराम्लेत्यादि। मधुराम्ल-लवणा विद्यन्ते यत्र स मधुराम्ललवणः। एवं शेषेष्वपि व्याख्येयम्। चतुष्कानित्यादि। दशेति 'योगान्' इति शेषः। तेषां चतुष्करससंयोगे पञ्चदशसंख्याकानामुदाहरणान्याह--मधुराम्लेत्यादि। मधुराम्ल-लवण-कटुका विद्यन्ते यत्र योगे स मधुराम्ल-लवणकटुकः; एवं शेषेष्वपि। पञ्चकानित्यादि। पञ्चकानीति पञ्चरससमूहान्। पञ्चेति पञ्चसंख्याकान्, 'योगान्' इति शेषः तेषामेव षण्णामुदाहरणान्याह--मधुराम्लेत्यादि। तस्य षट्कस्योदाहरणमाह--मधुराम्लेत्यादि। संयुक्ता यथा--बदर-कपित्थफलादिकं मधुराम्लम् (१) उष्ट्रीक्षीरोरभ्रमांसादिकं[1] मधुरलवणं (२), कुक्कुर[2]-शृगालमांसादिकं मधुरकटुकं (३), श्रीवास-सर्जरसादिकं मधुरतिक्तं (४), तैल-धन्वन-फलादिकं मधुरकषायम् (५), ऊषकादिकम्[3] अम्ललवणं (६), चुक्रादिकम् अम्लकटुकं (७),

---

१--'क्षीरोरभ्रमत्स्यमांसादिकम्' इति सिद्धभैषज्यमणिमालायाम्।
२--'कुङ्कुमकेशरशृगालमांसादिकं' इति पाठान्तरम्।
३--'एडकादिकम, ऊषकादिकम्' इति सि० भे०।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(७), सुरादिकम् अम्लतिक्तं (८), हस्तिनीदधि-शुकमांसादिकम् अम्लकषाय (९), त्रपु-सीसादिकं लवणातिक्तं (१०), गोमूत्र-स्वर्जिकादिकं लवण-कटुकं (११), समुद्रफेनादिकं लवणकषायं (१२), कर्पूर-जातीफलादिकं तिक्त-कटुकं (१३), लवलीफल-हस्तिनीघृतादिकं तिक्तकषायं (१४), भल्लातकमज्जा-हरितालादिकं कटुकषायम् (१५), एवं द्विरसभेदाः[१] पञ्चदशधा दर्शिताः। अतः परं रसत्रितयभेदा[२] वक्ष्यन्ते—हस्तिमांसादिकं मधुराम्ललवणं (१), शल्यक-मांसादिकं मधुराम्लकटुकं (२), गोधूमोत्थसुरादिकं मधुराम्लतिक्तकं (३), मस्तुतक्रादिकं[३] मधुराम्लकषायं (४), काणकपोतमांसादिकं[४] मधुरलवणकटुकं (५), शम्बूकादिमांसं[५] मधुरलवणतिक्तं (६), पद्मकन्दादिकं गुडसंयुक्तं[६] मधुर-लवणकषायं (७), तृणशून्याफल-शुष्ककुस्तुम्बर्यादिकं[७] मधुरकटुतिक्तं (८), गोधामांसैरण्डतैलादिकं मधुरकटुकषायं (९), गुडूची-शाखामृगामिष-तुवरक तैलादिकं[८] मधुरतिक्तकषायं (१०), रौप्यशिलाजत्वादिकम् अम्ललवणकटुकं (११), हस्तिमूत्रादिकम्[९] अम्ललवणतिक्तं (१२), सरोमकं[१०] हस्तिनीदध्यादि अम्ललवणकषायं (१३), मरिचसंस्कृतसुरादिकम्[११] अम्लकटुतिक्तकम् (१४), अम्लवेतसादिकम् अम्लकटुकषायं (१५), कीरमांसयुतसुरादिकम्, अम्लतिक्त-कषायम् (१६), अविमूत्रादिकं लवणकटुतिक्तम् (१७), अरुष्करं सरोमकं[१२] लवणकटु-कषायं (१८), समुद्रफेनादिकं[१३] लवणतिक्तकषायं (१९) कृष्णागरु-सुरदारुस्नेहादिकं[१४] कटुतिक्तकषायम् (२०); एवं त्रिकभेदा विंशतिर्दर्शिताः। अतः परं चतुःसंयोगाः पञ्चदशप्रकारा वक्ष्यन्ते—गोमूत्रान्वितशिलाजतुप्रभृतिकं मधुराम्ललवणकटुकं (१), गोमूत्रैकशफक्षीरादिकं मधुराम्ललवणतिक्तकं (२), सैन्धवान्विततक्रादिकं[१५] मधुराम्ललवणकषायं

१—'द्विरसयोनयः' इति पा०। २—'रसत्रिकसंयोगाः' इति पा०।
३—'सिञ्चितिकाफलादिकं' इति पा०।
४—'अपूपैणादिमांसादि' इति सि० भे०।
५—'कटुकासंस्कृतगुडादिकं' इति पा०। ६—'ताप्य-कासिसादि' सि० भे०।
७—'कटुकाम्लभक्तादि' इति सि० भे०।
८—'रक्तकवकतैलादिकं' इति सि० भे०।
९—'हस्तिमृगमूत्रादि' इति सि० भे०।
१०—'हस्तिनीदध्यादि' इति सि० भे०।
११—'मथितसंस्कृतसुरादिकं' इति पा०।
१२—'अरुष्कासवरोमकं' इति सि० भे०।
१३—'समुद्रफेनं समुद्रस्थितं' इति सि० भे०।
१४—'आर्द्र्यादिकं' इति पा०।
१५—'शिलाजतुप्रभृतिकं' इति पा०।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(३), लशुनान्वितं सुरादिकं मधुराम्लकटुतिक्तं (४), काञ्जिकान्वितैरण्डतैलादि खदिरान्वितशिलाह्वादिकं च मधुराम्लकटुकषायम् (५), उदुम्बरान्वितं[1] यवासशर्करादिकं मधुराम्लतिक्तकषायं (६), वार्ताकफलादिकं[2] मधुरलवण-तिक्तकटुकं (७), गोमूत्रान्विततैलादिकं मधुरलवणकटुकषायं (८), तिल-गुग्गु-ल्वादिकं मधुरकटुतिक्तकषायं (९), समुद्र[3]फेन-शर्करा-चित्रकान्वितबदरादि मधुरलवणतिक्तकषायं (१०), सुवर्चलान्वितहस्तिनीदध्यादिकृत[4]सुरादिकम् अम्ललवणकटुतिक्तम् (११), सौवर्चलान्वित हस्तिनीदध्यादिकम् अम्ललवण-कटुकषायम् (११), औद्भिदलवणान्वितं शुकमांसादिकं अम्ललवणतिक्तकषायं (१३), बालमूलक-हस्तिनीदध्यादिकम्[5] अम्लकटुतिक्तकषायं (१४), सरोमकं बालबिल्वादिकं[6] लवणकटुतिक्तकषायम् (१५); एवं चतुष्करससंयोगाः पञ्चदश कथिताः। अतः परं पञ्चरससंयोगाः षड् वक्ष्यन्ते—आमकरमर्दान्वित भृष्टवार्ताकफलादिकं[7] मधुराम्ललवणतिक्तकटुकं (१), कटुत्रययवक्षारान्वित-तक्रादिकं[8] मधुराम्ललवणकटुकषायम् (२), औद्भिदान्विततक्रादिकं मधुराम्ल-लवण तिक्तकषायं (३), हरीतकी धात्रीफलादिकं[9] मधुराम्लकटुतिक्तकषायं, (४) रसोनादिकं मधुरलवणकटुतिक्त-कषायं (५), भल्लातक-रौप्यशिलाजतुमिश्रित-निम्बादिकम् अम्ललवणकटुतिक्तकषायम् (६); एवं पञ्चरससंयोगाः षड् दर्शिता। अतः परं षड्रसं वक्ष्यते—एणमांसादिकं मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायम्। अतः[10] परमेकैकरसानाह—सन्तानिका-गोदुग्धादिकं मधुरम् (१), आमकर-मर्दादिकम्[11] अम्लं (२), रोमकादिक लवणं (३), चव्यादिकं कटुकं (४), निम्बपर्प-टादिकं तिक्तं (५), पद्म-न्यग्रोधाद्यंकुरादिकं[12] कषायम् (६); एवं षट् कथिताः।

१—'कम्ब्वादिकं' इति सि० भे०।
२—'उदुम्बरान्वितयवादि' इति सि० भे०।
३—'समुद्रफेनशर्करासंयुक्तं चन्दनं मधुरलवणतिक्तकषायम्' इति पा०; 'समुद्रफेन-शर्करासंयुक्तचन्दनं' इति सि० भे०।
४—'सुवर्चलासंयुक्तलवणाद्यन्वितमदिरादिकं' इति पा०; सैन्धवसौवर्च-लान्वितं हस्तिन्यादिकृत सुरादिकं इति सि० भे०॥
५—'बालमूलकाक्तहस्तिनीदध्यादिकं' इति सि० भे०।
६—'रोमकबालबिल्वादिकं' इति सि० भे०।
७—'आम्रकरमर्दान्वितभ्रष्टवार्ताकफलादि' इति सि० भे०।
८—'त्रिकटुयवान्वितनक्रादिकं' इति सि० भे०।
९—'हरीतकीफलादिकं' इति सि० भे०।
१०—'यथा—पारदः, एणमांसादि च' इति सि० भ०।
११—'आम्रकरमर्दादिकं' इति सि० भे०।
१२—'पद्मकन्द' इति सि० भे०।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अनेन प्रकारेण त्रिषष्टिः कथिता। कार्तिककुण्डस्त्वमुं पाठमन्यथा आपातनिकां कृत्वा व्याख्यानयति; तद्यथा—दोषाणां पञ्चदशधा प्रसरो भेदः, तस्य बहुभिस्त्रिषष्टिरसभेदैः सह प्रयोगो दुर्घटः, अतो दोषभेदानामपि बहुत्वमाह—अविदग्धा इत्यादि। अविदग्धा अप्रकुपिताः; विदग्धाः कुपिता दोषाः; यद्यस्मिन् पाठे दोषाणां त्रिषष्टिर्भेदा उक्ताः, तर्हि पूर्वपाठे पञ्चदशधा प्रसरः किमित्युक्तः? सत्यं, कुपितदोषस्यात्यन्तचिकित्सनीयत्वापादनार्थम्; अन्यद् ग्रन्थगौरवभयात् परित्यक्तम् (ङ)॥

एकैकहीनास्तान् पञ्चदश यान्ति रसा द्विके।
त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन् पटुस्तिक्त एककम्॥
चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः, पटुः सकृत्।
पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पञ्च सेवते॥
द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्ताश्च षड्रसाः।
षट् पञ्चकाः षट् च पृथग्रसाः स्युश्चतुर्द्विकौ पञ्चदशप्रकारौ।
भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव द्रव्यं षडास्वादमिति त्रिषष्टिः॥
ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च।
संभवन्ति गणनां समतीता, दोष-भेषजवशादुपयोज्याः॥

—अ. हृ. सू. अ. १०

× × × क्षीरं सुरा विडं निम्बश्चव्यं पद्मं रसाश्चयम्। द्रव्यं स्वादुरसादीनां षण्णां विधि यथाक्रमम्॥ द्रव्यं द्रव्यान्तरेणैव योजयेद् द्विरसादिषु। धात्रीफलं शर्करया लवणेनार्द्रकं तथा॥ एवमादीनि द्रव्याणि योजयेद्भिषगुत्तम। कानिचिद् द्विरसादीनि द्रव्याणि स्युः स्वभावतः॥ यथैणः षड्रसः कृष्णो, यथा पञ्चरसाऽभया। मद्यं पञ्चरसं तद्वत्तिलो यद्वच्चतूरसः॥ एरण्डतैलं त्रिरसं, माक्षिकं द्विरसं यथा। घृतमेकं स्वादुरसं मधुरादिविभागतः॥ दिङ्मात्रादुदितादेवं शेषमूह्यं मनीषिणा। × × ×। ते रसभेदाः त्रिषष्टिरूपाः, रसतो रसवशेन, तथाऽनुरसतः अनुरसवशेन, तथा तारतम्यपरिकल्पनया अयं मधुरोऽयं मधुरतरोऽयं मधुरतम इत्येवं रूपया, गणनां समतीताः संख्यामतिक्रान्ताः संभवन्ति। दोषेत्यादि दोषा वातादयः, भेषजानि हरीतक्यादीनि, दोषाश्च भेषजानि च दोष-भेषजानि, तेषां वशः अनुरोधः सामर्थ्यं वा तस्माद्धेतुभेदाद्रसभेदा उपयोज्या; न दोषमनपेक्ष्य भेषजं वाऽनपेक्ष्य एवमेवोपयोज्या इत्यर्थः। × × ×। दोष-भेषजवशादित्युपलक्षणार्थं, देशादिवशाद्धि दोषादीन् वीक्ष्य रसभेदा उपयोज्याः। × × ×। (अ. द.)। × × ×। उक्तरसभेदानामवान्तरभेदैरानन्त्यं दर्शयति—ते रसानुरसत इति। ते रसभेदाः रसानुरसकल्पनया तारतम्यकल्पनया च गणनां

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

समतीताः संभवन्ति । यथा--मधुराम्लस्य द्रव्यस्य मधुरस्य रसत्वे, अम्लस्यानुरसत्वे; क्वचिदम्लस्य रसत्वे, मधुरस्यानुरसत्वे बहुभेदत्वमित्यादि । तथा मधुरस्य मधुरतरत्वं, मधुरतमत्वं चेत्यादि तारतम्यम् । सर्वेषां रसभेदानां यौगिकत्वं दर्शयति--दोषभेषजवशादिति । दोषवशाद् भेषजवशाद्वा सर्वेऽपि रसा उपयोज्याः औपयोगिका भवन्ति । दोषवशाद्यथा—केवलवायावम्लः, पित्तयुक्ते अम्ल-तिक्तौ, श्लेष्मयुक्ते अम्ल-कटुकावित्यादि । भेषजवशाद्यथा--विरेचनौषधमेकरसमहृद्यं द्वित्रिरसादि कार्यम् । × × × । (हे.) ॥

द्रव्य, देश और काल के प्रभाव से मधूरादि छः रसों के परस्पर दो-दो तीन-तीन चार-चार, पाँच-पाँच,और छः के संसर्ग से (मिलने से) ५७,तथा असंयुक्त स्वरूप में छः, इस प्रकार ६३ भेद होते हैं । द्विकसंयोग अर्थात् दो-दो रसों के संयोग पन्द्रह होते हैं, त्रिक अर्थात् तीन रसों के संयोग बीस होते हैं, चतुष्कसंयोग अर्थात् चार रसोंके संयोग पन्द्रह होते हैं, पञ्चकसंयोग अर्थात् पाँच रसों के संयोग छः होते हैं छः रसों का संयोग एक होता है, असंयुक्त एक-एक रस छः हैं । पन्द्रह द्विकसंयोग इस प्रकार हैं ।—(१) मधुराम्ल, जैसे-बेर, कैथ के फल आदि; (२) मधुरलवण, जैसे--ऊँटनीका दूध, भेड़का माँस आदि; (३) मधुरकटुक जैसे—कुत्ता, शृगाल आदिका मांस; (४) मधुरतिक्त, जैसे--गन्धाविरोजा, राल आदि; (५) मधुरकषाय, जैसे--तिलका तेल, धामन का फल आदि; (६) अम्ललवण, जैसे--ऊषक (क्षारमृत्तिका) आदि; (७) अम्लकटुक, जैसे--चुक्र (शुक्त) आदि; (८) अम्लतिक्त, जैसे—सुरा आदि; (९) अम्लकषाय, जैसे--हथिनीका दही, तोतेका माँस आदि; (१०) लवणतिक्त, जैसे--राँगा, सीसा आदि; (११) लवणकटुक, जैसे—गोमूत्र, सज्जीखार आदि; (१२) लवणकषाय, जैसे--समुद्रफेन आदि; (१३) तिक्तकटुक, जैसे--कपूर, जायफल आदि ; (१४) तिक्तकषाय, जैसे--हथिनीका घृत आदि ; (१५) कटुकषाय, जैसे--भिलावे के फलका मग्ज, हरताल आदि । अब तीन रसों के संयोग कहे जाते हैं ।--(१) मधुराम्ललवण, जैसे—हाथी का मांस आदि ; (२) मधुराम्लकटुक, जैसे—सेह का मांस आदि ; (३) मधुराम्लतिक्तक, जैसे गेहूँ से बनाई हुई सुरा आदि; (४) मधुराम्लकषाय, जैसे--दही के ऊपर का पानी, छाछ आदि ; (५) मधुरलवणकटु, जैसे--जंगली कपोत का मांस आदि ; (६) मधुरलवणतिक्त, जैसे--शम्बूक (घोंघा) का मांस आदि ; (७) मधुरलवणकषाय, जैसे--गुड़ के साथ मिलाया हुआ कमल का कन्द आदि ; (८) मधुरकटुतिक्त, जैसे--केतकी के फल, सूखा धनिया आदि ; (९) मधुरकटुकषाय, जैसे—गोह का मांस, एरण्डतैल आदि; (१०) मधुरतिक्त कषाय, जैसे--गिलोय, बानर का मांस, तुवरकतैल आदि; (११) अम्ललवणकटुक, जैसे--रौप्यशिलाजतु आदि ; (१२) अम्ललवणतिक्त, जैसे--हाथी का मूत्र

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि ; (१३) अम्ललवणकषाय, जैसे--सांभर का नमक डाला हुआ हथिनी का दही आदि ; (१४) अम्लकटुतिक्त, जैसे--काली मिर्च डाली हुई सुरा आदि ; (१५) अम्लकटुकषाय, जैसे--अम्लवेत आदि ; (१६) अम्लतिक्तकषाय, जैसे--तोते के मांस से युक्त सुरा आदि ; (१७) लवणकटुतिक्त, जैसे-भेड़ का मूत्र आदि ; (१८) लवणकटुकषाय, जैसे--सांभर का नमकयुक्त भिलावा आदि ; (१९) लवणतिक्तकषाय; जैसे--समुद्र में रहा हुआ समुद्रफेन आदि ; (२०) कटुतिक्तकषाय, जैसे--काला अगर और देवदार का तैल आदि। अब पन्द्रह चतुष्कसंयोग कहे जाते है।--(१) मधुराम्ललवणकटु, जैसे--गोमूत्रयुक्त शिलाजतु आदि ; (२) मधुराम्ललवणतिक्त, जैसे--गोमूत्र और एक शफवाली घोड़ी आदि जानवरों का दूध ; (३) मधुराम्ललवणकषाय, जैसे--सैन्धवयुक्त छाछ आदि; (४) मधुराम्लकटुतिक्त, जैसे--लहसुनयुक्त सुरा आदि ; (५) मधुराम्लकटुकषाय, जैसे--काञ्जीयुक्त एरण्डतैल आदि ; (६) मधुराम्लतिक्तकषाय, जैसे--यासशर्करा (तुरंजबीन) मिला हुआ गूलर का फल आदि ; (७) मधुरलवणतिक्तकटुक, जैसे--बैंगन आदि ; (८) मधुरलवणकटुकषाय, जैसे--गोमूत्रयुक्त तिलतैल आदि ; (९) मधुरकटुतिक्तकषाय, जैसे--तिल, गूगल आदि ; (१०) मधुरलवणतिक्तकषाय, जैसे--समुद्रफेन, शक्कर और चित्रक मिला हुआ बेर आदि ; (११) अम्ललवणकटुतिक्त, जैसे--सौंचर मिलाये हुए हथिनी के दही से बनाई हुई सुरा आदि ; (१२) अम्ललवणकटुकषाय, जैसे--सौंचर मिलाया हुआ हथिनी का दही आदि ; (१३) अम्ललवणतिक्तकषाय, जैसे--रेहका नमक मिलाया हुआ तोते का मांस आदि ; (१४) अम्लकटुतिक्तकषाय, जैसे--कोमल मूलीयुक्त हथिनी का दही आदि ; (१५) लवणकटुतिक्तकषाय, जैसे--सांभर का नमक मिलाया हुआ कच्चा बेलफल आदि। अब पांच रसों के छः संयोग कहे जाते हैं।--(१) मधुराम्ललवणतिक्तकटुक, जैसे--कच्चे करौंदे के फल के साथ मिलाया हुआ भुना हुआ बैंगन आदि ; (२) मधुराम्ललवणकटुकषाय, जैसे--त्रिकटु और जौखार मिलाई हुई छाछ आदि ; (३) मधुराम्ललवणतिक्तकषाय, जैसे--औद्भिदलवण मिलाया हुआ तक्र आदि ; (४) मधुराम्लकटुतिक्तकषाय, जैसे--हरड़ आँवला आदि ; (५) मधुरलवणकटुतिक्तकषाय जैसे--लहसुन आदि ; (६) अम्ललवणकटुतिक्तकषाय, जैसे--भिलावा और रौप्यशिलाजतु मिलाया हुआ नीम आदि। षड्रससंयोग, जैसे--काले हरिण का मांस आदि। अब असंयुक्त एक-एक रस कहा जाता है।--(१) मधुर, जैसे--गाय का दूध, मलाई आदि ; (२) अम्ल, जैसे--कच्चे करौंदे आदि; (३) लवण, जैसे--सांभर नमक आदि ; (४) कटु, जैसे--चवक आदि ; (५) तिक्त, जैसे--नीम, पित्तपापड़ा आदि ; (६) कषाय, जैसे--कमल, बड़के अंकुर आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस प्रकार रसों के ६३ भेद उनके उदाहरणों के साथ लिखे गये हैं। इन ६३ भेदों में भी रस और अनुरस की कल्पना करने से (जैसे--मधुराम्लसंयोग में मधुर रस और अम्ल अनुरस अथवा अम्ल रस और मधुर अनुरस, ऐसी कल्पना करने से) तथा तर और तमभाव की कल्पना करने से (जैसे-मधुरतर, मधुरतम, अम्लतर, अम्लतम इत्यादि कल्पना करने से) ६३ से भी अधिक भेद हो सकते हैं। तथापि रसचिन्तकों ने (रस के विषय में विचार करनेवाले तन्त्रकारों ने) स्वस्थ और आतुर की चिकित्सा में अनतिसंक्षेपविस्तरतया इन ६३ भेदों को योग्य समझकर ५७ संयुक्त रस और ६ अलग-अलग इन ६३ भेदों की कल्पना की है। बुद्धिमान् वैद्य दोष, औषध, देश, काल, बल आदि को देखकर कहीं एक रसवाले एक द्रव्य की, कहीं एक रसवाले अनेक द्रव्यों की या कहीं संयुक्त रसवाले एक वा अनेक द्रव्यों की कल्पना करते हैं।

कफजादिव्याधौ रसोपयोगक्रमः--

कटु-तिक्त-कषायांस्तु रसान् प्राज्ञो यथाक्रमम्।
योगतः कफजे व्याधौ भैषज्यमवचारयेत्॥
प्रयुक्तः कटुकः पूर्वं पैच्छिल्यं गौरवं च यत्
श्लेष्मणस्तं निहन्त्याशु तिक्तस्तस्मादनन्तरम्॥
ह्रासयत्यास्यमाधुर्यं कफं संशोषयत्यपि।
संगृह्णाति कषायश्च स्नेहं चाप्यवकर्षति॥
तिक्त-स्वादु-कषायाः स्युः क्रमशः पैत्तिके हिताः।
आमान्वयत्वात् पित्तस्य पूर्वं तिक्तोऽवचारितः॥
पाचयत्याशु तं पक्वं ततस्तु मधुरो रसः।
शैत्याद् गुरुत्वात् स्नेहाच्च माधुर्याच्च नियच्छति॥
तद्द्रवत्वविघातार्थं कषायश्चावचारितः।
रौक्ष्याद्विशोषिभावाच्च विशोषयति तैजसम्॥
(वातिके क्रमशो योज्याः पट्वम्ललवणा रसाः)
वातिके लवणः पूर्वं संयोगादवचारितः।
प्रक्लेदिभावाज्जयति विबन्धं मातरिश्वनः॥
निहन्ति शैत्यमुष्णत्वाद् गुरुत्वाच्चापि लाघवम्।
तथैवाम्लो रसः पश्चात्तस्मिन्नेवावचारितः॥
जड़ीकृतानि स्रोतांसि तैक्ष्ण्यादुद्घाटच मारुतम्।
अनुलोमयति क्षिप्रं स्निग्धोष्णत्वाद्विमार्गगम्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अम्लादनन्तरं पश्चात् प्रयुक्तो मधुरो रसः ;
वायोर्लघुत्वं वैशद्यं रूक्षत्वं च व्यपोहति ।।
गुरुत्वात् पिच्छिलत्वाच्च स्निग्धत्वाच्च यथाबलम् ।
इत्युक्ताः सर्वदोषेषु रसानां प्रविचारणाः ।।

--काश्यपसंहिता, खिलस्थान. अ. ६

बुद्धिमान् वैद्य कफज रोग में कटु, तिक्त और कषाय रसों (रसवाले द्रव्यों) का क्रम से उपयोग करें। प्रारम्भ में कटु रस का उपयोग करने से कफ की पिच्छिलता और गौरव का नाश होता है। उसके बाद तिक्त रस का प्रयोग करने से मुख की मधुरता नष्ट होती है और कफ सूखता है। अन्त में कषाय रस का प्रयोग करने से वह कफ को गाढ़ा करता है और कफ के स्नेहांश को दूर करता है। पैत्तिक रोग में तिक्त, मधुर और कषाय रसका क्रमसे प्रयोग करना चाहिये। पैत्तिक रोग में पहले तिक्त रस का प्रयोग करने से वह आम पित्त को पकाता है। पीछे मधुर रस का उपयोग करने से वह शीत, गुरु और स्निग्ध गुणों से पित्त के प्रकोप को शान्त करता है। शेष में कषाय रस का प्रयोग करने से वह अपनी रूक्षता और शोषण करने के गुण से पित्त की द्रव्यता का नाश करता है। वातिक रोगों में क्रम से लवण, अम्ल और मधुर रस का उपयोग करना चाहिये। वातिक रोगों के प्रारम्भ में लवण रस का उपयोग करने से वह अपने प्रक्लेदी गुण से वायु के विबन्धको, उष्णता से वायु के शैत्य को और गुरुता से वायु के लाघव को दूर करता है। पीछे अम्ल रस का उपयोग करने से वह अपने तीक्ष्ण, स्निग्ध और उष्ण गुण से वायु के अवरुद्ध स्रोतों को खोल कर विमार्गगामी वायु को अनुलोम करता है। अम्ल रस के पीछे मधुर रस का उपयोग करने से वह अपने गुरु, पिच्छिल और स्निग्ध गुण से वायु के लघुत्व, वैशद्य और रूक्षत्व का नाश करके वायु का शमन करता है।

रसभेदेन षड्वर्गाः--

अतः सर्वेषामेव द्रव्याण्युपदेक्ष्यामः। तद्यथा--काकोल्यादिः क्षीर-घृत-वसा-मज्ज-शालि-षष्टिक-यव-गोधूम-माष - शृङ्गाटक - कसेरुक त्रपुसैर्वारुक-कर्कारुकालाबू-कालिन्द-कतक-गिलोडच - प्रियाल - पुष्कर - बीज-काश्मर्य-मधूक-द्राक्षा-खर्जूर - राजादन - ताल - नालिकेरेक्षुविकार - बलाति -बलात्मगुप्ता - विदारी पयस्या-गोक्षुरक - क्षीरमोरट-मधूलिका-कूष्माण्ड-प्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः ; दाडिमामलक-मातुलुङ्गा-म्रातक - कपित्थ - करमर्द - बदर - कोल - प्राचीनामलक - तिन्तिडीक -

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

-कोशाम्रक-भव्य - पारावत-वेत्रफल - लकुचाम्लवेतस - दन्तशठ-दधि-तक्र-सुरा-शुक्त-सौवीरक-तुषोदक - धान्याम्लप्रभृतीनि समासेनाम्लो वर्गः ; सैन्धव-सौवर्चल-विड - पाक्य-रोमक-सामुद्र - पक्त्रिम - यवक्षारोषरप्रसूत-सुवर्चिकाप्रभृतीनि समासेन लवणो वर्गः ; पिप्पल्यादिः सुरसादिः शिग्रु-मधुशिग्रु - मूलक-लशुन-सुमुख - शीतशिव-कुष्ठ - देवदारु-हरेणुका - वल्गुजफल-चण्डा-गुग्गुलु-मुस्त-लाङ्गलकी-सुकनासा-पीलुप्रभृतीनि सालसारादिश्च प्रायशः कटुको वर्गः ; आरग्वधादिर्गुडूच्यादिर्मण्डूकपर्णी-वेत्रकरीर - हरिद्राद्वयेन्द्रयव - वरुण - स्वादुकण्टक - सप्तपर्ण - बृहतीद्वय-शंखिनी-द्रवन्ती-त्रिवृत्कृतवेधन-कर्कोटक-कारवेल्ल - वार्ताक-करीर-कर - वीर-सुमनः शंखपुष्प्यपामार्ग-त्रायमाणाशोकरोहिणी-वैजयन्ती-सुवर्चला-पुनर्नवा-वृश्चिकाली-ज्योतिष्मतीप्रभृतीनि समासेन तिक्तो वर्गः ; न्यग्रोधादिरम्बष्ठादिः प्रियंग्वादी रोध्रादिस्त्रिफला-शल्लकी-जम्ब्वाम्र-बकुल-तिन्दुकफलानि कतक-शाक-फल-पाषाणभेदक-वनस्पतिफलानि सालसारादिश्च प्रायशः कुरुबक-कोविदारक-जीवन्ती-चिल्ली-पालंक्या-सुनिषण्णकप्रभृतीनि वरकादयो मुद्गादयश्च समासेन कषायो वर्गः ।।

--सु. सू. अ. ४२

वक्तव्य--हमने विस्तारभय से यहाँ केवल सुश्रुतोक्त छः वर्ग दिये हैं। चरक वि. अ. ८ में, अ. सं. सू. अ. १८ में, तथा अ. हृ. सू. अ. १० में भी इस प्रकार रस भेद से ६ वर्ग-गण-स्कन्ध लिखे हैं।

जग्धाः षडधिगच्छन्ति बलिनो वशतां रसाः ।
यथा प्रकुपितादोषा वशं यान्ति बलीयसः ।। --सु. सू. अ. ४२

इदानीं रसानामुपयोगे बलवानेव रसः स्वकार्यं करोतीति सदृष्टान्तमाह--जग्धा इत्यादि। जग्धा इत्युपयोगोपलक्षणं, तेन नस्याभ्यञ्जनादिप्रयोगोऽपि विज्ञेयः। यो रसो वीर्येणोपचयेन वा बलवान्, तस्येतरे निर्वीर्या हीना वा रसा वशतां यान्ति, तानभिभूय बलवानेव रसः कार्यं करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तेऽपि बलवान्ननुबन्ध्यरूपप्राप्तो दोषोऽनुबन्धरूपमप्रधानं तिरस्कृत्य कार्यं करोति। अत एवोक्तं--"सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः।" (च. चि. अ. ३) इति। अन्ये तु बलिनः पुरुषस्य रसा अत्यन्ताभ्यासेऽपि बलवदग्नितया वशतां यान्ति न दोषं कुर्वन्ति, यथा दोषाश्च बलवतः पुरुषस्य अग्निबल-देहबलाभिभूतत्वान्न विकारं कुर्वन्तीति श्लोकार्थं वर्णयन्ति (च. द.)। ननु कथं खल्वत ऊर्ध्वं "यवः कषायो

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मधुरो हिमश्च" (सू. सू. अ. ४६) इत्येवमनेकरसत्वेन व्याचिख्यासितानि द्रव्याणीह मधुरादिवर्गं संग्रहेणोपदिश्यन्त इत्येवं ये प्रत्यवतिष्ठन्ते तान् प्रत्याह—जग्धा-इत्यादि। जग्धा भक्षिता उपयुक्ता इति यावत्। रसाः षडेव बलिनो व्यक्तस्य रसस्य वशतामधिगच्छन्ति। अत्र दृष्टान्तो—यथेति। तस्माद्बलिनो रसानधिकृत्य तेन तेन वर्गसंग्रहेण द्रव्याण्युपदिश्यन्त इति नानुपपत्तिः (हा.)॥

जिनका अग्नि और देह उत्तम-बलवाला है ऐसे मनष्य के शरीर में जैसे बढ़े हुए वातादि दोष अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते अथवा संसर्ग या सन्निपात में जैसे दुर्बल (अनुबन्धरूप) दोष बलवान् (अनुबन्ध्यरूप) दोष के वश में हो जाते हैं—अपना प्रभाव नहीं दिखलाते, वैसे ही भोजनादि के रूप में उपयुक्त छहों रसों में जो रस दुर्बल (अव्यक्त या हीनवीर्य) होते हैं वे बलवान् (व्यक्त) रस के वश में आ जाते हैं। अतः ऊपर लिखे मधुरादि वर्गों में उनके व्यक्त रस के अनुसार ही द्रव्योंका निर्देश किया गया है[1]।

एकीयमतेन रसप्राधान्यनिरूपणम्—

नेत्याहुरन्ये[2] रसास्तु प्रधानं; कस्मात्? आगमात्; आगमो हि शास्त्रमुच्यते, शास्त्रे हि रसा अधिकृताः, यथा—"रसायत्त आहार इति, तस्मिंस्तु प्राणाः" (सु. सु. अ. १) इति; उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि

१—इस श्लोक के वक्तव्य में **डॉ० भा. गो. घाणेकरजी** लिखते हैं कि—सर्व कार्यद्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक होने के कारण एकरसयुक्त नहीं हो सकते—"तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवात्" (**वाग्भट**)। प्रत्येक द्रव्य में एक या दो बलवान् याने व्यक्त रस होते है और कई अल्पबल याने अव्यक्त रस होते हैं। ये अव्यक्त रस अपना अस्तित्व व्यक्त रस के सामने प्रकट नहीं कर सकते—"तत्र व्यक्तो रसः। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तः" (अष्टाङ्गसंग्रह)। इसलिये प्रत्येक द्रव्यका निर्देश उसके बलवान् रस के अनुसार ही किया जाता है। ऊपर मधुरादि वर्गों में द्रव्यों का जो निर्देश किया गया है वह "भूयसाऽल्पं हि जीयते" के तत्त्वानुसार ही किया गया है। यह इस श्लोकका तात्पर्य है' (सू. स्था. पृ. २३३)। चरक मे मधुरादिवर्गसंग्रह के प्रारम्भ में कहा गया है कि—'यत्तु षड्विधमास्थापनमेकरसमित्याचक्षते भिषजस्तद्दुर्लभतमं, संसृष्टरसभूयिष्ठत्वाद्, द्रव्याणाम्। तस्मान्मधुरगणि, मधुरप्रायाणि, मधुरविपाकानि, मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदिश्यन्ते; तथेतराणि द्रव्याणि" (च. वि. अ. ८)। अर्थात् एक-एक रसवाला छः प्रकारका आस्थापन दुर्लभ है, क्योंकि द्रव्य प्रायः संसृष्ट रसवाले होते हैं। इसलिये मधुरस्कन्ध में मधुर, मधुरप्राय, मधुरविपाक और मधुरप्रभाववाले द्रव्यों को मधुर मानकर उनका उपदेश किया गया है, इसी प्रकार अम्लादिवर्गों के लिये भी जानना चाहिये।

१—**रसाः प्रधाना इति केचित्** (र. वै. अ. १. सू. ११०)—यथा (भा.)। **रसानधिकारात्** (सू. १११)। केचिद् रसान् प्रधानान् ब्रुवतेऽधिकारात्। ते→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसाः, यथा--"मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति" --सु. सू. अ. ४२ अनुमानाच्च रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा--मधुरमिति; ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदः यथा--किंचिदिज्यार्थं मधुरमाहरेदिति; तस्माद्रसाः प्रधानं; रसेषु तु गुणसंज्ञा। रसलक्षणमन्यत्रोपदेक्ष्यामः ॥--सु. सू. अ. ४०

←ह्यधिकृताश्चिकित्सायामिति। कथं--"षट्स्वेव युक्तं वमनं, षटसु युक्तं विरेचनम्। षट्सु चास्थापनं युक्तं, षट्सु संशमनं हितम् ॥" इत्यादि। यो यस्मिन्नधिकृतः स तस्मिन्नन्येभ्यः प्रधानो दृष्टः। यथा--सेनायां सेनापतिः (भा.)। **तेनोपसंहारात्** (सू. ११२)। तेन रसेन उपसंहृत्य तन्मुखेन शेषस्य वचनम्। यथा--विदारिगन्धादीन् द्रव्यगणानुक्त्वा "यानि यान्येवंप्रकाराणि मधुरस्कन्धपरिसंख्येयानि भवन्ति; एवमम्लस्कन्धादयः" इति। अस्यार्थमन्यथा वर्णयन्ति केचित्--तेन रसेन रसधातोरुपसंहारादाहरणादादानात्; संपन्नरसं द्रव्यमाहरन्ति, अन्यद् वर्जयन्तीति (भा.)। **तद्व्यापत्ते शेषव्यापत्तेः** (सू. ११३)। ×× अनेनास्यैकार्थतेति न युक्तं; तद्व्यापत्तौ, रसव्यापत्तिनिमित्तं शेषाणां द्रव्यादीनां व्यापत्तेः; यथा--क्षीरस्य रसे दुष्टे क्षीरं न गृह्यते, तद्विपाकादयश्च विपन्ना इति (भा.)। **उपदेशात्** (सू. ११४)। ×× उपदेशः शास्त्रम् सामान्येनोपदिशति--"मधुराम्ललवणा वातं जयन्ति, श्लेष्माणं जनयन्ति" इति शास्त्रोपदेशः। तत्तु द्रव्यस्य रसस्य तुल्यं, कथं रसानां प्राधान्यं साधयतीति; नात्र साधकत्वमेवाभिप्रेतम्। किं तर्हि स्वपक्षसाधकस्य व्यपदेशः, नोभयत्र सिद्धिरसिद्धिर्वेति प्रसञ्जनार्थम्। कथमिति ? यदि शास्त्रसामर्थ्याद् द्रव्यं प्रधानं, रसाश्च प्रधानाः शास्त्रसामर्थ्यादेव; यदि रसाः शास्त्रोपदिष्टा अपि न प्रधानाः, द्रव्यमपि न प्रधानं शास्त्रोपदिष्टत्वादिति (भा.)। **अपदेशात्** (सू. ११५)। ×× अपदेशादिति अपदेशो नाम अन्येनान्योऽपदिश्यत उपमारूपेण। पुरुषसिंहः, पुरुषव्याघ्रः, इति प्रधानेन; एवमिहापि अपदेशो दृष्टः--मधुरं गान्धर्वं, मधुरा वाणी, कटुकः फणीति। केचिदन्यथा वर्णयन्ति--अपदिश्यन्ते रसाः पश्चादिति। कथं ? कस्यचिच्छ्लेष्मप्रकोपं दृष्ट्वा 'भवता मधुराम्ललवणा रसा उपयुक्ता' इति (भा.)। **अनुमानात्** (सू. ११६)। ×× अस्यायमर्थः--अनुमानादिति चेदं वाक्यमन्यथा वर्णयन्ति--ते रसाः असौम्यदोषवर्धनं दृष्ट्वाऽसौम्यभूतजनिता इत्यनुमीयन्ते, आग्नेयस्य वर्धनं दृष्ट्वा आग्नेयभूतजनिता इति। अयमपि न घटते, प्रकृतप्राधान्यासाधनात्। तस्मादनुमानादित्येवं स्यात्--रसमुखेन द्रव्याण्यपरिछिन्नस्वभावान्यपि आस्वाद्य रसतः परिच्छेद्यानि भवन्ति, तस्माद् द्रव्याद् रसाः प्रधानाः आस्वाद्यभूतगणैरित्युक्तत्वात् (?) (भा.)। **नानाविषयत्वात्** (सू. ११७)। ×× अनेकाधारत्वादिति मधुरस्य। तावदिक्षु-क्षीर-शर्करा-खण्डादयः एवमन्येषां च। यद् बहुविषयं तत् प्रधानं दृष्टं, यथा--मनः, अथवा चक्रवर्ती (भा.)। **तस्मिन् प्रदुष्टे सर्वधातुप्रदोषात्** (सू. ११८)। ×× तस्मिन् रसे दुष्टे रक्तादयो धातवश्च दुष्टा भवन्ति। अत्र कथं जिह्वेन्द्रियग्राह्ये रसेऽधिकृतेऽभ्यन्तरो रसः प्रसाध्यत इति। रससामान्यं गृहीत्वोक्तमिति चेद्, नहि प्रसरणसामान्याद् गोधा सर्पो भवतीति।→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसप्रधान्ये एकीयं दर्शनं निर्दिशन्नाह—नेत्यादि। नेत्याहुरन्ये द्रव्यप्राधान्यमन्ये न ब्रुवत इत्यर्थः। तस्मिंस्तु प्राणा इति आहारे सति प्राणा इत्यर्थः॥ × × × इज्यार्थं यागार्थं, मधुररसमाहरेदिति मधुररसमाहरेत् आनयेत् न तु द्रव्यमानयेदिति। गुणस्यापि किमिति न प्राधान्यं साधितमित्याशंक्याह—रसेष्वित्यादि। अत्रादिशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः; एतेनैतदुक्तं भवति—रसादिप्रधान्येनैव साधितेन गुणप्राधान्यं साधितं भवति। यथा द्रव्यलक्षणमुक्तं तथा रसस्यापि किमिति नोक्तमित्याह—रसलक्षणमित्यादि। अन्यत्र रसविज्ञानीये (ङ)। द्रव्यादपि रसप्राधान्यं दर्शयितुं द्रव्यप्राधान्यं निषेधयति—नेत्याहुरन्ये इत्यादि। एते द्रव्यप्राधान्यख्यापका हेतवो वक्तव्यरसप्राधान्यख्यापकहेत्वपेक्षया अप्रयोजका इत्यभिमानो रसवादिनो ज्ञेयः; एवं वीर्यवादिनः, तथा विपाकवादिनश्च; 'नेत्याहुरन्ये' इति वचनमनया दिशा व्याख्येयम्। रसप्राधान्ये आगमादिति हेतुः, आगम एव कण्ठरवेण रसस्य प्राधान्यं कथयतीत्याहुः। उपदेशादिति तु रसेन द्रव्यादिसमुदायकार्योपदेशादित्यर्थभेदो नेयः। ऋषिवचनमिह वेदः, ऋषयः आप्ताः, तद्वचनता च वेदस्य ऋषिभिः प्रथममुदाहरणान्न तु ऋषिकार्यतया; किंवा न्यायमतेन महेश्वररूपर्षिवचनता वेदस्य ज्ञेया। अथ द्रव्यादिप्राधान्यविचारे अकस्माद् गुणा नोद्भाविता इत्याह—रसेषु तु गुणसंज्ञेति। रसेष्वित्युपलक्षणं, तेन वीर्यविपाकयोरपि गुणसंज्ञेति बोद्धव्यं; तेन रसादिप्राधान्यव्युत्पादनेनैव गुणविशेषप्राधान्यं लभ्यत इत्यर्थः। अन्यत्रोपदेक्ष्याम इति रसविशेषविज्ञानीये (च. द)। मतान्तरमवतारयति—नेत्यादिना। नेति द्रव्यप्राधान्यप्रतिषेधार्थम्। न खलु द्रव्यं प्रधानमित्यर्थः। किं तर्हि? इत्याह—रसा इति। नकारेण रसेतरेषां प्राधान्यं निरुणद्धि, रस एव प्रधानमित्यर्थः। अधिकृताः प्राधान्येनोपदिष्टा इत्यर्थः। उक्तमर्थमुदाहरणेनावगमयति—यथेत्यादिना। रसायत्त आहार इत्युक्तानुवादः, 'इति' शब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थः। व्याजेन रसानामेकान्ततः प्राधान्यं प्रदर्शयन्नाहारं स्तौति—तस्मिंश्चेति। यस्तु खल्वाहारः प्राणाधिष्ठानमुच्यते सोऽपि यस्माद्रसायत्तस्तस्माद्रसानां प्राधान्यं प्रति मनागपि न शङ्कितव्यमित्याशयः। नन्विदमयुक्तं, "रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः" (सु. सू. अ. १) इति द्रव्याणामप्यधिकृतत्वात्तेषामपि

←तस्मादयमन्यथाऽस्य विन्यासः—तस्मिन् प्रदुष्ट इति, रसस्य प्रदुष्टिनिमित्तं जनपदव्याधिरिति। उक्त च तदानीं—"स्थावरजङ्गमानामुद्ध्वंसते रसः" इति, रसस्य व्यापत्तिनिमित्ता व्याधय इति। सर्वधातुदोषादिति सर्वेषां दोषाणां प्रदोषादित्यर्थः; अथवा दुष्टे रसे द्रव्ये उपयुक्ते सर्वदोषप्रकोपादिति (भा.)। तस्मिन् विशुद्धे सर्वधातुविशुद्धे (सू. ११९)। × × पूर्ववाक्येनैव गतार्थमेतद् वाक्यम् (भा.)। आगमाच्च (सू. १२०)।—आगमाच्चेति आगमः श्रुतिः। तत्र प्राज्यद्रव्यप्रतिनिधिवचने रसेनैव निर्देशः कृत इति। यथा—आज्यार्थं यत्किञ्चिन्मधुरमाहरेदिति। चेति 'च' शब्दः सर्वसमुच्चयार्थः (भा.)॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्राधान्यप्रसक्तेरिति चेन्नेत्याह--उपदेशाच्चेति । किन्तु खल्वेवमुच्यते-"ऊषकादिः कफं हन्ति" (सु. सू. अ. ३७) इत्यादिना रसादिवद् द्रव्याणामप्यनेकश उपदेशात, ये त्वेवं विप्रतिपद्यन्ते तानपास्यन्नाह--अनुमानाच्चेति । अनुमानात् अनुमितिसाधनत्वाच्चेत्यर्थः । ननु किमेतदुच्यते रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यमिति, न हि द्रव्यमनासाद्य निपुणैरपि कैश्चित् केनचिदप्यंशेन रसः परिगृह्यते तदधीनत्वात, येनानुमित्सते द्रव्यम्; अथ चेत् प्रागेनासाद्यते द्रव्यं तर्हि ज्ञातमेव तदित्यनुमान-प्रयोजकं स्यादिति चेन्न, प्रमाणकुटानां निःसंशयकरत्वेनाभ्युपगमात्; क्वचित् प्रत्यक्षपरिगृहीतेऽप्यर्थे उत्पन्नाया अनुमित्सायाः प्रयोजकत्वेनोपलब्धेः । नन्विद-मनुपपन्नं द्रव्येणापि रसस्यानुमानात्, तथाहि उपलब्धाम्लफलरसास्वादस्य पुरुषस्य कालान्तरे तज्जातीयं फलं दृष्ट्वा तत्राप्यम्लरसमनुमिमानस्य तद्गंधप्रवर्तितो दन्तोदकप्लवो दृश्यते । अपि चानुमितिसाधनत्वादेव चेद्रसः प्रधानं स्यात्तर्हि इच्छादिभिरात्मनोऽनुमानात् गुणभूतानामिच्छादीनामप्यात्मतः प्राधान्यंप्रसज्येतेति वचनावसरं सुदूरं परिक्षिपति--ऋषिवचनाच्चेति । ऋषिवचनं वेद इति ऋषीणां वेदार्थोपनिबन्धृत्वाद्वेदवत् प्रतिमितिसाधनं स्मृतिरिति यावत् अथवा अतीन्द्रियार्थदर्शिन एव ऋषिपदार्थत्वात् परमेश्वरोऽपि ऋषिः, तद्वचनं वेद इति यथाश्रुत एवार्थः । येषामपि वेदराशयो नित्या इति दर्शनं तेषामपि मन्त्रद्रष्टृभिरेव वेदाः प्रकाशिता इति वेदस्य ऋषिवचनत्वं नानुपपन्नम् । तदृर्शयति--ययेति । मधुररसस्यामूर्तत्वेनाहरणासंभवाद् द्रव्यमाक्षिप्य तेनाहरणसंबन्धो वाच्यः । तेन मधुरं मधुररसप्रधानं द्रव्यं इत्यर्थः । अत्र रसप्राधान्येन द्रव्यव्यपदेशाद्रसाः प्रधान-मित्ययमभिसंधिः । उक्तमर्थं निगमयति--तस्मादिति । रसप्राधान्यप्रत्ययकरो हेतुर्गुणप्राधान्येऽपि बुभुत्सितव्यो गुणत्वसाम्यादित्येवोपदिदिक्षू रसस्य गुणसंज्ञां स्मारयति--रसेषु गुणसंज्ञा इति । यस्माद्रसानां गुणसंज्ञा, तस्माद्रसप्राधान्य-निरूपणादेव तदितरेषां गुणानामपि प्राधान्यं निरूपितमित्ययमाशयः । न चैतद-श्रद्धेयम्, "अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम् ।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यादिना शीतादीनामधिकरिष्यमाणत्वात् "द्रवः प्रक्लेदनः सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः ।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यादिना द्रवादीनामुपदेशात्, "गन्धलक्षणा क्षितिः" इत्यादौ गन्धादिना क्षित्यादेरनुमानात्, "वायव्यं श्वेतमालभेत" इत्यादि-वेदप्रामाण्याच्च रसप्राधान्यवदिहापि हेतूपपत्तेः । गुणप्राधान्यहेतवस्त्वेते रस-प्राधान्यहेतव इव व्याख्येयाः (हा.) ॥

कई आचार्य कहते है कि--द्रव्यको प्रधान मानना ठीक नहीं है । (वे कहते हैं कि--) रस ही प्रधान हैं । आप पूछेंगे कि किस हेतुसे ? तो उसका उत्तर यह है--(१) आगम के आधार से रस ही प्रधान होते हैं । आगम शास्त्रको कहते हैं । आयर्वेदशास्त्र में रस ही अधिकृत किये हैं (रसों का ही प्राधान्य से उपदेश

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया है)। जैसे सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में कहा गया है--आहार रसों के अधीन है और आहार में प्राण रहते हैं (प्राणों का पोषण आहार से होता है)। (२) आयुर्वेद में रसों का प्रधानतया उपदेश किया है; इससे भी रस प्रधान हैं। रसों का ही उपदेश किया जाता है। जैसे—'मधुर, अम्ल और लवण रस वात का शमन करते हैं।' (३) अनुमान से भी रस ही प्रधान हैं। रस के द्वारा द्रव्य का अनुमान किया जाता है, जैसे--यह द्रव्य मधुर है। (४) ऋषियों के वचनों से भी रस ही प्रधान है। वेद ऋषियों का वचन है। वेद में कहा गया है कि—'यज्ञ के लिये कुछ मधुर (मधुर रसवाला द्रव्य) लाओ' इत्यादि। इन हेतुओं से सिद्ध होता है कि--रस ही प्रधान है। रस गुणों का ही एक भेद है। इसलिये रसप्राधान्य हेतुओं से गुणप्राधान्य भी सिद्ध होता है। रस का लक्षण अन्यत्र (इसी ग्रन्थ में पृ० १२७ पर) कहा गया है।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिकमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे

रसविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विपाकविज्ञानीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः

चरकमते विपाकस्य रसविशेषरूपत्वाद् रसैस्तुल्यफलत्वाच्च रसविज्ञानीयानन्तरं विपाकविज्ञानीयाध्याय आरभ्यते—

अथातो विपाकविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयधन्वन्तरिप्रभृतयः ॥

चरक के मत में विपाक भी रसविशेषरूप होने से और विपाक का फल (कार्य) रसों तुल्य होने से रसविज्ञानीय अध्याय के अनन्तर विपाकविज्ञानीयाध्याय प्रारम्भ किया जाता है।

विपाक के विषय में आयुर्वेद के जो तन्त्र इस समय उपलब्ध हैं उनमें दो मत पाये जाते हैं। एकको आत्रेयसंप्रदायका मत या चरकमत और दूसरे को धन्वन्तरिसंप्रदाय का मत या सुश्रुतमत कह सकते हैं। वृद्ध वाग्भट और वाग्भट आत्रेयसंप्रदाय के तथा भदन्त नागर्जुन धन्वन्तरि-संप्रदाय के मत के अनुयायी हैं, विपाक के विषय में प्रथम आत्रेय संप्रदाय का और पीछे धन्वन्तरि संप्रदाय का मत लिखा जायगा।

विपाकलक्षणम्—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥

—अ. हृ. सू. अ. ९

विपाकं लक्षयति। जाठरेण औदर्येण अग्निना, योगात् संश्लेषात्, रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठाकाले, यद् रसान्तरं रसविशेषः, उदेति उत्पद्यते, स 'विपाक' इति स्मृतः मुनिभिः कथितः (अ. द.)। रसानां रसवतां द्रव्याणां जाठराग्निना संयोगाद् यद्रसान्तरमुत्पद्यते स विपाकः। "आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत्।' (अ. हृ. शा. अ. ३) इत्याद्युक्तानां मधुराम्ल-कटुपाकानां व्यावृत्त्यर्थमाह—परिणामान्ते इति; आहारपरिणामान्ते। ते तु परिणामात् प्रागेव उत्पद्यन्ते, इति तेषां रसत्वमेव (हे.)॥

खाये हुए मधुरादि छहों रसों का (रसों के आधारभूत द्रव्यों का) महास्रोत में मुख से लेकर गुद तक के अन्नवह स्रोतस्-(अन्नमार्ग) में जठराग्निद्वारा परिपाक होकर अन्त में जो रसविशेष की उत्पत्ति होती है, उसको विपाक कहते हैं।

वक्तव्य—विपाक का यह लक्षण आत्रेयसंप्रदाय के मतानुसार वाग्भट ने लिखा है। आयुर्वेद में भुक्त द्रव्यों के दो प्रकार के पाक माने गये हैं—(१)अवस्थापक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और (२) **निष्ठापाक या विपाक**। पाकका अर्थ है पकना—पककर द्रव्यों का स्वरूपान्तर में और रसान्तर में या उसी रस में परिवर्तन होना। खाये हुए आहार का महास्रोतस के भिन्न-भिन्न स्थानों में जो आवस्थिक पाक होता है उसको **अवस्था-पाक** कहते हैं। अवस्थापाक में अन्नमार्ग के विभिन्न स्थानों में आहार में भिन्न-भिन्न परिवर्तन होते हैं। इन भिन्न-भिन्न आवस्थिक परिवर्तनों में आहार से किट्ट (मल) के रूप में कफ, पित्त, वात, मूत्र और विष्ठा का पृथक्करण होता है। इन परिवर्तनोंके अन्त में सार-प्रसाद-रूप रसधातुकी उत्पत्ति होती है। इस रसधातु से शरीरके सब अवयवोंका (वात-पित्त-कफ-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र आदिका) पोषण होता है। आहारपाकके अन्तिम परिणाम रूप रसधातु में खाए हुए आहार के छहों रसोंका मधुर, अम्ल और कटुरुप में जो अन्तिम परिवर्तन होता है उसको आयुर्वेद की परिभाषा में **निष्ठापाक या विपाक** कहते हैं। निष्ठापाक याने आहार का (आहारगत रसोंका) अन्तिम परिवर्तन। अवस्थापाकका विस्तृत वर्णन चरक चिकित्सास्थान के पन्द्रहवें अध्याय में तथा अष्टाङ्गहृदय शारीरस्थानके तीसरे अध्याय में किया गया है। विपाक और अवस्थापाकका भेद जानने के लिए प्रथम अवस्थापाकका निरूपण किया जाता है।

अवस्थापाकनिरूपणम्—

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बु-तण्डुलम् ॥
अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात्[1] कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते।
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वन्हिना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः[2] ॥

—च. चि. अ. १५

१—'मधुराख्यात्' इति, 'मधुरात् प्राक्' इति च पा०।
२—"अन्नं कालेऽभ्यवहृतं कोष्ठं प्राणानिलेरितम्। द्रवैर्विभिन्नसङ्घातं नीतं—→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संप्रति संप्राप्तस्यान्नस्याग्निना यथा पाको भवति, यथा च पच्यमानमन्नं देहधात्वादिरूपतामापद्यते, तदाह—अन्नमित्यादि। मुखप्रवेशादारभ्यान्नस्य व्यापार इहोच्यते। आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य स तथा, प्रकर्षतीति नयति। द्रवैरिति पानीयादिभिः। भिन्नसंघातमिति अवयवशैथिल्यमापन्नम्। काले इति बुभुक्षाकाले भुक्तं सममिति मात्रा-प्रकृत्यादिसमम्। समानेनावधूत इति अग्निपार्श्वस्थितेन समानेन संधुक्षितः; अयं च समानः प्राकृतत्वाद् बाह्यो वायुरिव अग्नेः संधुक्षणो भवति न वैषम्यकरः; विकृतस्तु वैषम्यं करोति, तेन वातेन विषमोऽग्निर्भवतीति चोपपन्नं भवति। एते च द्रवादयः पाचकस्याग्नेः सहाया भवन्तीत्यनेन ग्रन्थेनोच्यते। "आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति; तद्यथा—ऊष्मा, वायुः, क्लेदः, स्नेहः कालः, समयोगश्च।" (च. शा. अ. ६) इति। उदर्यः पाचक इत्यर्थः। 'पवनोद्वहः' इत्यग्निविशेषणं केचित् पठन्ति। 'समम्' इति भुक्तविशेषणं केचित् पठन्ति। तदा सममित्यनेन मात्रासाम्यमुच्यते; सम्यग्ग्रहणेन तु प्राकृत्यादिसंपदुच्यते। आयुर्विवृद्धये इति शरीरेन्द्रिय-सत्त्वात्मसंयोगानुवर्तनाय तद्विवृद्धये च। रस–मलाय इति तादर्थ्ये चतुर्थी। आशयस्थमिति आमाशयस्थम्। अधःस्थित इत्यनेन अग्नेरूर्ध्वज्वलनस्वभावतया ऊर्ध्वस्थान्नपाके सामर्थ्यं सूचयति। अत्रार्थे यथेत्यादिना दृष्टान्तमाह। एवं स्थूलपाकक्रममभिधाय, अवान्तरमणुपाकक्रममाह अन्नस्येत्यादि। भुक्तमात्रस्येति भुक्तानन्तरमेव। षड्रसस्यापि प्राशस्त्येनाभिधानं; किंवा षड्रसस्यापि प्रथमं मधुरता निरुक्ता भवतीति दर्शयति। प्रपाकत इति प्रथमपाकतः; प्रशब्द आदिकर्मणि। मधुरश्चासौ आद्यश्चेति मधुराद्यः; किंवा 'मधुरात् प्राक् कफो भावात्' इति पाठः। फेनसूत इति फेनसदृशोऽघन इत्यर्थः। परमिति आद्यमधुरपाकानन्तरम्। विदग्धस्येति पक्वापक्वस्य। अम्लभावत इति जाताम्लस्वरूपतः। आशयात् आमाशयात्। च्यवमानस्य अधोभागं वायुना नीयमानस्य, अनेन च पित्तस्थानसंबन्धं विदग्धाहारस्य दर्शयति। अच्छमिति अनघम्। उदीर्यते इति पित्तमुत्पद्यते; अम्लं च पित्तमम्लभावादाहारस्य उत्पद्यत इति युक्तमेव। पक्वाशयं तु प्राप्तस्येति मलरूपतया पक्वाशयं गतस्य। शोष्यमाणस्य वह्निनेति यद्यप्यूर्ध्वदाहक्षमो वह्निः, तथाऽप्यस्याधोगतस्य वह्निना शोष्यमाणत्वं पक्वाशयगतस्याप्युपपन्नम्। यतश्चाधोगमने सम्यग्वह्निव्यापारो नास्ति, अतः पच्यमानस्येति पदं परित्यज्य शोष्यमाणस्येति कृतम्। परिपिण्डितपक्वस्येति परिपिण्डितरूपतया मलरूपतया पक्वस्य। वायुः स्यात् कटुभावत इति परिपिण्डिता-

←स्नेहेन मार्दवम्॥ संधुक्षितः समानेन पचत्यामाशयस्थितम्। औदर्योऽग्निर्यथा बाह्यः स्थालीस्थं तोय-तण्डुलम्॥ आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत्। फेनीभूतं कफं, यातं विदाहादम्लतां ततः॥ पित्तमामाशयात् कुर्याच्च्यवमानं, च्युतं पुनः। अग्निना शोषितं पक्वं पिण्डितं कटु मारुतम्॥" (अ. हृ. शा. अ. ३)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वस्थोद्भूतकटुता वायोरुत्पद्यते। एवमीदृशः; षड्रसाहारस्यावस्थापाको भवति। ननु यद्यत्रावस्थापाकवशात् षण्णामेव रसानां[1] कफादिकर्तृत्वमुच्यते, तदा[2] "कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशःकटुः।" (सू. अ. २६) इत्यादिना यो विपाक उच्यते[3] स विरुध्यते, अवस्थापाकेनैव बाधितत्वात्; नैवं, नह्यवस्थापाकोऽयं रसस्वभावं निष्ठापाकं बाधते, किंत्ववस्थेयं स्वकार्यं करोति; तेन रसादयोऽपि[4] स्वकार्यं कुर्वन्ति, अवस्थापाकोऽपि स्वकीयं कार्यं करोति; यथा—मधुर-तिक्तादिषड्रसेऽन्ने[5] उपयुक्ते मधुरोऽपि स्वकार्यं करोति, तिक्तादयश्च स्वकार्यं कुर्वन्ति; अयं तु विशेषः—यदि मधुराख्यस्यावस्थापाकस्य मधुरादयः श्लेष्मजनका रसा अनुगुणा भवन्ति तदा स बहुश्लेष्माणं जनयति, यदा त्ववस्थापाको विपरीतकटुकादिपरिगृहीतो भवति तदा स्तोकमात्रं कफं जनयति; एवं पित्तजनकेऽवस्थापाकेऽपि वाच्यम्। "कटु-तिक्त-कषायाणां" (च. सू. अ. २६) इत्यादिनोक्तस्तिस्रश्च[6] विपाकस्तु रसबलविवेकसपक्षो भिन्नकाल एवावस्थापकैः सममिति न विरोधः। स च भिन्नकालोऽप्यवस्थापाककार्यदोषानुगुणतयाऽननुगुणतया[7] वा अवस्थापाकाहितदोषाणां वर्धनं क्षपणं वा करोतीति तस्याभिधानं शास्त्रे प्रयोजनवदेव। यद्यपि सर्वमन्नमवस्थायां विदह्यते, तथाऽपि येऽत्यर्थं विदाहिनस्त एव 'विदाहिन' इत्युच्यन्ते, विशेषविदाहकर्तृत्वात्। अन्ये त्वाहुः—न तावत् षड्रसादप्यन्नात् सामान्येनावस्थापाके कफाद्युत्पत्तिः, किंतु षड्रसादन्नात् प्रथमे पाके मधुरोऽयमुद्भूतो रसः श्लेष्मं कफं जनयति, तथा पित्तं विदाहावस्थायामुद्भूतादम्लरसादुत्पद्यते, एवं वायुरपि आहारकटुतावस्थायां भवतीति। अन्ये त्वाहुः—यत्—नान्नस्याग्निसंयोगान्मधुराद्यावस्थिकं[8] भवति, किंतु कफादिस्थानेषु मनुष्याणां स्वभावादेव मधुरादयो रसास्तिष्ठन्ति, ते चान्नं स्वस्वभावं नीत्वा कफादीञ्जनयन्ति। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः। ततः संवर्धते श्लेष्मा शरीरबलवर्धनः॥ नाभीहृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः। स्वभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं विवर्धते॥ अधो नाभ्यास्तु

१—'रसानामविशेषेण' इति शिवदाससेनः।

२—"ततश्चात्र रसविशेषाणामेव दोषविशेषजनकत्वमुक्तं तथा" इति शि०।

३—'उक्तस्तत् सर्वं' इति शि०।

४—रसादय इति आदिशब्देन विपाकस्य ग्रहणम्।

५—'मधुर-तिक्ताद्यनेकरसे' इति शि०।

६—'इत्यादिनोक्तश्च निष्ठापाको' इति शि०।

७—'जन्य०'? इति शि०।

८—'मधुराद्यवस्थितं' इति शि०।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः। प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः। तस्माद्विपाकस्त्रिविधो[1] रसानां नात्र संशयः॥" इति। इह[2] तु तत्रेत्यादि-ग्रन्थार्थालोचनया यथोक्त एव ग्रन्थार्थोन्याय्यः। तन्त्रान्तरे तु श्लेष्म-पित्त-गतमधुराम्लरसौ वर्णयन्ति, ते कफाद्यधिगता रसा अस्माकमपि पाकसहकारितया अनुमता एव। यत्तु श्लेष्मजनकांशस्यैवावस्थापाके श्लेष्मकर्तृत्वमित्युक्तं, तदनुमतमेव; एवं यः श्लेष्मजनकोंऽश आहारगतः स स्थानमहिम्ना तदाहारस्य मधुरतामापाद्य श्लेष्माणं विशेषेण जनयतीति ब्रूमः। यत्तु, अनेनावस्थापाकेन कफपित्तयोरीरणमात्रं क्रियते नतु वृद्धिः, वृद्धिः निष्ठापाके एव भवतीति वदन्ति, तदुपपत्तिशून्यं भाति; किंच, अवस्थापाकात् कफ-पित्तयोर्वृद्धिः, तथा निष्ठा-पाकाच्च मलरूपतया उत्पाद इति युक्तं पश्यामः। (च. द.)। कथमभ्यव हृतमग्निना पच्यत इत्यत आह—अन्नमित्यादि। प्राणो नाम हृदयस्थः शारीरो वायुरादानकर्मा पानाहरादिकमादत्ते। स तु अभ्यवह्रियमाणमन्नं कोष्ठ-मुदरं प्रकर्षति। × × ×। तत् काले भुक्तं कोष्ठगतमन्नं द्रवैः क्लेदकश्लेष्म-द्रवैः, भिन्नसंघातं द्रवीभूतं, स्नेहनं क्लेदकश्लेष्मस्नेहांशेन मृदुतां गतं, समानेन पवनेन नाभेर्वामपार्श्वस्थो जाठरोग्निः समीपस्थेनावधूतोऽवकम्पितः समुदीर्णो भूत्वा, समं सम्यक् पचत्यार्युर्विवृद्धये, न तु विषमं पचति। पाकप्रकारमाह एव-मित्यादि। एवमनेन प्रकारेणामाशयस्थमन्नं तदधःस्थितो जाठरोऽग्निर्यथा स्थाल्यामम्बुतण्डुलमधःस्थितोऽग्निरोदनाय पचति तथा रसमलाय पचति। कथं रसाय मलाय वा पचतीत्याह—अन्नस्येत्यादि। षड्रसस्यान्नस्य भुक्तमात्रस्य प्रपाकतः पाकारम्भात् मधुराख्यात् भावात् यः फेनभाव उदीर्यते स कफो नाम मलः। परं तदुत्तरकालं पच्यमानस्य तस्य षड्रसस्यान्नस्य विदग्धस्यार्धपरिपक्वस्याम्ल-भावो भवति। आशयात् आमाशयाच्चव्यमानस्य तस्याम्लीभूतस्याहारस्य यत् स्वच्छं निर्मलरूपमुदीर्यते तत् पित्तं नाम मलम्। पक्वाशयं प्राप्तस्य वह्निना शोष्यमाणस्य परिपिण्डितपक्वस्य तस्य षड्रसस्यान्नस्य कटुभावो भवति। तस्मात् कटुभावाद् वायुर्नाम मलः स्यात् (ग.)॥

खाए हुए अन्न को आदान (ग्रहण-आकर्षण करना) जिसका कार्य हैं ऐसा प्राण वायु कोष्ठ में ले जाता है। वहाँ कोष्ठ में क्लेदक कफ के द्रव से उसका संघात (काठिन्य) नष्ट होकर वह द्रवरूप होता है और क्लेदक कफ के स्नेहांश से वह मृदु-नरम होता है। पीछे समान वायु से संधुक्षित-प्रेरित और अवकम्पित जठराग्नि

१—अत्र विपाकशब्देनावस्थापाकोऽभिप्रेतः।

२—"एतच्च तन्त्रान्तरं पित्तश्लेष्मगतमधुराम्लरस-वायुप्राभाविककटु-रसाभिप्रायेण वर्णनीयम्। ते च कफादिगता रसा अस्माकमप्यन्याशयगतपाक हसकारितयाऽनुमता एवेति। तस्माद्यथोक्त एवार्थो न्याय्य इति" शिवदाससेनः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(पाचक पित्त और शरीरोष्मा) अन्नकाल में समभाव में खाए हुए अन्न को आयुष्य की वृद्धि के लिये अच्छी तरह पकाता है। खाए हुए छहों रसोंवाले अन्न से प्रथम पाक में (पाक के आरम्भ में) उद्भूत (उद्रिक्त) मधुर रस से फेन सदृश मल-रूप कफ उत्पन्न होता है। पीछे आमाशय में पाक होते समय और आमाशय से नीचे अंत्रों में जाते समय विदग्धावस्था (पच्यमानावस्था-अर्धपक्वावस्था) में उद्-भूत उद्रिक्त-अम्ल रस से मलभूत स्वच्छ पित्त की उत्पत्ति होती है। बाद पक्वा-शय में गये हुए जठराग्नि से शोष्यमाण और पककर पिण्डीभाव को प्राप्त हुए आहार से उद्भूत उद्रिक्त कटु रस मलरूप वात उत्पन्न होता। कविराज गङ्गाधरजी ने यहाँ और आगे विपाक-निरूपण में स्पष्ट कर दिया है कि अवस्थापाक में भुक्तमात्र अन्न की प्रथम अवस्था में उत्पन्न मधुरभाव से मलरूप (स्थूल) कफ, पच्यमाना-वस्था में उत्पन्न अम्लभाव से मलरूप (स्थूल) पित्त और पक्वावस्था में उत्पन्न कटु-भाव से मलरूप वात की उत्पत्ति होती है। निष्ठापाक में रस और मल के विवेक (पृथ-क्करण) के समय में आद्य रसधातु में उद्रिक्त मधुर रस से धातुरूप कफ की, अम्लरस से धातुरूप पित्त की और कटुरस से धातुरुप वातकी उत्पत्ति होती है[1] (पोषण होता है)।

अवस्थापाक में मुख-कण्ठ, आमाशय और ग्रहणी-अन्त्र इन स्थानों में तत्त-त्स्थान-स्थित बोधक कफ, क्लेदक कफ, समानवायु और जठराग्निरूप पाचक पित्त के द्वारा अन्नका परिपाक होता है। आमावस्था, पच्यमानावस्था (विदग्धा-वस्था) और पक्वावस्था में छहों रसवाले आहार से पूर्वोक्त तत्तत्स्थान के सम्बन्ध से क्रमशः मधुर, अम्ल और कटुरस उद्भूत (उद्रिक्त) होते हैं। इस प्रकार आमा-वस्था में उद्भूत मधुर, पच्यमानावस्था में उद्भूत अम्ल और परिपक्वावस्था में उद्भूत कटुरस की अधिकता से क्रम से मलरुप कफ, पित्त और वायु की उत्पत्ति होती है। ये तीनों अवस्थापाक अन्न के चर्वण समय में उत्पन्न मधुरता, अम्ल-तिक्तादि उद्गार तथा वमन में निकले हुए मधुर-अम्ल कट्वादिरसयुक्त द्रव्यादिसे प्रत्यक्षगम्य हैं। अवस्थापाक में भुक्त द्रव्यों का रस चाहे कोई भी हो, परन्तु स्थान प्रभाव और अवस्थावश ऊपर कहे हुए तत् तत् स्थान में एक ही प्रकारका मधुर, अम्ल और कटु रस उत्पन्न (उद्रिक्त) होता है। तीनों अवस्थापाकों के अनन्तर अन्त में (रसमल-विवेककाल में) आद्य रसधातु में जो रसविशेष की उत्पत्ति होती है, उसको विपाक या निष्ठापाक कहते हैं। यह निष्ठापाक वातादि दोषोंकी उत्पत्ति, बद्धविण्मूत्रता, सृष्टविण्मूत्रता आदि विपाक-लक्षणों से अनुमेय है (अनु-मान किया जाता है।) अवस्थापाक के समान इसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

१—धातुपाक के समय में भी रसधातु से किट्ट-मल-रूप कफ की और रक्त-धातु से किट्टरुप पित्त की उत्पत्ति होती है—"किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृजः पित्तं" (च. चि. अ. १५),

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चरकमतेन विपाकनिरूपणम्--

परं चातो विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥
कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ।
अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥

--च. सू. अ. २६ ।

संप्रति विपाकस्यापि रसरूपत्वाल्लक्षणमाह--परमित्यादि । प्रायोग्रहणात् पिप्पली-कुलत्थादीनां रसाननुगुणपाकितां दर्शयति । कटुकादिशब्देन च तदाधारं द्रव्यमुच्यते; यतो न रसाः पच्यन्ते, किंतु द्रव्यमेव । लवणस्तथेति लवणोऽपि मधुरविपाकः प्राय इत्यर्थः । विपाकलक्षणं तु--जठराग्नियोगादाहारस्य निष्ठाकाले यो गुण उत्पद्यते स विपाकः । ××× (च. द.) । यद्यद्रसस्य यो यो विपाकस्तमाह--कटुवित्यादि । कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः । प्रायश इति परत्रापि योज्यम् । अम्लोऽम्लं, क्रियाविशेषणमेतत्, पच्यते अम्लो रसोऽम्लं यथा स्यात् तथा पच्यते; स्वादुर्मधुरस्तथा लवणो मधुरं यथा तथा क्रियाविशेषणमेतत्, पच्यते । तथा च जतुकर्णः--"विपाकस्तु प्रायशो मधुरो मधुर-लवणयोः, अम्लोऽम्लस्य, कटुः कटु-तिक्त-कषायाणाम् ।" इति । कटुवादीनां कटुको विपाकः, अम्लोऽम्लस्य, शेषयोर्मधुर इति । प्रायशोग्रहणात् क्वचिन्नैवंविधोऽपि । यथा--शुण्ठी-पिप्पल्यादीनां कटूनां मधुरो विपाकः, कषायस्य कुलत्थस्याऽम्लः, कषाया हरीतकी अम्लमामलकं च मधुरं पच्यते, मधुरो व्रीहिश्चाम्लं, तथाविधं तैलं पुनः कटुकम् । पराशरस्तु पठति--पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते, कटुः कटुकम् । चत्वारोऽन्ये मधुरं, संसृष्टरसास्तु संसृष्टम् ॥" इति । अन्ये चत्वारः मधुर-लवण-तिक्त-कषायाः । तन्मते तिक्तकषाययोर्मधुरो विपाकः, तयोः कटुविपाकत्वे पित्तहन्तृत्वानुपपत्तेः । तदयुक्तं, तिक्त-कषाययोः कटुविपाकत्वेऽपि पित्तहन्तृत्वम् शीतवीर्यत्वेनोपपद्यते । यथा--लवणस्य मधुरविपाकस्यापि पित्तजननत्वमुष्णवीर्यत्वेन । प्रतिरसं पाक इति केचित् । अयमाशयः--यथा स्थालीस्थं तावत् क्षीरं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्, यथा वा शालि-यव-मुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावं न परित्यजन्ति अर्थाच्छालि-यव-मुद्गादिबीजेभ्य उप्तेभ्य शालि-यव-मुद्गाद्यंकुरा उत्पद्यन्ते, तद्वन्मधुरादयो जठराग्निपक्वाः स्वं स्वं रूपं मधुरादिकं न त्यजन्ति । मधुरो मधुरमेव पच्यते, अम्लोऽम्लम्, एवमन्ये च; तेन षण्णां रसानां षड्विपाका भवन्ति । तदसांप्रतं; यतो मधुरो व्रीहिरम्लं पच्यते, अम्लमामलकं च मधुरं, मधुरमपि तैलं कटुतां याति, न पुनः पिप्पली कटुकाऽपि; द्रव्याणां यथारसपाकत्वे नैवं विपर्ययः स्यात् । सुश्रुतस्तु प्राह--"आगमोहि द्विविध एव पाको--मधुरः, कटुकश्च" ××× (सु. सू. अ. ४०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इति । × × × । सुश्रुतमतेऽम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात् । तन्मते द्विविध एव पाकः, गुरु-लाघवेन भूतानां द्वैविध्यात् । तत्र पृथिव्यम्बुगुणातिरेकान्मधुरः, अग्नि-वाय्वाकाशगुणबाहुल्याच्च कटुकः । नन्वेवं चेद्व्याभिश्रात्मकानामम्ल-लवण-कषायाणां कतरः पक्ष आश्रयणीयः स्यादिति ? तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठतया स्निग्धानां मधुराम्ल-लवणानां त्रयाणां मधुरो विपाकः, वायुगुणातिरेकाद्रूक्षाणां कटु-तिक्त-कषायाणां त्रयाणां कटुकः । एतच्च हिताहितीये विरुद्धरसद्वन्द्वेषु स्फुटम् । सुश्रुते द्विविधः पाकः, चरके तु त्रिविध उच्यते ; अम्लो विपाक एकेनाङ्गीक्रियते, अन्येन पुनः प्रतिषिध्यते, इति तन्नद्वयविरोधे कथमुपपत्तिः स्यात् ? नैष दोषः, वस्तुतोऽविरोधात् । अम्लस्य मधुरविपाकित्वेऽपि उष्णवीर्यतया पित्तजननोपपत्तेः, लवणवत् । अम्लपाकस्याभ्युपगमानभ्युपगमयोर्बीजे तु चरकनये पित्तं प्रकृत्याऽम्लं कटु च; सुश्रुते तु कटुरसं, यत् पुनरम्लत्वं तदस्य विदग्धस्यैवेति सुश्रुतेन पित्तस्य प्राकृतस्याम्लत्वानङ्गीकारात् सुतरामम्लपाकोऽपि नाङ्गीक्रियते, निष्प्रयोजनत्वात् इह पुनरम्लः पाकः सप्रयोजन एव । वस्तुतस्तु दोषाणां त्रैविध्याद्विपाकस्यापि तदनुगुणतया त्रैविध्यमेवोचितम् । वक्ष्यति च—"शुक्रहाबद्धविण्मूत्रः" × × × (च. सू. अ. २६) इत्यादि ग्रहणीचिकित्सिते च—"अन्नस्य भुक्तमात्रस्य" × × × (च. चि. अ. १५) इत्यादि । अनेन रसषट्केऽपि द्रव्याणां यद्विपाकत्रैविध्यं मधुराम्ल-कटुलक्षणमुच्यते तद्दोषत्रैविध्यादेवेति सुष्ठूपपादितं भवति । ननु ग्रहणीचिकित्सिते षण्णामेव रसानां त्रयः पाका वक्ष्यन्ते ; इह पुनरुच्यते—"कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः । अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥" इति ; कथमेतदिति चेत् ? न, अन्नस्य पच्यमानस्य तत्तद्दोषस्थानसंबन्धात् क्रमान्मधुराद्यवस्था भवन्ति, नासौ विपाकः ; विपाकः कर्मनिष्ठयेति दिक् (यो.) । नन्वेते मधुरादयो यद् गुणकर्माण उक्ताः कथं तत्फलमभिनिष्पद्यत इत्यतो विपाकमाह—परं चात इत्यादि । अतः परं च विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते, यैः पाकैः फलमभिनिष्पद्यते । तद्यथा—कटुवित्यादि । विपाक इति पाकः पचनं द्रव्याणां स्वरूपो-रसयोः परावृत्तिः । सा च स्वरूपान्तरत्वेन रसान्तरत्वेन च परिणतिः, तस्या विशेषो विपाकः । जाठराग्नि योगेन भुक्तानां द्रव्याणां जायमाने किट्ट-साररूपेण पृथक्त्वे यः सारभागो द्रवरूप आद्यो रसाख्यो धातुः, किट्टभागश्च मूत्र-पुरीषरूपो मलधातुः, तद्रस-मलधातुभूतरसान्तरवद्द्रव्यान्तरत्वेन भुक्तानां परिणतिविशेषोऽत्र विपाकः । उक्तं च—"जाठरेणाग्निना योगात्" (अ. हृ. सू. अ. ९) इत्यादि । कस्य रसस्य किं रसान्तरत्वेनोदयः परिणामः स्यादिति ? अत आह—कटु-तिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुरिति । भुक्तानां द्रव्याणां यः कटुस्तिक्तः कषायो वा रसः, स रसः खलु जाठरेणाग्निना पच्यमानानां भुक्तानां द्रव्याणां रसाख्यधातुरूपेण परिणामे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तत्पाकेन पच्यमानः सन् प्रायशः कटुर्विपाकः स्यात् । कटुश्च कटुविशेषाणामभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसाख्ये धातौ वर्तते । तिक्तश्च रसः कटुविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्तते । कषायश्च कटुविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्तते । प्रायश इत्यनेन कणा-शुण्ठ्यादीनां कटूनां कटुरसस्य मधुरः पाकः, पटोल-पत्र-वेत्राग्रादीनां च तिक्तानां तिक्तरसस्य मधुरः पाकः, तथा हरीतक्यादीनां कषायद्रव्याणां मधुरः पाको न विरुध्यते । एवमम्लो रसोऽम्लं पच्यते प्रायशोऽम्लो रसोऽम्लविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्तते । प्रायश इत्यनेनामलक-स्याम्लस्याम्लो रसो मधुरः पच्यते इति न विरुध्यते । तथा स्वादुर्मधुरं स्वादु-र्मधुरो रसः प्रायशो मधुरं यथा स्यात् तथा विपच्यते, मधुरविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसाख्यधातौ वर्तते ; तथा लवणश्च रसो मधुरं यथा स्यात् तथा प्रायशः पच्यते, मधुररसविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्तते । प्रायश इत्यनेना तसीतैलं मधुराम्लं विपाके कटुकमिति, पांशुजं लवणं कट्विति रसोपदेशेन कटुपाकश्चोक्त इत्यविरोध इति । अथ सुश्रुते दृश्यते—"तत्राहुरन्ये प्रतिरसं पाक" (सु. सू. अ. ४०) × × इत्यादि । तत्र षड्रसेषु द्रव्येषु पच्यमानेषु येषु अम्बु-पृथिव्योर्गुर्व्योर्गुणा गुरु-खरादयोद्रवादयश्चाधिका व्यक्ततत्वेनाभिनिर्वर्तन्ते सजातीय-रूपान्तरत्वेन निष्पद्यन्ते, तत्र द्रव्येषु स पाको मधुरो नामोच्यते स गुरुः पाक उच्यते, गुरुगुणसाधर्म्यादम्बुपृथिव्योः । तस्मादत्र 'मधुर' शब्दो गुरुपाकेपारिभाषिको, न तु मधुरसाख्ये पाके । त्रयो हि रसा मधुर-कषाय-लवणा गुरव उक्ताः, उत्तम-मध्यमावरास्ते ; तत्तद्रसद्रव्याणि तथैव गुरूणि, तथैव चिर-मध्यावरकाले पच्यन्त इति गुरुपाक उक्तः, न मधुर-लवणयो रसमात्रयोः पाको मधुर उक्तः । इह तु मधुररसद्रव्यलवणरसद्रव्ययोः पच्यमानयोर्मधुरो रसो लवणश्च रसो मधुरविशेष-रूपेण पच्यते । तत्र मधुररससहचरिताः स्निग्ध-गुरु-शीताश्च तद्विशेषेण नितरां पच्यन्ते, लवणरससहचरितास्तु गुरुः स्निग्ध उष्णश्चेति त्रयोऽपि मधुरत्वेन पाका-न्मधुररससहचराः स्निग्ध-गुरु-शीता विशेषेण पच्यन्ते, न तूष्णत्वमौष्ण्यविशेषेण पच्यते इति लवणस्य गुरोर्गुरुपाके पृथिवीगुणानां सजातीयतयाऽऽधिक्येनाभि-निर्वृत्तौ नोष्णगुणसजातीय उष्णो भवति मधुररसपाकात्, लवणारम्भकाग्निगुण-विनाशे भूमि-तोयगुणोद्रेकात् ; निःसारत्वाद्वह्नेः, भूमि-तोययोः ससारत्वाद्यदु-द्रेके शेषाणां भूमि-तोयगुणानामाधिक्येनाभिनिर्वृत्तिर्भवतीति द्वयोरविरोधः । एवं कषायरसद्रव्ये पच्यमाने कषायो रसः कटुरसविशेषरूपेण पच्यते । तत्र कषायरससहचरा रूक्ष-शीत-गुरवस्तु गुणाः पाकादसूर्तस्य वायोरपगमे तद्गुणस्य शीतस्यापगमे पार्थिवगुणा अधिकत्वेनाभिनिर्वर्तन्ते ; तस्मादयं गुरुः पाको रसपाके कटुरपि मधुर उच्यते । एवं लघुपाकस्य संज्ञा कटुरुक्ता—"तेजोऽनिलाकाश-गुणाः पच्यमानेषु येषु तु । निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥"

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(सु. सू. अ. ४०) इति; तथा अम्ल-कटुक-तिक्ता अधम-मध्यमोत्तमा लघव उक्ताः, तत्तद्रसद्रव्याणि तथैव लघूनि, तथैवावरमध्यमोत्तमकाले पच्यन्ते, इति लघुपाक उक्तो भूतगुणपाक एव, न तु अम्ल-कटु-तिक्तरसानां पाक उक्तः। इह तु कटु तिक्त-कषायाणां कटुरसपाकोऽम्लस्याम्लरसपाक उक्तः। तस्मादम्ल-कटु-तिक्तद्रव्येषु पच्यमानेषु खल्वम्लरसद्रव्यपाके अत्राग्निगुणानामम्लरसव्यतिरिक्तानामाधिक्येनाभिनिर्वृत्तिर्भवति, अतोऽयं लघुपाक उक्तः। तत्राम्लो रसस्त्वम्ल एव पच्यते विशेषरूपेण, तत्राम्लो रसो न तोयगुणो न वाऽग्निगुणाः, उभयगुणयोगे हि तोयस्याव्यक्तरसः परिणम्याम्लः पूर्वजातः पश्चादम्लविशेषरूपेण पच्यत इत्यतोऽयं लघुपाकरूपः कटुपाको भूतगुणानाम्, अम्लरसस्य पुनरम्ल एव पाक इत्यविरोधः। कटु-तिक्तद्रव्याणां पाके तिक्तस्य कटुरूपेणाभिनिर्वृत्तिः पाकतो हि तिक्तस्याकाशस्याप्रतिघातामूर्तित्वेन तद्गुणपरिणामाभावेन प्रतिघातामूर्तिमतो वायोर्गुणपरिणामे तेजोगुणयोगात् कटुभावनिष्पत्तिरिति। इत्थं च रसापाकाभिप्रायेण त्रिधा पाक उक्तः, सुश्रुते भूतगुणाभिप्रायेण द्विधा पाक उक्तो गुरुर्लघुश्चेति क्रमेण मधुरसंज्ञः कटुसंज्ञश्चेति। एवं भूतगुणपाके रसपाके चाबलवन्तो बलवतां वशमापद्यमाना नाभिव्यज्यन्ते, बलवन्तश्चाबलवतोऽवजित्याधिक्त्वेनाभिव्यज्यन्ते। वक्ष्यते हि--"विरुद्धगुणसमवाये हि भूयसाऽल्पमवजीयते॥" (च. वि. अ. १) इति। सर्वमतानि साधूनि। इमे मधुराम्ल-कटुरूपेण रसानां त्रयो विपाकाश्चरमपरिणामा रसाख्ये आद्यधातौ गुणा भवन्ति, न तु पाकारम्भचरम-पर्यन्तं पच्यमाने षड्रसद्रव्ये प्रथम-मध्यम-चरमावस्थासु मधुराम्ल--कटुरूपाः। ते च ग्रहण्यध्याये "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य" (च. चि. अ. १५) इत्यादिनोक्ताः। एवं पक्वाहारस्य प्रसादपाको रसो नाम धातुः किट्टपाको मूत्र-पुरीष-कफ-पित्त-वाता इति (ग.)। इदानीं विपाकगुणा वाच्याः, अतो विपाकस्वरूपं प्रथमं निरूप्यते--अवस्थापाकापेक्षया विशिष्टः पाको विपाकः। विपाकशब्देनेह लक्षणया विपाकाधेय आहारस्य रसविशेषो गौरवेण लाघवेन वा युक्तोऽभिधीयते। उक्तं च वाग्भटेन--"जाठरेणाग्निना योगात्" (वा. सू. स्था. अ. ९) इत्यादि। अत्र रसानां परिणामा मधुराम्ल-कटुरूपास्त्रयोऽवस्थापाकाः षड्रसस्यैवान्नस्यामाशयादिस्थानसंबन्धमहिम्ना जायन्ते, ते च चरके ग्रहणीचिकित्सिते "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।" (च. चि. स्था. अ. १५) इत्यादिनोक्ता अनुसन्धेयाः; तेषामन्तेऽवसाने पुनर्जाठराग्निसंयोगे सति यद्रसान्तरं रसविशेष उदेति स विपाक इत्यर्थः। इह केचिदाचक्षते--प्रतिरसं पाकः--अम्लोऽम्लस्य, मधुरो मधुरस्य, लवणो लवणस्य, कटुकः कटुकस्य, तिक्तस्तिक्तस्य, कषायः कषायस्येति षडेव विपाकाः; किमत्र प्रमाणमिति चेत्, उच्यते--यथा--क्षीरमतिपच्यमानमपि मधुरमेव स्यात्, यथा वा शालि-यवादय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उप्ताः प्ररूढाः फलिताश्च शाल्यादिस्वरूपा एव भवन्ति; तथा मधुरादयोऽपि निष्ठापाकेऽपि मधुरादिस्वरूपा एव भवितुमर्हन्तीति। उक्तंच--"उप्ता षष्टिक-माषाद्या ग्राह्यपक्वाश्च षड्रसाः। यान्ति नान्यत्वमित्येवं पाकः प्रतिरसं भवेत्॥" इति। अन्ये तु ब्रुवते--रसा द्विविधा बलवन्तोऽबलवन्तश्च; बलवत्त्वं च व्यक्ततत्वेन मात्राबाहुल्येन वा, अबलवत्त्वं पुनरेतद्विपर्ययेण; तत्राल्पतयाऽबलवन्तो रसा बलवतां वशमायान्तीति; तेन निष्ठापाके बलवता रसेन दुर्बलरसाभिभवान्न रसप्रतिनियमेन मधुरस्य मधुर एव पाकोऽम्लस्य चाम्ल एवेत्यादि; प्रतिनियमा-भावाच्चानवस्थितः पाक इति। अनियतत्वपक्षेऽपि षट्कत्वमेव, कदाचित् कस्यचित् संभवादिति। उक्तं च--"बहवोऽभिभवन्त्यल्पान् बहिर्मिश्रीकृता रसाः। तेनानिश्चितमेवैके पाकमाहुर्मनीषिणः॥" इति। अन्ये तु वातादिभ्यो दोषेभ्य एव त्रीन् पाकानिच्छन्ति--कफात् वात-कफाच्च मधुरः, कफ-पित्तादम्लः, वातात् पित्तात् वात-पित्ताच्च कटुक इति। तदुक्तं--"कफात् वात-कफात् स्वादुरम्लः पित्त-कफोद्भवः। दोषैस्त्रयोऽनिलात् पित्तात् वात-पित्तात् कटुर्मतः॥" इति। तदेतन्मतत्रयं प्रमाणशून्यत्वादुपेक्षणीयमेव। किं च प्रतिरसं रससदृशः पाकस्तथा बलवत्पराधीनता च पाकस्य रसद्वारा प्रतिपाद्यमानकार्येणैव लभ्यते, तेनैतत् पक्षद्वयमपि न निष्ठापाके चिन्तनीयं, रसस्वरूपनिरूपणेनैवोक्तार्थत्वात्। दोषावस्थाजन्यश्च पाक उपपादकहेत्वभावादागमशून्यत्वाच्च प्रेक्षावद्भिरुपेक्षणीय इति। चरकेणतु त्रय एव विपाका अङ्गीकृताः कटुकाम्ल-मधुरभेदेन। अतस्तद्वचन-मुपन्यस्यते--कटु-तिक्त-कषायाणामित्यादि। प्रायश इति वचनात् पिप्पली-कुलत्थादीनां रसाननुगुणपाकतां दर्शयति। पाकस्तु तेजःसंयोगरूपो रसेषु न संभवतीति कट्वादिशब्दैस्तदाधारद्रव्याण्युच्यन्ते। एतेन यत् कैश्चिदुच्यते--अवस्थापाकावसाने षड्रसस्यैवान्नस्य कटुरसत्वेन तदानीं तिक्तादिरसानामभावात्तेषां विपाको नोपपद्यत इति; तदप्यपास्तं, तिक्तादिरसानामभावेऽपि तदाश्रयद्रव्यस्य विद्यमानत्वादिति। वस्तुतस्तु, अवस्थापाकत्रयेण तत्तदामाशयादिस्थानमहिम्ना मधुराम्ल-कटुरसा उद्भूताः परं क्रियन्ते, न तु सर्वथा प्राकृतरसाभिभवः; अन्यथा-ऽवस्थापाकेन प्राकृतानां मधुरादिरसानां सर्वथा अप्राकृतत्वे तेषां कफादिजनकत्वा-भिधानं निरवकाशं स्यादिति। × × × ×। अन्ये तु ब्रुवते- न तावत् षड्रसा-दप्यन्नात् सामान्येनावस्थापाके कफाद्युत्पत्तिः, किंतु षड्रस एवान्ने मधुरो य आहारांशः स उद्भूतः सन् कफं जनयति; तथा पित्तदोषकोपको य आहारभागस्तस्मा-द्विदाहावस्थायामुद्भूतादम्लरसात् पित्तमुत्पद्यते; एवं वायुरपि वायुजनकाहारांशात् कटुतावस्थायां भवतीति। एतच्च न संगत, "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य" (चि. चि. स्था. अ. १५) इत्यादिग्रन्थविरोधात्; यतोऽत्र षड्रसस्यैवान्नस्य सामान्येनावस्था-पाकात् कफादिजनकत्वं दर्शितं, न तु कस्यचिदाहारांशस्येति यदि पुनः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

षड्रसाहारगतो यः श्लेष्मजनको भागः स एव स्थानमहिम्नोद्भूतः सन् सर्वमेवाहारमवस्थापाकसमये मधुरीकृतं कफं जनयतीत्युच्यते, तदाऽनुमतमेव। अयं च विपाकाधेयो रसो न रसनेन्द्रियग्राह्यः, किंतु तत्तत्कार्येणैवोन्नीयते; यथा—कटुरसाया उष्णवीर्याया अपि शुण्ठ्या वृष्यत्वेन मधुरः पाकोऽनुमीयते, तथा लवणस्य सृष्टविण्मूत्रत्वेन मधुरः पाक उन्नीयते, तथा तिक्त-कषाययोर्बद्धविण्मूत्रतया कटुपाक उन्नीयत इति। ननु, लवणस्य मधुरपाकित्वे पित्त-रक्तादिकर्तृत्वमनुपपन्नं, तथा तिक्त-कषाययोः कटुपाकित्वे च पित्तहन्तृत्वमनुपपन्नम्। नैवं, सत्यपि लवणस्य मधुरपाकित्वे तत्र लवणे उष्णवीर्यं यदस्ति तेन तस्य पित्त-रक्तादिकारकत्वं, विपाकस्तु तत्र पित्त-रक्तकरणलक्षणे कार्ये बाधितोऽपि सृष्टविण्मूत्रादिलक्षणेन लक्ष्यत एव; तथा तिक्त-कषाययोरपि कटुविपाको बलवता शीतवीर्येण बाधितत्वान्न पित्तजनकः, बद्धविण्मूत्रतया तु लक्ष्यत एव। एतेन यदुच्यते—लवणादिषु विपाको यदि रसवीर्याभ्यां बाधितः स्वकार्यकरो न स्यात् तत् किं तेनोपदिष्टेनेति, तन्निरस्तं भवति; यतोऽस्त्येव सृष्टविण्मूत्रतादि तत्कार्यमिति। अन्ये त्वेतद्दोषभयात् 'लवणस्तथा' इत्यत्र तथाशब्देन विप्रकृष्टमम्लमाकृष्य लवणोऽम्लं पच्यत इति व्याख्यानयन्ति। तन्न, "कट्वादीनां कटुविपाकः, अम्लोऽम्लस्य, शेषयोर्मधुरः" इति जतुकर्णविरोधात्। न च यत्र एव विपाकाः कथं भवन्ति, तिक्तादयोऽपि कुतो न स्युरिति वाच्यं; भूतस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्। ननु, यत्र रसविपरीतः पाको यथा—लवणस्य मधुरः, तिक्त-कषाययोश्च कटुः, स उच्यतां; यस्तु समानगुणो मधुरस्य मधुरः, अम्लस्याम्लः, कटुकस्य कटुकः, तत्कथनेन किं प्रयोजनं? यतो रसगुणैरेव तत्र विपाकगुणोऽपि ज्ञास्यते। नैवं, लवणादिवद्विसदृशरसान्तरोत्पादकशङ्कानिरासार्थं तत्रानुगुणोऽपि विपाको वक्तव्य एव। तथा यत्र समानगुणो विपाकस्तत्र बलवत्कार्यं भवति, विपर्ययं तु दुर्बलमिति ज्ञेयम्। सुश्रुतेन द्विविध एव विपाकोऽङ्गीकृतः मधुरः कटुकश्चेति, द्वैविध्ये च भूतानां गुरु-लाघवेन द्वैविध्यमेव हेतुः; यदुक्तं तेनैव—"तत्र, पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्याद् गुरुता, लघुता च; तत्र पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि; तस्माद्द्विविध एव विपाको भवति।" (सु. सू. स्था. अ. ४०) इति। अत्रापि सुश्रुतमते यद्यप्यम्ल लवणौ मधुर विपाकौ तथाऽपि तयोर्वातहरत्वे सृष्टविण्मूत्रतायां च मधुरकार्यकरत्वं, न पुनः पित्तहरत्वे; तथा तिक्त-कषाययोः कटुविपाकयोरपि वातकर्तृत्वे बद्धविण्मूत्रतायां च कटुकार्यकरत्वं, न पुनः पित्तकर्तृत्वे; अचिन्त्यत्वात् प्रभावस्य। एतदेवोक्तं माधवेनापि—"स्वाद्वादीनां स्वादुपाकः सुश्रुताचार्यसंमतः। तत् कथं पित्तजननौ स्यातामम्ल-पटू रसौ। कटुपाकौ कथं पित्तनाशनौ तिक्त-तूवरौ।" इति। सिद्धान्तेऽपि—"अम्ल-पट्वोः फलं विद्यात् स्वादुपाकः, कटुः पुनः। कषायतिक्तयोरित्थं सुश्रुताचार्यसंमतः॥" इति। ननु, पञ्चभूतात्मके देहे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आहारः पाञ्चभौतिकः। विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत्॥" (सु. सू. स्था. अ. ४६) इत्यनेन पञ्चधाऽपि विपाकस्तेनैवोक्तः, तत् कथं न विरोध इति चेत्; नैवम्, उपाधिदेभेन विरोधाभावात्; तत्र हि भूतभेदमवलम्ब्य पञ्चधात्वम्, अत्र तु लाघव-गौरवरूपं भूतगुणद्वैविध्यमाश्रित्य द्वैविध्यमुक्तमिति न विरोधः; यथा—पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि द्रव्याणां सौम्याग्नेयत्वाद् द्वैविध्यमिति। यत् पुनः सुश्रुतेनाम्लपाको न मन्यते तच्चरकमतानुयायिनो न सहन्ते, यतोऽम्लपाकतयैव व्रीहिकुलत्थादीनां पित्तकर्तृत्वमुपपद्यते; अथ मन्यसे—व्रीह्यादेरुष्णवीर्यत्वेन तत्र पित्तकर्तृत्वं? तदसत्, मधुरस्य व्रीहेस्तन्मते मधुरविपाकस्योष्णवीर्यतायामपि सत्यां न पित्तकर्तृत्वमुपपद्यते, रस-विपाकाभ्यामेकस्य वीर्यस्य बाधनीयत्वात्; किंचाम्लपाकत्वाद् व्रीह्यादेः पित्तमम्लगुणमुत्पद्यते, यदि तूष्णवीर्यकृतं स्यात्तदा कटुगुण-भूयिष्ठं पित्तं स्यात्, दृश्यते च—व्रीहिभक्षणादम्लोद्गारादिनाऽम्लगुणभूयिष्ठतैवेति; किंच 'पृथिवी-सोमगुणातिरेकान्मधुरः पाको भवति, वाय्वग्न्याकाशातिरेकाच्च कटुर्भवति' इति पक्षे यदा व्यामिश्रगुणातिरेको भवति, तदा सोमाग्न्यात्मकस्याम्लस्योत्पादः कथं प्रतिक्षेपणीयः; अथवा तन्त्रकारयोः किमनयोरनेन वचनमात्र-विरोधेन कर्तव्यं, यतो यदम्लपाकं चरको ब्रूते तत् सुश्रुतेन वीर्योष्णमिति कृत्वा समाधीयते, अनेन न कश्चिद् द्रव्यगुणे विरोधः। यत्तु सुश्रुते ऽम्लपाकनिरासार्थं दूषणमुच्यते—"पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैति" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादिना, तदनभ्युपगमादेव निरस्तमिति (शि.)॥

विपाकस्तूच्यते—विपाकस्तु प्रायः स्वादुः स्वादु-लवणयोः, अम्लोऽम्लस्य, कटुरितरेषाम्। —अ. सं. सू. अ. १७

स्वाद्वम्ल-कटुकास्त्रयो विपाकाः। तत्र मधुरद्रव्यस्य सर्वस्य मधुरविपाकित्वं, तद्वल्लवणस्य; अम्लो विपाकोऽम्लस्यैवः; शेषाणां कटुः। विपाकस्तु जठराग्निविपाकस्तु जठराग्निसंयोगे परिणामवशाद् द्रव्यस्य रसस्य स्वरूपान्तरप्रादुर्भावः (इन्दुः)॥

पराशरस्तु पठति—

पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते, कटुः कटुकम्।
चत्वारोऽन्ये मधुरं, संकीर्णरसास्तु संकीर्णम्॥
कटु-तिक्त-कषायाणां कटुको येषां विपाक इति पक्षः।
तेषां पित्तविघाते तिक्त-कषायौ कथं भवतः॥

—अ. सं. सू. अ. १७

पराशरनामा मुनिर्विपाकमन्यथा पठितवान्। पाकास्त्रयो रसानामित्यार्याद्वयं पराशरपठितमनुपठति। सर्वेषां रसानां त्रयो विपाकाः—मधुरः, अम्लः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटुश्च। तत्राम्लरसोऽम्लविपाकः, कटुरसः कटुविपाकः, चत्वारोऽन्ये शेषा मधुर-लवण-तिक्त-कषाया मधुरविपाकाः। संकीर्णरसानां मिश्ररसानां संकीर्ण-विपाकित्वम्। स तु पराशरस्तिक्त-कषाययोर्मधुरविपाकित्वमिच्छति, अन्ये त्वाचार्यास्तावेव कटुविपाकाविच्छन्ति, तन्मतं दूषयितुकामः पराशर आह—ये आचार्याः कटु-तिक्त-कषायाणां कटुविपाकित्वमिच्छन्ति तेषां तिक्त-कषाययोः पित्तहरत्वं न संभवति, मन्मते तु तयोर्मधुरविपाकित्वात् पित्तहरत्वं संभवतीति पराशरः। तच्च न चतुरस्रमिति मन्यामहे। यतः पित्तहर्तृत्वं रसस्यैव स्वरूपम्। कटुस्तु विपाको यत्र स्वल्पोऽपि भवति न तत्र कटुः स्वकार्यं करोति "यद्यद् द्रव्ये रसा दीनां" (अ. सं. सू. अ. १७) इति न्यायात्। तथा च—तिक्तरसस्य कटुविपाक-स्यापि निम्बस्य पित्तहरत्वमेव। यत्र च विपाकस्य कटोराधिक्यं तत्र तस्य पित्त-कर्तृत्वमेव। यथा—तिक्तरसेऽपि द्रव्ये कटोर्विपाकस्याधिक्याद् बृहतीद्वयस्य पित्तकरत्वम्, एवं कषायेऽपि कल्पनीयम्। एवं रसस्यैव स्वभावः पित्तहरत्वम्। यतश्च तिक्तरसे कषायरसे च द्रव्ये नैसर्गिकेण बलेन रस-वीर्याभ्यां विपाकः प्रायेणाभिभूयते, अत उच्यते—तिक्त-कषायौ पित्तहरावित्यस्माभिः, अतः पराशर-मतमचतुरस्रमिव (इन्दुः)॥

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्ल-कटुकात्मकः॥

—अ. सं. सू. अ. १, अ. हृ. सू. अ. १

स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः।
तिक्तोषण-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटु॥

—अ. हृ. सू. अ. ९

विपाकस्त्रिविधः सर्वद्रव्याणां परिणामकालभावी कार्यानुमेयो जठराग्नि-सम्बन्धाद्रसस्य स्वरूपान्तरप्रादुर्भावः स त्रिधैव, रसषट्त्वेऽपि न षोढा। तेन किञ्चित् स्वादु-विपाकं, किञ्चिदम्लविपाकं, किञ्चित् कटुविपाकं द्रव्यम्। तत्र मधुर-लवणयोर्मधुरो विपाकः, अम्लस्याम्लः, तिक्त-कटु-कषायाणां कटुकः। स च कार्यानु-मेयः। तथा च वक्ष्यति—"जाठरेणाग्निना योगात्" (अ. हृ. सू. अ. ९) इत्यादि। × × ×। अत एव सोपसर्गः पाकशब्दस्य उपात्तः विशिष्टः पाको विपाकः, न पाक-मात्रस्वरूपः। तथा च भट्टारकचरकमुनिः 'रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया। वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते॥" (च. सू. अ. २६)। एवं कर्मनिष्ठानुमित एकरूपावस्थो जाठराग्निसंयोगाद्यो रसानां रसान्तरोद्भवः, स एव विपाकः; न तु यो जाठराग्निसंयोगमात्राद्रसानामनेकावस्थः प्राङ्मधुरो-ऽनन्तरं स एव पच्यमानोऽम्लस्ततो विपच्यमानः स एव कटु विपाकः। स्वादुः मधुरो गुडादिः, पटुः लवणः सैन्धवादिः, मधुरं यथा भवति तथा कृत्वा पच्यते

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रस इति संबन्धः। मधुरमिति क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकलिङ्गम्। स्वादुः स्वादुविपाकः, लवणोऽपि स्वादुविपाक इत्यर्थः। अम्लो रसो दधि-काञ्जिकादिः, अम्लं पच्यते अम्लविपाको भवति। तिक्तोषण-कषायाणां प्रायशः कटुविपाको भवति। प्रायशोग्रहणं पूर्वत्रापि योजनीयम्। तेन व्रीहिस्थो मधुरो रसोऽम्लं पच्यत इत्युपपन्नम्। तथा चोक्तं—"स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः" (अ. हृ. सू. अ. ६) इति। तथा, हरीतक्या भूयस्त्वेन यः कषायो रसः स मधुरमेव पच्यते। तथा कटुको रसः शुण्ठ्यार्द्रकपिप्पल्यादिस्थो मधुरं पच्यते। तथा चोक्तं—"कषाया मधुरा पाके" (अ. हृ. सू. अ. ६) इति। तथा "नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत् रुच्यं लघु स्वादुपाकं" (अ. हृ. सू. ६) इति, "तद्वदार्द्रकम्" इति। तथा—"श्लेष्मला स्वादुशीताऽऽर्द्रा" इत्यारभ्य यावत् "स्वादुपाका" (अ. हृ. सू. अ. ६) इति। अत्र केचिदाहुः—तिक्त-कषाययोरेव कटुविपाकतया पित्तकर्तृत्वमापद्यत इति। तदेतदसत्, शीतवीर्यत्वेनैतयोः पित्तहर्तृत्वात्। वीर्यं हि रसविपाकौ विजयते। वक्ष्यति हि—"रसं विपाकस्तौ वीर्यं" (अ. हृ. सू. अ. ९) इति (अ. द.)। विपाकत्रैविध्यमाह—स्वादुरिति। स्वादुः पटुश्च मधुरो लवणश्च मधुरं पच्यते पक्वो मधुरत्वं यातीत्यर्थः। मधुरमिति क्रियाविशेषणम्। पच्यत इति कर्मकर्तर्यात्मनेपदम्। एवमम्लो रसोऽम्लं पच्यते। तिक्तादीनां त्रयाणां कटुको विपाकः। मधुरस्यापि व्रीहेर्विपाकेऽम्लत्वात्, लवणस्यापि सौवर्चलस्य कटुविपाकत्वात्, अम्ल-तिक्तोषणानामपि दाडिम-पटोल-पिप्पलीनां मधुरविपाकत्वात्, कषायस्यापि कुलत्थस्याम्लविपाकत्वात् 'प्रायश' इत्युक्तं; मतान्तरसंग्रहार्थं च। तत्र द्वौ विपाकाविति सुश्रुतः (सु. सू. अ. ४०।११)—"द्रव्येषु पच्यमानेषु" इत्यादि। × × ×। षोढा पाकस्तु संग्रहे निरस्तः यथारसं जगुः पाकान् षट् केचित्तदसांप्रतम्। यत् स्वादुव्रीहिरम्लत्वं न चाम्लमपि दाडिमम्॥ याति तैलं च कटुतां कटुकाऽपि न पिप्पली। यथारसत्वे पाकानां न स्यादेवं विपर्ययः॥" (अ. सं. सू. अ. १७) इति (हे.)॥

अब चरक मत से विपाक का निरूपण किया जाता है—कटु, तिक्त और कषाय इन तीन रसों (रसवाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः कटु (कटुरसवाला) होता है। अम्लरस (अम्ल रसवाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः अम्ल होता है तथा मधुर और लवण रस (रसवाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः मधुर होता है।

वक्तव्य—'प्रायः' शब्द से यह बताया गया है कि किसी-किसी द्रव्यका विपाक इससे विपरीत भी होता है। जैसे सोंठ, छोटी पीपल आदि द्रव्य कटु रसवाले होने से उनका विपाक कटु होना चाहिये, परन्तु उनका विपाक कटु न होकर मधुर होता है। एवं कुलथी कषाय रसवाली होनेपर भी उसका विपाक अम्ल होता है; हर्र कषाय रसवाली और आँवले अम्ल रसवाले होनेपर भी उनका विपाक मधुर होता है;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मधुर रसवाले व्रीहीका विपाक अम्ल होता है; तैल मधुर रसवाला होनेपर भी उसका विपाक कटु होता है; सोंचर (काला नमक) लवण होनेपर भी उसका विपाक कटु होता है; पटोल (कडुआ परवल) तिक्त रसवाला होनेपर भी उसका विपाक मधुर होता है। इससे मालूम होगा कि ऊपर जो रसों के विपाक लिखे गये हैं उनमें अपवाद भी देखे जाते हैं, इसलिये 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया है। द्रव्यगुण के प्रकरण में जहाँ रस के अनुगुण (समान) विपाक होता है वहाँ प्रायः रसनिर्देश से विपाक का भी निर्देश किया गया है। परन्तु जहाँ रस से विपरीत विपाक होता है वहाँ विपाक का स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है।

ऊपर विपाक (निष्ठापाक-अन्तिमपाक) और अवस्थापाक का लक्षण लिखा है। इससे मालूम होगा कि कटु, तिक्त और कषाय इन तीनों रसों से (रसवाले भुक्त द्रव्यों से) अवस्थापाक में तत्तत्स्थानविशेष के सम्बन्ध से आम, पच्यमान और पक्व इन तीन अवस्थाओं में क्रमशः मधुर, अम्ल और कटु ये तीन रस बढ़कर मलरूप कफ, पित्त और वात की वृद्धि होती है, परन्तु जठराग्नि की क्रिया समाप्त होकर जब रस और मल का पृथक्करण (रसमलविवेक) होता है तब कटु, तिक्त और कषाय रस आद्य रसधातु जो कि सारे शरीर का पोषण करता है, उसमें कटु रस के रूपमें उत्पन्न होकर रहते हैं और वह कटुविपाक शुक्रक्षय, बद्धविण्मूत्रता (मल-मूत्र का अवरोध) और धातुरूप[1] वात की उत्पत्ति इन कार्यों से अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार अम्लरस भी जठराग्नि (अवस्थापाक) की क्रिया समाप्त होने पर रस और मल के पृथक्करण के समय में आद्य रसधातु में अम्ल रस के रूप में उत्पन्न होकर रहता है और धातुरूप पित्त की उत्पत्ति, सृष्टविण्मूत्रता (मल-मूत्र साफ होना) और शुक्र का क्षय इन लक्षणों से अनुमान किया जाता[2] है। मधुर और लवण रस भी जठराग्नि की क्रिया से तीनों अवस्थापाकों की समाप्ति होनेपर रस और मल के पृथक्करण के समय में आद्य रसधातु में मधुररूप में उत्पन्न होकर रहता है और धातुरूप कफ तथा शुक्र की उत्पत्ति और मलमूत्र के साफ होने से अनुमान किया जाता[3] है। इस प्रकार तीन दोषों की उत्पत्ति (पोषण) के लिये छहों रसोंवाले द्रव्यों के कटु, अम्ल और मधुर तीन विपाक आत्रेय सम्प्रदाय के अनुयायियों ने माने हैं।

पराशरमुनि कहते हैं कि मधुरादि छहों रसों का तीन प्रकार का विपाक होता है। अम्लरस का विपाक अम्ल होता है, कटु रस का विपाक कटु होता है और शेष चार (मधुर, लवण, तिक्त और कषाय) रसों का विपाक मधुर होता है; संकीर्ण

१—"शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।" —च. सू. अ. २६
२—"पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।" —च. सू. अ. २६
३—"मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः।" —च. सू. अ. २६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(मिश्र) रसों का विपाक संकीर्ण होता है। अपने पक्ष के समर्थन में पराशर कहते हैं कि--जो आचार्य (चरकादि) कटु, तिक्त और कषाय इन तीनों रसों का कटु-विपाक मानते हैं उनके मत में तिक्त और कषाय ये दो रस पित्तनाशक नहीं हो सकते, और अनुभव ऐसा है कि ये दो रस पित्तनाशक हैं। मेरे (पराशर के) मत में तिक्त और कषाय दोनों का विपाक मधुर होने से दोनों पित्तनाशक हो सकते हैं। चरकमतानुयायी पराशर के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि;--तिक्त और कषाय ये दोनों रस कटुविपाकवाले होनेपर भी शीतवीर्य होने से पित्त का नाश करते हैं, क्योंकि वीर्य रस और विपाक दोनों का पराभव करके अपना कार्य करता है। अतः तिक्त और कषाय रस का कटुविपाक मानने में कोई दोष नहीं है।

सुश्रुतमतेन विपाकप्राधान्यनिरूपणं, विपाकनिरूपणं च--

नेत्याहुरन्ये, विपाकः प्रधानमिति[1]। कस्मात्? सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वात्[2]; इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपक्वानि

१--**विपाकस्य प्राधान्यं प्रत्येके ब्रुवते** (र. वै. सू. अ. १. सू. १४१)।--विपाकसादगुण्ये तीक्ष्णाग्नीनां न दोषकराधिकपाकाः (भा.)। **तन्निमित्तत्वात् प्रशमनवर्धनयोः** (सू. १४२)।--दोषाणां प्रशमन-वर्धने तन्निमित्ते; सम्यक् पक्वेनाहारेणौषधेन वा दोषाः प्रशमं यान्ति, असम्यक्पक्वेन वृद्धि गच्छन्तीति। तस्मात् तयोरायुर्वेदसारभूतयोः साधनाद् विपाकः प्रधानम्। यद् वृद्धि-प्रशमन-हेतुः तत् प्रधानं दृष्टं, यथा--उत्पत्ति-प्रलयकारणं त्रिगुणं प्रधानमिति (भा.)। किंच, **धातूपदेहात्** (सू. १४३)।--धातूनामुपचय उपदेहः। पूर्वोक्तेनैव किमेतन्न सिद्धम्? तत्र व्याध्युत्पत्तिप्रशमनमभिप्रेतम्, अत्र प्रतिदिवसं स्वस्थस्य धातुवृद्धिरिति (भा.)। किंच, **विपाकापेक्षत्वादितरेषां, प्रायशो विपाकसादगुण्ये च गुणवतामप्यदोषात्** (सू. १४४)।--विपाकात् तीक्ष्णाग्नीनां न दोषकरमिति (भा.)। **विपाकवैगुण्ये गुणवतामपि दोषात्** (सू. १४५)। --पथ्याहरस्याप्यसत्पाके सति व्याधिकरत्वादिति (भा.) **शास्त्रप्रामाण्यात्** (सू. १४६)।--किंच, शास्त्रेऽपि "जीर्णेऽशनतः कुमारस्य त्रितयं त्रिषु वर्त्मसु। यथावद् वर्तते नित्यं हिताहितनिषेवणात्॥" इति। विपाकसादगुण्ये इत्यादीनां त्रयाणां वाक्यानामप्ययमागमोऽर्थसाधनः (भा.)। किञ्च **तदभावे चिकित्साभावात्** (सू. १४७)।--तस्य विपाकस्याभावे मूलत एव चिकित्सा न स्यात् अग्निना ह्यपक्वानामौषधानां कार्यकरणं नास्तीति (भा.)। किंचान्यत्? **आरोग्यप्रयोजनत्वादायुर्वेदस्य, सम्यग्विपाके तदुपलब्धेः** (सू. १४८)।--समस्तस्य तंत्रस्य प्रयोजन-भूतस्यारोग्यस्य साधनापाकः प्रधानम्। कथं! सम्यग्विपाके सति तच्चारोग्यं भवतीति (भा.)। किंच, **सर्वशरीरप्रदोषात् तस्मिन् दुष्टे** (सू. १४९)।--विसूच्यलसकादिषु सर्वशरीरप्रदोषो दृष्टः। तत्र शरीरग्रहणेन शरीरावयवा दोषाः परिगृहीताः। सर्वदोषप्रकोपादित्यर्थः (भा.)। किंच **सर्वशरीरानुग्रहात्** (सू. १५०)।--इत्येतदप्यनेनैव गतार्थम् (भा.)।

२--'विपक्वत्वात्' इति पाठान्तरम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणं दोषं वा जनयन्ति। तत्राहुरन्ये[1]--प्रतिरसं पाक इति, मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति; दृष्टान्तं चोपदिशन्ति--यथा शालि-यव-मुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति। केचित् पुनरबलवन्तो बलवतां वशमायान्ति, तस्मादनवस्थितः पाक इति। केचित् त्रिविधमिच्छन्ति--मधुरं, अम्लं, कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक्, भूतगुणादागमाच्चाम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात्; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति। आगमस्त्वाह--द्विविध एव पाको मधुरः, कटुकश्च; तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति तद्गुणसाधर्म्याद् गुरुता, लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि; तस्माद् द्विविध एव विपाक इति॥

भवन्ति चात्र--

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बु-पृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते॥
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते॥

--सु. सू. अ. ४०

विपाकप्राधान्यवादिमतं वीर्यवादिमतं निषेधयित्वा प्राह--नेत्याहुरन्ये इत्यादि। विपाकः प्रधानमिति प्रतिज्ञा। विपाकशब्देनेह लक्षणया अभ्यवहृतद्रव्यपाकाधेय आहारस्य रसविशेषो गौरवेण लाघवेन वा युक्तोऽभिधीयते; विशिष्टो नैष्ठिकः पाको विपाक इत्यर्थः। अत्र हेतुः--सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वादिति। अस्यार्थं

१--अयं चक्रपाणिदत्तसंमतः पाठः; डल्हणस्तु "तत्राहुरन्ये--प्रतिरसं पाक इति। केचित् त्रिविधमिच्छन्ति--मधुरमम्लं, कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक् भूतगुणादागमाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात्; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति। मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहुः; दृष्टान्तं चोपदिशन्ति--यथा तावत् क्षीरमुखागतं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्; यथा वा शालि-यव-मुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति। केचिद्वदन्ति--अवलवन्तो बलवतां वशमायान्तीति। एवमनवस्थितिः, तस्मादसिद्धान्त एषः। आगमें हि द्विविध एव पाको "मधुरः, कटुकश्च" इत्यादिपाठं पठति, तथैव च व्याख्यानयति।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्याकरोति--सर्वद्रव्याणीत्यादि। सम्यग्विपक्वानि गुणं, मिथ्याविपक्वानि दोषं, जनयन्ति। सम्यक्पाकः समेनाग्निना, मिथ्यापाकस्तु हीनातिपाकरूपो यथाक्रमं मन्देन तीक्ष्णेन वाऽग्निना क्रियते। तत्र हीनपाके आमविकाराः, तीक्ष्णपाके च भस्मकविकारा दोषाः; समपाके तु धातुसाम्यं गुणश्च। अयं च पाको यद्यपि जठराग्न्यधीनः सर्वाहारसाधारणो न तु द्रव्याधीनो द्रव्यगुणरूपो य इहाधिकृतः "पिप्पल्यो मधुर-विपाकाः" (सू. सू. अ. ४६), "आर्द्रं मधु कटुविपाकम्" (सु. सू. अ. ४५) इत्यादिना प्रतिपादनीयः। अयमेवहि पाक एतत्प्रकरणसिद्धान्ते च "तद् द्रव्यमात्मना किंचित्" (सु. सू. अ. ४०), इत्यादौ दर्शितः। तथा ह्युभयोरपि पाकयोरग्न्याधेयान्त्यपाकरूपतया एकत्र प्राधान्ये साधितेऽपरत्रापि सिद्धं भवतीति ग्रन्थार्थो नेयः। किंवा सम्यक्पाको द्रव्यानुगुणः पाकः; यथा--"चित्रकः कटुकः पाके" (सु. सू. अ. ४६), तथा "क्षीरं मधुरं रस-पाकयोः" (सु. सू. अ. ४५), इत्यादि। अत्र हि द्रव्यगुणसदृश एव पाकः। मिथ्यापाको तद्द्रव्यगुणविसदृशः पाकः; यथा--"पिप्पल्यः कटुकाः सत्यो मधुरविपाकाः" (च. वि. अ. १) इत्यादौ। गुणं दोषं वा जनयन्तीति सम्यक्पाके तथा मिथ्यापाके च प्रत्येकं योजनीयम्। तेन द्रव्यगुणानुगुणो हि मधुरः पाकः सृष्टविण्मूत्रादिगुणं, कफजननं दोषं च, करोति; तथा द्रव्यगुणविसदृशश्च पिप्पल्याः कटुकाया मधुरः पाको यथोक्तं गुणं दोषं वा करोति। अस्मिन् व्याख्याने अभिमतव्याख्याधीनपाकप्राधान्ये हेतुरुक्तो भवतीति नासङ्गतार्थत्वमस्य; यस्माद्रसं वीर्यं च तिरस्कृत्यान्त्यो विपाको गुणं दोषं वा जनयति, तेन विपाकः प्रधानमिति। संप्रति स्वाभिमतविपाकस्वरूपं दर्शयितुं पराभिमतविपाकानुपन्यस्यति--तत्राहुरन्ये इत्यादि। प्रतिरसपाकमेव विवृणोति--मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्येत्यादि। अत्र दृष्टान्तमाह--यथेत्यादि। प्रकीर्णा इति उप्ताः, तेन यथा शालि-यवादय उप्तप्ररूढाः फलिताश्च शालि-यवादि स्वरूपा एव भवन्ति, एवं मधुरादयोऽपि निष्ठापाकेऽपि मधुरादिस्वरूपा एव भवन्ति। अत्रैव पक्षे मतान्तरमाह--केचित् पुनः इत्यादि। अबलवन्तो रसा अल्पतया, बलवतामिति उल्बणानां रसानां, वशतां पराधीनताम् अल्पतामिति यावत्; तेन निष्ठापाकेन बलवता दुर्बलरसाभिभवाच्च प्रतिनियमेन मधुरस्य मधुर एव पाकोऽम्लस्य वाऽम्लः पाक इत्यादि प्रतिनियमाभावादनवस्थितः पाक इत्यर्थः। मतान्तरं चरकस्याह--केचित् त्रिविधमित्यादि। एतच्च मधुरादिपाकत्रयं नैष्ठिकं; चरकमतं क्वचिद्रसद्वाराऽभिहितं यथा--'कटु-तिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः। अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा;।" (च. सू. अ. २६); क्वचिद् द्रव्यद्वाराऽभिहितं, "पिप्पल्यः कटुका मधुरविपाका" (च. वि. अ. १) इत्यादि। यत्त्ववस्थापाके मधुरत्वादि स्थानमहिम्ना "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुरः प्राक् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते।" (च. चि. अ. १५)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इत्यादिना चरकोक्तं तन्नैष्ठिकपाकाभावादेवेहानधिकृतम्। उक्तानि परमतानि दूषयति—तत्तु न सम्यगिति। अत्र हेतुः—भूतगुणादिति। अत्र च 'पाकात्' इति शेषः। तत्र 'तत्र पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति' इत्यादिना वक्तव्यगुरु-लघुलक्षणद्वैविध्येन द्विविधस्यैव पाकस्योपपन्नत्वादित्यर्थः। आगमादिति आगमस्त्वाह इत्यादिना दर्शनीयागमात्। पित्तस्य तु विदाहावस्थायाम्लपाकता भवति, तया समं पाकत्रैविध्यं येऽभिमन्यन्ते तन्मतं चतुर्थलवणपाकप्रसंगेन दूषयन्नाह—पित्तं हि विदग्धमित्यादि। आगमादिति यदुक्तं तद् व्याकरोति—आगमस्त्विहेत्यादि। आगम इह धन्वन्तरिवचनं; तमनुवदति—'द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च' इति। मधुर-कटुकपाकयोर्यथाक्रमं गुरुतां लघुतां च चिकित्सोपयुक्तां दर्शयति—तयोर्मधुराख्य इत्यादि। मधुरे गौरवस्य कटौ च पाके लाघवस्योपपत्तिं दर्शयन् भूतगुणादिति हेतुं च व्याकरोति—तत्र पृथिवीत्यादि। पञ्चानां भूतानां कथं द्वैविध्यमित्याह—तद्गुणसाधर्म्यादिति। अम्लपाकतया पित्तकरत्वं यथा—"मधुरश्चाम्लपाकश्च व्रीहिः पित्तकरो गुरुः।" (च. सू. अ. २७) "उष्णा कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः। कुलत्थाः" (च. सू. अ. २७) इत्यादौ; तथा विपाकगुणे "पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।" (च. सू. अ. २६) इति चरकोक्तं, तत्सर्वं सुश्रुते उष्णवीर्यकार्यं क्वचिद् द्रव्यस्वभाव इति च स्वीक्रियते। तेन प्रमेये द्रव्यगुणे चरक-सुश्रुतयोर्विप्रतिपत्तिर्नास्त्येव। यत्त्वत्र वक्तव्यं "पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पाञ्चभौतिकः। विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणान् परिवर्धयेत्॥" (सु. सू. अ. ४६) इत्यनेन पञ्चधा पाकोऽभिहितः, स द्रव्यस्वरूपचिन्तनीयो नैतत्पाकद्वयविरोधी; यथा पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि द्रव्याणां सौम्याग्नेयत्वाद् द्वैविध्यं भवति। या तु चरके अवस्थापाकाभिधाने अन्तिमपाके कटुताऽभिहिता—"पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥" (च. चि. अ. १५) इत्यनेन, सा वातप्रकोपमात्रे हेतुः, न नैष्ठिकमधुरपाकाधेयसृष्टमूत्रपुरीषता—सम्यक्शुक्रजननादिविरोधिनीति न विरोधः (च. द.)। अपरं विपाकवादिमतं निर्दिशन्नाह—नेत्याहुरित्यादि। नेत्याहुरन्ये वीर्यं प्रधानमिति केचिन्न ब्रुवते। तर्हि किं प्रधानं? विपाकः प्रधानमिति; विशिष्टः पाको विपाकः। सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानीति इह सर्वशब्दो वामनीयद्रव्याणि वर्जयित्वा ज्ञेयः। गुणं दोषं वा जनयन्तीति गुणं सम्यग्विपक्वानि, दोषं मिथ्याविपक्वानि। प्रतिरसं पाक इति रसं रसं प्रति पाक उत्पद्यत इत्यर्थः। तत्तु न सम्यक्, त्रैविध्यं न सम्यगित्यर्थः। कथं पुनस्त्रैविध्यं न सम्यगित्याह—भूतगुणादित्यादि। एतेन त्रैविध्यं निरस्तम्। प्रतिरसं पाक इति पूर्वोक्तं स्थापयन्नाह—मधुरो मधुरस्येत्यादि। अम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहुरिति पदच्छेदः। दृष्टान्तं चोपदिशन्तीति प्रतिरसपाके इत्यर्थः। उक्तागतं स्थाली-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गतम्। प्रकीर्णा इति भूमौ निक्षिप्ताः फलितपर्यन्ता इत्यर्थः। तद्वदिति एवं रसा अपि जठराग्निपक्वाः स्वं स्वं मधुरादिकं न त्यजन्ति। तस्मादित्यादि—तस्मात् केचित् प्रतिरसं पाकः, केचिद् त्रिविधः, अन्येऽबलवन्तो बलवतां वशमायान्तीति मतानामनियतत्वं; तस्मादसिद्धान्त एष अनागम एष इत्यर्थः। स्वमतमिदानीं दर्शयन्नाह—आगमे इत्यादि। आगमे शास्त्रे। अन्ये 'आगमस्त्विह' इति पठन्ति! तत्र तु शब्दोऽप्यर्थः; अथवा विशेषार्थस्तुशब्दः, तेन प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धोऽपि शिष्टागम इत्यर्थः; अथवा, आगमशब्दोऽयं सिद्धान्तवचनः, तेन सिद्धान्तः पुनरिहेत्यर्थः। पृथिव्यप्तेज इत्यादि। पृथिव्यादीनां गुणसाधर्म्याद् गुणसमानतया द्वैविध्यं भवतीत्यर्थः। गुणमेवाह—गुरुता लघुता चेति। भवन्ति चात्रेत्यादि। निर्वर्तन्तेऽधिका इति जायन्ते उत्कटा इत्यर्थः (ङ)। वीर्यप्राधान्यवादिमतमवमत्य 'विपाकः प्रधानम्' एवंवादिनो मतमनुसंधत्ते—नेत्यादिना। × × ×। सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वादिति सम्यक् मिथ्या वा विपाको येषां तेषां भावस्तस्मात्। सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वादेव द्रव्याणां कार्यकरत्वात् विपाकः प्रधानमित्येव स्फुटीकृत्यावगमयति—इहेत्यादिना। सर्वशब्देनेह वमनादितरद्रव्याण्येवाभिप्रेयन्ते, तस्य विपाकमन्तरेणैव कार्यकरत्वात्। अत्र द्रव्यगुणानुरूपो निष्ठापाकः सम्यग्विपाक उच्यते, तद्विपरीतस्तु मिथ्याविपाकः। तयोराद्यः कटुकश्चित्रकः पाकेऽपि कटुक इत्यादौ, द्वितीयस्तु कटुका पिप्पली पाके मधुरा इत्येवमादौ बुभुत्सितव्यः। गुणं दोषं वेति वाशब्दश्चार्थे, सम्यग्विपक्वानि मिथ्याविपक्वानि वा गुणं दोषं च जनयन्तीत्यर्थः। तद्यथा—सम्यग्विपक्वश्चित्रकोऽग्निसंदीपनादिरूपं गुणं, रुद्धमूत्रत्वादिरूपं दोषं च जनयति; मिथ्याविपक्वा पिप्पली च शुक्रवर्धनादिरूपं गुणं, प्रक्लेदजननादिरूपं दोषं च, जनयति। यदाह चरकः—"पिप्पल्यः कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुर्व्यो नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यः" (च. वि. अ. १) इति। यद्वा अग्निसाम्यान्न हीनं नापि चाधिकं निष्ठापाकः सम्यग्विपाकः, तदन्यस्त्वग्निवैषम्यान्मिथ्याविपाकः। तत्र सम्यग्विपाके यथोक्ता गुणाः, मिथ्याविपाके चामादिदोषाः संभवन्तीत्यायुर्वेदविदो भाषन्ते; तस्माद्वीर्यमपि विपाकाधीनं भवतीति निश्चीयते विपाकविशेषेण तद्विशेषादित्यतः "रसं विपाकस्तौ वीर्यं" (च. सू. अ. २६) इत्यस्यानादरादुपपन्नं भवति—सम्यङ्मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्तीति। नातो विपाकप्राधान्यं प्रति न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्ययमभिसंधिः। संप्रति स्वाभिमतं विपाकप्रकारद्वयमुपदिदिक्षुः प्रथमं तावत् षड्विधविपक्वादीनां त्रिविधविपाकवादिनां च मतमुपन्यस्य दूषयति—तत्राहुरन्य इत्यादिना लवणतामुपैति इत्यन्तेन संदर्भेण। भूतगुणादिति भूतशब्देनेह प्रत्यासत्त्या भूम्यग्नी अभिधीयेते, वक्ष्यति हि "भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः" (सु. सू. अ. ४२) इति; तथा चाम्लगता ह्यग्निगुणा विपाचकाग्निगुणैः सामान्यादभिवृद्धचा,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अल्पानां स्थूल-सार-सान्द्रादीनां विरुद्धानां तत्रस्थानां भूमिगुणानामवजयाय भवन्ती-त्यम्लो रसोऽग्निगुणबाहुल्यात् कटु विपच्यते नैवाम्लं, तदिदमुपपन्नं भवति—भूत-गुणादिति। चैवंगते "तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यनागता-वेक्षणादनयैव युक्त्या कटुविपाकमर्हो लवणो रसः कथं मधुरं विपच्यत इति वाच्यम्, तोयस्याग्न्यवजयस्वभावदर्शनात्। दृढ़प्रतिपत्तये हेत्वन्तरमुपन्यस्यति—आगमा-च्चेति। आगमस्तावत् "द्रव्येषु पच्यमानेषु" इत्यादिवक्ष्यमाणः। नन्वेतच्चेत्तत्त्वं कथं तर्ह्याहारोत्तरकालादौ छर्दयतामम्ल आगच्छेदित्याशंक्याह—पित्तमित्यादि। हिशब्दोऽवधारणार्थः। एतेन प्रतिरसविपाकवादिनस्त्रिविधविपाकवादिनश्च निरस्यन्ते, तथाविधस्याम्लस्य विपाकत्वानुपपत्तेः। न चैतावताऽपि त्रिविधविपाक-वादिनो निरस्यन्त एकान्तेन यथाकथंचित् पाकत्रैविध्यवादिनो हि ते तथाविधाम्लता-मादायैव त्रिविधं विपाकमिच्छन्तीत्येवं ये प्रत्यवतिष्ठन्ते तान्निरस्यन्नाह—यदी-त्यादि। यदीत्यभ्युपगमार्थः। एवमुक्तप्रकारश्चेदम्लः पाक इष्टस्तर्हि लवणोऽपि अन्यश्चतुर्थः पाको भविष्यतीति त्रैविध्यपरिहानिदुरपनेयेत्ययमभिसन्धिः। पुनरपि मतान्तरद्वितयमुपन्यस्य दूषयति—मधुर इत्यादिना। अम्लविपाकपरि-खण्डनेनैव खण्डिते अप्येते अन्यथा दूषणाय इहोपात्ते इत्यनुसंधेयम्। सर्वेषामिति संयुक्तासंयुक्तानाम्। उखागतं स्थालीस्थम्। प्रकीर्णा इति उप्ताः। उत्तरकाले प्ररोहकाले। अवलवन्तोऽणुत्वेन दुर्बलाः, बलवतां व्यक्तानां, वशमायत्ततामा-यान्तीति 'बलीयसा दुर्बलं बाध्यते' इति न्यायादिति भावः। अनवस्थितिरिति रसानु-रसकल्पनेन रसानामपरिसंख्येयत्वादित्यवधेयम्। यदाह चरकः—"त्रिषष्टिः स्याच्चसंख्येया रसानुरसकल्पनात्। रसास्तरतमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि॥" (च. सू. अ. २६) इति। एष द्विविधो विपाकवादमार्गः। स्यादेतत् परमार्थत-स्तु कतिविधः पाक इत्याह—आगम इत्यादि। हिशब्दः सिद्धान्तानुसरणार्थः। कुतस्तु खलु गुरुर्लघुश्चेति द्विविधोविपाको भवितुमर्हति, विपाको हि नाम रस-परिणामविशेष इति निश्चीयते "जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्। (अ. हृ. सू. अ. ९) इत्याद्यनुशासनात्; रसस्त्वाप्यः, आप्यश्च गुरुरिति विश्वजनीनस्फुटतरा प्रतीतिर्न शक्या वचनशतैरप्यन्यथयितुम्, न ह्यागमाः सहस्रमपि उष्णमग्निं शीतं कर्तुमीशत इत्याह—तत्रेत्यादि। तत्र विपाकाभिनिर्वृत्तौ पृथिव्यादीनां गुणसाधर्म्याद् गुरुत्व-लघुत्वधर्म्यसाम्याद् गुरुता लघुता चेति द्वैविध्यं भवति। साधर्म्यं भागशो दर्शयति—पृथिव्यापश्चेत्यादिना। एतेन पृथिव्यपां साधर्म्यं, शेषाणां तु लघुत्वम्, इत्याविष्कृतं भवति, तस्मात् पृथिव्या-दीनां द्वैविध्यादिपाकोऽपि द्विविध एव भवति, कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वेति उक्तमर्थं स्फुटीकृत्यावगमयति—द्रव्येष्वित्यादिना श्लोकद्वितयेन। अतिरोहितार्थ-मेतत् (हा.)॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विपाकविषये सुश्रुतमतानुयायिनो भदन्तनागार्जुनस्य मतम्--

परिणामलक्षणो विपाकः (र. वै. अ. १ सू. १७०) परिणामोऽर्थान्तरभावः, जीर्तिरित्यर्थः। एवं विदाहानामपि पाकावयवत्वं युज्यते (भा.)। अतः परं विपाकचिन्ता—यथारसं विपाकमेके ब्रुवते (र. वै. अ. ४ सू. ३१। यथारसं मधुरो मधुरं पच्यते, कटुकः कटुकं पच्यते, इत्येवमादि ; एवमेके आचार्या मन्यन्ते (भा.)। न, भिन्नलक्षणत्वात् (सू. ३२)। नायं पक्षः साधुः। कुतः ? भिन्नलक्षणत्वात्; 'आस्वादग्राह्यो रसः', 'परिणामलक्षणो विपाकः, इति। विपाकस्य मधुरता कथमास्वाद्यते ? यद्यास्वाद्येत, रसलक्षणत्वाद् रस एवेति। विपाकाभावः ; यदि नास्वाद्येत, कथं भवता 'मधुरं पच्यते' इत्युपलब्धमित्युक्तं भवति (भा.)। एवमुक्ते अपरस्त्वाह विपाकद्वयपक्षेऽप्ययं प्रसङ्गस्तुल्यः (सू. ३३)। कथमिति ? 'मधुरः' 'कटुक' इति द्वौ शब्दौ रसस्यास्वादग्राह्यस्य वाचकौ। कथमास्वादेन रसो गृह्यते ? भिन्नलक्षणत्वादिति (भा.)। एवमुक्ते यथारसविपाकप्रतिषेधिना मधुर-कटुकशब्दाभ्यामस्माभिर्न रसौ परिगृहीतौ, चिरादचिरादिति द्वौ कालौ परिगृहीतौ, इत्युक्ते परः प्राह--किमस्माकमपि रसशब्दानां कालवाचकत्वे प्रतिषेधो विद्यते ? (सू. ४) तस्मादत्रापि कालवाचका रसशब्दा इति (भा.)। अत्राह—शब्दान्तरेण कालस्य ग्रहणमिति चेत्, कतमे षट् कालाः ? (सू. ३५। शब्दान्तरेण कालवाचकादन्येन रसवाचकेन शब्देन यदि कालः परिगृहीत इति, कतमे षट् कालाः ? न सन्तीत्युक्तं भवति। अस्माकं पुनर्विद्येते द्वौ कालौ चिरात्, अचिरात्, इति (भा.)। तथा गुणाः (सू. ३६)। शब्दान्तरेण गुणा गृह्यन्ते। यथा—मधुराख्यो गुरुः पाकः, कटुकाख्यो लघुरिति। तच्च नापपद्यते, गुणमुखेनापि कालषट्कस्यासंभवादिति (भा.)। रसस्यैवेति चेत्; केनचित् कथंचित् कस्यचिच्च विपाकादसम्यक् (सू. ३७)। अयं तावन्मधुरशब्दस्त्वस्मदीये पक्षे न गुणवाचकः कालवाचको वा, तस्मान्मुख्य एव रसवाचकः स्यादिति चेत्, अस्माभिर्मुख्याभिधाने शब्दस्यासंभवाद् दृष्ट्वा गुणपक्ष आश्रित इत्युक्तं भवति। अनेन वाचकेन कथमसंभव इति ? केनचिद् विपाको रसेन भवति, अन्येनाग्निना भवति; एतदुक्तं भवति—अग्निसान्निध्यादग्निपाकः प्रवर्तमानः कथं जिह्वेन्द्रियसन्निकर्षग्राह्यरसार्थवाचकेन शब्देन मधुरः, कटुक इत्युच्यते तस्मान्न मुख्यशब्दार्थकल्पना युक्ता। कथंचिद्विपाकाच्च न रसस्यैव वाचको मधुरशब्दः। विपाकः प्रकारेण 'गुरुः, लघुः' इति कथ्यते। प्रकारः कालापेक्षया चिरादचिरादिति। एवमन्याकारापेक्षस्यार्थस्य विपाकसंज्ञकस्य कथं रसशब्देन कथनं मुख्यवचनं भवति। कस्यचिच्च विपाकान्न रसशब्दवाच्यत्वं यस्य कस्यचिद्भवति द्रव्यस्य वा पाकः, रसस्य वा, गुणस्य वा, वीर्यस्य वा, "द्रव्य-रस-गुण-वीर्याणां

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विपाकः[1]" (र. वै. अ. २, सू. ३७) इति वचनात्। तस्मादेवमन्यपदार्थवर्तिनः क्रियायां रसशब्दस्य मुख्यस्य प्रवृत्तिरुपपद्यत इति मधुर-कटुकशब्दाभ्यां रसवचनमसम्यगिति (भा.)। एकरसोपयोगे वाऽनेकोपलब्धेः (सू. ३८) एवं प्रसंगागतमपोह्य इदानीमपि यथारसत्वे विपाकस्यासंभवं प्रदर्शयन्नाह—एकेत्यादि। एकरसस्य मधुरस्य कटुकस्य वा उपयोगे अनेकस्य भिन्नस्य विपाकस्योपलब्धेर्न यथारसं विपाकः। यथा—मधुरं क्षीरं मधुरविपाकं, मधुरं घृतं कटुकविपाकं,[2] कटुका पिप्पली मधुरविपाका। यदि यथारसं विपाकः स्यात् मधुरेण घृतेन मधुर-विपाकेन भवितव्यं, तथा पिप्पल्याऽपि कटुकविपाकया भवितव्यमिति (भा.)। परोक्षत्वाच्चात्यन्तम् (सू. ३९) अयं चापरो हेतुर्यथारसविपाकपक्षबाधकः—परोक्षेत्यादि। अक्षाणां परतो वर्तत इति परोक्षं, परिणामकाले रसांना कथ-मुपलब्धिर्भवत्यन्यत्र वर्तमानत्वादिति। तस्यां रसानामनुपलब्ध्यां कथं यथा-रसत्वं ज्ञायत इति। भिन्नलक्षणत्वादित्यनेनैवास्यार्थस्य सिद्धेरिदं वाक्यान्तर नारब्धव्यमिति। अस्त्यत्र स विशेषः। कथमिति ? न भिन्नलक्षणत्वादि-त्यनेन विपाक-रसयोरेकत्वमेवेति। यथारसत्वे विपाकस्य परिकल्प्यमाने उभयो-रास्वादग्राह्यत्वादिति। तस्माल्लक्षणभेददर्शनान्नास्त्येकत्वमिति। परोक्षत्वा-दित्यनेन रसनेन्द्रियग्राह्यस्य विषयभावमेव नोपगच्छति विपाकः। कथं तस्य रसस्य च भेदः परिच्छिद्यत इति (भा.)। यथास्वं दोषवर्धनात् त्रय इत्येके (सू. ४०)। विपाकं प्रत्यन्यत् पक्षान्तरमाह—यथास्वमित्यादि। यथास्वयं दोषवर्धनाद्, यथा—मधुरो मधुरं श्लेष्माणम्, अम्लोऽम्लं पित्तं, कटुकः कटुकं वायुमिति (भा.)। न, क्षीरादानां बालानां सर्वदोषप्रकोपात् (सू. ४१)। त्रित्वप्रतिषेधार्थमिदमुच्यते—नेत्यादि। त्रयो विपाका इति नोपपद्यते। कुतः ? इति हेतोरसंभवात्। यथास्वं दोषवर्धनादित्ययमसिद्धः, क्षीरादानां बालानां मधुरविपाकं क्षीरमेवोपयुञ्जानानां त्रयोऽपि दोषाः प्रकुप्यन्ति, तस्मा-देकेन विपाकेन त्रयोऽपि दोषाः प्रकोपमुपयान्तीति विपाकनिमित्तः प्रकोपो न स्यात्। सर्वदोषप्रकोपादित्यत्र विपाकत्रयवादी प्राह—सर्वप्रकोपस्तत्रैकदोष-प्रकोपात् (सू. ४२) क्षीरपस्य सर्वदोषप्रकोपो न विपाकनिमित्तः। अत्र सर्वशब्दः शेषसाकल्यवाची। एकस्यैव श्लेष्मणः प्रकोपाद् भवति। "एकश्च दोषः कुपितः सर्वानेव प्रकोपयेत्।" इति (भा.)। न, प्रकोपदर्शनात्

१—ते चत्वारः पदार्थाः पच्यन्तेऽग्निना, तस्मादेतेषां पाकक्रिया पाकस्य विषयप्रदर्शनार्थमुक्ता। कर्मणः प्रयोगलक्षणस्याग्निना सान्निध्याभावाद् विपाक विषयता नास्ति (भा.)।

२—भाष्यकारोक्तं घृतस्य कटुविपाकत्वं चिन्त्यं, चरकाद्यैर्घृतस्य मधुर (गुरू)-विपाकत्वेनोक्तत्वात्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर्यायेण (सू. ४३)। अत्रोत्तरम्—नेत्यादि। यदि कुपितदोषघट्टननिमित्तः स्याच्छेषदोषप्रकोपः, सर्वकालं श्लेष्मप्रकोपपूर्वक एव स्यात्। एवं न भवति, पर्यायेण भवति। पर्याय आत्मनः पर्यायक्रमः, कदाचित् पित्तस्यैव, कदाचिद्वायोरेवेति। तस्मादेकदोषप्रकोपादिति न युक्तम् (भा.)। तत्रोपहतत्वाद् विपर्ययः पाकस्य (सू. ४४)। एवंपूर्वक एवासिद्धदोष इति व्यवस्थिते पर आह—तत्रेत्यादि। तत्र पर्यायेण प्रकोपे उपहतत्वाद् दुष्टत्वाद् विपाकस्य, मधुरविपाकं क्षीरं धात्र्यास्त्वपचारैर्दूषितमम्लविपाकं कटुकविपाकं वा भवति, तदा यथास्वं दोषवर्धनमेव भवति; तस्मात् त्रय एव विपाका इति (भा.)। संसृष्टस्यानुपपत्तिः (सू. ४५)। अस्मिन् पक्षेऽन्यथा दोषमुद्भावयति—संसृष्टस्येत्यादि (भा.)। प्रचितस्य प्रकोपात्, एकेन चानेकस्याप्रचयात्; प्रतिज्ञाहानिर्वा सति प्रचये (सू. ४६)। कथं संसृष्टस्यानुपपत्तिरित्याह—प्रचितस्येत्यादि। प्रचितो हि दोषः प्रकोपं गच्छति। एकैकविपाकेऽनेकस्याप्रचयात् प्रचयासंभवादित्यर्थः। दुष्टेन हि क्षीरेणाम्लेन कटुकेन विपन्नमाधुर्येण वा भवितव्यं, नहि युगपत् कटुकाद्यापत्तिः। तस्मादेकस्यैव प्रचयहेतुसंभवः। यथास्वं दोषवर्धनादिति प्रतिज्ञानादेवमुक्तमप्रचयादिति। एवमसंभवं दृष्ट्वा एकेनैव विपाकेनान्यस्यापि दोषस्य प्रचयो भवतीति मतं स्यात्। तत्र प्रतिज्ञा हीयते पूर्वा (भा.)। यथास्वं दोषवर्धनात् प्रशमनाभावः (सू. ४७)। यदि त्रयो विपाकास्त्रयाणां दोषाणां वर्धनप्रयोजनाः, विपाकनिमित्तं दोषप्रशमनं स्यात्। किं जातम्, अन्यैर्गुण-रसादिभिः प्रशमनं भवतीति चेत्? शास्त्रेषूक्तस्य प्रशमनस्याभाव इति शास्त्रेण विरोधः प्रदर्शितो भवति। यथा—मधुरं शीतं स्निग्धं सर्पिः श्लेष्माणं शमयति, लघुविपाकत्वादिति[1] (भा.)। कस्मात् प्रशमनं नास्ति? अस्त्येव प्रशमनम् (सू. ४८)॥ पूर्वपाक्षिकस्त्वाह—कस्मादित्यादि। यथा—मधुरविपाकेन पित्तस्य प्रशमनम्, अम्लेन वायोः, कटुकेन श्लेष्मण इति (भा.)। सति वा प्रशमने यथास्वं दोषवर्धनं न भवति (सू. ४९)। अत्राह—सति वेत्यादि। एवं प्रशमने परिकल्प्यमाने वर्धनं न स्यादिति। अत्र पूर्वपाक्षिकस्य वचनावकाशो विद्यते, कस्मात्? उभयकर्तृकत्वमेकस्यैव विपाकस्य न भवति, रसस्यै (स्ये) व। यथा—मधुरो रसः श्लेष्माणं वर्धयति, पित्तं शमयति; तद्वन्मधुरविपाकोऽपि श्लेष्माणं वर्धयति, पित्तं शमयति, 'वर्धनास्त्रयः' इत्युच्यन्ते 'शमनाश्च त्रयः' इति। कस्मान्न भवति? विशेषहेत्वभावादिति। अस्योत्तराभासस्य प्रदर्शनार्थमुक्तमिति। केचिदत्राप्य-

---

१—भाष्यकारोक्तं 'लघुविपाकत्वात्' इति चिन्त्यं, सुश्रुतेन "घृतं गुरु, विपाके मधुर" (सु. सू. अ. ४५) इति प्रोक्तत्वात्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्त्येव वचनावकाशः। कस्मात्? मधुरस्य श्लेष्मवर्धनात् पित्तशमनाभेदो न स्यादिति। तस्मादेतत् सति वा प्रशमने यथास्वं दोषवर्धनं नास्तीति वाक्यार्थस्य न भवतीत्यपोहते कश्चिदिति (भा.)। कालतो गुणतो रसतश्चानुपपत्तिः त्रित्वस्य (सू. ५०)। एवं परस्य हेतुदूषणं कृत्वा विपाकद्वित्वसाधकानां हेतूनां त्रित्वसाधकत्वेऽभावं दर्शयन्नाह—कालत इत्यादि। कालतस्त्रित्वं नोपपद्यते, चिराचिरकालव्यतिरिक्तस्याभावात्; पूर्वं 'कतमे षट् काला' इत्यत्र कृतभाष्यम्। गुणतश्च त्रित्वं नोपपद्यते; गुरुभूतजनिता, लघुभूतजनिता, इति गुणद्वैविध्यादिति। रसतश्च त्रित्वस्यानुपपत्तिः; कटुक-तिक्त-कषायास्तु लघवो, गुरवः परे, इति द्विविधभेदावरोधादिति। रसत इत्यस्यायमर्थो न भवति, गुणत इत्यत्रैवावरोधात्। तस्मादन्यथा वर्ण्यते—यथाऽस्माकं मधुर-कटुक-शब्दौ रसवाचकौ मुख्यौ गुणवृत्त्या विपाकेऽध्यारोपितौ, तथाऽम्लशब्दस्य विपाकेऽर्थान्तरेऽध्यारोपयितुं न शक्यते गौरवाभावादिति; हेत्वभावो "मधुरो गौरवाल्लघुत्वात् कटुक इत्यस्य वाक्यस्य भाष्ये प्रदर्श्यते (भा.)। द्वौ, द्वैविध्यदर्शनात् परिणामस्य (सू. ५०)। इदानीं विपाकस्य स्थितिपक्षं प्रदर्शयन्नाह—द्वावित्यादि। द्वैविध्येन दर्शनात् परिणामद्वैविध्येन दर्शनात्, परिणामस्येति द्वौ विपाकौ द्वैविध्येन दर्शनादिति द्विधादर्शनात् तस्य परिणामस्य। पाकस्येति वक्तव्ये परिणाम-ग्रहणं दृष्टान्तवाक्यत्वादस्य विपाकलक्षणस्य परिणामार्थान्तरभावगमनस्य द्वैविध्येन लोके दर्शनात्। यथा खदिरसारादीनि चिरादग्निसंयोगे परिणामं गच्छन्ति, पलालादीन्यचिरादिति (भा.) गुणकारणत्वाद् गुणद्वैविध्याच्च (सू. ५१)। इदानीं हेतुः—गुणेत्यादि। इह पाकस्य कारणभूता गुरव-श्चिरात् पाकस्य कारणं, लघवोऽचिरात् पाकस्य, इति गुणद्वैविध्यं, भूतानां द्वैविध्यात् पूर्वे गुरुणी, पराणि लघूनीति; न तृतीयः पाकः, तत्परिच्छेदककालाभावात्। यत्र यस्य परिच्छेदकं नास्ति, तस्याभावो दृष्टः। तद्यथा—द्वितीयमनीश्वरशिर इति। अथवा द्वौ विपाकौ, तत्कारणद्वैविध्यात्। कारणद्वैविध्यं तत्र कार्य-द्वैविध्यं दृष्टम्। यथा—गोशृङ्गयोः। वैधर्म्यं खड्गशृङ्गं योज्यम् (भा.) मधुरो गुरुत्वात्, लघुत्वाच्च कटुकः (सू. ५२)। गुणकारणत्वाद् द्वैविध्य-मित्युक्तं, तत्र कस्य विपाकस्य को गुणः कारणमिति न ज्ञायत इत्यत्राह—मधुर इत्यादि। मधुरशब्दवाच्यो गुरुगुणनिमित्तः, कटुकशब्दवाच्यो लघुगुण-निमित्तः। अत्र द्रव्यादयः षट् पदार्था उद्दिष्टाः साधनभूताः, तेषु विपाकस्य लक्षणमुपदिशता 'परिणामलक्षणो विपाकः' (र. वै. अ. १, सू. १७०) इति विपाकस्य लक्षणमुक्तं; तस्य भेदमुपदिशता मधुरः, कटुक, इति रसभेद उक्तः; मधुर-कटुकशब्दयोरर्थतत्त्वाभिधाने गुणभेद उक्तः, तयोर्मधुराख्यो गुरुरिति; एवं (कथं) सर्वत्र मुख्यशब्दार्थलङ्घनं कृत्वा रसशब्देन गुणाभिधानं, गुणशब्देन परिणामा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भिधानमिति ? उच्यते—त्रिविधा हि शब्दाः—नित्यमेव गौणाः, नित्यं मुख्याः, गौणमुख्याश्चेति । प्रवीण-कुशलादयः शब्दास्तु गौणा एव, पचति पठतीत्यादयो मुख्या एव, सिंहादयस्तु गौणाश्च मुख्याश्च । मृगे सिंहशब्दो मुख्यः, सिंहोऽयं माणवक इत्यत्र गौणः । इहापि मधुरशब्दो रसे मुख्यः, गुणे गौणः, यत्नोपपाद्यत्वात् साक्षादास्वादग्राह्य इहाप्रवृत्तेः । कुत्साप्रशंसादिगुणसारूप्यात् सिंहशब्दादिषु भवति, अत्र कथम् ? अत्राप्यस्ति सारूप्यमेकहेतुजन्यत्वं—मधुरोऽपि पार्थिवाप्यः, गुरुरपि गुणः पार्थिवाप्य इति, तथा गुणशब्दोऽपि परिणामे गुरुर्लघुरिति; गौणगुरुगुणजनितः परिणामे गुरुरित्युक्तः, लघुगुणजनितो लघुरिति । आह च—"गुणमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते । तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते, गौणं यत्नोपपादितम् ॥ इति (भा.) । वर्धन-क्षपण-प्रशमन-प्रकोपेषु तयोरनियमः (सू. ५३) । "यथास्वं दोषवर्धनास्त्रयः" इत्यत्र तेषां वर्धनं नैयम्येनोक्तं, किमत्र द्वयोरपि पाकयोर्वर्धनाविनियमो विद्यत इत्याह—वर्धनेत्यादि । एतेषु दोषाणां वर्धनादिषु द्वयोर्विपाकयोर्नियमो नास्ति । अत्र वर्धनं संचयः । लघुविपाकः क्वचिद् वर्धयति । यथा—लघुविपाकमुदकं श्लेष्माणं वर्धयति, लघुविपाकं मधु श्लेष्माणं हरतीति । तस्मादयमेव गुरुविपाको वर्धन एव, लघुविपाकः शमन एव, इति नियमो नास्ति; अथवा लघुविपाकः श्लेष्माणं शमयति; तथा गुरुविपाकोऽपीति (भा.) । मधुरो गुरुभ्यां, कटुर्लघुभिः (सू. ५४) । गुणकारणत्वं कथं भवतीत्याह—मधुर इत्यादि । मधुरो विपाको गुरुभ्यां पृथिव्युदकाभ्यां भवति, कटुर्लघुभिरिति त्रिभिरग्न्यादिभिर्भवति । एवं भूतैराधिक्यान्निर्वर्त्यमान्ये पाके तद्गुणसमावेशाच्चिरादचिराच्चेति विशेषो भवतीति । आह च—"द्रव्यस्य पच्यमानस्य यस्यापां धातुरुत्तमः । निर्वर्तते पार्थिवश्च तस्य पाको ध्रुवं गुरुः ॥ आपो निर्वर्त्यमाना हि मृदुं कुर्वन्ति पावकम् । पृथिवीधातुरप्येवं तस्मात् पाकस्तयोर्गुरुः ॥ एतत्तु गुरुपाकानां द्रव्याणां पाकलक्षणम् अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि लघुपाकं यथा भवेत् ॥ हीनश्च पृथिवीधातुर्विविक्ताश्चाब्गणाः स्मृताः । यस्मिन् द्रव्ये भवन्त्येवं तस्य पाको ध्रुवं लघुः ॥" इति (भा.) ॥

यथा रसं जगुः पाकान् षट् केचित्तदसांप्रतम् ।
यत् स्वादुर्व्रीहिरम्लत्वं न चाम्लमपि दाडिमम् ॥
याति तैलं च कटुतां कटुकोऽपि न पिप्पली ।
यथारसत्वे पाकानां न स्यादेवं विपर्ययः ॥ —अ. सं. अ. १७

विपाक उपसंह्रियते—यथारसमित्यादि । केचिदाचार्या रसानतिक्रमेण पाकषट्कं जगुः अवदन् । यथारसमिति यथाविधो रसः स्वरूपेण तथाविध एव तस्य विपाकः; तेन मधुरस्य मधुरो विपाकः, कटुः कटोः, कषायः कषाय-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्येत्यादि। तच्चाचार्यमतमसांप्रतम् अयुक्तमिति। कुतः? व्यभिचारात्। एतदेवोदाहरणेन दर्शयति—यदित्यादि। यदि हि रससदृशः सर्वस्य विपाकः स्यात् तदेवं विपर्ययो न स्यात्। (इन्दुः)॥

अब दूसरे धन्वन्तरिसंप्रदाय के या सुश्रुत के मत से विपाक का निरूपण किया जाता है। सुश्रुत ने प्रारम्भ में एकीयमत से विपाक का प्राधान्य दिखलाकर उस समय विपाक के विषय में प्रचलित अन्य वादियों के मत देकर उनका खण्डन किया है, और पीछे गुरु और लघु ये दो ही विपाक हैं, ऐसा अपना मत स्थापित किया है।

एकीय मत से विपाकप्राधान्यनिरूपण—कई आचार्य कहते हैं कि—द्रव्य, रस और वीर्य प्रधान नहीं हैं, किन्तु विपाक प्रधान है। क्योंकि—सब प्रकार के खाये हुए द्रव्यों का जठराग्निद्वारा सम्यक् पाक हो तो वे धातुसाम्य (आरोग्य) रूप गुण करते हैं, और यदि जठराग्नि की मन्दता से हीनपाक हो तो आम-विकाररूप दोष तथा जठराग्नि की तीक्ष्णता से अतिपाक हो तो भस्मकविकाररूप दोष करते हैं (असम्यक्-पाक से धातुवैषम्य होता है और धातुवैषम्य से सब प्रकार के शरीर-विकार होते हैं)। अतः सम्यग्विपाक आरोग्यरूप गुण और मिथ्याविपाक शारीर विकाररूप दोष का हेतु होने से विपाक ही द्रव्यादि से प्रधान है। टीकाकारों ने 'सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वात्' इस का और भी अर्थ किया है। जैसे—सम्यग्विपाक अर्थात् द्रव्यगुणानुरूप विपाक, जैसे—कटुरसवाले चित्रक का कटुविपाक; मिथ्याविपाक अर्थात् द्रव्यगुण से विपरीत विपाक, जैसे कटुरसवाली पीपल का मधुरविपाक। उन्होंने 'गुणं दोषं वा' यहाँ शब्द को 'च' कार के अर्थ मानकर सम्यग्विपाक और मिथ्याविपाक दोनों गुण और दोष दोनों को करते हैं, ऐसा अर्थ किया है। उदाहरण देते हुए कहते हैं कि—सम्यग्विपक्व चित्रक अग्निसंदीपनरूप गुण और रुद्धमूत्रत्वादि दोष करता है, तथा मिथ्या-विपक्व पिप्पली शुक्रवर्धनादि गुण और क्लेदजननरूप दोष करती है[1]।

१—इस विषय में सुश्रुत की व्याख्या में डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकरजी लिखते हैं कि —इसमें सन्देह नहीं कि औषधियों का शरीर पर कार्य सम्यक् विपाक होने के पश्चात् ही प्रायः होता है और इस हेतु से विपाक प्रधान हो सकता है। जैसे कुनैन विषमज्वर के लिये बड़ी प्रभावी औषधि है, परन्तु जब उसकी शर्करावगुण्ठित (Sugar coated) गोली सेवन की जाती है तब उसका विषमज्वर पर कभी-कभी प्रभाव योग्य विपाक न होने के कारण नहीं पड़ता। तथा रस, वीर्य, विपाक, और प्रभाव में से किसी एक की सर्वश्रेष्ठता सर्वावस्था में और सर्व ओषधियों में नहीं हो सकती है, न देखने में आती है। इसलिये आचार्यों में इस विषय पर ऐकमत्य नहीं होता है। चरकसंहिता में तथा इस अध्याय के १४-१५ श्लोक में इस मतभिन्नता का समन्वय बहुत सयुक्तिक किया गया है—"किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥" जैसे तिक्त, उष्णवीर्य—→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विपाक निरूपण—कई आचार्य कहते हैं कि—मधुर का मधुर, अम्ल का अम्ल, लवण का लवण इत्यादि प्रकार से प्रत्येक रस का अपने समान रसवाला विपाक होता है। वे इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे—दूध को पकाने पर भी वह मधुर ही रहता है, अथवा जैसे—चावल, जौ, मूंग आदि बोये जाते हैं तो वे अपना स्वभाव न छोड़कर उत्तर काल में चावल, जौ, मूंग आदि के रूप में ही उत्पन्न होते हैं; इसी प्रकार मधुरादि रस भी जठराग्निद्वारा परिपक्व होकर अपना स्वभाव नहीं छोड़ते—अर्थात् उनका विपाक मधुरादि रस के रूप में ही होता है[1]। अन्य कई आचार्य कहते हैं कि जब अनेक रसवाला द्रव्य खाया जाता है तब जो रस दुर्बल होते हैं, वे बलवान् रस के वश हो जाते हैं। इसलिये आहार में जो रस प्रबल होगा, तदनुसार ही विपाक होगा[2]। इसलिये अमुक एक रस का अमुक एक ही विपाक होता है ऐसी व्यवस्था नहीं होती, इसलिये विपाक अनवस्थित (अनियत) है। कई आचार्य तीन प्रकार का विपाक मानते हैं—मधुर, अम्ल और कटु। परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं है। पंचमहाभूतों के गुणों को देखते हुए और आगमप्रमाण से तीसरा अम्ल विपाक सिद्ध नहीं होता। पित्त आग्नेयगुणवाला होने से जब विदग्ध होता है तो अम्लरस को प्राप्त होता है। उसको यदि भिन्न विपाक माना जाय तो लवण को भी भिन्न विपाक मानना होगा; क्योंकि कफ जब विदग्ध होता है, तब लवणरस को प्राप्त होता है।

←और प्रभावी कुनैन अरोचकपीड़ित रोगों में केवल रस से रुचि उत्पन्न करता है, प्रतिश्याय-एन्फ्लुएंजा आदि कफोल्वण रोग से पीड़ित रोगियों में उष्णवीर्य से रोग-नाशन करता है, ज्वरनिर्मुक्त अवस्था की दुर्बलता में विपाक से शक्ति देता है और विषमज्वर से पीड़ित रोगों में प्रभाव से ज्वरनाशन करता है (सु. सू. पृ. २२२)।

१—इस मत के खण्डन में **वृद्धवाग्भट** लिखते हैं कि कई आचार्य कहते हैं कि जैसा रस हो उसका वैसा ही विपाक होता है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि व्रीही (चावल) मधुर होनेपर भी उसका विपाक अम्ल होता है, दाड़िम अम्ल होने पर भी उसका विपाक मधुर होता है, तैल मधुर है परन्तु उसका विपाक कटु होता है, पीपल कटु है परन्तु उसका विपाक मधुर होता है : यदि यथारस (जैसा रस वैसा ही) विपाक होता तो इस प्रकार विपर्यय देखने में नहीं आता।

२—जो रस व्यक्त और मात्रा में अधिक हों वे **बलवान्** और जो इससे विपरीत हों वे **दुर्बल** कहलाते हैं। प्रत्येक रस का उसके सदृश विपाक होता है, और दुर्बल रस बलवान् रसके आगे दब जाते हैं इसलिये जो रस बलवान् होते हैं उनके सदृश पाक होता है, ये दोनों पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि इन दोनों मतों में रस के कार्य से ही विपाक का कार्य जाना जा सकता है, अतः विपाक को रस से स्वतन्त्र मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती (**शिवदाससेन**)। अनवस्थितविपाकवाद भी षड्रसविपाकवाद का ही एक भेद हैं। अनवस्थितविपाकवादी भी मधुर, अम्ल आदि छः प्रकार के विपाक मानते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एक वाक्यता देखने में नहीं आती, इसलिये ये सब सिद्धान्त नहीं हो सकते। धन्वन्तरि के मत में दो प्रकार के ही विपाक हैं--मधुर और कटु। गुरु विपाक को मधुर नाम दिया जाता है और लघु विपाक को कटु नाम दिया जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों के तद्गत गुणों के साधर्म्य से दो विभाग होते हैं--गुरु और लघु। क्योंकि पृथिवी और जल ये दो गुरु हैं; और शेष तीन तेज, वायु और आकाश लघु हैं; इसलिये दो प्रकार का विपाक होता है--एक गुरु दूसरा लघु। द्रव्य जब जठराग्नि के द्वारा पकते हैं, तब जिन द्रव्यों में पृथिवी और जल के गुण अधिक होते हैं उनका मधुर अर्थात् गुरु विपाक होता है; और जिन द्रव्यों में अग्नि, वायु तथा आकाश के गुण अधिक होते हैं उनका कटु अर्थात् लघु विपाक होता है। अर्थात् जिन द्रव्यों में पृथिवी और जल के गुण अधिक होते हैं, वे विपाक में गुरु (पचने में भारी-चिरकाल से पचनेवाले) होते हैं; तथा जिन द्रव्यों में अग्नि, वायु और आकाश के गुण अधिक होते हैं, वे विपाक में लघु (पचने में लघु-शीघ्र पचनेवाले) होते हैं[1]।

भदन्त नागार्जुन--कहते हैं कि परिणाम अर्थात् रूपान्तर होना--जरण (पाचन) होना यह विपाकका लक्षण है। कई आचार्य कहते हैं कि--मधुरादि छहों रसोंका अपने सदृश विपाक होता है। अतः रसभेद से विपाक छः प्रकारका है। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि रस आस्वादग्राह्य है (जीभ से रस का ज्ञान होता है) और विपाक परिणाम लक्षण है (परिणाम देखकर विपाकका अनुमान किया जाता है)। इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न होने से और रस

१--विपाक के विषय में सुश्रुत की व्याख्या में **डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकरजी** लिखते हैं कि--विपाक--महाश्रोत में जठराग्नि के संयोग से रसकारणभूत द्रव्योंका पचन होने के पश्चात् शरीर में जो रसान्तर उत्पन्न होता है वह **विपाक** है। विपाक को **निष्ठापाक** भी कहते हैं। छः रसों के मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन विपाक चरक के अनुसार और मधुर तथा कटु दो ही विपाक सुश्रुत के अनुसार होते हैं। इन विपाकों का कार्य रस के सदृश होता है। फर्क इतना ही है कि विपाक का कार्य सार्वदैहिक अप्रत्यक्ष, या अनुमेय और द्वितीयक (Systemic, indirect and Secondary) तथा रस से बलवत्तर है। विपाक का बलाबल द्रव्यगत रस के बलाबल पर निर्भर होता है। यदि द्रव्य अत्यन्त मधुर हो तो विपाक भी उत्कृष्ट होता है, यदि मध्यम मधुर हो तो मध्यम होता है और यदि अल्पमधुर हो तो अल्पलक्षण होता है। रसका ज्ञान जिह्वा के साथ सम्बन्ध होते ही होता है, विपाकका ज्ञान शरीर में ओषधियों का पचन होने के पीछे दोषों की वृद्धि, प्रकोप या प्रशमन देखकर होता है, और वीर्य का ज्ञान कभी शरीर के साथ सम्बन्ध होते ही होता है, कभी शरीर पर जो कार्य होता है उससे और कभी दोनों प्रकार से होता है। संक्षेप में रसका ज्ञान प्रत्यक्ष, विपाकका अप्रत्यक्ष या कार्यानुमेय तथा वीर्यका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से होता है। (सु. सू. पृ. २२०)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रत्यक्ष तथा विपाक नित्य परोक्ष होने से मधुरका मधुर विपाक होता है यह नहीं जाना जा सकता, अतः प्रत्येक रसका रस के सदृश विपाक होता है यह मानना ठीक नहीं है। कई आचार्य कहते हैं कि—मधुर, अम्ल और कटु ये तीन विपाक हैं। क्योंकि, कफ मधुर है उसकी उत्पत्ति (पोषण) मधुर रस से, पित्त अम्ल है उसकी उत्पत्ति अम्ल रस से और वायु कटु है उसकी उत्पत्ति कटु रस से होती है, अतः तीन दोषों की उत्पत्तिके लिये [1] विपाक मानना ठीक है। इस मतका खण्डन, करते हुए **नागार्जुन** कहते हैं:—काल की दृष्टि से, गुण की दृष्टि से या रस की दृष्टि-से विचार करने से तीन विपाक सिद्ध नहीं हो सकते। कालभेद से तीन विपाक नहीं बन सकते, क्योंकि **चिरकाल** और **अचिरकालसे** भिन्न तीसरा काल नहीं है; गुणसे भी तीन विपाक नहीं हो सकते, क्योंकि गुरु महाभूतो से उत्पन्न हुए रस गुरु और लघुमहा-भूतों से उत्पन्न हुए रस लघु—ऐसे गुण भेद से दो ही रसभेद होते हैं, तीसरा भेद नहीं हो सकता। रसभेद से भी तीन विपाक नहीं हो सकते, क्योंकि—जैसे हमने **मधुर** और कटु इन दो रसवाचक शब्दों को गौणवृत्ति से **गुरु** और **गुरु** विपाक अर्थवाले माना है, वैसे अम्ल शब्दका अर्थान्तर में (गुरु-लघु से भिन्न अर्थ में) अध्यारोप नहीं कर सकते; क्योंकि महाभूतों के गुणों की दृष्टि से **गुरु** और **लघु** से भिन्न तीसरा भेद नहीं हैं, अतः विपाक दो ही हैं। लोक में भी विपाक का लक्षण जो परि-णाम वह दो प्रकार का ही देखने में आता है, जैसे-खैर आदि की लकड़ी देर से जलती है और घास शीघ्र जलती है। गुरु और लघु इन दो गुणों के भेद से महाभूतों के दो भेद होते हैं। पृथ्वी तथा जल ये दो गुरु हैं और अग्नि, वायु तथा आकाश ये तीन लघु हैं। गुरु द्रव्य चिरकाल से पचते हैं और लघु द्रव्य शीघ्र पचते हैं। गुरु गुण से **'मधुर'** नामका और लघु गुण से **'कटु'** नाम का विपाक होता है। कोई प्रश्न करे कि—आपने 'परिणामलक्षण विपाक है' यह विपाकका लक्षण कहा और उसके भेद बताते हुए मधुर और कटु ऐसे दो रसभेदवाचक शब्दोंका प्रयोग किया यह असंगत है; तो उसका उत्तर यह है कि—शब्द तीन प्रकार के होते हैं—नित्य गौण, जैसे—प्रवीण, कुशल आदि; नित्य मुख्य, जैसे—पचति, पठति इत्यादि; कई मुख्य और गौण दोनों होते हैं, जैसे—'सिंह', सिंह शब्द सिंह में मुख्य और 'यह बालक सिंह है' यहाँ गौण है। यहाँ भी मधुर और कटु शब्द रस के

१—कटु, अम्ल और लवण से पित्त की वृद्धि और मधुर, तिक्त तथा कषायसे-पित्त की शान्ति; मधुर अम्ल, और लवण से कफ की वृद्धि तथा कटु, तिक्त और कषाय से कफका ह्रास; तथा कषाय, तिक्त और कटु रस से वात की वृद्धि तथा मधुर अम्ल और लवण से वायुका क्षय देखकर यह अनुमान होता है कि—पित्त कटु, अम्ल और लवण; कफ मधुर, अम्ल तथा लवण और वायु कषाय, तिक्त तथा कटु रसवाला है। देखें इसी ग्रन्थ में पृ. १९६ पर उद्धृत **कपिलका वचन**।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस प्रकार ऊपर कहे हुए मतों में अर्थ में मुख्य और विपाक के अर्थ में गौण है। निन्दा, प्रशंसा आदि गुणों के सादृश्य से सिंह आदि शब्दों का गौण अर्थ में प्रयोग होता है। इस प्रकार यहाँ भी मधुर रस पार्थिव और आप्य है तथा गुरु गुण भी पार्थिव और आप्य है, इस प्रकार मधुर रस और गुरु गुण में गुणसादृश्य होने से 'मधुर' शब्दका गुरु विपाक में गौणरुप से प्रयोग होता है; कटु रस आग्नेय और वायव्य हैं इसी प्रकार लघु गुण भी आग्नेय, वायव्य और नाभस है; अतः गौण वृत्तिसे लघु विपाक में 'कटु' शब्दका प्रयोग किया गया है। गुरु गुणवाले पृथिवी और जल से गुरु विपाक तथा लघुगुणवाले वायु, तेज और आकाश से लघु विपाक होता है। जैसे तीन-तीन रस दोषों के बढ़ाने या प्रकोप करने वाले हैं और तीन-तीन रस दोषोंका क्षय या प्रशम करनेवाले हैं, ऐसा विपाक में नियम नहीं है। जैसे--लघु-विपाक जल कफको बढ़ाता है और लघुविपाक शहद कफको दूर करता है।

विपाककर्माणि--

मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात् त्रयो रसाः।
वात-मूत्र-पुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः।
कटु-तिक्त-कषायास्तु रूक्षभावात् त्रयो रसाः।
दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वात-विण्मूत्र-रेतसाम्।
शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।
मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफ-शुक्रलः।
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा॥

--च. सू. अ. २६

संप्रति वक्ष्यमाणविपाकलक्षणे मधुराम्लपाकयोर्वात-मूत्र-पुरीषानवरोधकत्वे तथा कटोर्विपाकस्य वात-मूत्र-पुरीषविबन्धकत्वे हेतुमाह—मधुर इत्यादि। अत्र मधुराम्ललवणा निष्ठापाकं गता अपि सन्तः स्नेहगुणयोगाद्वात-मूत्र-पुरीषाणां विसर्गं सुखेन कुर्वन्तीति वाक्यार्थः। तेन मधुराम्लपाकयोरेतत् समानं लक्षणम्। एवं कटु-तिक्त-कषायेष्वपि विपर्ययेऽपि वाक्यार्थः। संप्रति विपाकलक्षणं हेतु-व्युत्पादितं शुक्रहत्वादिविशेषयुक्तं वक्तुमाह—शुक्रहेत्यादि। अतोऽन्यथेति लघुः (च. द.)। विपाकलक्षणं विवक्षुर्विपाकस्य रसैस्तुल्यफलत्वादादौ मधुरादीनां कार्यमाह—मधुर इत्यादि। मधुरो, लवणाम्लौ, अम्ल-लवणौ, चैते त्रयो रसाः स्निग्धभावात् स्निग्धत्वात्, वात-मूत्र-पुरीषाणां मोक्षे विसर्गे, प्रायः सुखाः सुखकरा मताः; मधुराम्ललवणाः स्नेहगुणयोगात् प्रायेण सुखेन वातादीनां

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विसर्गं कुर्वन्ति । प्रायःपदेन कपित्थादीनां ग्राहित्वम् । कटूवादयस्त्रयो रसाः रूक्षभावात् रूक्षत्वात; वातः, विट्-पुरीषं, मूत्रं, रेतः-शुक्रं च, तेषां मोक्षे; दुःखाय दुःखकरत्वेन दृश्यन्ते । कटुतिक्त-कषायास्त्रयो रसा रौक्ष्यगुणयोगाद्वातादीनि विबध्नन्ति । विपाकानां लक्षणमाह—शुक्रहेत्यादि । कटुर्विपाको रूक्षभावात् शुक्रहा शुक्रनाशनः, बद्धविण्मूत्रो वातलश्च । मधुरो विपाकः स्निग्धभावात् सृष्टविण्मूत्रः, कफ-शुक्रलः कफ-शुक्रकृच्च । अम्लपाकः पित्तकृत् शुक्रनाशनश्च उष्णवीर्यत्वात्, सृष्टविण्मूत्रः स्निग्धभावात् । मधुरादिविपाकानां गुरु लाघवमाह—तेषामित्यादि । तेषां त्रयाणां विपाकानां मध्ये मधुरो विपाको गुरुः, कटुकाम्लावतोऽन्यथा लघू (यो.) । अथ विपाकानां प्रभावमुपदेष्टुं तत्कारणरसानां प्रभावमाह—मधुर इत्यादि स्निग्धभावात् उत्तम-मध्यमाधमस्निग्धत्वाद् वातादीनां प्रमोक्षे प्रायः क्रमेणोत्तम-मध्यमाधमरूपेण सुखाः सुखकरा मताः । प्रायःपदेन कपित्थादीनामम्लादिरसा ग्राहिणः । कटु-तिक्त-कषायाश्चेति कषाय-कटु-तिक्तास्त्रयो रसा रूक्षभावात् उत्तम-मध्यमाधमरूक्षत्वाद्वातादीनां मोक्षे क्रमेणोत्तम-मध्यमाधमरूपेण दुःखाय दृश्यन्ते । अतिग्राहिणः कषायाः, मध्यग्राहिणः कटुकाः, अल्पग्राहिणस्तिक्ताः । अत एव विपाकस्य प्रभावमाह—शुक्रहेत्यादि । कटुर्विपाकः शुक्रहा, बद्धविण्मूत्रो, वातलश्च, एवं कटुरसस्य ये पूर्वोक्ताः कर्मविशेषा "वक्त्रं शोधयति" इत्यारभ्य "लघुरुष्णो रूक्षश्च" इत्यन्ताः, तेऽपि ज्ञेयाः । मधुरो विपाकः श्रेष्ठस्नेहभावात् श्रेष्ठः सृष्टविण्मूत्र-कफशुक्रलः पूर्वोक्त-मधुररसगुणश्च अथाम्लपाकः स्नेहभावस्य मध्यमत्वान्मध्यम रूपेण सृष्टविण्मूत्रः शुक्रनाशनश्च मध्यमः, पित्तकृच्च; एवं पूर्वोक्ताम्लरसगुणश्च बोध्य इति । ननु विपाकादेव यदि द्रव्यगुणोदयः स्यात्तदा षण्णां रसानां गुणः कथं स्यादिति चेत् ? न । प्राग्विपाकाद्धि रसकार्यं भवति, पाकादुत्तरं विपाककार्यं भवति । अथैषां त्रयाणां विपाकानां संज्ञान्तरमाह—तेषामित्यादि । तेषा मधुराम्ल-कटुविपाकानां मध्ये मधुरः पाको गुरुः स्यात्, अतो गुरुतोऽन्यथा लघुपाकौ कटुकाम्लौ; तथाहि सुश्रुतादविरोधः (ग.) ॥

गुरु-लघुविपाकावुक्तगुणौ । × × × । गुरुपाको वात-पित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः । × × × । गुरूपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च ॥ —सु. सू. अ.४१

गुरु-लघुविपाकौ उक्तगुणाविति "तयोर्मधुराख्यो गुरुः" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादिना, तथा "द्रव्येषु पच्यमानेषु येऽवस्तु-पृथिवीगुणाः" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादिना चोक्तगुणावित्यर्थः । विपाकस्य नित्यपरोक्षत्वाल्लक्षणेन ज्ञानमाह—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुरुपाक इत्यादि । चकारादागमेन च गुरु-लघुविपाकप्रतिपादकेनेति ज्ञेयम् (च. द.) । गुरु-लघुविपाकौ मधुर-कटुकविपाकावित्यर्थः, "तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुः" इत्युक्तेः । उक्तगुणौ "पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति" इत्यादिना ग्रन्थेनोक्तगुणावित्यर्थः (हा.) ॥

रसैरसौतुल्यफलः ॥ —अ. सं. सू. अ. १७; अ. हृ. सू. अ. ९

असौ विपाकः रसैर्मधुराम्ल-कटुकैः, तुल्यफलः सदृशफलः । तेन मधुरस्य विपाकस्य ते गुणा ये मधुरस्य रसस्य, एवमम्ल-कटुकयोरपि (इन्दु):) । रसैर्जिह्वाविषयकैर्मधुराम्ल-कटुकैः विपाककालोपलभ्यो मधुराम्ल-कटुकलक्षणो यो रसो भवति असौ तुल्यफलः; तुल्यं सदृशं फलं यस्य स तुल्यफलः । एतदुक्तं भवति—अभ्यवहृतस्य मधुररसस्य जाठराग्निसंयोगाद् यद्रसान्तरं फलतया निष्पन्नं तद्रसैः सदृशफलम् । फलग्रहणेनैतत् प्रतिपादयति—फलोपममेव वृष्यादिलक्षणं कार्यं सदृशं, न तु कुसुमोपमं देहाह्लादनादिलक्षणं कार्यमिति । एवमम्लादीनामपि व्याख्येयम् (अ. द.) । त्रयाणां पाकानां लक्षणमाह—रसैरित्यादि । असौ त्रिविधो विपाकः, यथास्वं रसैः मधुराम्ल-कटुकैः, तुल्यफलः तुल्यकार्यो ज्ञेयः । मधुरस्य रसस्य कार्यं दृष्ट्वा मधुरः पाको लक्षणीयः, एवमम्लस्याम्लः, कटुकस्य कटुकः (हे.) ॥

कटुर्विपाकः शुक्रघ्नो बद्धविड् वातलो लघुः ।
स्वादुर्गुरुः सृष्टमलो विपाकः कफ-शुक्रलः ॥
पाकोऽम्लः सृष्टविण्मूत्रः पित्तकृच्छुक्रनुल्लघुः । —द्रव्यगुणसंग्रह

मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस (वाले द्रव्य) स्निग्ध होने से प्रायः वात मूत्र और मल (पुरीष-विष्ठा) को साफ लानेवाले हैं। कटु-तिक्त और कषाय ये तीन रस (वाले द्रव्य) रूक्ष होने से प्रायः वात, मूत्र और मल का कब्ज करनेवाले हैं । कटु विपाक शुक्र (वीर्य) का क्षय करनेवाला, मल और मूत्र का कब्ज करनेवाला तथा वायु को उत्पन्न करनेवाला है मधुर विपाक मल और मूत्र को साफ लानेवाला तथा कफ और शुक्र को बढ़ानेवाला है। अम्ल विपाक मल और मूत्र को साफ लानेवाला, शुक्र का क्षय करनेवाला और पित्त को बढ़ानेवाला है । मधुर विपाक (वाले द्रव्य) गुरु (देरी से पचनेवाले) और कटु तथा अम्ल विपाक (वाले द्रव्य) लघु (शीघ्र पचनेवाले) हैं (च.) । मधुर, अम्ल और कटु ये तीनों विपाक क्रमशः मधुर, अम्ल और कटु रस के तुल्य फल (कर्म) वाले हैं[1] (अ. हृ.) । गुरु

१—जैसे-वनस्पतिजीवनका अन्तिम परिणाम फलोत्पत्ति होता है, इस प्रकार भुक्त आहार और औषध द्रव्यों का अन्तिम परिणाम विपाक होता है ।→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विपाक वात और पित्त का तथा लघु विपाक कफ का नाश करनेवाला है। कफ की वृद्धि और मल तथा मूत्र के साफ आने से विपाक का अनुमान करना चाहिये। वायु की वृद्धि (प्रकोप) होने से और मल तथा मूत्र के अविरोध (कब्जियत) से लघु विपाक का अनुमान करना चाहिये (सु.)।

द्रव्यगुणवैशेष्याद्विपाकलक्षणस्याल्प-मध्य-भूयिष्ठत्वम्--

विपाकलक्षणस्याल्प-मध्य-भूयिष्ठतां प्रति।
द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत्॥ --च. सू. अ. २६

संप्रति यथोक्तविपाकलक्षणानां द्रव्यभेदे क्वचिदल्पत्वं क्वचिन्मध्यत्वं क्वचिच्चोत्कृष्टत्वं यथा भवति तदाह--विपाकेत्यादि। विपाकलक्षणस्याल्प-मध्य-भूयिष्ठतामुपलक्षयेत्, प्रति-प्रति द्रव्याणां गुणवैशेष्याद्धेतोरित्यर्थः। एतेन, द्रव्येषु यद् गुणवैशेष्यं मधुरत्व-मधुरतरत्व-मधुरतमत्वादि, ततो हेतोर्विपाकाना-मल्पत्वादयो विशेषा भवन्तीत्युक्तं भवति (च. द.)। × × × विपाक-लक्षणस्य शुक्रहेत्यादिकर्मणः स्वल्प-मध्य-भूयिष्ठतां प्रतिद्रव्याणां गुणवैशेष्या-दल्प-मध्य-श्रेष्ठत्वात् तत्र-तत्र विपाक-कर्मसु स्वल्प-मध्यम-श्रेष्ठत्वमुपलक्षयेत्। तेन मधुररसविपाको मधुरः श्रेष्ठो विण्मूत्रमोक्षे कफ-शुक्रवृद्धौ च, लवणरसविपाको मधुरस्त्वल्पसृष्टविण्मूत्रः कफशुक्रलश्चाल्पः अम्लश्च मध्यमसृष्टविण्मूत्रः शुक्र-नाशनश्च मध्यमः; तिक्त-कटु-कषायाणां तिक्तरसविपाकः कटुरल्परूपेण शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो वातलश्च, कटुरस-विपाकः कटुर्मध्यमरूपेण, कषायरसविपाकः कटुरुत्तमरूपेणेति। एवं द्रव्याणां स्नेह-रौक्ष्यादि-गुणवैशेष्यादल्प-मध्य-श्रेष्ठता-मुपलक्ष्य ब्रूयात् (ग.)॥

द्रव्यगुणविशेषेण चास्याल्प मध्य-भूयस्त्वमुपलक्षयेत्॥
--अ. सं. सू. अ. १७

अस्य च विपाकस्य स्वल्पत्वं मध्यत्वं भूयस्त्वं च द्रव्यगुणविशेषेणोपलक्षयेत्। किमुक्तं भवति? उच्यते--यत्र रसेन सदृशो विपाको मधुराम्ल-कटुकानां द्रव्याणां तत्र प्रधानरससमानगुणानामुत्कृष्टत्वाद्विपाकस्योत्कृष्टत्वं कल्पनीयम्, एवं मध्यत्वान्मध्यत्वं, स्वल्पत्वाच्च स्वल्पत्वम्। यत्र तु रसाद्विपरीतो विपाको लवण-तिक्त-कषायाणां तत्र रसविपरीतानां गुणानामुत्कृष्टत्वादुत्कृष्टत्वं कल्पयेद्विपाक-

←हेमाद्रि लिखते हैं कि--यहाँ तुल्यगुण न लिखकर तुल्यफल लिखा है, इससे यह दिखलाया है कि--रसों के विपाक का परिणाम पुष्प जैसा देहाह्लदनादि-लक्षण नहीं, किन्तु फल जैसा वृष्यत्वादिरूप होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सदृशानामित्यर्थः; एवं मध्यत्वमल्पत्वं च विपाकस्य; एवमूचुश्चरकविदः (इन्दुः) ॥

द्रव्यों के गुणों के (रसों के) मधुरत्व, मधुरतरत्व, मधुरतमत्व, अम्लत्व, अम्लतरत्व, अम्लतमत्व इत्यादि तारतम्य (न्यून-मध्य-अधिक) भेद से विपाक के लक्षणों (कार्यों) का भी न्यून (अल्प), मध्य और अधिकभाव जानना चाहिये। **कविराज गङ्गाधरजी** कहते हैं कि--रसों के श्रेष्ठत्व, मध्यत्व और अल्पत्व से विपाक का भी श्रेष्ठत्व, मध्यत्व और अल्पत्व जानना चाहिये। जैसे--मधुर रसवाले मधुर द्रव्यों का मधुर विपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति तथा कफ और शुक्रकी वृद्धि में श्रेष्ठ होता है; लवण रस का मधुर विपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति और कफ तथा शुक्रकी वृद्धि में अल्प होता है; अम्ल रस का अम्ल विपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति तथा कफ और शुक्र के नाश करने में मध्यम होता है; तिक्त रस का कटु विपाक मल-मूत्र के कब्ज करने में, शुक्र के नाश करने में और वायुको उत्पन्न करने में अल्प (हीन) होता है; कटु रसका कटु विपाक मल-मूत्र के कब्ज करने में, शुक्र के नाश करने में तथा वायु को उत्पन्न करने में मध्यम होता है; तथा कषाय रस का कटु विपाक मल-मूत्रको कब्ज करने में, वायुको उत्पन्न करने में और शुक्र का क्षय करने में श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार द्रव्यों के स्नेह, रौक्ष्य आदि गुणों की विशेषता (तारतम्य) से विपाक के लक्षणों का अल्पत्व, मध्यत्व और श्रेष्ठत्व जानना चाहिये। विपाक के पहिले (अवस्था पाक के समय में) रसों का कार्य होता है और अवस्था पाक के अनन्तर विपाक का कार्य होता है।

विपाकयोर्विपर्यासप्राप्तिहेतवः--

द्रव्यप्रमाण-संस्कार-सात्म्याग्निबलाबल-देश- काल - संयोग - पाक-विशेषैर्विपाकविपर्यासः ॥ --र. वै. सू. अ. ४, ५५

द्रव्यप्रमाणाद् विपर्यासः--गुरुविपाकं क्षीरमल्पं लघु पच्यते, लघ्वति-प्रमाणाद् गुरु पच्यते, यथा--शालिरतिभुक्तः। संस्काराद्--गुरुविपाकं द्रव्यं दीपनीय-संस्काराल्लघुविपाकं भवति। सात्म्यतः--क्षीरोचितानां क्षीरं लघु-विपाकं भवति। अग्निबलात्--तीक्ष्णाग्नीनां गुरुविपाकं लघुविपाकं भवति। देशविशेषात्--जाङ्गलेषु गुरुविपाकाश्च लघवो भवन्ति प्रायशः, अनूपेषु लघुविपाकाश्च गुरुविपाका भवन्ति। कालविशेषात्--ग्रीष्मे लघवो भवन्ति गुरवः वर्षा-हेमन्तयोर्लघवोऽपि गुरुवः। संयोगविशेषात्--क्षीरं शुण्ठीसंयोगाल्लघुविपाकं भवति। संस्कारसंयोगयोः कः पुनर्विशेष इति ? संस्कारो भावना-परिशोषण-मन्थनादि। पाकविशेषात्--दग्धं विदग्धं वा द्रव्यमुपयुक्तं गुरु विपच्यते लघ्वपि, क्षीरं गुर्वपि भृतं लघु भवतीति (भा.) ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्य का प्रमाण, संस्कार, सात्म्य, अग्निबल, देश, काल, संयोग और पाक (पकाना) इनके विशेषों से (भेदों से) विपाक में विपर्यास (विपरीतपन) होता है। इनके उदाहरण--प्रमाणविशेष से विपर्यास होता है, जैसे--गुरुविपाक दूध थोड़ा हो तो शीघ्र पचता है और लघुविपाक शालिका भात अति प्रमाण में खाया जावे तो देरी से पचता है। संस्कारविशेष से विपर्यास होता है, जैसे--गुरुविपाकवाला दूध दीपनीय द्रव्यों के संस्कार से शीघ्र पचता है। सात्म्य से विपर्यास होता है, जैसे--दूध जिनको सात्म्य है ऐसे लोगों को दूध शीघ्र पचता है। अग्निबल से विपर्यास होता है, जैसे--तीक्ष्ण अग्निवाले को गुरुविपाकवाले द्रव्य शीघ्र पचते हैं। देशविशेष से विपर्यास होता है, जैसे—जाङ्गलदेश में गुरुविपाकवाले द्रव्य शीघ्र पचते हैं और अनूप देश में लघुविपाकवाले द्रव्य देरी से पचते हैं। काल-विशेष से विपर्यास होता है, जैसे--वर्षा काल में लघु द्रव्य देरी से पचते हैं और हेमन्त ऋतु में गुरु द्रव्य शीघ्र पचते हैं। संयोगविशेष से विपर्यास होता है, जैसे--सोंठ मिलाया हुआ दूध गुरु-गुरुविपाक होने पर भी शीघ्र पचता है। पाकविशेष से विपर्यास होता है, जैसे--जला हुआ या अधपका हुआ द्रव्य देरी से पचता है और ठीक पकाया हुआ दूध शीघ्र पचता है।

भुज्यमानानां द्रव्याणां विपाकः कदा उपलभ्यते--

× × × × × × × विपाकः कर्मनिष्ठया।

—च. सू. अ. १६

कर्मनिष्ठयेति कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः कर्मनिष्ठा कर्मसमाप्तिः। रसोपयोगे सति योऽन्त्याहारपरिणामकृतः कर्मविशेषः कफ-शुक्राभिवृद्ध्यादिलक्षणः, तेन विपाको निश्चीयते। एतेन विपाको नित्यपरोक्षः, तत्कार्येणानुमीयते। (च. द.)। तर्हि विपाकोऽपि वीर्यं निपाते द्रव्याणां नोपलभ्यते, कथमुपलभ्यत इत्याह--विपाकः कर्मनिष्ठयेति। द्रव्याणां भुक्तानां यावन्ति कर्माणि तावतां कर्मणां निष्ठया परिसमाप्त्या विपाक उपलभ्यते (ग.)। विपाकः कर्मणः आहारपरिणामकृतस्य, निष्ठा निष्पत्तिः दोष-शुक्रवृद्धि-क्षयलक्षणा, तया उपलभ्यते (यो.)॥

(विद्याद्) विपाकं द्रव्याणां कर्मणः परिनिष्ठया।

—अ. सं. सू. अ. १७

विपाकविशेषं तु कर्मणः तत्कृतस्य परिनिष्ठया निष्पत्तेःदोषवृद्धि-क्षयविशेषेण विद्यात् (इन्दु)॥

खाए हुए द्रव्योंका जठराग्नि के द्वारा परिपाक होने के बाद रसों का जो अन्तिम परिणाम (कफ-शुक्रवृद्धि आदि कार्य) होता है उसको देखकर अनुमान द्वारा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विपाकका ज्ञान-निर्णय होता है। विपाक सर्वदा अप्रत्यक्ष होता है, कार्य देखकर अमुक प्रकारका विपाक हुआ है यह अनुमान किया जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता और रसवैशेषिकसूत्र देखने से मालूम होता है कि—प्राचीन समय में आयुर्वेद में (१) **यथारसविपाक** (**रससदृशविपाक**); (२) **अनवस्थित-अनियत-विपाक**; (३) **त्रिविध विपाक** और (४) **द्विविध विपाक** ये चार मत प्रचलित थे। उनमें से **यथारसविपाक** अर्थात् मधुरादि छहों रसों का अपने सदृश विपाक होता है, अतः रसभेद से छः प्रकार का विपाक होता है। यह **षड्विपाकवाद** और विपाककाल में दुर्बल रस बलवान् रस के अधीन होते हैं, अतः अमुक रस का अमुक रसवाला विपाक होता है इस प्रकार का नियम न होने से विपाक अनियत है यह **अनवस्थितविपाकवाद**, इन दोनों मतोंका तन्त्रकारों और टीकाकारों ने युक्तिपूर्वक खंडन किया है। शेष दो मतों में से एक मत में मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन प्रकार का विपाक होता है; यह आत्रेय-संप्रदाय के **अग्निवेश, पराशर** आदि आचार्योंका मत है। **वृद्धवाग्भट्ट** और **वाग्भट्ट** इस मत के अनुयायी हैं। इस मत को '**त्रिविधविपाकवाद**' वा '**रस-विपाकवाद**' कह सकते हैं। क्योंकि ये छः रसोंका मधुर, अम्ल और कटु—इन तीन रसों में विपाक मानते हैं। दूसरा छहों रसों के (रसवाले द्रव्यों के) **गुरु** और **लघु** दो प्रकार के विपाक होते हैं ऐसा धन्वन्तरि संप्रदायवाले **सुश्रुत** और **नागार्जुन**का मत है। इस मत को '**द्विविधविपाकवाद**' या '**गुणविपाकवाद**' नाम दे सकते हैं। इस संप्रदायवालों ने **गुरुविपाकको मधुरविपाक** और **लघुविपाकको कटुविपाक** ये पारिभाषिक नाम दिये हैं, तथापि उनको रसविपाकवादी नहीं कह सकते। क्योंकि उन्होंने **गुरु** और **लघु** इन दो गुणों में **मधुर** और **कटु** शब्द का गौणरूप से प्रयोग किया है। यह बात **रसवैशेषिक सूत्र** और उसके भाष्य में स्पष्टतया बताई गई है। यद्यपि आपाततः इन दोनों मतों में विरोध मालूम होता है, परन्तु दोनों मतों के फल में विरोध न होने से अर्थात् दोनों मतों में विपाकोंका फल सदृश होने से फल में अन्तर नहीं पड़ता। **चरकने** लिखा है कि—मधुर विपाक गुरु है और कटु तथा अम्ल विपाक **लघु** है। गुरु-विपाक के जो गुण सुश्रुत ने लिखे हैं वे सब मधुर विपाक में तथा लघु विपाक के जो गुण सुश्रुत ने लिखे हैं वे सब अम्ल और कटुविपाक में पाये जाते हैं। अतः दोनों मतवादियों की विचारश्रेणी और शब्द प्रयोग में ही अन्तर है, फल में कोई भी अन्तर नहीं है।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिकमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे विपाकविज्ञानीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

———

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीर्य-प्रभाव-विज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

द्रव्य-गुण-रस-विपाकनिरूपणानन्तरं परिशेष्याद्वीर्य-प्रभावविज्ञानीयोऽध्यायः प्रारभ्यते--

अथातो वीर्य-प्रभाव-विज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेय-धन्वन्तरिप्रभृतयः ।।

द्रव्य, गुण, रस और विपाक के निरूपण के अनन्तर शेष रहे हुए वीर्य और प्रभाव के निरूपण के लिये **वीर्य-प्रभाव-विज्ञानीय** अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है।

वीर्यलक्षणं संख्या च--

× × × येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम् × × × ।।

—च. सू. अ. २६; सु. सू. अ. ४१

येनेति प्रभावेण, रसेन, वीर्येण, विपाकेन वा; अयं च वीर्यशब्दः पारिभाषिक-वीर्यवचनो न भवति, किन्तु शक्तिमात्रवचनः; यदुक्तं चरकेऽपि—"नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया ।" (च. सू. अ. २६) इति; तेन प्रभाव-रसादयः सर्व एव स्वकार्यं कुर्वन्तः शक्तिपर्यायरूपवीर्यवाच्या इति ज्ञेयाः (च. द.) ।।

मृदु-तीक्ष्ण-गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षोष्ण-शीतलम् ।
वीर्यमष्टविधं केचित्, केचिद् द्विविधमास्थिताः ।।
शीतोष्णमिति; वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया ।
नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया ।।

च. सू. अ. २६

एकीयमतेन वीर्यलक्षणमाह—मृद्वित्यादि । एतच्चैकीयमतद्वयं परिभाषिकीं वीर्यसंज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तम् । वैद्यके हि रस-विपाक-प्रभावव्यतिरिक्ते प्रभूतकार्य-कारिणि गुणे 'वीर्यम्' इति संज्ञा, तेनाष्टविधवीर्यवादिमते पिच्छिल-विशदादयो गुणा न रसादिविपरीतंकार्यं प्रायः कुर्वन्ति, तेन तेषां रसाद्युपदेशेनैव ग्रहणं; मृद्वादीनां तु रसाद्यभिभावकत्वमस्ति, यथा—पिप्पल्यां कटुरसकार्यं पित्तकोपन-मभिभूय तद्गते मृदु-शीतवीर्ये पित्तमेव शमयत इति, तथा कषाये तिक्तानुरसे महति पञ्चमूले तत्कार्यं वातकोपनमभिभूयोष्णेन वीर्येण तद्विरुद्धं वातशमनमेव क्रियते, तथा मधुरेऽपीक्षौ शीतवीर्यत्वेन वातवृद्धिरित्यादि । यदुक्तं सुश्रुते—"एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म दर्शयन्ति ।" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादि । शीतोष्णवीर्यवादिमतं त्वग्नीषोमीयत्वाज्जगतः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शीतोष्णयोरेव प्राधान्याज्ज्ञेयम्। उक्तं च--"नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ। व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ॥" (अ. हृ. सू. अ. ९) इति। एतच्च मतद्वयमप्याचार्यस्य परिभाषासिद्धमनुमतमेव, येनोत्तरत्र "रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।" (च. सू. अ. २६) इत्यादौ पारिभाषिकमेव वीर्यं निर्देक्ष्यति। पारिभाषिक-वीर्यसंज्ञापरित्यागेन तु शक्तिपर्यायस्य वीर्यस्य लक्षणमाह--वीर्यं त्वित्यादि। वीर्यमिति शक्तिः। येनेति रसेन वा, विपाकेन वा, प्रभावेण वा, गुर्वादि-परादिभिर्गुणैर्वा, या क्रिया तर्पण-प्रह्लादन-शमनादिरूपा क्रियते, तस्यां क्रियायां तद्रसादि वीर्यम्। अत एवोक्तं सुश्रुते--"येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्" (सु. सू. अ. ४०) इति। अत्रैव लोकप्रसिद्धामुपपत्तिमाह--नावीर्यमित्यादि। अवीर्यम्, अशक्तमित्यर्थः। वीर्यकृतेति वीर्यवता कृता वीर्यकृता (च. द.)। साम्प्रतं वीर्यमभिधीयते। तत्रादौ परेषां मतमाह--मृद्वित्यादि। केचिद् मृदु तीक्ष्णं, गुरु, लघु, स्निग्धं, रूक्षम्, उष्णं, शीतं च, इत्यष्टविधं वीर्यमाहुः। गुर्वादयोऽष्टौ वीर्यमुच्यन्ते तैः। गुर्वादीनामष्टानां वीर्यसंज्ञा, शक्तिमत्त्वात्; अन्ये गुणास्तु गुणा एव, सामर्थ्यहीनत्वात्। केचित् शीतोष्णमिति द्विविधं वीर्यमास्थिताः; अग्नी-षोमात्मकत्वाज्जगतः केचित् शीतम्, उष्णम्, इति द्विविधं वीर्यं प्राहुः। × × ×। स्वमतमाह--वीर्यं त्विति। 'तु' पूर्वपक्षाद् व्यवच्छेदे। येन या क्रिया क्रियते तद्वीर्यं, यद्योगात् क्रिया क्रियते द्रव्ये स्थितं तत् सर्वं गुणजातं वीर्यमेव, येन कुर्वन्ति तद् वीर्यमिति। अवीर्यं यन्न वीर्यं तन्न किंचित् कुरुते न कांचिदर्थक्रियां निष्पादयति; यतः सर्वाः क्रिया वीर्येण कृता जनिताः, ततः यन्न वीर्यं तन्न किंचित् कुरुते (यो.)। ननु स्नेहाद्यो गुणाः किं कुर्वन्ति, कदा वेत्यत आह-मृद्वित्यादि। मृद्वादिकमष्टविधं वीर्यमास्थिताः केचित्, अपरे केचिच्छीतोष्णमित्येव द्विविधं वीर्यमास्थिता इति। × × ×। अत्र पिच्छिल-विशदौ न वीर्यसंज्ञयोक्तौ, गुरु-लघू च वीर्यसंज्ञयोक्तौ; सुश्रुते (तु तौ) विपाकावुक्ताविति (पिच्छिलविशदौ वीर्यसंज्ञयोक्तौ तत्र)। स्वमतमाह--वीर्यं त्वित्यादि। क्रियते येन या क्रिया तस्यां क्रियायां तस्य क्रियासाधनं वीर्यं भवति। तर्हि किं द्रव्याणां गुणाः कर्माणि च चिन्त्याचिन्त्यानि प्रभावाख्यानीति सर्वं वीर्यं भवति? इत्यत आह--नावीर्यमित्यादि। किंचिदप्यवीर्यं वस्तु न किंचित् कर्म कुरुते। कस्मात्? सर्वा क्रिया हि यस्माद्वीर्यकृता द्रव्येष्वारोप्यते। सुश्रुतेऽप्येवं--"येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्" (सु. सू. अ. ४०) इति। तथा द्विधा वीर्यमष्टधा वीर्यं चानयोर्द्वयोर्मतेऽन्तर्भूतं भवति। ननु सुश्रुते चोक्तं--"तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्। किंचिद्रस-विपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥" (सु. सू. अ. ४०) इति, स्वयं चात्राध्याये पूर्वमुक्तं--"न तु द्रव्याणि गुणप्रभावादेव कार्मुकाणि भवन्ति। द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाद्

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुणप्रभावाच्च × × × येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं" इत्यादि। तत् कथं 'नावीर्य कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता हि सा।' इति संगच्छते? उच्यते—तद्द्रव्यमात्मना किंचिदिति यदुक्तं तदात्मना स्ववीर्येण प्रभावेणेति च द्रव्यस्य वीर्येणेति, ततो नानुपपत्तिः (ग.)। वीर्यं शक्तिः, सा च पृथिव्यादीनां भूतानां यः सारभागस्तदतिशयरूपा बोध्या; सा च द्विविधा चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुत्वेन; तत्र चिन्त्यक्रियाहेतुर्या द्रव्य-रसादीनां स्व-स्वकर्मणि स्वभावसिद्धा शक्तिः, अचिन्त्यक्रियाहेतुश्च प्रभावापरपर्याया द्रव्याणां रसाद्यननुरूपकार्यकरणशक्तिः। उक्तं च—"भूतप्रसादातिशयो द्रव्ये पाके रसे स्थितः। चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुर्वीर्यं धन्वन्तरेर्मतम्।" इति। एतेन द्रव्य-रस-विपाकानां स्व-स्वकार्यकरणसामर्थ्यं वीर्यमित्यर्थः। यत्, पुनश्चरके-"वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया।" (च. सू. स्था. अ. २६) इत्यनेन "वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया।" (च. सू. स्था. अ. २६) इत्यनेन रसादीनामपि वीर्यत्वमुक्तं, तद्धर्म-धर्मिणोरभेदादेव समर्थनीयम्। न चैवं द्रव्यस्यापि वीर्यत्वप्रसङ्गः, येनेति करणे तृतीया, करणस्यैव शक्तित्वात्, द्रव्यस्य च कर्तृत्वात्; एतेन द्रव्यकर्तृके रसादिकरणके कार्ये रसादीनामपि वीर्यत्वमित्यर्थः। सुश्रुतेऽप्युक्तं—"येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्" (सु. सू. स्था. अ. ४१) इति। अत्र केचित्—ननु यदि शक्तिरेव वीर्यं न तर्हि शीतोष्णादिलक्षणम्, अथ शीतोष्णादिलक्षणं न तदा शक्तिलक्षणमिति। सत्यं, परमार्थतः शक्तिरेव वीर्यं, सा पुनर्बलवत्क्रियानिर्वर्तनक्षमा रसादिनाऽयोगान्निरुपाधिरिति तस्याः शीतोष्णादयो गुणा उपाधित्वेनाङ्गीकृता; ते तु द्रव्यसमवायिनो रसादिषु पुनरुपचरितवृत्तय इति। उक्तं च—"गुणाः कर्म-व्यवस्थायै द्रव्याणां रस-पाकयोः। शक्तेः कर्मसु शक्ता ये निरुपाधेरुपाधयः॥" इत्याहुः। यत् पुनः "मृदु-तीक्ष्ण-गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षोष्ण-शीतलम्। वीर्यमष्टविधं केचित् केचिद् द्विविधमास्थिताः॥ शीतोष्णमिति" (च. सू. अ. २६) इति मतभेदेनाष्टविधं द्विविधं वा वीर्यमित्युक्तं चरकेण, तत् पारिभाषिकवीर्यपुरस्कारेण। प्रथमवादिमते शक्तिमात्रं वीर्यं, तद्योगाद्रसादीनामपि वीर्यसंज्ञा; पारिभाषिक-वीर्यवादिमते तु शक्तिविशेषो वीर्यं, तद्योगान्मृदुतीक्ष्णादीनामेव वीर्यसंज्ञा, नापरेषां गुणानामिति। शास्त्रे व्यवहारस्तु पारिभाषिकवीर्यनयेनैवेति। भवन्ति चात्र—"शक्तिमात्रं तु वीर्यं स्यादिति केचिद् बुधा विदुः। तन्मते द्रव्य-रसयोः पाकस्य च गुणस्य च॥ मृद्वादेः स्वक्रियोत्पादे शक्तिर्वीर्यमिति स्थितिः। यदुक्तं चरके—वीर्यं क्रियते येन या क्रिया॥ नावीर्यं कुरुते किंचित्, सर्वा वीर्यकृता क्रिया।" इत्यनेन रसादीनां वीर्यत्वं तदभेदतः॥ मृद्वादयो गुणा ह्यष्टौ वीर्याणीत्यूचिरे परे। यस्मात् सर्वगुणोत्कृष्टाः शक्त्युत्कर्षयुता अमी[1]॥ व्यवहारोपयुक्ताश्च नेदृशास्त्वपरे गुणाः।

१—'अपि' इति पाठान्तरम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तस्मान्न ते वीर्यसंज्ञा इति शास्त्रविदां मतम् ॥ अन्ये शीतोष्णभेदेन वीर्य द्विविधमूचिरे। अग्नी-षोममयं विश्वं यत् एतच्चराचरम् ॥" इति। × × ×। (शि.) ॥

वीर्यं तु केचिद् गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्ष-तीक्ष्ण-मन्द (मृदु) शीतोष्णभेदेनाष्टविधमाहुः। अपरे पुनः पठन्ति--

वीर्यं द्रव्यस्य तज्ज्ञेयं यद्योगात् क्रियते क्रिया।
नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता हि सा ॥

तैरपि चैवमतिप्रकृष्टशक्तियुक्तानामशेषौधगुणसारभूतानामष्टानामेव गुर्वादीनां वीर्यसंज्ञा विशिष्टाम्नायविहिताऽपि लौकिकीति समुद्घाव्यते, तथा हि तया रस-विपाक-गुणान्तरविजयिनो भूयांसश्च वरिष्ठाश्च गुणाः संगृहीताः। विशेषवृत्त्या च तत्र तत्र द्रव्यस्वरूपकथने व्यवहारः प्रवर्तितो भवति। अत एव सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः 'प्रभाव' इत्याम्नातः। सत्यपि च क्रियानिर्वर्तनसामान्ये तद्विपरीता रसादयो वीर्याख्यया प्रभावसंज्ञया वा न परामृश्यन्ते। अन्ये तु गुर्वादीनामग्नी-षोमात्मकत्वादादान-विसर्गविभागेन कालस्य चोष्ण-शीतात्मकत्वाद् द्विविधमेवामनन्ति। एवं चाहुः--

नानात्मकमपि द्रव्यमग्नी-षोमौ महाबलौ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ॥
गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः।
परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः ॥

--अ० सं० सू० अ० १७

केचिदाचार्या अष्टविधं गुर्वादिभेदेन वीर्यमाहुः, अन्ये बहुविधम्, अन्ये द्विविधमिति। ये तु बहुवीर्यवादिनस्ते पठन्ति--वीर्यं द्रव्यस्येत्यादि। द्रव्यस्य तद्वीर्यं ज्ञेयं यस्य योगाद् द्रव्यं कार्यं कर्तुं क्षमम्। न च द्रव्यमवीर्यं वीर्येण बिना किंचित् कर्म कुरुते, अतः सर्वाः क्रियाः वीर्यकृताः। एवं वीर्यं शक्तिः कारणमिति बहुवीर्यवादिनः। तैश्चानन्तरोक्तैर्नाविधशक्तित्वाद् द्रव्यस्य बहुवीर्यवादिभिर्गुर्वादीनामष्टानां वीर्यसंज्ञा विशिष्टागमविहिताऽपि लौकिकीति कथ्यते। यतः शक्तिर्वीर्यं, सा च नानाविधा, तद् गुर्वादीन् को नियमयितुं शक्नोति, केवलं प्रकृष्टशक्तित्वादशेषाणामौषधगुणानां मध्ये सारभूतत्वाल्लोके एवं कथ्यन्तेऽष्टौ वीर्याणीति। अतो बहुवीर्यवादिभिर्गुर्वादिगुणनियम आगमविहितोऽपि लौकिक इति कथ्यते, एतदेवाह--तयेत्यादि। तया वीर्यसंज्ञया रस-विपाक-गुणान्तर-विजयिन एतेऽष्टावेव गुणाः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संगृहीता भूयांसश्च वरिष्ठाश्च। तेनैतदुक्तं भवति—एषामष्टानामेव वीर्यसंज्ञा, भूयिष्ठत्वाद्वरिष्ठत्वाद्रसादिविजयित्वाच्चेति बहुवीर्यवादिभिरपि बलादङ्गीकृतमेव। द्रव्ये हि न तथाऽन्ये गुणाः प्रभूतत्वेन भवन्ति यथा गुर्वादय इति प्रभूतत्वम्; अन्ये च गुणा न तथा देहोपयोगित्वे वरा यथा गुर्वादय इति वरिष्ठत्वं; रसकार्यं विपाककार्यं गुणान्तरं च द्रव्यस्थितं वीर्यत्वेनाभिभवन्तीति रसादिविजयित्वम्। तत्र रसविजयित्वं यथा—किंचिद् द्रव्यं मधुररसं तीक्ष्णगुणं च, तत्र तीक्ष्णगुणेनोपलेपादि मधुरकार्यमभिभूयते, एवं विपाक-कार्यं गुणान्तरं च। एवं तेषां प्राधान्येन तत्र तत्र हरीतक्यादिद्रव्यस्वरूपकथने गुर्वादीनां विशेषवर्तित्वेन 'गुरू, लघु' इत्यादिव्यवहारः प्रवर्ततो भवति। एवमुत्कृष्टा शक्तिर्वीर्यम्। अनयैव युक्त्या यो द्रव्यस्य सर्वगुणातिशायी स्वभावः, स प्रभावशब्देनोक्तः। तेनैतदुक्तं भवति—यथैव गुर्वादीनां कार्यकर्तृत्वे प्राधान्यापेक्षया वीर्यत्वं तथैव गुर्वादीनामप्राधान्यापेक्षया कस्याश्चिच्छक्तेः सर्वातिशायित्वात् संज्ञा 'प्रभाव' इति। नहि तद्व्यतिरिक्तेषु रसादिषु कल्प्यमानेषु दृश्यते। अतः स्वभावविशेष एव सः। रसादयो रस-वीर्य विपाक-गुणान्तराणि यद्यपि स्वां स्वां क्रियां कुर्वन्ति, तथापि गुर्वाद्युक्तप्रकारवैपरीत्याद् वीर्यसंज्ञया न परामृश्यन्ते। एवं बहुवीर्यवादिनामप्यष्टविधवीर्यवादित्वं युक्त्या साधितं—तैरपीत्यादिना। अन्ये वीर्यद्वयवादिनः अग्नी-षोमात्मकत्वाद् गुणानां कालस्य चोष्ण-शीत द्वैविध्याद् द्विविधमेव वीर्यमुष्णं शीतं चेति वदन्ति। तथा हि गुर्वादीनां केचन सौम्याः केचनाग्नेयाः, महाभूतपरायत्तत्वाद् गुणानाम्। ते गुर्वादयो द्विविधे काले संभदन्त्यादाने, विसर्गे च। तत्रादानकालभवानामाग्नेयत्वं गुर्वादीनां, विसर्गभवानां तु सौम्यत्वमिति स्थितमेव। एतस्यैवाग्नी-षोमात्मकत्वस्य तैर्दृष्टान्तोपपत्तिरुच्यते—नानात्मकमित्यादिना। नानात्मकं परस्परेण व्यावृत्तमपि द्रव्यजातं, महाबलो उत्कृष्टशक्ती, नातिक्रामति नातिवर्तते। अवश्यं किंचिदाग्नेयं भवति, किंचित् सौम्यम्। दृष्टान्तो यथा—नानात्मकमपि जगद् व्यक्तमव्यक्तं च नातिक्रामति। व्यक्तं तरु-पर्वत-जलादि, अव्यक्तं काल-भूतग्रामादि। अस्मिन् पक्षे पूर्वयोरपि पक्षयोरन्तर्भावः, विशेषस्य सामान्येऽन्तर्भावात्। पूर्वोक्ता गुर्वाद्या अष्टौ यदोत्कृष्टशक्तयः सन्तो द्रव्यं समधिशेरते तदा वीर्यशब्दवाच्याः, यदातूत्कृष्टशक्तियुक्ता न भवन्ति तदा सामान्यगुणा एव। ये च गुर्वादिशिष्टा द्वादश गुणाः ते स्वेभावेनैव परसामर्थ्यहीना उत्कृष्टशक्तिरहितास्तेऽपि सामान्यगुणशब्दवाच्याः; ते न कदाचिदपि वीर्याख्यां लभन्ते (इन्दूः)॥

वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरु स्निग्धं हिमं मृदु।
लघु-रूक्षोष्ण-तीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चरकस्त्वाह--वीर्यं तत् क्रियते येन या क्रिया ।
नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता हि सा ।।
गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते ।
समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु ।।
व्यवहाराय मुख्यत्वाद् बह्वग्रग्रहणादपि ।
अतश्च विपरीतत्वात् संभवत्यपि नैव सा ।।
विवक्ष्यते रसाद्येषु, वीर्यं गुर्वादयो ह्यतः ।
उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च ।।
नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ।।

--अ० हृ० सू. अ० ९

उष्ण-शीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम् ।

--अ. सं. सू. अ. १; अ. हृ. सू. अ. १

अथ वीर्यस्य विपाकादिभ्यः प्राधान्यात्तच्चर्चां प्रस्तौति —वीर्यमित्यादि । वीर्यं पुनर्गुर्वादीनष्टौ गुणान् द्रव्याश्रितानिति समाचक्षते, तत् तस्मात्, एवमनेन प्रकारेण, वीर्यमष्टधा अष्टप्रकारम्, इति गुर्वादिवीर्यवादिनां मतम् । चरकाचार्यः पुनरेवं वक्ति--येन स्वभावेन या क्रिया क्रियते यत् कर्म निष्पाद्यते तद्वीर्यम् । तदेवं यावत्किञ्चिद् गुणजातं द्रव्ये स्थितं तत् सर्वं वीर्यमेव । सर्वं वीर्यं करोतीत्यत एवाह--नावीर्यमित्यादि । यन्न वीर्यं तन्न किंचित् करोति न कांचिदप्यर्थक्रियां निष्पादयति, प्रतिनियतशक्तिपरिष्वक्तत्वात् सर्वभावानाम् । अत एवाह--सर्वेत्यादि । 'हि' शब्दो यस्मादर्थे; यस्मात् सर्वा क्रिया वीर्यकृता वीर्येण जनिता, ततो यन्न वीर्यं तन्न किंचित् कुरुते । यतो वीर्यस्यैव करणसामर्थ्यं, तेन कारणेन गुर्वादिष्वेवाष्टासु वीर्याख्या अन्वर्थेति अनुगतार्थेति भण्यते । एवकारोऽवधारणार्थः । गुर्वादिष्वेव वीर्यसंज्ञा, न तु रस विपाक-प्रभावेषु मन्द-सान्द्रादिषु वा । किंभूतेषु गुर्वादिषु ? समग्रेत्यादि । समग्राश्च ते गुणाश्च तेषु साराः चिरकालावस्थितयो गुर्वादय एव, तथा च जठराग्निसंयोगेनापि न मधुरादिरसवत् स्वभावमेते जहति । सर्तेः 'सृ स्थिरे' (पा. अ. ३।३।१७) इति घञि सारशब्दः । तथा अन्येभ्यो मन्द-सान्द्रादिभ्यो गुणेभ्यो रसादिभ्यो वा गुर्वादयः शक्त्युत्कर्षविवर्तिनः शक्तेः सामर्थ्यस्य उत्कर्षः आधिक्यं, विशेषेण वर्तो विवर्तः विशेषेण भवनं, शक्त्युत्कर्षस्य विवर्तः, स विद्यते येषां त एवम् । किंच गुर्वादीनां गुणानां व्यवहाराय व्यवहारार्थम्, मुख्यत्वात्; अन्येभ्यो गुणेभ्यो गुर्वादयः प्रधानभूता इत्यर्थः । तथा च "गुर्वादयो गुणा द्रव्ये

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पृथिव्यादौ रसाश्रये।" (अ. हृ. सू. अ. ९) इत्युक्तं, न मधुरादयो गुणा इति। तस्माद् गुर्वादीनां गुणानां व्यवहारमुख्यत्वं रसादिभ्यः। तथा, बह्वग्रग्रहणात् बहुग्रहणादग्रग्रहणाच्च। बहवो द्रव्यरसादयो गुर्वादिभिर्गृहीता भवन्ति। तथा चायुर्वेदशास्त्रेषु रसादिभ्यो गुर्वादीनामग्रे ग्रहणं दृष्टम्। यथा वातादिदोषगुण-निरूपणायां गुर्वादीनां पूर्वं ग्रहणं, न रसादीनाम्। तथा च "तत्र रूक्षो लघुः" (अ. हृ. सू. अ. १) इत्याचार्योऽपठद्वाग्भ्वादिलक्षणे। एवं गुर्वादीनामेवाग्रग्रहणाद् गुर्वादिष्वेव वीर्याख्याऽन्वर्था अनुगतार्थेति भण्यते। अतः अस्माच्च कारणकदम्बकात्, विपरीतत्वात् वैपरीत्येन स्थितत्वात्, न रसादयो वीर्यम्। तथा हि रसस्य सारत्वं नास्ति, जाठरानलसंयोगवशेन रसान्तरोत्पत्तेः; गुर्वादीनां तु जाठराग्नि-संयोगवशेनापि नान्यथाभावः। तथा च न रसस्य शक्त्युत्कर्षविवर्तित्वं, यतो रसस्य गुर्वाद्याहितशक्तेरेव स्वकर्मणि सामर्थ्यम्। व्यवहाराय यथा गर्वादेर्मुख्यत्वं, यथा च बह्वग्रग्रहणं, तथा प्राग्दर्शितम्। प्रभावः सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः, तस्य च क्रियानिर्वर्तनसामान्ये सत्यपि वीर्यसंज्ञा पूर्वोक्ताद्धेतोर्न प्रवर्तते। एवं विपाक-कर्मणोरपि चिन्त्यम्। तस्मात् रसाद्येषु संभवत्यपि विद्यमानाऽपि, असदूपेव सा वीर्यसंज्ञा न विवक्ष्यते नोररीक्रियते। आदौ भवः आद्यः, दिगादित्वाद्यत्; रस आद्यो येषां प्रभावादीनां, त एवं, तेषु। वीर्यमित्यादि। हिशब्दो यस्मादर्थे। यत एवं सा वीर्यसंज्ञा संभवत्यपि रसादिषु वैपरीत्यान्न विवक्ष्यते, अतो गुर्वादय एव वीर्यं, न रसादयः। अन्ये आचार्या उष्णं शीतमिति द्विप्रकारं वीर्यमाचक्षते। एवकारोऽवधारणार्थः। द्विधैव वीर्यं, नाष्टधेति। अपि चेति निपातसमुदायो युक्ति-समुच्चये। तेऽपि सयुक्तिकमेवाहुरित्यर्थः। तामेव युक्तिं दर्शयन्नाह——नानात्मक-मपीत्यादि। नानास्वभावमपि द्रव्यं स्थावर-जङ्गमाख्यं चेतनाचेतनम्, अग्नी-षोमौ महाबलौ उत्कृष्टशक्ती, न जातु कदाचिदतिक्रामति नोल्लंघ्यते वर्तते; अवश्य हि द्रव्यं किञ्चिदाग्नेयं, किञ्चित्सौम्यं; अतः किञ्चिद् द्रव्यमुष्णवीर्यं, किञ्चिच्छीतवीर्यम्। तथा मुनिः (च. सू. अ. २६) "न मत्स्यान्, पयसा सहाभ्यवहरेत्; उभयं ह्येतन्मधुरं मधुरविपाकं शीतोष्णत्वाद् विरुद्धवीर्यं, विरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणाय।" इति। अत्र दृष्टान्तमाह——व्यक्ताव्यक्त-मित्यादि। व्यक्तं चाव्यक्तं च व्यक्ताव्यक्तं; नानात्मकमपि जगत् त्रैलोक्यं कर्तृ, यथा व्यक्तं चाव्यक्तं च नातिक्रामति, तथा द्रव्यमग्नी-षोमावित्यर्थः। व्यक्तं स्थूलं दृश्यमित्यर्थः; सांख्यानां तु महदादि व्यक्तम्, अव्यक्तं प्रधानं पुरुषश्च (सु. अ. ९)। तत्र तस्मिन् द्रव्ये, वीर्यं द्विविधम्। विंशतेर्गुणानां मध्याद् द्वावुष्ण शीतौ तदुत्कर्षाद्वीर्यमिति सर्वायुर्वेदप्रसिद्धौ। द्वावेव गुणौ शीतोष्णौ वीर्य-करणहेतू। वीर्यं शक्तिः। उष्णगुणोत्कर्ष उष्णगुणातिशय एव कश्चिदुष्ण-वीर्याख्यां लभते, तथा शीतगुणोत्कर्षः शीतगुणातिशय एव शीतवीर्याख्याम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यद्यपि नानात्मकमपि द्रव्यं, तथाऽप्यग्नीषोमात्मकत्वाज्जगतो द्विधैव वीर्यम् (सू. अ. १) (अ. द.)। अथ वीर्यं, तत्र परमतं दर्शयति—वीर्यं पुनरिति। एके खारणादिप्रभृतयः, गुर्वादीन् गुणान् वीर्यं वदन्ति; एवं च तदष्टधा संमतम्। सुश्रुतस्तु गुरु-लघू विहाय विशद-पिच्छिलौ पठति—"केचिदष्टविधमाहुः—उष्णं, शीतं, स्निग्धं, रूक्षं, विशदं, पिच्छिलं, मृदु, तीक्ष्णं चेति।" (सु. सू. ४०) इति। चरकमतं दर्शयति—चरकस्त्वाहेति। येन क्रियते तद् वीर्यं, द्रव्यकर्तृके कर्मणि करणभूतमित्यर्थः। कतिविधं तत्? इत्यपेक्षायामाह—या क्रियेति। या क्रिया येन क्रियते तस्यां तद्वीर्यं, यावत्यः क्रियास्तावन्त्येव वीर्याणीत्यर्थः। कुत इत्याह—नावीर्यमिति। अवीर्यं द्रव्यं न किञ्चित् कुरुते वीर्यं विना कर्तृत्वं नास्तीत्यर्थः। कुतः? इत्याह—सर्वा वीर्यकृता हि सा। हि यस्मात् सा क्रिया सर्वाऽपि वीर्यकृता। ननु, एवं रसादीनामपि वीर्यत्वप्रसंग इत्याह— गुर्वादिष्विति। तेन चरकेण गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या वर्ण्यते। कुतः? अन्वर्थेति कृत्वा। इतिशब्दो हेतौ। यतस्तेषु क्रियमाणा वीर्यसंज्ञा अन्वर्था स्यात् अन्वर्थत्वमेव दर्शयति—समग्रेत्यादि। करणं हि वीर्यं, करणं च साधकतमं, साधकतमत्वं च गुर्वादीनामेव। कुतः? समग्रगुणसारत्वात् समग्रेषु गुणेषु मध्ये सारत्वात् चिरस्थायित्वात्; शक्त्युत्कर्षविवर्तनात् उत्कृष्टशक्तित्वात्; व्यवहाराय मुख्यत्वात् लोके शास्त्रे च मुख्यत्वेन व्यवह्रियमाणत्वात्; बह्वग्रग्रहणात् बहुगणगणनायां प्रथमग्रहणात्। विपाकेऽपि स्थिरत्वस्य, प्रभावेऽपि शक्त्युत्कर्षस्य, मृदु-कठिनादावपि व्यवहारमुख्यत्वस्य, रसेष्वपि बह्वग्रग्रहणस्य दर्शनात् चतुर्णामुपादानम्। एतच्च रसादिषु नास्तीति दर्शयति—अतश्चेति। सा वीर्याख्या, रसादिषु संभवत्यपि विद्यमानाऽपि, न विवक्ष्यते, 'अनुदरा कन्या' इतिवत्। क्रियानिर्वर्तनसामान्यात् सत्यपि वीर्यत्वे रसादयो वीर्यत्वेन न व्यवह्रियन्त इत्यर्थः। कुतः? अतः हेतुचतुष्टयाद् विपरीतत्वात्। सिद्धमर्थमनुवदति—वीर्यमिति। हि स्फुटम् अतः कारणात् गुर्वादय एव वीर्यम्। गुर्वादीनामष्टानां योगरूढा वीर्यसंज्ञेति भावः। पूर्वमतापरितोषान्मतान्तरं दर्शयति—उष्णं शीतमिति। अन्ये सुश्रुतादयः, उष्णं शीतं चेति द्विविधमेव वीर्यमाचक्षते वदन्ति। उक्तमतस्योपपत्तिमाह—अपि च नानात्मकमिति। न केवलं मतमात्रमिदं, युक्तं चेदं पूर्वस्मान्मतात्, इति 'अपि च' इत्यस्यार्थः। नानात्मकमपि पृथिव्याद्यनेककारणमपि, द्रव्यमग्नी-षोमौ जातुचित् कदाचिदपि, नातिक्रामति तयोर्वशे वर्तते; किञ्चिदाग्नेयत्वादुष्णं, किञ्चित् सौम्यत्वाच्छीतमिति द्विधैव गतिरित्यर्थः। कुतः? यतस्तौ महाबलौ, अत एव सर्वान् गुणान् गुर्वादयोऽभिभवन्ति, गुर्वादीनप्युष्ण-शीतौ। अत्र दृष्टान्तमाह—यथा विश्वं कर्तृ व्यक्ताव्यक्ताख्यभेदद्वयं नातिक्रामति। वीर्यद्वैविध्यमाह—उष्णेत्यादि। तच्च उष्णं शीतं च। ननु गुरू-लघु-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द (मृदु) तीक्ष्णानामपि वीर्यत्वात्

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कथं द्वे एवेत्यत आह--उष्ण-शीतगुणोत्कर्षात्। यद्यपि कायाग्निपाकादष्टौ गुणा जायन्ते, तथाऽप्युष्ण-शीतयोर्गुणयोरुत्कर्षाद् द्वैविध्यम्। गुणान्तरतिरस्कारे शक्तिरुत्कर्षः। शक्त्युत्कर्षे वीर्यशब्दो लोकेऽपि प्रसिद्धः। तत्र द्रव्ये; वीर्यमपि द्रव्याश्रयमित्यर्थः (हे.)॥

द्रव्यगुणशास्त्र में 'वीर्य' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। एक द्रव्य की शक्तिरूप वीर्य के अर्थ में और दूसरा पारिभाषिक वीर्य के अर्थ में। टीकाकारों ने द्रव्यगत शक्ति को वीर्य मानने वालों को शक्तिरूपवीर्यवादी[1] या बहुविध वीर्यवादी और पारिभाषिक वीर्य माननेवालों को पारिभाषिकवीर्यवादी ये नाम दिये हैं। शक्तिरूपवीर्यवादियों का कथन है कि--संसार में सब कार्य शक्ति से ही होते हैं। कोई भी कार्य शक्ति के विना सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः द्रव्यगत भूतप्रसादातिशय रूप (जन्य) जिस कार्यकारिणी शक्ति के द्वारा जीवित मानव शरीर के ऊपर संशोधन-संशमन आदि कुछ भी कार्य होता है उस शक्ति को, वह चाहे द्रव्यस्वभाव (द्रव्य की पार्थिव-आप्य आदि पाञ्चभौतिक रचना) रूप हो, रसरूप हो, विपाक रुप हो, उत्कृष्ट शक्तिसंपन्न शीतोष्णादिगुणरुप हो या द्रव्यगत सारभाग-सत्त्वांशरूप हो, उसको वीर्य कहते हैं। जीवित शरीर पर क्रिया करने की शक्ति से संपन्न पाञ्चभौतिक रचनाविशेष (विशिष्ट संगठन) रस, गुण, विपाक या द्रव्यगत सत्त्वांश--इन सब पर यह लक्षण लागू पड़ता है। दूसरे पारिभाषिकवीर्यवादियों-का कहना हैं कि--द्रव्यस्वभाव, रस, गुण और विपाक इनका आयुर्वेद में स्वतंत्र वर्णन और विचार किया ही गया है, अतः इनके अतिरिक्त उत्कृष्टशक्तिसंपन्न और प्रभूत-विशेष कार्य करनेवाले गुरु, लघु, मृदु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण--इन आठ गुणों को ही वीर्य-संज्ञा देना उचित है। इन पारिभाषिक-वीर्यवादियों में भी दो पक्ष हैं--एक अष्टविधवीर्यवादी और दूसरा द्विविधवीर्यवादी। अष्टविधवीर्यवादी कहते हैं कि--गुरु, स्निग्ध, शीत, मृदु, लघु, रूक्ष, उष्ण और तीक्ष्ण--ये आठ गुण समग्र गुणों में साररूप अर्थात् चिरस्थायी[2] हैं, अन्य गुणों से उत्कृष्टशक्तिवाले हैं, लोक और शास्त्र मै मुख्यतया इनसे व्यवहार होता[3] है, अनेक (विंशति) गुणों की गणना में इनकी पहले गणना[4] की गई है, रस-विपाक और

१--शक्तिरूपवीर्यवादी को 'बहुवीर्यवादी ऐसा नाम अष्टाङ्गसंग्रह के व्याख्याकार इन्दुने दिया है।

२--जठराग्नि के योग से मधुरादि रस-गुण अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यथा भावको प्राप्त होते हैं, परन्तु गुर्वादि गुण अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, इसलिये सब गुणों में साररूप--चिरस्थायी हैं।

३--जैसे--"गुर्वादयो गुणा द्रव्ये" (च.सू.अ.२६) इत्यादि स्थलों मे गुर्वादि का ही ग्रहण किया गया है।

४--जैसे--वातगुणों में कहा गया है--"तत्र रूक्षो लघुः शीतः"→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अन्य गुणों का पराभव करके ये अपना कार्य करते हैं, अन्य गुणों की अपेक्षया द्रव्यों में अधिकता से रहते हैं और देहोपयोगित्व में श्रेष्ठ हैं, इसलिये गुर्वादि आठ गुणों में ही **'वीर्य'** संज्ञा सार्थक है। गुर्वादि आठ गुण जब उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न होकर द्रव्य में रहते हैं तब उनको **'वीर्य'** कहा जाता है, परन्तु जब वे उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न नहीं होते तब **सामान्यतया गुण** ही कहे जाते हैं। अवशिष्ट बारह गुण उत्कृष्ट शक्तिरहित होने से सामान्यतया **'गुण'** ही कहलाते हैं। पूर्वोक्त हेतुओं से रसादि में भी क्रिया करने का सामर्थ्य होने से वीर्य संज्ञा का सम्भव है, तथाऽपि उनमें ऊपर कहे सब लक्षण नहीं पाये जाते, अतः उनको 'वीर्य' संज्ञा नहीं दी जाती। गुर्वादि आठ गुणों को वीर्य माननेवालों को **पारिभाषिक वीर्यवादी, गुण-वीर्यवादी** या **अष्टविध-वीर्यवादी** कहते हैं। द्विविधवीर्यवादी कहते हैं कि– यद्यपि जगत् में सब द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं, तथाऽपि पञ्चमहाभूतों में अग्नि और सोम (जल) महाबलवान् होने से सब द्रव्योंपर उनका प्रभाव विशेष-अधिक पड़ता है और काल भी **आदान (आग्नेय)** और **विसर्ग (सौम्य)** भेद से दो प्रकार का है, अतः अग्निगुणप्रधान उष्ण और सोम (जल) गुणप्रधान **शीत** ऐसे दो प्रकार का वीर्य मानना उचित है। इस मत को माननेवाले भी **पारिभाषिक वीर्यवादी** या **गुण-वीर्यवादी** हैं, तथापि ये दो प्रकार के वीर्य मानते हैं, अतः उनको **द्विविधवीर्यवादी** भी कहते हैं।

सुश्रुतमतेन वीर्यनिरूपणम्--

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति[1]। कस्मात्? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्युर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधन-संशमन-सांग्राहिकाग्निदीपन-पीडन-लेखन-बृंहण-रसायन-वाजीकरण-श्वयथुकरविलयन-दहन-दारण-मादन-प्राणघ्न-विषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति। तच्च वीर्यं द्विविधम्--उष्णं, शीतं च, अग्नी-षोमीयत्वाज्जगतः। केचिदष्टविधमाहुः–शीतं, उष्णं, स्निग्धं, रूक्षं, विशदं[2], पिच्छिलं, मृदु, तीक्ष्णं चेति। एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं

→(च. सु. अ. १) इत्यादि। विपाक में चिरस्थायित्व, प्रभाव मे शक्त्युत्कर्षत्व, कठिनादि में व्यवहारमुख्यत्व और रसों में बह्वग्रग्रहण ये बातें हैं, अतः उनकी व्यावृत्ति के लिये यहाँ चारों हेतु एक साथ दिये गये हैं।

१--'प्राधान्यात्' इति **च. द.**।

२--'गुरु', लघु इति **हाराणचन्द्र** संमतः पाठः। अत्र विशेषस्तदीयटीकायामग्रे समुद्धृतायां द्रष्टव्यः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात् ; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च ; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात् ; अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च ; तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात् ; मधुरा मत्स्याश्च ; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात् ; मधुरं क्षौद्रं च ; तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥

भवन्ति चात्र--

ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै ।
रौक्ष्य-लाघव-शैत्यानि न ते हन्युः समीरणम् ॥
ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै ।
तैक्ष्ण्यौष्ण्य-लघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिणः ॥
ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै ।
स्नेह-गौरव-शैत्यानि न ते तत्कर्मकारिणः ॥

तस्माद्वीर्यं प्रधानमिति[1] (सु० सू० अ० ४०) ॥

१--**वीर्यं प्रधानमित्येके, वीर्यप्राधान्याद् द्रव्याणाम्** (र.वै.अ. १, सू. १३०)। द्रव्याण्यपि वीर्यविशिष्टानि प्रधानानि भवन्ति यस्माद् तस्मात् वीर्यं प्रधानमित्येके, निर्वीर्याणि परित्यजन्तीति (भा.)। किञ्चान्यत्, ? **तेन कर्मकरणात्** (सु. १३१)। --तेन वीर्येण, कर्म ईप्सितं फलं तस्य करणात्, साधनात् "सर्वा वीर्यकृता क्रिया" (च. सू. अ. २६) इति वचनात् (भा.)। किंच, **अचिंत्यत्वात्** (सु. १३२) अपरीक्ष्यत्वाच्चानेन प्रकारेण भविष्यतीति, भूतसमुदयं गुणसमुदयं वाऽऽश्रित्य चिन्तयितुं न शक्यते इति। यथा—अन्तर्धानादिष्वचिन्त्यत्वात् प्रधानो विष्णुः (भा.)। × × **दैवप्रतीघातात्** (सू. १३३)।--दैवं राक्षस-पिशाचादि वीर्येण प्रतिहन्यते, न रसादिभिरिति रक्षोघ्नान्यौषधानि दृश्यन्त इति। उक्तं हि--"वर्जयन्ति यथाऽरण्यं सिंहं मृगपक्षिणः। वर्जयन्ति ग्रहास्तद्वत् सौषधं सूतिकागृहम्।" इति (भा.)। × × **विषप्रतीघातात्** (सू. १३४)। विषं हि स्थावर-जङ्गमात्मकं सर्वं वीर्येण प्रतिहन्यते। "तेन कर्मकरणात्" इत्यनेनैव सिद्धे ननु आम (?), तथाऽपि सिद्धिदर्शनार्थमन्यपदार्थेभ्य इति न दोषः। (भा.)। **दर्शनाच्छ्रवणात्** (सू. १३५)।--एवं च विषप्रतीघातादित्यर्थः। तत् सर्वं दुन्दुभिध्वनीये कल्पे द्रष्टव्यं--"तेन दुन्दुभिमालिम्पेत् पताकास्तोरणानि च।" (सु. क. अ. ३) इत्यादीति (भा.)। किञ्च **तुल्यरस-गुणेषु विशेषात्** (सू. १३६)।--तुल्यरसेषु तुल्यगुणेषु विशेषो दृश्यते--तिक्त शीतो मृदुर्लघुः पिच्छिलमन्दः कुष्ठं जयति, कट्वङ्गः सन्दधाति पक्वातीसारम्। एवं विशेषदर्शनाद् द्रव्य-रस-→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपरेषां वीर्यवादिनां मतं निर्दिशन्नाह--नेत्याहुरन्ये इत्यादि । ईदृशमन्ये न ब्रुवन्ति । तद्वशेनेति वीर्यवशेन । कानि पुनस्तान्यौषधकर्माणीत्याह--इहौषधेत्यादि । संशोधनं व्रणादीनां; संशमनमिति वमन-विरेचनादिकं विना तत्स्थमेव शमयति संशमनं, संशमनभेदा एव सांग्राहिकादयः; पीडनमिति शाल्मलीत्वगादीनां व्रणे कर्मविशेषः; लेखनं पत्तलीकरणं; बृंहणं शरीरवृद्धिकरं; रसायनं वयःस्थापनादिकरणं; वाजीकरणं वाजिवद्येनाप्रतिहतः स्त्रियं याति, अन्ये तु वाजिशब्देन शुक्रमुच्यते ततोऽवाजिनो वाजिनः क्रियन्ते येनेति वाजीकरणं, शुक्रोत्पादकमित्याहुः; श्वयथुकरविलयनेति कर-विलयनशब्दौ श्वयथुशब्देन सह प्रत्येकं संबध्येते, 'श्वयथु-हर-विलयन' इत्येके पठन्ति; दहनं क्षारादिना; दारणं गृध्रपुरीषादिना; मादनं मत्तताकरणम् एतच्च मदिरादीनां कर्म; प्राणघ्नत्वं विषादेः; विषप्रशमनत्वमगदादीनां; विषप्रशमनादीनीत्यत्रादिशब्देन व्रणरोपण-रोमसंजननादयो गृह्यन्ते । स्वबलगुणोत्कर्षादिति स्वबलोत्कर्षात्, स्वगुणोत्कर्षाच्चेत्यर्थः । आत्मकर्म कुर्वन्ति वातादिदोषशमनं, कोपनं वा कुर्वन्ति । अभिभूय निराकरणं कृत्वेत्यर्थः । स्नेहभावाच्चेत्यत्रापि वातं शमयतीति योज्यम् । मधुरश्चेक्षुरस इत्यादि न केवलं वातं न शमयति, वीर्यं रसमभिभूय प्रकोपयत्यपि वातमित्यर्थः । कटुका पिप्पलीत्यादि अत्रार्द्रा पिप्पली यदि गृह्यते तदा तस्याः स्वादु-शीतत्वात् कटुकेति विशेषणं युक्तं न स्यात्; अथ शुष्का, तदा तस्याः कटूष्णत्वात् पित्तं हन्तीति विशेषणमयुक्तं भवेत्; सत्यं, "तेषु गुर्वी स्वादु-शीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा ।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यत्र पाठे शीता चेति चकारो द्रष्टव्यः तेन न केवलं शीता कटुका चेत्यर्थः, ततो नार्द्रपक्षे दोषः; शुष्कपक्षे तु "शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्तात्रिरोधिनी ।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यत्र पित्तेन सहेषद्विरोधिनीति व्याख्यानान्न दोषः; केषांचिन्मते 'पित्तप्रसादनी' इति पाठः; तेषां मते पित्तशमनीयत्वं पिप्पल्या वीर्यवादिनां मतं, न पुनः सत्यमेषा पित्तं शमयति; यदि वा आर्द्रा पित्तप्रशमनी, शुष्का प्रकोपणीति । अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं

--गुणविशिष्टमस्ति प्रधानभूतं वीर्यं, तस्याधिष्ठानमात्रं खल्विमे द्रव्यादय इति जानीमः (भा.) । किञ्च, **संयोगात् तन्निवृत्ते** (सू. १३८) ।--द्रव्यादीनां संयोगे सति तत्तद्द्रव्यादिशक्तिविपरीतं शक्त्यन्तरमुत्पद्यते । तस्मादेभ्यो विशिष्टमर्थनिर्वर्तकं वीर्यमस्तीति विज्ञायते । यथा--मधु-घृतयोस्तुल्यधृतयोः संयोगाज्जीवनबृंहण-लेखन-संधानादिकार्यविपरीतफलं वीर्यं दृष्टमिति (भा.) । किञ्च, **दर्शनाच्चाद्भुतादीनां कर्मणाम्** (सू. १३९) । अद्भुतानि कर्माणि दृश्यन्ते वीर्यकृतानि । यथा--मायाकारा येन केनौषधेन लिप्तं हस्तिनं पद्मं वा विसृजन्ति, भूमिमस्पृशन्तस्तिष्ठन्तीत्येवमादयः (भा.) । **आगमाच्च** (सू. १४०) ।--शास्त्रादायुर्वेदादिति । यथा--"वीर्यतः कार्यसामर्थ्यं द्रव्याणां भिषजो विदु ।" इति (भा.) ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चेत्यत्रापि मृदु-शीतवीर्यत्वात् पित्तं शमयतीति योज्यम्। तिक्ता काकमाचीत्यादि पित्तं वर्धयति केवलं न तु प्रकोपयति, तस्यास्त्रिदोषघ्नीत्वात्। अन्ये चात्रैवम् वदन्ति—वीर्यवादी एवमुष्णां काकेमाचीं मन्यते, आचार्यास्तु नात्युष्णशीताम्, अत एव त्रिदोषघ्नीत्वं काकमाच्या इति। मधुरा मत्स्याश्चेत्यत्रापि पित्तं वर्धयन्तीति योज्यम्। मूलकं बृहन्मूलकं; न पुनर्बालकं, त्रिदोषघ्नत्वात्। द्रव्याश्रितं वीर्यकर्माभिधाय रसाश्रितं वीर्यकर्माह—भवन्ति चात्रेत्यादि। ये रसा वातशमना मधुराम्ल-लवणाः, ये रसाः पित्तशमना मधुर-तिक्त-कषायाः, ये रसाः श्लेष्मशमनाः कटु-तिक्त-कषायाः (ङ)। वीर्यप्राधान्यवादिमतमाह – नेत्याहुरन्य इत्यादि। प्राधान्यादिति प्रधानधर्मयोगात् प्रधानधर्मश्च वीर्यवशेनौषधानां कार्यनिष्पादकत्वम्। एतदेवाह—इहौषधेत्यादि। औषधकर्माणीति औषधकार्याणि। तान्यौषधकार्याण्याह—तद्यथोर्ध्वेत्यादि। ऊर्ध्वभागादिभिः संशोधनशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते; किंवा संशोधनं बहिःसंशोधनं व्रणसंशोधनादि गृह्यते। × × ×। आदिशब्देन पाचन-विरूक्षण-स्नेहनादिग्रहणम्। अत्र च वीर्यशब्देन द्रव्यस्य द्विविधाऽपि चिन्त्या अचिन्त्या च शक्तिरुच्यते। तत्राचिन्त्या शक्तिर्या तन्त्रान्तरे 'प्रभाव' इत्युच्यते सा ग्राह्या, तस्यैव च वीर्यस्य प्रभावाख्यस्य स्वतन्त्रे 'तद् द्रव्यमात्मना किंचित्' (सु. सू. अ. ४०) इत्यादिना निष्कृष्टद्रव्यप्रकारतयोक्तस्य एतदधोभागहरत्व-विषहरत्व-वृषत्वादि प्रायः कार्यं, नहीदमुष्णशीताख्यां वीर्याभ्यामष्टाभिर्वीर्याद्यैर्वीर्यैरुपपद्यते कार्यं; तन्त्रान्तरेऽपि—"ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च प्रभावस्तत्र कारणम्।" (च. सू. अ. २६), तथा—"विषं विषघ्नं मुक्तं यत् तत् प्रभावप्रभावितम्।" तथा "रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते। विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तत्र कारणम्॥ कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः। तद्वद्दन्तीप्रभावात्तु विरेचयति मानवम्॥" (च. सू अ. २६) तथा—'मणीनां धारणीयानां कर्म यद्द्विविधात्मकम्। तत् प्रभावकृतं विद्यात् प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते।" (च. सू. अ. २६) इति। चिन्त्या तु शक्तिर्द्रव्यस्य रसाः, तथा वीर्याख्या उष्णादयो गुणाः। तत्र रसस्य विपाकस्य च पृथङ्निर्देशान्न वीर्यव्यवहारः शास्त्रे; परिमाण-संख्यादयश्च गुणा न शास्त्रे तथा कार्यकरा इति नेह पृथक्त्वेन द्रव्ये-रसादिगणनायां गण्यन्ते; चरके तु सामान्यवीर्यशब्देन तेऽपि गृहीताः; यथा—"येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्।" (च. सू. अ. २६) इत्यनेन चिन्त्याचिन्त्यवीर्यम्। चिन्त्यायां वैद्यसंप्रदायेन शीतोष्णलक्षणं द्विविधम्, अष्टविधं वा उष्ण-शीत-स्निग्ध-रूक्ष-मृदु-तीक्ष्ण-विशद-पिच्छिलरूपमुच्यते। यदा द्विविधं वीर्यं, तदा स्निग्ध-रूक्षादीनां षण्णामपि परिणाम-संख्यादिवदप्राधान्यविवक्षया रसादिधर्मतयैव कार्यग्रहणम्। वक्ष्यति हि—"मधुरो रसः स्निग्धः। (सू. अ. ४२) इत्यादि। अष्टविधवीर्यपक्षे तु उष्णादीनां सर्वेषामेव बलवत्कार्यकर्तृत्व-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विवक्षया वीर्यत्वमिति स्थितिः। संप्रति शास्त्रे व्यवहारसिद्धमेव वीर्यं विवेचयन्नाह--तद्वीर्यमित्यादि। अग्नी-षोमीयत्वादिति अग्नी-षोमप्रधानत्वात्। कथमेतान्युष्णत्वादीनि वीर्याख्यानीत्याह—एतानि खल्वित्यादि। स्वबलगुणोत्कर्षादिति बलं शक्तिः, स एव गुणः, प्रशस्तत्वात्; स्वशक्तिरूपगुणोत्कर्षादुष्णादीनि रसमभिभूय स्वकार्यं कुर्वन्ति। एतानि वीर्याणि रसमभिभूय स्वकार्यं दर्शयन्तीत्याह—यथा महदित्यादि। अत्र कषायतिक्तत्वाभ्यां वातकोपनं ग्राह्यं, तत्र स्वकार्यमभिभूय उष्णेन वीर्येण तद्विरुद्धं वातप्रशमनमेव क्रियते; अनया दिशा उदाहरणान्तराण्यपि व्याख्येयानि। पिप्पल्याः शीतवीर्यत्वमिहाप्याचार्येण स्वीकृतमेव। येन "तेषु गुर्वी स्वादु-शीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा। शुष्का कफानिलहरी वृष्या पित्ताविरोधनी।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यनेन पित्ते ईषद्विरोधिनीतीषदर्थेन नञा उक्तं; तेन पित्तं स्तोकं क्रमेण शमयतीत्यर्थः। चरके तु "पिप्पल्यः कटुकाः सत्यो मधुरविपाकाः।" (च. वि. अ. १) इत्यादिना मधुरविपाकतया भंग्यन्तरेण शीतवीर्यं पित्ते मनाक्शमनत्वं[1] स्वीकृतमेव, वैद्याश्च पित्ते पिप्पलीप्रयोगं कारयन्त्येव। काकमाच्यास्तु पित्तकर्तृत्वं वीर्यवादिमतमेव परं, नाचार्यमतमिति ब्रुवते; येन ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं काकमाच्याश्च तद्विधम्।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यनेन त्रिदोषघ्नत्वान्नात्युष्ण-शीतत्वाच्च काकमाच्याः पित्तजनकत्वानुपपत्तेः। तथा चरकेऽपि—"त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रसायनी। नात्युष्ण-शीता स्वर्या च भेदनी कुष्ठनाशनी॥" (च. सू. अ. २७) इति पठ्यते। अन्ये तु वदन्ति यत्--समुदितान् त्रीन् दोषानाचार्यवचनात् काकमाची हन्ति, पृथक् तु काकमाची पित्तं जनयत्येवेत्यविरोधं मन्यन्ते। अन्ये तु काकमाचीशाकं त्रिदोषघ्नत्वादिगुणं भवतु, मूलं तु तस्या उष्णवीर्यत्वात् पित्तकरमिति व्यवस्थां वदन्ति। कटुकं मूलकमित्यादिना वृद्धं मूलकमुच्यते, बालमूलकस्य त्रिदोषहरत्वात्। यदुक्तं—"कटु-तिक्तरसा हृद्या रोचनी वह्निदीपिनी। सर्वदोषहरी लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका॥" (सु. सू. अ. ४६) इति। संप्रति सामान्येन रसाभिभावकत्वं वीर्यस्य श्लोकैराह--ये रसा इत्यादि। ये रसा वातशमना इति मधुराम्ल-लवणाः, पित्तशमना मधुर-तिक्त-कषायाः, एवं श्लेष्मशमनाः कटु-तिक्त-कषाया ज्ञेयाः। एतच्छ्लोकत्रयार्थप्रतिपादितार्थस्य च यत्र तु क्वचिदन्यथात्वं भवति, तत्र द्रव्यादिमहिम्ना अपवादरूपं भवतीति नास्यार्थस्य व्यभिचारः; क्वचिदनार्षत्वमस्य श्लोकत्रयस्य वर्णनीयमुपपादितम्। वीर्यप्राधान्यमुपसंहरति--तस्मादित्यादि। (च. द.)। × × × वीर्य नाम तद् येन रसं विपाकं चाभिभूय कर्म क्रियते इति निश्चीयते, "रसं विपाकस्तौ वीर्यं, प्रभावस्तान्यपोहति।" (च. सू. अ. २६) इत्यात्रेयानु-

---

१--'पित्तस्य नाशकत्वं' इतिपाठान्तरम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शासनात् ; तदिदमुच्यते—तद्वशेनेति । कानि पुनस्तानि कर्माणीत्याह—इहेत्यादि । संग्राहकमत्र संग्राहित्वं ; यथा "अविवेक्यादेः सिद्धिः" (का. १४) इति सांख्यकारिकायाम् । "अविवेकित्वं अविवेकि" इति वाचस्पतिमिश्राः । एवमेव प्राणघ्न-श्वयथुकरशब्दावपि व्याख्येयौ । तत्र प्राणघ्नत्वं विषादीनां; श्वयथुकरत्वं च भल्लातकादीनां; विलयनं श्वयथुनाशनं, तच्च मिश्रकोक्तानां मातुलुङ्गादीनां कर्नेति वेदितव्यम् । परिशिष्टानि सुखावगम्यानि । केचित्त्यादि । नेह गुरु-लघुशब्दापवर्तनेन विशदपिच्छिलयोः पाठो न्याय्यः, शास्त्रेऽस्मिन् क्वचिदपि तयोर्वीर्यत्वेनानुपदेशादुपदेशाच्च गुरु-लघुनोः, वक्ष्यति हि—"ये रसाः" इत्युपक्रम्य "रोक्ष्य-लाघवशैत्यानि न ते हन्युः सवीरणम्।" इत्यादि । उक्तमर्थमुदाहरणेन स्फोरयति—यथेत्यादि । कटुका पिप्पलीति पिप्पलीशब्दस्येह पिप्पली लतायां तात्पर्यमित्याहुः, आत्रेयादिभिरुष्णवीर्यत्वेनाभिहितायाः पिप्पल्या मृदुशीतत्वानुपपत्तेः । काकमाची पित्तं वर्धयतीति काकमाच्याः पित्तवर्धकत्वं स्वतन्त्रपित्ताभिप्रायेणेति लक्षणीयं; वक्ष्यमाणं त्रिदोहरत्वं त्वनुबन्धभूतपित्तहरत्वेनेति नानुपपत्तिः । × × × । नह्येतावन्त्येव वीर्यप्राधान्यप्रत्ययकराणि भवन्ति, तिक्तानामर्कागुरु-गुडूचीनामौष्ण्येन वातप्रशमकत्वदर्शनात्, तदिदमुच्यते—तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तमिति । परिशिष्टं निगदव्याख्यातम् (हा.) ।

अन्य आचार्य कहते हैं कि—द्रव्य, रस या विपाक प्रधान नहीं है, किन्तु वीर्य प्रधान है । क्योंकि औषध के कर्म वीर्य से होते हैं । ऊर्ध्वभागसंशोधन (वमन), अधोभागसंशोधन (विरेचन), उभयतोभागसंशोधन, संशमन, सांग्राहिक, अग्निदीपन, पीडन, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकरण, श्वयथुविलयन, दहन, दारण, मादन (मत्तताकरण), प्राणनाशन, विषाशन इत्यादि औषधों के कर्म वीर्य की प्रधानता से होते हैं। समस्त जगत् अग्नि-सोमात्मक होने से वीर्य दो प्रकार का होता है—(१) उष्ण और (२) शीत। कई आचार्य आठ प्रकार के वीर्य मानते हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण । ये वीर्य अपने बल (शक्ति) रूप गुण की उत्कृष्टता से रस का (विपाक का भी) पराभव करके अपना कार्य करते हैं । जैसे—बृहत्पंचमूल रस में कषाय और अनुरस में तिक्त होने से उससे वायु का प्रकोप होना चाहिये, परन्तु वह उष्णवीर्य होने से वायु का शमन करता है। कषायरसयुक्त कुलथी और कटुरसयुक्त प्याज उष्ण और स्निग्ध वीर्य होने से वायु का शमन करते हैं। गन्नेका रस मधुर रसवाला होने पर भी शीतवीर्य होनेसे वायुको बढ़ाता है । कटुरसयुक्त पिप्पली मृदु और शीतवीर्य होनेसे पित्तको शान्त करती है । आँवला अम्लरसयुक्त तथा सैंधानमक लवण होनेपर भी मृदु और शीतवीर्य होने से पित्त को शान्त करते हैं । मकोय तिक्तरसवाली होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाती है । मछली मधुर रसवाली होनेपर भी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उष्णवीर्य होने से पित्त को बढ़ाती है। पकी मूली कटु रसवाली होनेपर भी स्निग्धवीर्य होने से कफको बढ़ाती है। कैथ अम्ल रसवाला होनेपर रूक्षवीर्य होने से कफ को शांत करता है। शहद मधुर होनेपर भी रूक्षवीर्य होने से कफ को शान्त करता है। यहाँ दिग्दर्शनार्थ हमने थोड़े-से उदाहरण दिये हैं। इस प्रकार अनेक कार्य वीर्य की प्रधानता से होते हैं।

मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस (रसवाले द्रव्य) वायु को शान्त करते हैं, परन्तु उनमें यदि रूक्ष, लघु और शीत वीर्य रहे हों ती वे वायु का नाश नहीं कर सकते। मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस पित्त का शमन करनेवाले हैं, परन्तु उनमें यदि तीक्ष्ण, उष्ण और लघु ये वीर्य रहे हों तो वे पित्त का शमन नहीं करते। कटु, तिक्त और कषाय ये रस कफ को शान्त करनेवाले हैं; परन्तु यदि उनमें स्निग्ध, गुरु और शीत वीर्य रहे हों तो वे कफ को शान्त नहीं कर सकते।। इस प्रकार वीर्य रस को प्रभावित करके अपना कार्य करता है, इसलिये वीर्य प्रधान है।

वक्तव्य--यहाँ डल्हण तथा चक्रपाणि मूल के पाठ में विशद और पिच्छिल ये वीर्य लिखते हैं[1]। कविराज हाराणचन्द्रजी ने विशद और पिच्छिल इन दोनों के स्थान में गुरु और लघु ये दो वीर्य लिखे हैं। वे लिखते हैं कि--चरक, वाग्भट आदि आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ में विशद और पिच्छिल को कहीं भी वीर्य नहीं लिखा है और सुश्रुत ने भी इस प्रकरण के अन्तिम तीन श्लोकों में गुरु और लघु को ही वीर्य लिखा है। विशद और पिच्छिल को वीर्य माननेवाले कहते हैं कि-सुश्रुत ने गुरु और लघु विपाक माने हैं, अतः सुश्रुत के मत में ये वीर्य नहीं हो सकते, अतः सुश्रुत ने गुरु और लघु के स्थान में विशद और पिच्छिल दो वीर्य माने हैं। चक्रपाणिने यह भी लिखा है—कि कई टीकाकार इस प्रकरण के अन्तिम तीन श्लोकों को अनार्ष मानते हैं।

वीर्ये भूतगुणोत्कर्षनिरूपणं, वीर्यगुण-कर्माणि च--

तत्र[2] य इमेऽष्टौ गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मृदु-तीक्ष्ण-पिच्छिल-विशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ, शीत-पिच्छिलवाम्बु-

१-- हेमाद्रि भी सुश्रुत में विशद और पिच्छिल का पाठ मानते हैं? (देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २७३ पर)।

२--"तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्णास्तेषा तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ. गुरु-शीतौ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठौ अम्बुगुण-भूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यम्, अग्न्याकाश-समीरणगुणभूयिष्ठं लघुत्वम्। ×××। तत्र गुरूष्ण-स्निग्धा वातघ्नाः, मृदुशीतौ पित्तघ्नौ, लघु-तीक्ष्णरूक्षाः श्लेष्मघ्नाः। ××× । तेषां शीतोष्ण-स्निग्धाः--

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणभूयिष्ठौ[1], पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यं, क्षिति-समीरणगुणभूयिष्ठं वैशद्यम्। ××। (तत्र कर्माण्यप्युष्णस्य[2] दहन-पाचन-मूर्च्छन-स्वेदन-वमन-विरेचनानि, शीतस्य-प्रह्लादन-विष्यन्दन-स्थिरीकरण-प्रसादन-क्लेदन-जीवनानि, स्निग्धस्य स्नेहन-बृंहण-संतर्पण-वाजीकरण-वयःस्थापनानि, रूक्षस्य अनिलवृद्धि-संग्रहण-पीडन-विरूक्षणोपरोपणानि,विशदस्य क्लेदा-चूषणविरूक्षणोपरोहणानि, पिच्छिलस्योपलेपन-पूरण-बृंहण-संश्लेषण-वाजीकरणानि, मृदो रक्तमांसप्रसादन-सुस्पर्शनानि, तीक्ष्णस्य संग्रहा-चूषणावदारण-स्रावणानि)। तत्र उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ, शीत-मृदु-पिच्छिलाः पित्तघ्नाः, तीक्ष्ण-रूक्ष-विशदाः श्लेष्मघ्नाः। ××× तेषां मृदु-शीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिल-विशदौ चक्षुः-स्पर्शाभ्यां, स्निग्ध-रूक्षौ चक्षुषा, तीक्ष्णो मुखे दुःखोत्पादनेन[3]। --सू. सं. अ. ४१

संप्रति द्रव्यं भूतकार्यत्वेन तत्तद्गुणयोगेन कर्मणा चाभिधाय वीर्याण्यपि तथा निर्देष्टुमाह--तत्रेत्यादि। अम्लगुणभूयिष्ठाविति अम्लरससहचरितगुरुत्वादि-गुणसहचरितौ; एवमन्यत्रापि तत्तद्भूतसहचरितगुणभूयिष्ठता ज्ञेया। तत्रे-त्यादिना वीर्याणां कर्माण्युच्यन्ते। अत्रोष्णवीर्यस्य वमन-विरेचने कारणतोक्ता, विरेचनं च प्राक् पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठद्रव्यकार्यमुक्तं, तेन तत्रापि विरेचनद्रव्ये उष्णवीर्यता दोषक्षोभकारिणी ज्ञातव्या। उपरोपणं व्रणरोपणम्। पूरणम् आमाशया-दीनां पूरितत्वं येन भवति। संश्लेषणं संधिसंधानम्; ××। वीर्याणां दोषप्रशमनकर्माह--तत्रोष्णेत्यादि; अयं च वीर्याणामौत्सर्गिको गुणनिर्देशः, तेन स्निग्धमपि किंचिदाग्नेयं लवणवद्भवति, यथा—सैन्धवं; स्निग्धमपि किंचि-दुष्णगुणभूयिष्ठं, यथा--आनूपमांसम्; इत्यादि अपवादरूपं भवति। वीर्याणां ज्ञानोपायमाह—तेषामित्यादि। मृदुशीतोष्णानां स्पर्शेनापि ग्रहणं भवतीति स्पर्श-ग्राह्या इत्युक्ताः। येन सैन्धवगतं शीतत्वमानूपमांसगतमौष्ण्यमित्यादि न स्पर्श-

--ह्लादन-पाचन-स्तम्भनादिना, रूक्ष-गुरु-लघवो विरूक्षणोपलेप-लेखनादिना, तीक्ष्णो दहन-पचनादिना, रूक्ष-गुरु-लाघवो विरूक्षणोपलेप-लेखनादिना, तीक्ष्णो दहन-पचनादिना, मृदुस्तद्विपर्यासेनानुमीयते इति।" हाराणचन्द्र-सम्मतः पाठः।

१--'शीत-पिच्छिलावम्लगुणभूयिष्ठौ' इति चक्रदत्त-सम्मतः पाठः।

२--कोष्ठस्थः पाठो डल्हणादिभिर्न पठितो व्याख्यातश्च; केवलं चक्र-पाणिनैव पठ्यते व्याख्यायते च।

३--'तीक्ष्णः सुखदुःखोत्पादनेन' इति चक्रदत्त-सम्मतः पाठः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ग्राह्यं किंतु कार्यानुमेयम्, आगमप्रतिपादनीयं वा ; परमस्पर्शादिग्राह्येष्वप्युदाहरण मुन्नयनीयम् । सुखदुःखोत्पादनेनेति सुखोचितजिह्वादिसुकुमारप्रदेशदुःखोत्पादनेन वा तीक्ष्णत्वं प्रतीयत इत्यर्थः । "महद्दुःखोत्पादनेन' इति पाठो व्यक्तः । × × × । (च. द.) । इमे वक्ष्यमाणाः । × × । तत्रोष्णेत्यादि उष्ण-स्निग्धौ वीर्य-संज्ञौ गुणौ । तेषामष्टानां वीर्याणां मध्ये । मुखे दुःखोत्पादनादिति अत्र चार्थो द्रष्टव्यः, तेन घ्राणदुःखोत्पादनाच्चेति द्रष्टव्यम् (ड.) । संप्रति द्रव्यकर्माण्युपदिश्य प्रसंगात्तद्गतवीर्यकर्माण्युपदिदिक्षुः प्रथमं तावत् तत्तद् भूतगुणान्युपदिशति—तत्रेत्यादिना । × × × । केनचिदनवधानपरेणेह "मृदु-शीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिल-विशदौ चक्षुःस्पर्शाभ्यां,स्निग्ध-रूक्षौ चाक्षुषौ,"तीक्ष्णो मुखदुःखोत्पादनेन" इति पठ्यते, व्याख्यायते च तथाविधैष्टीकाकृद्भिरक्षरार्थमात्रसचिवैः ; तत्तु न सम्यक्, कर्मानुमेयानां वीर्याणामिन्द्रियग्राह्यत्वानुपपत्तेः ; आयुर्वेदतन्त्रेषु क्वचिदपि पिच्छिल-विशदयोर्वीर्यत्वेनानुपदेशाच्च (हा.) ॥

तत्रोष्णं दहन-पचन-स्वेदन-विलयनानिल-कफशमनानि करोति, शीतं ह्लादन-स्तम्भन-जीवन-रक्तपित्तप्रसादनादीनि ॥– अ.हृ.सू अ.९

तत्रोष्णवीर्यस्य दहनादीनि कर्माणि । शीतस्य ह्लादनादीनि (इन्दुः) ॥

तत्रोष्णं भ्रम-तृड्-ग्लानि-स्वेद-दाहाशुपाकिताः ।
शमं च वात-कफयोः करोति, शिशिरं पुनः ॥
ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्त-पित्तयोः ॥—अ. हृ. सू.अ.९

तत्र तयोरुष्ण-शीतयोर्मध्ये, उष्णम् उष्णवीर्यम् भ्रमादीन् करोति । आशु-पाकितां शीघ्रपाकित्वम् । शिशिरं पुनः शीतवीर्यं तु ह्लादनादीन् करोति (अ.द.) उष्णं लक्षयति—तत्रेत्यादि । यद् भ्रमादिकं करोति तदुष्णवीर्यम् । आशुपाकिता शीघ्रपाकः । शीतं लक्षयति—शिशिरमित्यादि । यत् ह्लादनादीन् करोति तच्छीतवीर्यम् । ह्लादनं निर्वृत्तिः जीवनं मूर्च्छापनयनादिभिः प्राणधारणम् । स्तम्भः स्वेदापनयनम् । रक्त-पित्तयो प्रसादं निर्मलत्वम् (हे.) ॥

शीतं कफ-मारुतकृद्वीर्यं गुरु पित्तनाशनं बल्यम् ।
उष्णं कफ-वातहरं पित्तकरं लघ्ववृष्यं च ॥—द्रव्यगुणसंग्रहः श्लो. ८

यद्यप्यष्टविधमेव वीर्यं भवति, तथाऽपि तेष्वेव शीतोष्णयोः प्राधान्यात्तद्गुण-मेवाह—शीतमित्यादि (शि.) ॥

वीर्यसंज्ञावाले जो शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल, और विशद ये आठ गुण हैं उनमें तीक्ष्ण और उष्ण ये दो वीर्य अग्नि महाभूत के गुणों की

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अधिकतावाले हैं, शीत और पिच्छिल ये दो वीर्य जल के गुणों की अधिकतावाले है, स्निग्ध पृथिवी और जल के गुणों की अधिकतावाला है, मृदु जल और आकाश के गुणों की अधिकतावाला है, रूक्ष वायु के गुणों की अधिकतावाला है तथा विशद पृथिवी और वायु के गुणों की अधिकतावाला है। उष्ण वीर्य (युक्त द्रव्य) के शरीरपर दाह (जलन), पचन (अन्न-धातु-रस-व्रणशोथ आदि को पकाना), मूर्च्छा लाना, स्वेदन (पसीना लाना), वमन कराना, विरेचन करना (सु.) ; विलयन करना (पिघलाना), वायु तथा कफ का शमन करना (अ. सं.) ; भ्रम (चक्कर लाना), तृषा और ग्लानि उत्पन्न करना (अ. हृ.); तथा पित्त उत्पन्न करना ये कर्म होते हैं। उष्ण वीर्य लघु और शुक्र की हानि करनेवाला है (द्र.गु.सं.) शीत वीर्य (युक्त द्रव्य) के शरीरपर प्रह्लादन (उष्ण पीडित को सुख उत्पन्न करना) स्राव को रोकना, स्थिर करना, प्रसन्नता करना (स्वच्छ करना), क्लेद को सुखाना, मूर्च्छित आदि को संज्ञा प्रदान करना (सु.) ; स्तम्भन करना, रक्त और पित्त को शान्त करना (अ. सं.) ; तथा कफ और वायु को उत्पन्न करना (बढ़ाना) (द्र. गु. सं.) ये कर्म होते हैं। (अ. हृ.)। शीत वीर्य गुरु और वृष्य है (द्र. गु. सं.)। स्निग्ध वीर्य (युक्त द्रव्य) स्नेह, बृंहण, संतर्पण (तृप्ति-पोषण करनेवाला), वाजीकरण, वयःस्थापन और वात का नाश करनेवाला है। रूक्ष वीर्य (युक्त द्रव्य) वायु को बढ़ानेवाला, ग्राही, पीडन (व्रणपीडन), रूक्षता लानेवाला, व्रण को भरनेवाला और कफ का नाश करनेवाला है। विशद वीर्य (युक्त द्रव्य) क्लेद (गीलापन) को चूसने-सुखानेवाला, रूक्षता उत्पन्न करनेवाला, व्रण का रोपण करनेवाला, और कफ का नाश करनेवाला है। पिच्छिल वीर्य (युक्त द्रव्य) चिकनाहट लानेवाला, पूरण, बृंहण, संश्लेषण (चिपकानेवाला), वाजीकर और पित्त का नाश करनेवाला है ; मृदु वीर्य (युक्त द्रव्य) रक्त और मांस का प्रमादन करनेवाला, स्पर्श में सुख उत्पन्न करनेवाला और पित्तका नाश करनेवाला है। तीक्ष्ण वीर्य (युक्त द्रव्य) ग्राही, चूसने-शोषण करानेवाला व्रण-शोथका विदारण (फाड़ने-फोडनेवाला), मुखनासादि का स्राव करनेवाला तथा कफका नाश करनेवाला है। मृदु[1], शीत और उष्ण वीर्य का स्पर्श से ग्रहण-ज्ञान होता है। पिच्छिल और विशद वीर्य का दर्शन और स्पर्श से ग्रहण-ज्ञान

१—कविराज हाराणचन्द्रजी कहते हैं कि—यह पाठ ठीक नहीं है, क्योंकि वीर्यों का उनके कर्मों से अनुमान किया जाता है, उनका इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता। वे लिखते हैं कि—शीत, उष्ण और स्निग्ध वीर्य का आह्लादन, पाचन, स्तम्भन आदि कर्मों से, रूक्ष, गुरु और लघु वीर्य का रूक्षण, उपलेपन, लेखन आदि कर्मों से ; तीक्ष्ण वीर्य का दहन, पचन आदि कर्मों से तथा मृदु वीर्य का उसके (तीक्ष्णके) विपरीत कर्मों से अनुमान किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है। स्निग्ध और रूक्ष वीर्य का दर्शन से ज्ञान होता है। तीक्ष्ण वीर्य का मुख और नाक में दुःख उत्पन्न होने से ज्ञान होता है।

वक्तव्य--ऊपर हमने जो अनुवाद किया है वह डल्हण और चक्रपाणि की व्याख्यानुसार है। **कविराज हाराणचन्द्रजी** ने यह पाठ कुछ परिवर्तन करके लिखा है, जो टिप्पणी में दिया है। उन्होंने **विशद** और **पिच्छिल** के स्थान में गुरु और लघु दो वीर्य माने हैं। उनके पाठानुसार समग्र प्रकरण का अर्थ इस प्रकार होता है--वीर्यसंज्ञक जो **शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु** और **तीक्ष्ण**--ये आठ गुण हैं उनमें तीक्ष्ण और उष्ण आग्नेय हैं, गुरु और शीत पृथिवी और जल के गुणों की अधिकतावाले हैं, स्नेह जल के गुणों की अधिकतावाला है, मृदु जल और आकाश के गुणों की अधिकतावाला है, रूक्ष वायु के गुणों की अधिकतावाला है तथा लघु अग्नि, आकाश और वायु के गुणों की अधिकतावाला है। उनमें गुरु, उष्ण और तीक्ष्ण ये तीन वीर्य वातघ्न हैं, मृदु और शीत ये दो वीर्य पित्तघ्न हैं तथा लघु, तीक्ष्ण और रूक्ष ये तीन वीर्य कफघ्न हैं।

भदन्तनागार्जुनमतेन वीर्यनिरूपणम्--

कर्मलक्षणं वीर्यम् (र. वै. सू. अ. १, सू. १६९)।—मेधाजननादि (वीर्य) मेधां दृष्ट्वा ज्ञायते, ऊर्ध्वभागिकमपि तथेति (भा.)। रसगुणमात्रं वीर्यमित्येके (र. वै. सू. अ. २, सू. ३०)।—गुणानन्तरं वीर्यमिदानीं चिन्त्यते—रसेत्यादि। एके पुनराचार्या रसगुणमात्रं वीर्यमिच्छन्ति। गुणमात्रं वीर्यमिति वक्तव्यं, रसगुणत्वप्रतिषेधाच्छीतादीनाम्। पूर्वं तेषां मतमिति चेद् गुणमात्रवीर्यवादिनस्तैरपि न तेषां गुणांना रसगुणत्वमिष्यत इति। तस्मादयमत्रार्थः—उत्तरत्र वीर्यचिन्ताध्याये वीर्याणामाश्रयं ब्रुवता रसाश्च गुणाश्चोक्ताः—"सर्वान् रसान् गुणांश्चाश्रितं छर्दनीयम्।" (र. वै. अ. ४ सू. २) इत्यादि; तस्मात्तत्र तेभ्योऽन्येन रस-गुणाधिष्ठानेन वीर्येण भवितव्यमिति। अस्य पक्षस्य प्रतिषेधार्थं केचिद् ब्रुवते—रसगुणमात्रं, न रसगुणाधिष्ठानमन्यद् वीर्यमिति; एवं मात्रशब्दश्च सार्थकः स्यात्। रसगुण एव वीर्यमिति भावः। गुणमात्रवीर्यवादिनस्त्वष्टविधं वीर्यमिच्छन्ति; यथा—"मृदु-तीक्ष्णं गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षोष्ण-शीतलम्। वीर्यमष्टविधं केचिम् केचिद्द्विविधमास्थिताः॥ शीतोष्णमिति, वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यवती[1] क्रिया।" (च. सू. अ. २६) इति। तत्रायं प्रयोगः—'गुर्वादयोऽपि वीर्यं, स्पर्शवत्त्वात्; शीतोष्णवत्' इति। दृष्टान्तः साधनान्वितः। कथं? शीतं वीर्यमित्यत्र शीतोष्णशब्दौ न स्पर्श-विशेष-

---

१--'वीर्यकृता' इति पाठान्तरम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाचकौ, किन्तु सौम्याग्नेयभूतसमुदायवाचकौ; पृथिव्युदकाभ्यां जनितं शीतवीर्यं, अग्न्याकाशानिलैरारब्धमुष्णं चेति । सौम्याग्नेयत्वाज्जगतः, चन्द्रादित्ययोश्चाधोगत्यूर्ध्वगत्यात्मकत्वाद्, भूतगुणद्वैविध्याच्च द्विविधमेव वीर्यमित्यनवद्योऽयं पक्षः (भा.) । न, तुल्यरस-गुणेषु विशेषभावात् (सू. ३१) ।--गुणपदार्थवीर्यवादिनां पक्षे वीर्यपदार्थस्य पृथगभावात् तत्पृथग्वीर्यास्तित्वं साध्यते--नेत्यादि । नेति पूर्वपक्षप्रतिषेधार्थं 'त्वयोक्तं न' इति । तुल्यरसेषु तुल्यगुणेषु च विशेषो दृश्यते--मधुररसं स्निग्धं शीतं च यष्टिमधुकं संदधाति, क्षीरं च तादृगेव स्रंसयतीति विशेषः । अस्य कर्मविशेषस्य दर्शनादेतस्माद् रस-गुणाख्यात् कारणमन्यद्विद्यते ॥ अस्य विशेषस्य साधकं तद् वीर्यमिति जानीम इति । अत्र प्रयोगः—रस-गुणकारणव्यतिरिक्तान्यवस्तुनिर्वर्तितमूर्ध्वभागादिकं तत्कारणसाम्ये फलविशेषदर्शनात्; यत्र फलविशेषो दृश्यते तत्र तत्कारणव्यतिरिक्तान्यवस्तुनिर्वर्तिततत्वं दृष्टम् । यथैकस्य पुत्रयोराढ्य-दुर्गतत्वम् (भा.) । मात्राविशेषात् (सू. ३२) ।—तुल्यरस—गुणेष्विति पक्षः । तुल्यरस-गुणयोः क्षीर-सर्पिषोः स्रंसने मात्राविशेषोऽन्यत् । कारणमपेक्षते । तत् कारणमेतद्व्यतिरिक्तं वीर्यमस्तीति, तद्व्यतिरिक्तस्य तदाश्रयत्वात् । यस्य यदाश्रयः स्यात्, तस्मात् स खलु पृथगेवोपलभ्यते । यथा—चित्रात् कुड्यम् । तस्माद् रस-गुणेभ्योऽन्यद् वीर्यमिति । गुणमात्रवीर्यवादिनं प्रत्येवं साधयितुं न शक्यते । नासौ प्रतिज्ञानान्याश्रयत्वे न वीर्यरसगुणा (?) रस-गुणा एव वीर्यमिति प्रतिपन्नत्वात् । तस्मादयमत्रार्थः—यदि रसगुणा एव वीर्यं, यत्र रस-गुणा न स्युः (न) तत्र वीर्यकर्माण्यि स्युः, दृश्यन्ते चेति प्रदर्शनार्थमुक्तम् (भा.) । तद्व्यतिरिक्तस्य तदाश्रयत्वात् (सू. ३३) ।—तद्व्यतिरिक्तं तेभ्यो गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं, तस्य । तदाश्रयत्वादिति तस्याश्रयस्तदाश्रयः, वीर्यस्येत्यर्थः । रसगुणोभयोऽन्यस्यापि वीर्यस्याश्रयस्य दर्शनादित्युक्तं भवति । एवं प्रतिज्ञायास्तूत्तरमात्रमेतदुक्तं भवति; न हेतुप्रयोगः (भा.) । वीर्यविषये चानधिकारात्तेषाम् (सू. ३४) ।—कथमाश्रयत्वमिति तत्प्रदर्शनार्थमाह—वीर्येत्यादि । तेषां गुणानां वीर्यविषयेऽनधिकारो दृष्टः क्वचिद्दर्शन-श्रवणादिषु । अनेन पताका । ध्वज-भेरी-दुन्दुभिप्रभृत्यधिष्ठितौषधविशेषाधिष्ठानत्वं वीर्यस्य प्रदर्शितं भवति, न रसगुणा इति (भा.) । रस-गुणव्यतिरेकेण चोपलब्धेः कर्मणस्तस्य (सू. ३५) । —वीर्यस्य लक्षणमुपदिशता 'कर्मलक्षणं वीर्यम्' इति फललक्षणत्वं वीर्यस्योक्तम् । तस्मात् फलं यत्र दृश्यते तत्रावश्यं तेनापि फलहेतुना भवितव्यमिति प्रदर्शनार्थमाह—रसगुणेत्यादि । तस्य वीर्यस्य, कर्मणः फलस्येत्यर्थः, रस-गुणाभावेऽप्युपलब्धेः मन्त्रादिषु; मन्त्रेण वामयन्ति, मन्त्रण विरेचयन्तीति । यद् येन विना भवति तत् तस्य कारणं न भवति । यथा—काकवाशितमंकुरोत्पत्तय इति । तेषामभावेऽपि वीर्यस्य भावः प्रदर्श्यते (भा.) । सत्सु तेषु तस्मिंस्तस्यैवा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करणात् कर्मणः सति सम्यक्प्रयोगे (सु. ३६) ।—तेषां रसगुणानां भावेऽपि वीर्याभावे फलानामभावं प्रदर्शयितुकाम आह—सत्स्वित्यादि । तेषु रसगुणेषु सत्सु । तस्मिन्निति प्रयोगे दृष्टफले पूर्वमित्यर्थः । तस्यैव कर्मणः कृतपूर्वस्य शमनस्य बृंहणस्य वा । अकरणात् सम्यक्प्रयोगाभावादिति चेत् सम्यक्प्रयोगे च प्रकृत्यादिपरीक्षालक्षणे सम्यक्प्रयोगे सत्यपि फलप्रवृत्तिर्नास्तीति तद्व्यतिरिक्तमस्ति वीर्यं नामेति । यथा—चक्षुषि रूपालोकनसान्निध्ये सत्युपहतेन्द्रियेऽशक्ते रूपज्ञानाभावं दृष्ट्वाऽनुमीयते—चक्षुरादिव्यतिरिक्तमन्यज्ज्ञानकारणमिन्द्रियं नयनाधिष्ठानं परमसूक्ष्मं भूतप्रसादजमस्तीति, तद्वदिहापि गुणेभ्योऽन्य एव वीर्यपदार्थ इति । गुणोत्कर्षवीर्यवादी तावदेवं प्रष्टव्यः—कोऽयमुत्कर्षो नाम ? । स एव गुणो वा स्यात्, अन्यो वा, गुणस्यावस्था वा ? यद्यन्यस्तद्वीर्यमिति, स एव गुणश्चेच्छब्दाधिकम् । अथावस्था, शैत्यस्यान्या शैत्यावस्था । उत्कर्षो नाम किमस्ति ? उत्कृष्टं वा हीनं वा शैत्यमेवेति । किं तारतम्यं नेष्यते गुणानामिति? इष्यते स्वजात्यनतिक्रमेण ; यथा—नीलतरो नीलतम इति । किं तरतमयोगान्नीलादन्यत् पाण्डुरं भवति ? । यत्र शैत्यमुत्कृष्टं तत्र पित्तं शमयति तद् वीर्यमिति; इदानीं शैत्यमन्दं न किंचित् करोति, गुणकर्माभाव एव स्यादिति । अनेन पि पृथगेव वीर्यमस्तीति भवता प्रसाधितमिति 'यदस्माभिरनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ।' इति । एतत् सर्वं वृत्तमिति गतमानुषङ्गिकम् (भा.) । वीर्याणि पुनश्छर्दनीयानुलोमनीयोभयतोभाग - प्रशमनीय[1] -संग्रहण[2] -दीपनीय - प्राणघ्न-मदन - विदारण[3] -श्वयथुकरणविलयनानि (अ. ४. सू. १) । —इदानीमात्मावतरप्राप्तं वीर्यं भेदत उत्पत्तिश्च विचिन्त्यते—वीर्याणीत्यादि । वीर्याणीति वीर्यभेदाः । 'पुनः' शब्द पक्षान्तरनिवृत्त्यर्थः । छर्दनं जनयतीति छर्दनीयः । अनुलोमनीयं वैरेचनीयम् । उभयतोभागं वमनविरेचनकरम् । प्रशमनीयं प्रवृद्धानां प्रकुपितानां दोष-धातु-मलानां साम्यकरमित्यर्थः । संग्रहणं पुरीषसंधानकरम् । दीपनीयमग्नेः संधुक्षणं वर्धनमिति । प्राणघ्नं मारणम् । मदनं मदकरम् । प्रदरणं विदारणं शोफानाम् । श्वयथुजननं शोफकरम् विलयनं शोफानामुत्सेधप्रशमनम् (भा.) । तत्र सर्वान् रसानाश्रित्य छर्दनीयम् (सू. २) ।—एतेषां वीर्याणां कस्य क आश्रय इत्याह—तत्रेत्यादि । तेषु वीर्येषु सर्वान् मधुरादीन् रसानाश्रित्य वर्तते छर्दनीयं वीर्यम् (भा.) । तदाग्नेयंवायव्यं च (सू. ३) ।—तस्य निर्वर्तकं किमित्याह—तदित्यादि । छर्दनीयं वीर्यमग्नि-वायुभ्यामुत्पाद्यत इति । अग्नेरूर्ध्वगतित्वाद् वायोर्गतिहेतुत्वान्मधुरादिष्वन्यतमस्मिन् गुणे वा अग्नि-वायुभ्यामुत्पादितं तद् वीर्यं

१—"संशमनीय" इति पा० । २—"सांग्राहिक" इति पा० ।
३—"प्रदरण" इति पा० ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तेभ्योऽन्यदित्युक्तं भवति। एवं सर्वत्र (भा.) तथाऽनुलोमनीयम् (सु. ४)। तथेति पूर्वमुक्तमाश्रयमाकर्षतीति सर्वान् रसान् आश्रित्य वर्तत इति (भा.)। तत् पार्थिवमाप्यं च (सू. ५)।—पृथिवी गुरुत्वादेवाधो गच्छति, आपो द्रवत्वात् सरणतामुपजनयन्तीति (भा.)। वातलांश्च रसान् पित्तलांश्च गुणानुभयतोभागम् (सू. ६)।—वातलान् वातजननान् कटुक-तिक्त-कषायान् रसान्, पित्तलान् पित्तजननान् तीक्ष्णोष्ण-लघून् गुणानाश्रितमुभयतोभागम् (भा)। तत् पार्थिवाप्य-तैजस-वायव्यम् (सू. ७)।—तदुभयतोभागं वीर्यं पृथिव्युदकाभ्यां गुरुभ्यामग्नि-वायुभ्यां लघुभ्यां च निर्वर्तते (भा.)। यथाप्रत्यनीकं प्रशमनम् सू. ८)।—यथाप्रत्यनीकमिति प्रत्यनीकं प्रत्याश्रितं प्रशमनं मधुराम्ललवणान् रसान् गुरूष्ण-स्निग्ध-पिच्छिलांश्च गुणानाश्रितं वातप्रशमनं, तथाऽन्यानि च; अस्य निर्वर्तकस्य वचनं रसगुणैरनुमेयं प्रशमनमिति; वक्ष्यति हि यथा—प्रत्यनीकग्रहणादेव सिद्धमिति च पृथिव्युदकाग्निभिस्तद्वीर्यमारभ्यते। एवमन्यत्रापि यथासंभवं प्रत्यनीकत्वं योज्यमिति (भा.)। लवण-तीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत्-सांग्राहिकम् तत् पार्थिव-वायव्यम् (सू. ९)।—लवणादेतद्गुणद्वयाच्चान्यद्रसगुणं तस्याश्रयः। तत् पार्थिव-वायव्यम्, आभ्यां भूताभ्यां निर्वर्त्यते सांग्राहिकम्(भा.)। पित्तलान् रसान् गुणांश्च दीपनीयम्। तदाग्नेयम् (सू. १०)।—कटुकाम्ल-लवणान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-लघून् गुणानाश्रितमिति। तदग्निनैव निर्वृत्यम् (भा.)। सर्वान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-लघु-विशदांश्च गुणान् मदनीयम् (सू. ११)।—सर्वान् रसान् मधुरादीन् गुणांश्चाश्रित्य वर्तते मदनीयम् वीर्यम् (भा.)। तदाग्नेयं वायव्यं च (सू. १२)।—अग्निवायुभ्यां निर्वर्तितं तत् (भा.)। शैघ्र्य-सौषिर्य-व्यवायित्व-विकाशित्वानि च प्राणघ्नम् (सू. १३)।—शैघ्र्यादीन् विशेषगुणान् पूर्वोक्तांश्च सर्वान् रसानाश्रित्य वर्तते प्राणघ्नम्। चशब्दात् ते च संगृहीताः, षड्रसं विषमिति वचनात्। एतदर्थमुद्देशक्रमभेदश्च कृतो वेदितव्यो लाघवार्थमेतेषाम्। विकाशित्वं कथमिति। आह हि—"उष्णं सूक्ष्मं च तीक्ष्णं च विकाशि विशदं लघु। व्यवायि रूक्षं शीघ्रं च विषं नवगुणं स्मृतम्। पापक्ति धातूनुष्णत्वात्तैक्ष्ण्यान्मर्मच्छिदं विषम्। सौक्ष्म्याद्धातून् प्रविशति विकाशित्वाद् विसर्पति॥ विश्लेषयति वैशद्यात् संधीन् धावति लाघवात् व्याप्नोति च व्यवायित्वाद् रूक्षत्वात् स्नेहनाशनम्॥ शीघ्रत्वान्मारयत्याशु विषं गौतम! षड्रसम्।" इति (भा.)। तदाग्नेयम् (सू. १४)।—अग्नेर्दहन-पचनशक्तित्वाद् अप्कार्यस्य जीवनस्य च प्रतिपक्षत्वात् तत् प्राणघ्नमाग्नेयं भवति। आह—"षड्रसं विषमाग्नेयं ब्रह्मणः क्रोधसंभवम्। इति (भा.)। पित्तलान् रसान् गुणांश्च प्रदरणम् (सू. १५)।—पित्तलान् कटुकाम्ल-लवणान् तीक्ष्णोष्णांश्च गुणानाश्रितम् (भा.)। तत् पार्थिवमाग्नेयं च (सू. १६)।—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पृथिव्यग्निभ्यां निर्मितम्। पृथिवी खलु रौक्ष्यात् तत्रस्थं स्नेहमपास्य पृथिवी-परमाणूनामप्संग्रहमपाकरोति, ततस्तैक्ष्ण्यादग्निर्विदारयति (भा.)। अमधुर-कषायान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-रूक्षांश्च गुणान् श्वयथुजननम् (सू. १७)।—मधुर-कषायवर्जितान् रसान् तीक्ष्णादीन् गुणांश्चाश्रित्य वर्तते तद् वीर्यम् (भा.)। तदाग्नेयं वायव्यं च (सू. १८)।—अग्नि-वायु विश्लेषणं कृत्वोर्ध्वमुद्धूय शोफ जननसमर्थौ भवत इति (भा.)। सर्वान् रसाञ्शीतमृदुपिच्छिलांश्च गुणान् विलयनम् (सू. १९)। सर्वान् मधुरादीन् रसान् शीत-मृदु-पिच्छिलानाश्रितंविलयनम् (भा.)। तत् सौम्यं पार्थिवं च (सू. २७)।—अग्नि-वायुजनितवायुवीर्यनिर्वर्तित-त्वाच्छोफस्य तस्य विलयनं तत्प्रतिपक्षभूतनिर्वर्तितं भवति (भा.)। शोधनं पुन-रन्यस्य हेतोः प्रत्युक्तमप्येकंवाऽनेकं वा शोधयेत्, अग्नेर्दहनशक्तिवत्त्वड्मां-सास्थिदाहे (सू. २१)।—शोधनमिति वमन-विरेचनास्थापनानि। पुनश्शब्दो-ऽधिकृतोद्देशपरिसमाप्तिसूचकः। अन्यस्य हेतोः प्रयुक्तमिति श्लेष्महरणार्थं वमनं प्रयुक्तं पित्तं च हरति, पित्तहरणार्थं विरेचनं प्रयुक्तं वातं श्लेष्माणं च हरतीति। अत्रास्य वचने प्रयोजनं वीर्यं सामान्येनाधो वा ऊर्ध्वं वाऽपनयति सर्वान् दोषान् धातूंश्च, तत्र यथेष्टकार्यसंपत्तिकरणं प्रयोक्त्रायत्तमिति (भा.)। रसगुणैरनुमेयं प्रशमनम् (सू. २२)।—पूर्वोक्तस्य प्रशमनस्य वीर्यस्य निर्वर्तकं रसैर्गुणैरनुमेयं पूर्वमुक्तक्रमेण। अथवा अत्र प्रशमनं रक्षणं स्वस्थानां दोषाणां क्षय-वृद्ध्यवस्था-प्राप्तिप्रशमनं रसगुणैरनुमेयम्। दोषाणां रसैर्गुणैश्चानुमेयम्। अयमस्य दोष-गुणस्य बाह्यो गुणः प्रतिपक्षः, अयमस्य दोषरसस्य बाह्यो रसः प्रतिपक्ष इति (भा.)। द्वयोर्निग्रहणं सांग्राहिकम् (सू. २३)।—निग्रहणं प्रशमनम्। द्वयो-रित्युक्तं न विशेषितं, तथा पित्त-श्लेष्मणोरिति गम्यते, पार्थिव-वायव्यात् तस्य वीर्यस्याश्रयस्य च। अलवणं तीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत्वात् पित्तनिग्रहे समर्थं, पार्थिव-वायव्याद् रौक्ष्यवैशद्याभ्यां श्लेष्मनिग्रहणे समर्थम्। अतीसारस्य वातकर्तृकता-मिच्छन्ति केचित् तन्न युक्तं पित्तकर्तृकता युज्यते, शीतोपक्रमत्वात्; "ज्वरे चैवातिसारे च पूर्वं पित्तमुपक्रमेत्।" (सू. उ. अ. ४०) इत्यागमाच्च (भा.)। दीपनीयं वात-श्लेष्मनिग्रहणमाग्नेयं च (सू. २४)। दीपनीयं द्वयोर्वात-श्लेष्मणो-र्निग्रहणं वेदितव्यम्, आग्नेयत्वादिति (भा.)। सर्वप्रकोपनं प्राणहननं मर्दनं, प्रदरणं च (सू. २५)।—एतानि वीर्याणि सर्वदोषप्रकोपनानि। पूर्वमुक्तक्रमेण विषे अन्यत्र च यथासंभवं योज्यम् (भा.)। वात-पित्तप्रकोपनं श्वयथुजननं, विलयनं प्रशमनं सर्वेषाम् (सू. २६)—वात-पित्तयोः प्रकोपजननं वीर्यं स्वशक्तित एवेत्यत्र दोषौ स्वसंज्ञयैवोक्तौ; विलयनं प्रलयनं; केषां विलयनं वीर्यं? सर्वेषां दोषाणां प्रलयनं प्रशमनं शोफस्य च शमनात् (भा.)। मेध्यायुष्यवृष्य-वयस्य-वर्चस्य—रक्षोघ्नपुंसवनसौभाग्यविशल्यविमोक्षोन्मादक्लैब्यवशीकरण-विद्वेषण-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रवासनाकर्षणान्तर्धानिकपौष्टिक-राजद्वारिकप्रभृतीनि च (सू. २७)। --अन्यान्यपि वीर्याणि सन्तीति ज्ञापनार्थमाह--मेध्येत्यादि। मेध्यादीनि च वीर्याणि सन्ति। प्रभृतिशब्दादन्यानि च वीर्याणि विद्याधराणामाकाशगमन-यथेप्सितार्थनिर्वर्तनजनकानि अचिन्त्यान्यपरिमेयानि च सन्तीति। एतेषामचिन्त्यत्वं स्वयमेवोत्तरत्र वक्ष्यति। चार्थे समासः। मेधायै हितं मेध्यं, वचा-सुवर्ण-घृतादीनां वीर्यम्। आयुषे हितम् आयुष्यं, दीर्घायुष्करमिति। यथा--"मध्वामलक-चूर्णानि सुवर्णमिति च त्रयम्। प्राश्यारिष्टगृहीतोऽपि मुच्यते प्राणसंशयात्।" (सु. चि. अ. २८) इति। अथापि दिव्यानि रसायनानि च। वृषाय हितं वृष्यम्। वयसे हितं वयस्यं, जरामभिहत्य यौवनमभिरक्षति। तच्च रसायना-देवावगन्तव्यम्। वर्चसे प्रभायै हितं वर्णाय हितं वर्चस्यम्। यथा--"आमलकभक्षो ह्यायुष्मान् भवति, देवताश्चैनमनुकम्पन्ते,गान्धर्वं च वपुर्गमिष्यति।" इति। रक्षोघ्नं रक्षांस्यपहन्ति वीर्येण, कृष्णायसप्रभृतानि विषघ्नानि च। तथा पुंसवनं पुत्रलाभकरम्। यथा--"लक्ष्मणामूलफलयोः कल्कं कृत्वा रसस्य च। नासाया दक्षिणे छिद्रे बिन्दूनष्टौ प्रदापयेत्।" इति। सुभगस्य भावः सौभाग्यं, यं दृष्ट्वा सर्वेषामस्योपरि प्रीतिर्जायते, तस्य हेतुभूतं वीर्यम्। यथा--"गोवन्दना मोहनिका मधुकं माक्षिकं मधु। सुवर्णमिति संयोज्य पेयं सौभाग्य-मिच्छता॥" इति। विशल्यकरणं शल्यस्यार्पितस्य निष्क्रामणम्। यथा--अयस्कान्तोऽयश्शल्यस्य। विमोक्षकरणं निगलभञ्जनम्; आलेपमात्रेण निगलानि भज्यन्ते। उन्मादकरणं यथा--"कृकलासस्य मांसानि मधुना सह योजयेत्। तदन्नपाने भक्षे वा दत्तमुन्मादयेन्नरम्॥" इति। क्लैन्यकरणं पुंस्त्वविनाशनम्। वशीकरणं स्त्रीणां पुरुषाणां वा आत्मसात्करणं लोकप्रसिद्धम्। विद्वेषणं परस्परप्रीतिविभेदनम्, औषधविशेषेण मन्त्रविशेषेण च। प्रवासनं देशान्निर्वासनम्। यथा--"केशा नकुलरोमाणि सर्पनिर्मोचनी वचा। किण्वं च वृश्चिकाली च पदे यस्य निखन्यते॥ न तिष्ठते सप्तरात्रं शपामि ब्रह्महत्यया।" इति। आकर्षणं दूरस्थानां नारीणामाह्वानम्, औषधवीर्येण; अयस्कान्तश्चा-कर्षति, वृक्षस्थानि च फलान्याकृष्यन्ते। अन्तर्धानिकम् अदृश्यरूपजनकमौषधं हस्ते गृहीत्वा वद्ध्वा वा नष्टच्छायारूपश्चरति। पौष्टिकं लाभकरं श्रीसूक्तं नाम विद्या, तया सहस्रं लभते। राजद्वारिकं राजवश्यं, "शतावरीघृतं नित्यमुप-युज्य पुनः पुनः। सक्षौद्रं ससुवर्णं च वशे स्थापयते नृपम्॥" (सु. चि. अ. २८) इति (भा.)। रसगुणभूतसमुदायाश्रय एषामनवधारणीयः, तथा रस-गुण-भूतसमुदायानामन्येषामन्यथावीर्यत्वात् (सू. २८)।--एतानि वीर्याण्य-चिन्त्यानीति प्रदर्शयति--रसगुणेत्यादिना। एषां वीर्याणां मेध्यादीनां; रस-गुण-भूतसमुदायाश्रय इति रसाश्च गुणाश्च भूतसमुदायाश्च रस-गुण-भूतसमुदायाः,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त एवाश्रय इति। न ज्ञायते इदं मेध्यादिवीर्यमिममेव रसं गुणं वा भूतसमुदायं वाऽऽश्रितमिति। कुत इति ? तथारसगुणेत्यादि।—तथारस-गुण-भूतसमुदायानामिति तत्तुल्यरसादीनामन्येषां द्रव्याणामन्यथावीर्यत्वात्। यथा—सुवर्णं लघु शीतं कषायं मेध्यम्, अन्यत् तादृग्विधमप्यमेध्यं च दृष्टमिति। चिन्त्यानामपि वीर्याणामेते दृश्यन्ते। यथा—मधुर-कषाय-तिक्तं स्निग्धं पिच्छिलं मदनफलं वामयति, कषायमधुराः सतिक्ताः स्निग्धा उष्णास्तिला न वामयन्ति। उक्तं हि—"मधुकं सकषाय-तिक्तकं न तु रूक्षं सकटूष्ण-पिच्छिलम्। कफ-पित्तहृदाशुकारि चाप्यनपायं पवनानुलोमि च॥ फलनामविशेषस्त्वतो लभतेऽन्येषु फलेषु सत्स्वपि।" (च. सि. अ. ११) इति। "ईषत्कषाया मधुराः सतिक्ताः सांग्राहिकाः पित्तविवर्धनाश्च। वृष्याश्च बल्याश्च तथोष्णवीर्याः स्निग्धास्तिलाः सर्वश एव दृष्टाः॥" इति। तस्मादन्यथावीर्यत्वमेव चिन्त्येष्वपि विद्यते तिलेषु। तद्वीर्यमूर्ध्वभागिकं नारब्धमग्निवायुभ्यामतो न वामयन्तीति चेदत्रापि तद्वीर्यं मेध्यं नारब्धमीति शक्यं वक्तुमिति तुल्यत्वान्न किंचिदेतदिति। तथाऽप्यस्त्यत्र विशेषः—अत्रोर्ध्वभागिकं वीर्यमग्नि-वायुभ्यां निर्वर्त्यते, तयोरूर्ध्वगतित्वात्; ताभ्यामत्रारब्धमिति शक्यमवधारयितुम्। अत्र या मेधा सैव न ज्ञायते कस्य भूतस्य गुणः, वशीकरणत्वं वा कस्य भूतस्येति न निर्धार्यत इति। अथवा तथारस-गुण-भूतसमुदायानामिति यथारस-गुण-भूतसमुदायान्यचिन्त्यवीर्यद्रव्याणि, तथारस-गुण-भूतसमुदायानां तत्तुल्यरस-गुण-भूतसमुदायानामिति, अन्येषां चिन्त्यवीर्याणां द्रव्याणामन्यथावीर्यत्वात्। तस्मादेवंभूतभौतिकक्रमेणाचिन्त्यान्येतानि वीर्याणीति जानीम इति (भा.)। समन्त्राणि पुनरेषां कानिचित् (सू. २९)।—एषां वीर्याणां कानिचिद् अन्तर्धानिक-वशीकरण-पौष्टिकादीनि समन्त्राणि भवन्तीति। मन्त्रतत्त्वं चाचिन्त्यकारणमेव, भूतसमुदायाभावात् (भा.)। कर्मणाऽनुमेया संपत्तिः (सू. ३०)।—कथमिदानीं निर्धार्यन्त इत्याह—कर्मणेत्यादि। कर्मणा फलेनानुमेया इति। एवं वीर्यं परीक्षितं चिन्त्याचिन्त्यभेदेन। तत्राचिन्त्यानि प्रभृतिशब्देनोक्तत्वाद् बहूनि गम्यन्ते। एतानि किं चिन्त्यान्यपि वीर्याणि छर्दनीयादीनि विलयनान्तान्याहोस्विदन्यान्यपि ? अन्यान्यपि सन्ति तन्त्रेषु, तस्मान्नोक्तानीति; अनेनैवाप्यूह्यत्वान्नोक्तानीति। उक्तानि निमिना—"अब्भूमिजमधोभागं, तेजो-वायुजमूर्ध्वगम्। तथैवोभयतोभागं मह्याग्न्यनिलजं मतम्॥ सांग्राहिकं विजानीयात् पृथिव्यनिलसंभवम्। वायु-सोम-महीजातं तथा संशमनं विदुः॥ पृथिव्यनिलबाहुल्याद्दीपनं परिचक्षमहे। पृथिव्यपां गुणैर्युक्तं जीवनीयमिति स्थितिः॥ वाय्वनलस्वभावाच्च प्राणघ्नं मदनं मतम्। प्राणघ्नं तीव्रभावात्तु दोष-धातुप्रकोपनम्। मदनं चलधातुत्वाद् दोषकोपनमेव तु। अपां गुणबहुत्वात्तु शीतीकरणमिष्यते॥ भूम्यब्जं शोफकृद् विद्धि, शोफघ्नं च खवायुजम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अग्नेस्तु गुणबाहुल्यात् पाचनं परिचक्ष्महे ॥ दारणं मारुताग्नेयं, रोपणं भू-जलानिलम्। एवमेतानि प्रोक्तानि यथावदनुपूर्वशः ॥ दश पञ्च च कर्माणि गुणानां पाञ्चभौतिकात्। द्रव्येष्वेवं विजानीयात् कर्माणि दश पञ्च च।" इति (भा.) ॥

नागार्जुन कहते हैं कि—वीर्य कर्म (फल) लक्षण है अर्थात् द्रव्यगत जिस सारभाग सत्त्वांश से वमन-विरेचन आदि कार्य होते हैं वह वीर्य है। शंखाहुली के उपयोग से मेधा की उत्पत्ति (वृद्धि) तथा मैनफल के उपयोग से वमनरूप कर्म (फल) होता हुआ देखकर शंखाहुली में मेध्य (मेधाजनन) और मैनफल में छर्दनीय (वमन-कारक) वीर्य है ऐसा जाना जाता है। **नागार्जुन** ने शीत, उष्ण आदि प्रकृष्टशक्ति-संपन्न गुण ही वीर्य है, इस मत का खंडन किया है। उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में जो विस्तारपूर्वक युक्तियाँ दी हैं उनको मूल में ही देखें। हमने विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखी हैं। **नागार्जुन** ने छर्दनीय (वामक), अनुलोमनीय (विरेचक), उभयतोभाग (संशोधन, वमन-विरेचन दोनों करानेवाला), प्रशमन (वातादि-दोषप्रशमन), संग्रहण (सांग्राहिक), दीपनीय, प्राणघ्न (विष), मदन (मादक), विदारण (प्रदरण), श्वयथुकरण, श्वयथुविलयन, मेध्य (मेधाजनन), आयुष्य, (जीवनीय), वृष्य, वयस्य (वयःस्थापन), वर्चस्य (वर्णजनन-वर्ण्य), रक्षोघ्न, पुंसवन आदि अनेक प्रकार के वीर्य माने हैं। **छर्दनीय वीर्य** ऊर्ध्वगतिस्वभाववाले अग्नि और गतिस्वभाववाले वायु से उत्पन्न होता है तथा मधुरादि सब (मधुरादि में से किसी एक या अनेक) रसों को आश्रय करके रहता है। **अनुलोमनीय वीर्य** अधोगतिस्वभाववाले जल और पृथिवी से उत्पन्न होता है तथा सर्व रसों को आश्रय करके रहता है। **उभयतोभाग वीर्य** वायु को उत्पन्न करनेवाले कटु, तिक्त और कषाय रस तथा पित्त को उत्पन्न करनेवाले तीक्ष्ण, उष्ण और लघु गुण—इनको आश्रय करके रहता है। वह पृथिवी, जल, अग्नि और वायु से उत्पन्न होता है। **प्रशमन वीर्य** वात, पित्त और कफ के अपने-अपने रसों और गुणों से विपरीत रसों और गुणों को आश्रय करके रहता है। जैसे —**वातप्रशमन वीर्य** मधुर, अम्ल और लवण रस तथा गुरु उष्ण, स्निग्ध और पिच्छिल गुण—इनको आश्रय करके रहता है। **पित्तशमन वीर्य** कषाय, मधुर और तिक्त रस तथा शीत, गुरु, मृदु और पिच्छिल—इन गुणों का आश्रय करके रहता है। **कफप्रशमन वीर्य** कषाय, कटु और तिक्त रस तथा तीक्ष्ण, रूक्ष और विशद—इन गुणों को आश्रय करके रहता है। **सांग्राहिक वीर्य** पृथिवी और वायु से उत्पन्न होता है तथा लवण को छोड़कर अन्य पाँच रसों तथा तीक्ष्ण और उष्ण गुण को छोड़कर अन्य गुणों को आश्रय करके रहता है। **दीपनीय वीर्य** अग्नि से उत्पन्न होता है तथा पित्त को उत्पन्न करनेवाले कटु, अम्ल और लवण रस तथा तीक्ष्ण, उष्ण और लघु गुण—इनको आश्रय करके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रहता है। **मदनीय वीर्य** सर्व रस तथा तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, लघु और विशद गुण—इनको आश्रय करके रहता है। वह अग्नि और वायु से उत्पन्न होता है। प्राणघ्न वीर्य अग्नि से उत्पन्न होता है और शीघ्र (आशुकारी), सुषिर, व्यवायी, विकाशी (उष्ण, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, विशद, लघु, तथा रूक्ष)—इन गुणों को आश्रय करके रहता है। **प्रदरण (विदारण) वीर्य** पृथिवी और अग्नि से उत्पन्न होता है तथा पित्त को उत्पन्न करनेवाले कटु, अम्ल और लवण रस तथा तीक्ष्ण और उष्ण गुण—इनको आश्रय करके रहता है। **श्वयथुजनन** (सूजन उत्पन्न करनेवाला) वीर्य अग्नि और वायु से उत्पन्न होता है तथा मधुर और कषाय को छोड़कर अन्य चार रस तथा तीक्ष्ण, उष्ण और रूक्ष गुण—इनको आश्रय करके रहता है। **श्वयथु विलयन** (सूजन को बैठानेवाला) वीर्य जल और पृथिवी से उत्पन्न होता है तथा सर्व रस और शीत, मृदु तथा पिच्छिल गुण—इनको आश्रय करके रहता है। **शोधन वीर्य** किसी एक दोष के निर्हरण के लिये प्रयुक्त हुआ हो, तथापि वह एक या अनेक दोषों को निकालता है। जैसे—कफनिर्हरण के लिये प्रयुक्त वमन पित्त को भी निकालता है, पित्तनिर्हरणार्थ प्रयुक्त विरेचन कफ और वात को भी निकालता है। **सांग्राहिक वीर्य** पित्त और कफ का प्रशमन करनेवाला होता है। **प्राणघ्न, मदन** और **प्रदरण** ये वीर्य सर्व दोषों का प्रकोप करते हैं। **श्वयथुजनन वीर्य** वायु और पित्त का प्रकोप करता है। **श्वयथुविलयन वीर्य** सब दोषों का प्रशमन करता है। **मेध्य** (स्मरणशक्ति या बुद्धि बढ़ानेवाला), **आयुष्य** (दीर्घायु करनेवाला) **वृष्य, वयस्य, वर्चस्य, रक्षोघ्न, पुंसवन** (पुरुष सन्तति उत्पन्न करनेवाला), **सौभाग्यकर** (जिसको देखकर सब की उसपर प्रीति हो ऐसा करनेवाला), **विशल्यकर** (शरीर से शल्य को निकालनेवाला), **विमोक्षकरण** (बेड़ी-जंजीर को तोड़नेवाला), **उन्मादकर, क्लैब्यकर** (नपुंसकता करनेवाला), **वशीकरण, विद्वेषण** (द्वेष उत्पन्न करनेवाला), **प्रवासन** (देश से निकालनेवाला), **आकर्षण** (खींचनेवाला), **आन्तर्धानिक** (अदृश्य करनेवाला), **पौष्टिक** (धनादि का लाभ करानेवाला), **राजद्वारिक** (राजा को वश में करनेवाला) इत्यादि अन्य भी वीर्य हैं। ये अचिन्त्य वीर्य किन रसों, गुणों और महाभूतों का आश्रय करके रहे हुए होते हैं, इसका निर्णय नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे ही रस, गुण और भूतसमुदायवाले अन्य द्रव्यों में इससे भिन्न ही प्रकार का वीर्य देखने में आता है। इनमें से आन्तर्धानिक, वशीकरण, आदि कई वीर्य तो समन्त्रक (मन्त्रशक्ति से होनेवाले) हैं। इनका कर्म-फल देखकर निर्णय किया जाता है।

रसवैशेषिक सूत्र के भाष्य में कुछ निमि के श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें लिखा है कि—जल और पृथिवी से **अधोभाग**; अग्नि और वायु से **ऊर्ध्वभाग**; पृथिवी, अग्नि और वायु से **उभयतोभाग**; पृथिवी और वायु से **सांग्राहिक**; वायु, जल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और पृथिवी से **संशमन** ; पृथिवी और अग्नि से **दीपन** ; पृथिवी और जल से **जीवनीय** (आयुष्य) ; वायु और अग्नि से **प्राणघ्न और मदन**[1] ; जल से **शीतीकरण** ; पृथिवी और जल से **शोथकर** ; आकाश और वायुसे **शोथघ्न** ; अग्नि से **पाचन** ; वायु और अग्नि से **दारण** ; पृथिवी, जल और वायुसे **रोपण** वीर्य उत्पन्न होता है। पञ्चमहाभूतों से इस प्रकार पन्द्रह प्रकार के कर्म (कर्म-लक्षण वीर्य) उत्पन्न होते हैं।

तत्राग्नि-मारुतात्मकं प्रायेणोर्ध्वभागिकं, तयोर्हि लाघवादूर्ध्वं गतित्वाच्चाग्नेः प्लवनत्वाच्च मारुतस्य। भूम्यौदकात्मकं प्रायेणाधो भागिकं, तयोर्हि गौरवान्निम्नगत्वाच्च तोयस्य। व्यामिश्रात्मकमुभयतो भागम्। शमनं तु दोषविपरीतगुणमुक्तं प्राक्। तत्संकरे च यतो बाहुल्येन कार्यकर्तृत्वं भवति यदेवाधिकं तदेव तत्कार्यकरमिति व्यपदेशः। तथाऽनिलात्मकं ग्राहि। अनलात्मकं दीपन-पाचनम्। उभयात्मकं लेखनम्। भूम्युदकात्मकं बृंहणम्॥ अ. सं. सू. अ, १७

तस्य च द्रव्यस्य ये शोधन-शमन-ग्राहि दीपनत्वादयो विशेषास्तेऽप्येकादि-महाभूतोत्कर्षापकर्षकृता एवेति प्रदर्शनार्थमाह—तत्रेत्यादि। ऊर्ध्वभागिकं यस्यातिशयो वमनं तदग्निमारुतात्मकम्, अग्निमारुतयोर्लघुत्वादग्नेरूर्ध्वगमनसंभवाद्वायोश्च प्लवनत्वात्। पृथिव्युदकात्मकमधोभागिकं यस्यातिशयो विरेचनं, पृथिव्युदकयोर्गुरुत्वादधोगमनं तोयस्य निम्नगत्वादपि। व्यामिश्रभूतचतुष्टयाधिक्येनोभयात्मकं वमन-विरेचनम्। शमनं यदुक्तभूताधिक्यरहितं नाधो गच्छति नाप्यूर्ध्वमेति केवलं दोषविपरीतगुणमेव, तच्च प्रकृतिविघातकत्वेन पूर्वमुक्तम्। तेनैतदुक्तं—दोषगुण-वैपरीत्यापेक्षया सर्वस्मिन् द्रव्ये संभवति; नत्वेवं शोधनं, तस्य विशिष्टभूताधिक्यहेतुत्वात्। यत्र त्वेकस्मिन्नेव द्रव्ये ऊर्ध्वगत्वाधोगत्व शमनत्वानां संभवस्तत्र यतो बाहुल्येन कार्यकर्तृत्वं भवति ततो यदेवाधिकं तदेव कार्यकरमिति व्यपदेश इत्यर्थः (इन्दुः)॥

वृद्धवाग्भट लिखते हैं कि—ऊर्ध्वभागिक द्रव्य (वीर्य) जिस के अतिशय से वमन होता है, वह अग्नि और वायु को आश्रित कर के रहता है। अधोभागिक द्रव्य पृथिवी और जल की अधिकता से उत्पन्न होता है। उभयतोभाग द्रव्य अग्नि, वायु, पृथिवी और जल की अधिकतावाला होता है। वातादिशमन द्रव्य तत्तत्

१—प्राणघ्न वीर्य अपनी तीव्रता से सब दोष और धातुओं का तीव्र प्रकोप करता है। मदन (मादक) वीर्य चल (वात) गुण से दोषों का (सामान्य) प्रकोप करता है। सब द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं अतः यहाँ पृथिवी से, जल से इत्यादि का अर्थ पृथिवी की अधिकता से, जल की अधिकता से इत्यादि जानना चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दोष से विपरीत गुणवाला होता है। ग्राहि द्रव्य वात की अधिकतावाला होता है। दीपन और पाचन द्रव्य अग्नि के गुणों की अधिकतावाला होता है। लेखन द्रव्य, वायु और अग्नि की अधिकतावाला होता है। बृंहण द्रव्य पृथिवी और जल के गुणों की अधिकतावाला होता है।

उपयुज्यमानानां द्रव्याणां वीर्यं कदोपलभ्यते ?—

वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते। —च. सू. अ. २६

अधीवासः सहावस्थानम्। यावदधीवासादिति यावच्छरीरनिवासात्। एतच्च विपाकात् पूर्वं, निपाताच्चोर्ध्वं ज्ञेयम्। निपाताच्चेति शरीरसंयोगमात्रात्। तेन किंचिद्वीर्यमधीवासादुपलभ्यते, यथा—आनूपमांसादेरुष्णत्वं; किंचिच्च निवासादेव लभ्यते, यथा—मरीचादीनामेव। एतेन रसः प्रत्यक्षेणैव; विपाकस्तु नित्यपरोक्षः, तत्कार्येणानुमीयते; वीर्यं तु किञ्चिदनुमानेन, यथा—सैन्धवगतं शैत्यम्, आनूपमांसगतमौष्ण्यं वा; किंचिच्च वीर्यं प्रत्यक्षेणैव, यथा—राजिकागतं तैक्ष्ण्यं घ्राणेन, पिच्छिल-विशद-स्निग्ध-रूक्षादयः चक्षुःस्पर्शनाभ्यां निश्चीयन्त इति वाक्यार्थः। एतच्च वीर्यं सहजं कृत्रिमं च ज्ञेयम्। एतच्च यथासंभवं गुरुलघ्वादिषु वीर्येषु लक्षणं ज्ञेयम्। एतच्च लक्षणं परिभाषिकवीर्यविषयमेव ज्ञेयम् (च. द.)।

× × × × × तेनाधिवसनेन च।

वीर्यं × × × × × × × × × × ॥ —अ. सं. सू. अ. १७

यत्र तु द्रव्ये विपरीतत्वाद्रसेनाभिभूतं वीर्यं निपातमात्रान्न ज्ञायते तत्र कालाधिवासेन देहमार्दवादिकरणाज्ज्ञायते (इन्दुः)॥

द्रव्यगत वीर्य का ज्ञान द्रव्य का शरीर के साथ संबन्ध होने से लेकर वह जब तक शरीर के अन्दर रहता है, तब तक शरीर पर होनेवाली उसकी क्रियाओं के द्वारा होता है। कुछ उपयुज्यमान द्रव्यों के वीर्यों का ज्ञान निपात से अर्थात् जिह्वा या त्वगिन्द्रिय के साथ उनके संयोगमात्र से होता है, जैसे काली मिर्च आदि के तीक्ष्णत्व आदि का ज्ञान निपात से होता है; कुछ उपयुज्यमान द्रव्यों के वीर्यों का ज्ञान अधिवास से अर्थात् जब तक वे शरीर में रहें, तब तक शरीरपर होनेवाली उनकी क्रियाओं से होता है, जैसे—आनूपमांस के उष्णत्व का ज्ञान जब तक वह शरीर में रहता है, तब तक शरीरपर होनेवाली उसकी क्रियाओं से अनुमान किया जाता है; कुछ द्रव्यों के वीर्यों का ज्ञान निपात और अधिवास दोनों से होता है, जैसे—काली मिर्च आदि के उष्णत्व का ज्ञान निपात और अधिवास दोनों से होता है[1]।

१—मधुरादि रसों का ज्ञान प्रत्यक्ष से (जिह्वेन्द्रिय से) होता है। विपाक नित्य परोक्ष है। विपाक का ज्ञान उसका कार्य देखकर अनुमान से किया जाता है।→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीर्य का ज्ञान निपात के बाद और विपाक के पूर्व होता है (यह पारिभाषिक वीर्य का लक्षण है, शक्तिरूप वीर्य का लक्षण नहीं है)।

प्रभावनिरूपणम्--

रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः॥
कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः।
तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम्॥
विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्रकारणम्।
ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्॥
मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्।
तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥

--च० सू० अ० २६

प्रभावलक्षणमाह--रस-वीर्येत्यादि। सामान्यमिति तुल्यता। विशेषः कर्मणामिति दन्त्याद्याश्रयाणां विरेचनत्वादीनां सामान्यं लक्ष्यत इत्यनेन रसादि-कार्यत्वेन यन्नावधारयितुं शक्यते कार्यं तत् प्रभावकृतमिति सूचयति, अत एवोक्तं—प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते; रस-वीर्य-विपाककार्यतयाऽचिन्त्य इति। अस्यैव दुरभि-गमत्वादुदाहरणानि बहून्याह—कटुक इत्यादिना। तद्वदिति चित्रकसमान-गुणा। विषघ्नमुक्तमिति "तस्माद्दंष्ट्राविषं मौलं" (च. चि. अ. २३) इत्यादिना। ऊर्ध्वानुलोमिकमिति युगपदुभयभागहरं किंवा ऊर्ध्वहरं तथाऽनुलोमहरं च। कर्म-यद्विविधात्मकमिति विषहरण-शूलहरणादि। एतच्चोदाहरणमात्रं, तेन जीवन-मेध्यादिद्रव्यस्य रसाद्यचिन्त्यं सर्वं 'प्रभाव' इति ज्ञेयम्। प्रभावश्चेह द्रव्यशक्ति-रभिप्रेता, सा च द्रव्याणां सामान्यविशेषः दन्तीत्वादियुक्ता शक्तिरेव, यतः शक्तिर्हि स्वरूपमेव भावानां नातिरिक्तं किंचिद्धर्मान्तरम्; एवं प्रदेशान्तरोक्तगुणप्रभावादि-ष्वपि वाच्यं; यथोक्तं—"द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावात्" (च. सू. २६) इत्यादि। न च वाच्यं दन्त्यादि स्वरूपत एव विरेचयति, तेन किमिति जलाद्युपहता दन्ती न विरेचयतीति; प्रतिबन्धकाभावविशिष्टस्यैव प्रभावस्य कारणत्वात्, जलोपहतायां दन्त्यां जलोपघातः प्रतिबन्धक इत्याद्यनुसरणीयम्।

←वीर्य का ज्ञान कुछ अनुमान से, जैसे--सैन्धवगत शैत्य का और आनूप-मांसगत औष्ण्य का तथा कुछ प्रत्यक्ष से, जैसे--राजिकागत तैक्ष्ण्य का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय से और पिच्छिल-विशद-स्निग्ध-रूक्ष आदि का ज्ञान नेत्र और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) से होता है (च. द.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नैयायिकशक्तिवादे या च विषस्य विषघ्नत्वे उपपत्तिरुक्ता ऊर्ध्वाधोगामित्वविरोधलक्षणा साऽन्तर्भागत्वात् प्रभावादेव भवति; एवमूर्ध्वानुलोमिकत्वादौ पार्थिवत्वादिकथनेऽपि वाच्यम् (च. द.)। प्रभावोऽचिन्त्यक्रियाहेतुर्वीर्यमेवेति शक्तिविशेष एव 'प्रभाव' इत्यभिधीयते। × × ×। सामान्यमिति तुल्यता; कर्मणां विशेषः न तुल्यतेत्यर्थः। एतेन द्रव्ययोर्द्वयो रसादिसाम्ये सत्यप्येकस्मिन् द्रव्ये जायते कार्यविशेषः, इतरत्र तु न जायते, इत्यत्र यत् कारणतया वाच्यं तदेव प्रभाव इत्यर्थः। तद्वदिति चित्रकतुल्यरस-विपाका। एतेन रसाद्यैस्तुल्यायामपि दन्त्यां यद्विरेचकत्वरूपं विशिष्टं कर्म तत् स्वकारणं प्रभावमनुमापयतीत्यर्थः। तथा रसादिजन्यत्वेन यत् कार्यं नावधारयितुं पार्यते तदपि प्रभावकृतमेव मन्तव्यं; यथा मण्यादीनां विषहरणादि कर्म (शि.)। यत्र द्रव्ये रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यम् अन्यैः सह साम्यं लक्ष्यते, कर्मणां पुनर्विशेषः, तस्य द्रव्यस्य स विशिष्टकर्महेतुः प्रभावः स्मृतः। तत्र दृष्टान्तमाह—कटुक इत्यादि। चित्रकः कटुकरसः, पाके कटुविपाकः, वीर्येण चोष्णो मतः; दन्ती तद्वत् चित्रक इव कटुरसा, कटुविपाका, वीर्योष्णा च; किन्तु प्रभावात् सा दन्ती नरं मानवं विरेचयति, न चित्रकः। दन्ती-चित्रकयो रस-वीर्य-विपाकानां तुल्यत्वेऽपि दन्त्या यद्विरेचनरूपं विशिष्टं कर्म तत् प्रभावादेव। विषं विषघ्नं यदुक्तं तत्र प्रभावः कारणम्। यत् ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वभागहरम्, आनुलोमिकम् अधोभागहरं वमन-विरेचनरूपं द्रव्याणां कर्म, तत् प्रभावेण प्रभावितं जनितम्। मणीनां धारणीयानामोषधीनां च विविधात्मकं विषहरण-शूलहरण-शल्याकर्षणादिकं कर्म तत् तेषां प्रभावकृतं; तस्मात् प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते। × × ×। (यो.)। ननु द्रव्याणां गुणाः कर्माणि च दृश्यन्ते पदार्थाः, द्रव्यप्रभावश्च कीदृश इति? अत उच्यते—रसेत्यादि। यत्र वस्तुनि रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यस्य रसस्य यत् कार्यं, यस्य विपाकस्य यत् कार्यं, यस्य वीर्यस्य च यत् कार्यं तत्तस्य सामान्यं यत्र वस्तुनि लक्ष्यते, तत्र कर्मणां यो विशेषो लक्ष्यते स कर्मणां विशेषस्तस्य वस्तुनः प्रभावः स्मृतः। तदुदाहरति—कटुक इत्यादि। चित्रकः कटुको रसे पाके च, वीर्ये चोष्णः, तस्य तस्य कार्यं सामान्यंकटुरसस्य यत् कार्यं, कटुविपाकस्य यत् कार्यं, उष्णवीर्यस्य च यत् कार्यं तल्लक्ष्यते, न चाधिकं कर्म लक्ष्यते; तद्वद्दन्ती रसे पाके च कटुका, वीर्ये चोष्णा, तद्रसविपाकवीर्याणां कर्माणि शुक्रहननादीनि यानि तेषां मध्ये सामान्यं लक्ष्यते, विशेषस्तु विरेचनं कर्म लक्ष्यते, तत् प्रभावान्मानवं विरेचयति। अपरं च विषमित्यादि। विषं विषघ्नं यदुक्तं जङ्गमविषघ्नं स्थावरविषं, स्थावरविषघ्नं जङ्गमविषं, विपरीतगतित्वात्; जङ्गमविषमूर्ध्वगं स्थावरविषमधोगमिति परस्परं गतिविपरीतत्वेन मिथो नाशकमपि, यद्गतिविपर्ययः स प्रभावादेवेति। यच्चोर्ध्वानुलोमिकं द्रव्यं मदनादि-त्रिवृतादिकं तदपि प्रभावप्रभावितम्। एवं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चन्द्रकान्तादीनां मणीनां ग्रहपीडादिशान्तिरपामार्गमूलादीनां धारणीयानां यद्दाह-विषादि-ग्रहपीडादि-प्रशमनादिकं विविधात्मकं कर्म दृश्यते तेषां प्रभावकृतं तत्, तत् कर्म न तु रस-पाक-वीर्यकृतं भवति। ननु, येन या क्रिया क्रियते तस्यां क्रियायां तस्य तद्वीर्यमुक्तं, ततो वीर्यमेव प्रभावः, कथं वीर्यसामान्ये कर्मविशेष एव प्रभावोऽतिरिच्यत इति। अत आह—प्रभावोऽचिन्त्य उच्यत इति। येन कुर्वन्ति तद्वीर्यमिति साधारण-लक्षणेन रस-पाक-शब्द-स्पर्शादि-गुरु लाघवादीनि कर्माणि च सर्वाणि वीर्याणि भवन्ति। तत्र यस्य यत् कर्म तत् तस्य चिन्तया निर्वक्तुं शक्यं, तद्व्यतिरिक्तः द्रव्यस्य यत् कर्मविशेषः सोऽचिन्त्यः, तत्तद्रस-पाक-गुण-कर्मभिः कार्यतया चिन्तयितुमशक्यः, ततः प्रभावः शक्तिविशेष उच्यते। प्रभवनं प्रभावः सामर्थ्यं स्वस्वारम्भकद्रव्य-संयोगे समवेतानां तेषां द्रव्य-गुण-कर्मणां द्रव्य-गुणयोः सजातीयारम्भकत्वात् तत्र द्रव्यात् सजातीयद्रव्यान्तरं जायते, गुणात् सजातीयगुणान्तरं जायते, कर्मणां तु सजातीयकर्मारम्भकत्वनियमाभावात् कर्म-साध्यकर्माभावाच्च[1] यत्र विजातीयं कर्म तदारम्भकद्रव्याणां कर्माण्यारभते, तद्विजातीयं कर्म खल्वचिन्त्यं, स प्रभाव उच्यते। कार्यभूतं कर्मेदं, कर्मपदार्थः प्रभावः। कार्यद्रव्यं दन्त्यादिकं तत्कर्म-विशेषेण स्वीयेन प्रभावेण विरेचनादि कर्म करौतीति (ग.)॥

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्॥
दन्ती रसाद्यैस्तुल्यापि चित्रकस्य विरेचनी।
मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम्॥
कटुपाक-रस-स्निग्ध-गुरुत्वैः कफवातजित्।
लशुनो वातकफकृन्न तु तैरेव यद्गुणैः॥
मिथो विरुद्धान् वातादीन् लोहिताद्या जयन्ति यत्।
कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत् प्रभावविजृम्भितम्॥
शिरीषादि विषं हन्ति स्वप्नाद्यं तद्विवृद्धये॥
मणि-मन्त्रौषधीनां च यत् कर्म विविधात्मकम्॥
शल्याहरण-पुंजन्म-रक्षायुर्धी-वशादिकम्।
दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागदः॥
विरेचयति यद्वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा।
ऊर्ध्वाधोभागिकं यच्च द्रव्यं यच्छमनादि च॥

१—"कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" (वै. द. १।१।११)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रादिप्राप्तं तत्तच्च यत् प्रपञ्चेन वर्णितम् ।
तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते ॥
रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विदध्यात् ।
सद्योऽन्यथा तत् कुरुते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति ॥
——अ. सं. सू. अ. १७

एवं रसाद्या ज्ञाताः, प्रभावस्तु न ज्ञातः, अतस्तद्विज्ञानार्थमुच्यते—रसादीत्यादि। रस-वीर्य-विपाकानां परस्परसाम्येऽपि यद्यद्विशिष्टं कर्म दृश्यते तत्तत् प्रभावजं विद्धि। एतावतैतदुक्तं भवति—विशिष्टा सर्वातिशायिनी द्रव्यशक्तिः 'प्रभाव'-शब्दवाच्या। तस्य च प्रभावजस्य कर्मण उदाहरणमुच्यते—दन्तीत्यादि। दन्ती रसाद्यैश्चित्रकस्य तुल्योऽपि विरेचनी, न तु चित्रकमपि विरेचनमिति प्रभावकर्म। मधुकस्य रसाद्यैः सदृश्यपि द्राक्षा विरेचनी, न मधुकमिति प्रभावकर्म। क्षीरस्य रसाद्यैः सदृशमपि घृतं दीपनं न क्षीरमिति प्रभावः। लशुनः कटुरसत्वेन कटुविपाकित्वेन कफजित्, स्निग्धत्वेन गुरुत्वेन वातजित्, स लशुनः स्वैरेव गुणैर्वातकफौ न करोतीति प्रभावः। तेनैतदुक्तं भवति——कटुकरस-विपाकौ तु लशुने कफच्छित्त्वे द्रव्यप्रभावात् पर्याप्तौ, न तु वातकरत्वे; तथा तत्र स्निग्धत्वं गुरुत्वं च वातजित्वे द्रव्यप्रभावात् पर्याप्तं, न तु श्लेष्मकरत्वं इति। परस्परविरुद्धानपि वातादीन् रक्तशालिः स्निग्धत्वेन गुरुत्वेन नाशयति, यवकश्च तानेव करोतीति प्रभावकर्म। शिरीष-हरिद्रादिकं विषं नाशयति, स्वप्न-मेघादि च तदेव विषं वर्धयति, तत् प्रभावकर्म। वृष्यं च द्रव्यं यच्छीघ्रमेव शुक्रं वर्धयति बहिर्विरेचयति वा, तत् प्रभावाकर्म। यच्च द्रव्यं मदन-फलादि ऊर्ध्वं देहे गच्छति, हरीतक्यादि वाऽधः, तत् प्रभावात्। अन्यच्च शमनं प्रभावादेव। यच्च मात्रादिप्रकरणे प्रपञ्चेन विस्तरेण वर्णितं तत् प्रभावजं विद्धि। अतः प्रभावस्य तत्स्वभावत्वात् स प्रभावोऽचिन्त्यः, कीदृशः ? कदा ? कुतस्त्यः ? इति ज्ञातुं न शक्यते। सदपि तत्कारणं महाभूतविशेषपरिणामाख्यमस्मद्विधैस्तत्राधिगन्तुं न शक्यत इत्यर्थः। एतमेव प्रभावार्थमुपसंहरति—रसेनेत्यादि। रसादिभिः करणैर्द्रव्यं यत् कर्म करोति तत् प्रभावेणान्यथा कुरुते विपरीतयतीत्यर्थः। अतस्तस्य प्रभावहेतोर्मार्गणं न शक्यते, तथाविधभावस्याभावत्वात् (इन्दुः) ॥

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम् ।
दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी ॥
मधुकस्य च मृद्वीका, घृतं क्षीरस्य दीपनम् । ——अ. हृ. सू. अ. ९

ननु, द्रव्य-रस-विपाक-वीर्याणि कर्मानुमानेन यथास्वरूपाण्येवावगच्छामः, प्रभावस्य तु न ज्ञायते कीदृशं कर्म ? इत्यत आह——रसादीत्यादि। द्वयोर्द्रव्ययो-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसादीनां रस-वीर्य-विपाकानां साम्ये सति, यदेकं द्रव्यमन्यत् कर्म कुरुते, अन्यत् पुनरन्यद्विशिष्टं कर्म, तत् प्रभावजं प्रभावाज्जातमिति ज्ञेयम्। अयमस्य द्रव्यस्य प्रभाव इति विशिष्टकर्मकरणान्निश्चीयत इत्यर्थः। ननु, प्रभावः क उच्यते ? इति चेद् ब्रूमः--रस-वीर्य-विपाकादिगुणातिशायी स्वभावो यः, स प्रभावः। उक्तं च---"रस-वीर्य-विपाकादिगुणातिशयवानलम्। द्रव्यस्वभावो निर्दिष्टो यः प्रभावः स कीर्तितः॥" इति। अत्र निदर्शनार्थमाह--दन्तीत्यादि। चित्रकस्य रस-वीर्य-विपाकैस्तुल्याऽपि दन्ती रसादिभ्योऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगाद्विरेचनी, न चित्रकः; मधुकस्य च मृद्वीका तुल्याऽपि रसादिभ्योऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगात् मृद्वीका विरेचनी, न मधुकं; घृतं क्षीरस्य रसादिभिस्तुल्यमपि घृतं दीपनं, न पुनः क्षीरम्। अन्ये प्रभावलक्षणमन्यथाऽऽहुः--प्रतिवस्तु स्वसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्त-लक्षणो यो धर्मस्त्व-तलादिप्रत्ययप्रतीतिसमधिगम्यः स प्रभावः। तन्त्रान्तरे चोक्तं--"वस्तूनां यः स्वसंज्ञायाः प्रवृत्तौ कारणं स्मृतः। त्व-तलादिप्रबोध्यश्च प्रभाव इति स स्मृतः॥" इति। एवं च दन्तीत्वाद्दन्त्या विरेचनकारित्वं प्रभावः, चित्रकस्य चित्रकत्वादविरेचनकारित्वं प्रभावः एवं मृद्वीकात्वान्मृद्वीकाया विरेचनकारित्वं प्रभावः, इत्यादि सकलपदार्थेषु बोध्यम् (अ. द.)। प्रभावं लक्षयति—रसादिसाम्य इति। द्वयोर्द्रव्ययो रसादिसाम्ये सत्यप्येकस्य यद्विशिष्टं कर्म दृश्यते, तत् प्रभावजम्। तत्र यो द्रव्यधर्मो हेतुः स प्रभाव इत्यर्थः। प्रभाव-मुदाहरति—दन्तीत्यादि। मधुक-मृद्वीकयोः क्षीर-घृतयोश्च मधुररस-पाकत्वेन शीतवीर्यत्वेन च साम्येऽपि मृद्वीकैव विरेचनी न मधुकं, घृतमेव दीपनं न क्षीरम् (हे.)॥

जिस द्रव्य में रस, वीर्य और विपाक का सामान्य हो अर्थात् उस द्रव्य में रहे हुए रस, विपाक और वीर्य के जो कार्य आयुर्वेदशास्त्र में कहे हुए हैं वे समान हों (शास्त्र-कथनानुसार हों), परन्तु कर्म में विशेषता हो अर्थात् उसमें रहे हुए रस, वीर्य और विपाक के कर्मों से भिन्न ही कर्म देखने में आवें, उस विशेष (भिन्न) कर्म का कारण प्रभाव है। जैसे—चित्रक रस में कटु है, उसका विपाक कटु होता है और उसका वीर्य उष्ण है। चित्रक में कटु रस का, कटु विपाक का और उष्ण वीर्य का जो कार्य शास्त्र में कहा गया है वही देखने में आता है, उनसे विपरीत कोई विशेष कार्य देखने में नहीं आता; परन्तु दन्ती चित्रक के समान रस, वीर्य और विपाकवाली अर्थात् रस में कटु, विपाक में कटु और उष्ण वीर्यवाली है, किन्तु उसमें इन रस, वीर्य और विपाक के कार्यों से विशेष-भिन्न विरेचनरूप कर्म देखने में आता है; दन्ती के इस विरेचनरूप कर्म का कारण प्रभाव है। एक विष जो दूसरे विष का नाश करता है, उसका कारण उस विष में रहा हुआ प्रभाव है। वामक और विरेचक द्रव्य जो वमन और विरेचन कराते हैं, उनमें भी प्रभाव ही कारण है। क्योंकि; उनके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

समान रस, वीर्य और विपाकवाले अन्य द्रव्य वमन या विरेचन नहीं कराते। नाना प्रकार के रत्नों तथा अन्य वनस्पति आदि द्रव्यों के धारण करने से जो विविध प्रकार के कर्म होते हुए देखने में आते हैं, वे उनके प्रभाव से ही होते हैं। (च.)। मुनक्का मुलेठी के समान होनेपर भी मुलेठी विरेचन नहीं कराती और मुनक्का विरेचन कराती है; घृत दूध के समान होनेपर भी दूध दीपन नहीं है, परन्तु घृत दीपन है; लहसुन कटुविपाक, कटुरस और स्निग्ध तथा गुरु वीर्य से कफ और वात का नाश करनेवाला है, परन्तु उन रस, विपाक और वीर्य से वात तथा कफ को उत्पन्न नहीं करता; परस्पर विरुद्ध गुणवाले वात, पित्त और कफ तीनों दोषों का रक्तशालि नाश करता है, परन्तु यवक उनको उत्पन्न करता है; सिरस आदि द्रव्य विष का नाश करते हैं और निद्रा आदि विष को बढ़ाते हैं; मणि, मन्त्र और औषधियों के धारण करने से नाना प्रकार के कर्म देखे जाते हैं; शल्यों का आकर्षण, पुत्र-प्रजा उत्पन्न करना, राक्षसादि से रक्षा करना, रसायनों का आयुष्य बढ़ाना, शंखपुष्पी आदि का मेधा को बढ़ाना, मन्त्रादि से किसी को वश में करना, अगद का दर्शन आदि से विष का नाश करना, वाजीकर द्रव्यों का शीघ्र शुक्र उत्पन्न करना, मदनफल का वमन कराना, हरीतकी का विरेचन कराना, आँवले का तीनों दोषों का शमन करना यह सब कर्म प्रभाव से ही होते हैं, अतः प्रभाव अचिन्त्य है; अर्थात् रस, वीर्य और विपाक से उसकी कल्पना नहीं की जा सकती (रस, वीर्य और विपाक से उनका कार्यकारणभाव नहीं दिखाया जा सकता)। रस, वीर्य, गुण या विपाक से द्रव्य जो कार्य करता है, उससे भिन्न ही कार्य प्रभाव से करता है। उसका हेतु (कार्यकारणभाव) समझना कठिन है।

वक्तव्य—द्रव्यगत कार्यकारिणी शक्ति को **वीर्य** कहते हैं। वह शक्ति दो प्रकार की होती है—एक **चिन्त्य शक्ति** और दूसरी **अचिन्त्य शक्ति**। चिन्त्य शक्ति वह है, जिसका द्रव्यों के पाँचभौतिक संगठन, रस, गुण या विपाक द्वारा कर्म के साथ कार्य-कारण-संबन्ध दिखाया जा सके, इस चिन्त्य शक्ति को आयुर्वेद की परिभाषा में **वीर्य** कहा जाता है। अचिन्त्य शक्ति वह है, जिसका द्रव्यों के पाञ्चभौतिक संगठन, गुण, रस या विपाक द्वारा उनके कर्म के साथ कार्य-कारण संबन्ध न दिखाया जा सके, उसको आयुर्वेद की परिभाषा में **प्रभाव** कहते हैं।

अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः॥
प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन॥
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु॥ —सु. सू. अ. ४०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यथोक्तभेषजानां स्वबुद्धया विचारनिषेधं निदर्शयन्नाह--अमीमांस्यानीत्यादि अमीमांस्यानि न विचार्याणि, अचिन्त्यानि यान्येवाचिन्त्यानि तान्येवामीमांस्यानि। कानि पुनस्तानि ? खदिर-तुवरक-रसाञ्जन-हरिद्रादीनि कुष्ठघ्नानि, न तु सर्वाणि द्रव्याणि; अन्यथा "वर्गमपि वर्गेणोपसृजेत्" (च. वि. अ. ८), तथा "बीजेनानेन मतिमान् कुर्याद् बस्तिशतान्यपि" (सु. चि. अ. ३८) इत्यादि विरुद्धं भवेत्। स्वभावतो जन्मतः। अन्ये तु आगमे यानि भेषजानि प्रसिद्धानि तान्यमीमांस्यानि अविचारणीयानि; कुतो हेतोरविचार्याणि ? यतः स्वभावतोऽचिन्त्यानि तेषां स्वभावश्चिन्तयितुं न शक्यत इत्यर्थः, यथा द्रव्यत्वमपाम्, उष्णत्वमग्नेः, इत्यादि। कथं पुनस्तानि प्रयोज्यानीत्याह—आगमेनोपयोज्यानि; आगमेनैवैकेनोपयोगः कार्य इत्यर्थः। ननु, अनुमानविरुद्धानि कथमागमैकप्रयोज्यानीत्याशङ्क्य, आगमस्य प्रत्यक्षफलत्वेन बलीयस्त्वं दर्शयन्नाह--प्रत्यक्षेत्यादि। प्रत्यक्षफलक्षणफला हिताहितभेदेन। कुतः पुनर्हेतुभिर्न परीक्षणीयं भेषजं प्रसिद्धलक्षणफलमित्याह—सहस्रेणेत्यादि (ड)। इदानीं द्रव्यादिविषये परीक्षारूपमीमांसाया दर्शितत्वाद-चिन्त्यद्रव्यस्वभावेऽपि मीमांसा वो मा भूदित्याह—अमीमांस्यानीत्यादि। अचिन्त्यानि यानि भेषजानि, यथा--दन्ती चित्रकसमाऽपि विरेचयति, यथा—विषं विषं हन्ति, लोहकर्षकमणिर्लोहमाकर्षतीत्याद्युक्तानि आगमावधारितानि मीमांसया अपरीक्ष्याणि; कथं तर्हि तानि ज्ञातव्यानीत्याह—प्रसिद्धानि स्वभावतः। आगमादेव परं प्रसिद्धानि भवन्तीत्यर्थः। एतेन यानि चिन्त्यानि भेषजानि तेषां मीमांसा कर्तव्यैव, यदुच्यते--"द्रव्याणां तत्समानानां तत्रावापो न दुष्यति।" (सु. चि. अ. १) इति; तथा "स्वयमप्यत्र भिषजा तर्क्यं बुद्धिमता भवेत्।" इत्यादिष्वागमविरोधाध्यवसायः। आगमस्यैवात्र बलवत्त्वं दर्शयन्नाह--प्रत्यक्षे त्यादि। प्रत्यक्षेण लक्ष्यते दृश्यते फलं येषां दन्ती-विषहरमणिप्रभृतीनां ताः प्रत्यक्षलक्षणफलाः। प्रसिद्धा इति आगमप्रसिद्धाः। स्वभावत इति अचिन्त्य स्वरूपतो विरेचकत्व-स्तम्भनत्व-विषहरत्वादेः। हेतुभिरिति आगम-विरुद्धैः कुहेतुभिः, आगमानुगुणैः सद्धेतुभिर्भेषजादीनि सर्वाण्येव परीक्ष्याणि; यदुक्तं चरके--"न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यत्राभिनिविशेद् बुधः। स्वयमप्यत्र भिषजा तर्क्यं बुद्धिमता भवेत्॥" (च. सि. अ. २) इत्यादि। इहापि "स्वबुद्धया चापि विभजेत् कषायादीनि योगवित्।" (सु. चि. अ. १) इत्यादि। स्वागमस्यानुमाना-बाधनीयत्वमेवोदाहरणनिष्ठमाह--सहस्रेणापीत्यादि। सहस्रशब्दो विपुलवचनः। अम्बष्ठादिः संग्राहकत्वेन प्रागुक्तो गुणः। अत्र 'अम्बष्ठादिर्विरेचयति, पृथिवी-तोय-गुणयुक्तत्वात्, त्रिवृतादिवत्' इत्यादिबहुकुहेतुभिरपि आगमबाधितैर्नाम्बष्ठादि-विरेचयति, किं त्वागमोक्तं संग्रहणमेव करोति। उपसंहरति--तस्मादित्यादि। तिष्ठेदिति स्थैर्येण तिष्ठेत्। हेतुष्विति आगमविरुद्धेषु हेतुषु (च. द.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नन्विदमुक्तं "तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्।" इत्यादि, न चायमस्ति नियमः खल्वेवंजातीयं द्रव्यमेवंजातीयेन साधनेन दोषं हन्ति करोति वेति, दृश्यते हि मधुरोऽयमिक्षुरसः पित्तं शमयति, तथाविधाश्च मत्स्याः पुनरेतद् बर्धयन्तीति, तद् भूयोऽपि युक्त्या समन्वीय विशदं विज्ञापयतु भगवान्, येन वयं रस-वीर्य-विपाक-प्रभावाननुसंधाय व्यापदः प्रशमानार्थं तं तं द्रव्यविशेषं यथावदुपयोक्तुं प्रभविष्याम इत्यत आह—अमी मांस्यानीत्यादि। सर्वमिदं निगद व्याख्यातम् (हा.)॥

जिन द्रव्यों की कार्यकारिणी शक्ति युक्ति और तर्क से सिद्ध नहीं होती तथा जो विरेचकत्व, स्तम्भकत्व, विषहरत्व आदि अपने स्वभाव से ही शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, उन द्रव्यों का उपयोग व्यवहारकुशल वैद्य शास्त्र के आधारपर ही करें। जिन औषधियों का फल-कर्म प्रत्यक्ष देखा जाता है और जो स्वभाव (विरेचकत्व, विषहरत्व आदि अपने कर्म) से शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, उन औषधियों की विद्वान् वैद्य (शास्त्रविरुद्ध) तर्क और युक्तियों से परीक्षा न करें। क्योंकि अम्बष्ठादि गण की औषधियाँ हजारों तर्क और युक्तियों से यह विरेचन करेगी, ऐसा सिद्ध किया जाय तो भी विरेचन नहीं करती। इसलिए बुद्धिमान् वैद्य अचिन्त्य और प्रत्यक्ष फलवाली औषधियों के विषय में शास्त्र के वचनोंपर विश्वास रखकर उनका प्रयोग करें, युक्ति और तर्क से उनका कार्य सिद्ध करने का यत्न न करें[1]।

१—इन श्लोकों की व्याख्या के ऊपर अपने वक्तव्य में **डॉ. भा. गो. घाणेकरजी** लिखते हैं कि—"आयुर्वेद में औषधियों के वैद्यकीय उपयोगों की मीमांसा या उपपत्ति उनके पञ्चतत्त्वात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य और विपाक की सहायता से की जाती है। रसादि द्वारा चिकित्सा में प्रयुक्त हुई अधिकसंख्यक औषधियों के उपयोगों की कार्यकारणमीमांसा ज्ञात हो जाती है। तथापि खदिर, तुवरक, विषमणि प्रभृति कुछ द्रव्य ऐसे भी प्रयुक्त होते हैं, जिनके उपयोगों की मीमांसा रसादि द्वारा नहीं हो सकती है। इसलिए इन औषधियों को 'अमीमांस्य' या 'अचिन्त्य' कहा है। अमीमांस्यं या अचिन्त्य का अर्थ 'रस-वीर्य-विपाकतया अचिन्त्यं वा अमीमांस्यं वा' ऐसा है। औषधिगत अचिन्त्य कार्यशक्ति का विवरण इन अन्तिम ३ श्लोकों में किया गया है। चरक और वाग्भटने द्रव्यगत इस अचिन्त्यशक्ति को ही **'प्रभाव'** कहा है। पाश्चात्य औषधिविज्ञान में भी औषधियों के वैद्यकीय उपयोगों के संबन्ध में मीमांस्य और अमीमांस्य ऐसे दो भेद किये जाते हैं। जिनके उपयोगों की मीमांसा उपलब्ध वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार की जा सकती है उनको **मीमांस्य** या रेशनल (Rational) कहते हैं। जिनके उपयोग की उपलब्धि वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार नहीं की जा सकती अर्थात् जिनका उपयोग केवल अनुभवोंपर निर्भर होता है उनको **अमीमांस्य** या इम्पीरिकल (Empirical) कहते हैं। विषम-ज्वर के लिये कूनिन (Quinine); काला आजार, निद्रारोग आदि के लिये अंजन तथा उसके योग (Antimony and its preparations) राजयक्ष्मा के लिये स्वर्ण इत्यादि शर्तिया दवाइयाँ इसी अमीमांस्य वर्ग की हैं।→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यकर्माणि--

इति सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां, पुनश्च तत् ।
विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते ॥ --अ. हृ. सू. अ. ९

सामान्य-विशेषाभ्यां यतः सकलं व्याप्तम्, अतो ग्रन्थकार इदमाह—इतीत्यादि। इति प्रकारे, अनेन प्रकारेण द्रव्य-रस-वीर्यादीनां सामान्येन कर्म व्याख्यातं, न विशेषेण। यैरेव महाभूतैः रस-वीर्यादयो द्रव्याश्रिता आरब्धाः, तैरेव तथाभूतैस्तदाश्रयमपि द्रव्यम्। अतः सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनामुक्तम्। सांप्रतं विशिष्टं कर्म प्रतिद्रव्यं वक्तुमिदमाह—पुनश्च तदिति। तत् सामान्योक्तं कर्म द्रव्यरसादीनां संबन्धि, पुनर्भिद्यते विशिष्यते। केन? इत्याह—विचित्रेत्यादि। विचित्राश्च ते प्रत्ययाश्च विचित्रप्रत्ययाः नानाकारसन्निवेशविशेषयुक्तानि महाभूतानि, प्रतिसत्त्वं प्राक्तनशुभाशुभकर्मप्रेरितो विचित्रो महाभूतपरिणाम इत्यर्थः। विचित्रप्रत्ययारब्धं च तद् द्रव्यं च, तस्य भेदो विशेषः, तेन विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन, तत् सामान्योक्तं कर्म द्रव्यादीनां, भिद्यते नानात्वेन संपद्यते। द्रव्याश्रितत्वाद्रसादीनामपि यत् कर्म तदपि द्रव्यभेदेन भिद्यते। ननु, सर्वमपि देशकालादिवशाद्विचित्रप्रत्ययारब्धं, परस्परवैलक्षण्याद् द्रव्याणां; परस्परवैलक्षण्ये चैषां विचित्रप्रत्ययारब्धत्वमेव कारणं, यद्वशादन्यदिदं द्रव्यमिति रूप-रस-वीर्य-विपाकादिभिर्भिन्नमुत्पद्यते, तथा प्रतिभासते च; तत् किन्नु विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते इति। अत्राचक्ष्महे—सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टद्रव्यस्य संग्रहार्थं विचित्रप्रत्ययारब्धमिति विशेषणं शास्त्रकृता कृतम्। यस्य भेदेन द्रव्ये रस-वीर्यादीनां यत् सामान्योक्तं कर्म तद्भिद्यते; यस्मिन् द्रव्ये रसादीनामन्यानि महाभूतान्यारम्भकाणि, द्रव्यस्य चारम्भकाण्यपराणि, तद्द्रव्यं विचित्रप्रत्ययारब्धम्। तदेवं द्रव्याणां द्वैविध्यं, यतः कानिचिद् द्रव्याणि यैरेव महाभूतैर्यथाविधं रसादय आरब्धास्तैरेव तथाविधैर्महाभूतैस्तदाश्रयाणि द्रव्याण्यप्यारब्धानि, तानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्युच्यन्ते। तानि च यथायथं तत् कर्म रसाद्यनुगुणं सामान्यात् कुर्वते। यथा--क्षीरेक्षु-शर्करादीनि। कानिचित् पुनस्तदाश्रितरसादिसमारम्भकमहाभूतान्यन्यानि, तदाश्रयद्रव्यारम्भकाण्यन्यानि च महाभूतानि, तैरारब्धानि तानि विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि। एतदुक्तं भवति—रसादीनामारम्भकाण्यन्यानि, द्रव्यस्य चारम्भकाण्यन्यथाभूतानि महाभूतानि, नोभयत्रैकरूपाणीति; तानि च यथायथं रसाद्यनुगुणं कर्म न कुर्वन्ति, भिन्नत्वाद्धेतुभावस्य।

←इस अमीमांस्य वर्ग को आयुर्वेद में प्रभाव कहते हैं और पाश्चात्य कल्पना के अनुसार एम्पीरिकल ॲक्शन (Empirical action) कह सकते हैं, यद्यपि प्रभाव का पूरा-पूरा अर्थ इससे निदर्शित नहीं होता।" (मु. सू. पृ. २२५)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा हि —रसादीनामारम्भेऽन्यो हेतुः, अन्यश्च तदाश्रय-द्रव्यारम्भ इति। यथा—मकुष्ठ-यव-मत्स्य-सिंहादीनि। एतानि हि यथारसं न वीर्य-विपाककर्म कुर्वन्ति, विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। इत्थं यानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि बहून्यपि तेषां रसोपदेशेन कर्म निर्देष्टुं शक्यते। अत एव हेतोः षण्णां रसानां यो गुणनिर्देशः तस्य सार्थकत्वम्। रसोपदेशमन्तरेण हि बहुतराणां द्रव्याणां समानरूपाणां क्षीरेक्ष्वादीनां कर्म वक्तुं सुखेन शक्यते। यानि तु विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि प्रतिद्रव्यं कर्मोपदेशं विना यथायथं कर्म वक्तुं न शक्यते (अ. द.)। अध्यायार्थमुपसंहरति—इति सामान्यत इति। द्रव्यादीनां प्रभावान्तानां सामान्योक्तं कर्मापवदति—पुनश्च तदिति। तत् सामान्योक्तं कर्म, भिद्यते विशिष्यते, अन्यथा क्रियत इत्यर्थः। केन? विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन; विचित्राः परस्परविलक्षणाः, प्रत्ययाः कारणभूता महाभूतसंघाताः, तैरारब्धं यद् द्रव्यं तस्य भेदो द्रव्यान्तरविशिष्टत्वं, तेन। पार्थिवाद्यवान्तरसामान्यभेदस्य पूर्वमुक्तत्वात् 'पुनश्च तत्' इत्युक्तम्। एतदुक्तं भवति—क्वचित् द्रव्ये यादृगेव भूतसंघातो द्रव्यस्यारम्भकः, तादृगेव रसादीनां, तत् समानप्रत्ययारब्धं, तत् सामान्यगुणान्नातिक्रामति; क्वचिदन्यादृग्भूतसंघातो द्रव्यस्यारम्भकोऽन्यादृग्रसस्यान्यादृग्गुणस्येत्यादि, तद्विचित्रप्रत्ययारब्धं, तत् सामान्यगुणानतिक्रामति। तदर्थं द्रवद्रव्यान्नस्वरूपविज्ञानीयाद्यारम्भः (हे.)॥

एतदुदाहरणार्थं ग्रन्थकृदाह—

स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृद्यवः।
उष्णा मत्स्याः, पयः शीतं, कटुः सिंहो, न शूकरः॥

—अ हृ. सू. ९

स्वादुरसोपेतो गुरुगुणयुक्तश्च गोधूमो मधुररसोपदिष्टं वातजित्त्वं यत् कर्म तत् करोति, समानप्रत्ययारब्धत्वात्; यवस्तु स्वादुरसोपेतो गुरुगुणयुक्तश्च मधुररसोपदिष्टं यद्वातजित्त्वं कर्म तन्न करोति, अपि तु वातकृत्त्वमेव करोति, विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। मत्स्यः स्वादुरसोपेतो गुरुगुणोपेतश्च न मधुररसोपदिष्टः शीतवीर्यः, किं तर्हि? उष्णवीर्यः, समानप्रत्ययारब्धत्वात्। क्षीरं च स्वादुरसोपेतं गुरुगुणयुक्तं च मधुररसोपदिष्टं शीतवीर्यं, समानप्रत्ययारब्धत्वात्। स्वादुरसयुक्तो गुरुगुणयुक्तश्च सिंहो न यथारसं मधुरविपाकः, किं तर्हि? कटुको विपाके, विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। शूकरो मधुररसयुक्तो गुरुगुणोपेतश्च यथारसं मधुरविपाक एव, समानप्रत्ययारब्धत्वात्। एवं यानि समानप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि तेषां रसोपदेशेनैव गुणा निर्दिष्टा भवन्ति। तथा च मुनिः (च. सू. अ. २६)—"शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः। × × ×।" इत्यादि। बाहुल्येन च रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्येव द्रव्याणीति चेतसि कृत्वाऽऽचार्योऽवोचत्। यथा—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

"गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये। रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः ॥" (अ. हृ. सू. अ. ९) इति। अत एव च बहुतराणि द्रव्याणि रसादिसमानप्रत्ययारब्धानि, अतो रसोपदेशव्याप्यानि तानि निर्देष्टुं शक्यन्ते, नान्यथा। विचित्रप्रत्ययारब्धानि पुनः कतिपयान्येव द्रव्याणि, तानि प्रतिद्रव्यमेवोपदिश्यन्ते। मुनिनाऽप्यय-मर्थो युक्त्यैवोक्तः। यथा—"मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च। (च. सू. अ. २६)। × × ×।" इत्यादि। ये च रससंयोगा वक्ष्यमाणास्ते रसादिसमानप्रत्ययारब्धैर्मधुराम्ल-लवण-तिक्त-कटु-कषायरूपैर्मिथः कल्पनीयाः, न तु विचित्रप्रत्ययारब्धैर्मधुराम्ल-लवण-तिक्त-कटु-कषायरूपैः। यस्मात्तेषां न यथाशास्त्रनिरूपिता रस-वीर्य-विपाकादयो विद्यन्ते, विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात् [अतो न रसोपदेशव्याप्याः, तैर्द्रव्यैस्ते, रससंयोगाः कल्पयितुं न युज्यन्ते]। अयं रससंयोगभेद एवंगुणोऽयमेवंगुणः, एवंगुणत्वाच्चामुष्मिन् विषये योज्य एतस्मिन् विषये चायमिति निर्देष्टुं न शक्यते, अनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात्। न हि विचित्रप्रत्ययारब्धैर्ये रससंयोगाः क्रियन्ते, तेषां स्वरूपं कथमप्यवधारयितुं शक्यते। अपि च, समानप्रत्ययारब्धैर्ये संयोगाः कल्प्यन्ते, तेषां संयोगिनां वीर्यतो यो विरोधः शीतोष्णलक्षणः, स न दोषाय; ये तु विचित्रप्रत्ययारब्धैः संयोगाः कल्प्यन्ते, तेषां संयोगिनां यः शीतोष्णलक्षणो विरोधः, स दोषायेति वेद्यम्। अन्यथा रसालापानकादीनामनेकद्रव्यकृतानामनभ्यवहार एव प्राप्नुयात्। तथा, त्रयस्त्रिंशद्वर्गा ये वक्ष्यमाणास्तेषु यदयौगिकं तज्जह्यात्, यौगिकं त्वनुक्तमपि युञ्ज्यात्, इति यद्वक्ष्यते तत्र रसादिसमानप्रत्ययारब्धमेव योज्यं; न विचित्रप्रत्ययारब्धं, तस्य रसवीर्यविपाकानां निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वात्। तस्मादित्यादि। यत एवं विचित्रप्रत्ययारब्धं विचित्ररूपं, तस्माद्रसोपदेशेन तत् सर्वं द्रव्यमादिशेत् अपि तु रसादिसमानप्रत्ययारब्धमेव द्रव्यं रसोपदेशेन निर्दिशेदिति। (अ. द.)। द्रव्यभेदमुदाहरति—स्वादुरित्यादि। यवगोधूमयोर्मत्स्य-पयसोः सिंह-शूकरयोश्च स्वादुत्वगुरुत्वाभ्यां तुल्यत्वेऽपि यव-मत्स्य-सिंहानां विचित्रप्रत्ययारब्धत्वाद् वातलप्रभावत्वोष्णवीर्यत्व—कटुविपाकित्वानि स्वादुत्व-गुरुत्वविपरीतानि। गोधूम-पयः-शूकराणां तु समानप्रत्ययारब्धत्वाद् वातघ्नप्रभावत्व-शीतवीर्यत्व-मधुरविपाकित्वानि स्वादुत्व-गुरुत्वयोरविपरीतानि। वातजित्त्व-वातकृत्त्वाभ्यां तत्कारणभूतौ प्रभावौ लक्ष्येते (हे.)॥

यस्माद्दृष्टो यवः स्वादुर्गुरुरप्यनिलप्रदः।
दीपनं शीतमप्याज्यं, वसोष्णाऽप्यग्निसादिनी॥
कटुपाकोऽपि पित्तघ्नो मुद्गो, माषस्तु पित्तलः।
स्वादुपाकोऽपि, चलकृत् स्निग्धोष्णं गुरु फाणितम्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुरुते दधि गुर्वेव वन्हि, पारावतं न तु ।
कपित्थं दाडिमं ग्राहि साम्लं, नामलकीफलम् ।।
कषाया ग्राहिणी शीता धातकी, न हरीतकी ।
अप्रधानाः पृथक् तस्माद्रसाद्याः, संश्रितास्तु ते ।।
प्रभावश्च यतो द्रव्ये, द्रव्यं श्रेष्ठमतो मतम् ।

——अ. सं. सू. अ. १७

ते च रसादयो द्रव्या पृथग्भावेन कार्यकरत्वेन विकल्प्यमाना अप्रधानाः, यतस्ते स्थिता अपि यस्मिन् द्रव्ये तद् द्रव्ये न तत्सदृशमेव कुर्वन्ति, एतदेव यस्माद् दृष्ट इत्यादिना दर्शयति । एवं यथा मधुररसे विपर्ययो दृष्टस्तथाऽन्येष्वपि रसेषु दृश्यत इत्यप्रधाना रसाद्याः, द्रव्यं तु श्रेष्ठमित्याचार्याणां मतं; यतस्ते रसाद्या रस-वीर्य-विपाकाः प्रभावश्च द्रव्यसंस्थिताः तत्परतन्त्रा इत्यर्थः (इन्दुः) ।।

जिन द्रव्यों में द्रव्यारम्भक (द्रव्य को बनानेवाले) महाभूत और रस-वीर्य-विपाकारम्भक महाभूत इन दोनों का एक ही प्रकार के उत्कर्ष और अपकर्ष (न्यूनाधिकता) से सन्निवेश (संगठन) हुआ हो, उन द्रव्यों को **समानप्रत्ययारब्ध** (समान कारणों से बने हुए) द्रव्य कहते हैं । जैसे——दूध; दूध में द्रव्यारम्भक महाभूत और रस-वीर्यविपाकारम्भक महाभूत दोनों का सन्निवेश एक प्रकार का है। अतः दूध में रस, वीर्य और विपाक एक दूसरे के अनुकूल ही होते हैं । अतः ऐसे द्रव्यों के समग्र कर्म केवल रसोपदेश से ही कहे या जाने जा सकते हैं । जिन द्रव्यों में द्रव्यारम्भक महाभूत और रस-वीर्य-विपाकारम्भक महाभूत इन दोनों का एक दूसरे से भिन्न प्रकार के उत्कर्षापकर्ष से संनिवेश हुआ हो उनको **विचित्रप्रत्ययारब्ध** (विचित्र-विभिन्न प्रकार के कारणों से बने हुए) द्रव्य कहते हैं । ऐसे द्रव्यों में उनके रस, वीर्य और विपाक विभिन्न प्रकार के होने से उसके कर्म विभिन्न प्रकार के होते हैं । जैसे——जौ । इस ग्रन्थ में हमने जो रस, वीर्य और विपाक के कर्म कहे हैं, वे समानप्रत्ययारब्ध द्रव्य के ही जानने चाहिए । विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्यों में उनके कर्म रस, वीर्य और विपाक से भिन्न प्रकार के होते हैं; अतः उनके कर्म केवल रसोपदेश से न कहकर शास्त्रकारों ने स्वतन्त्ररूप से कहे हैं । क्योंकि विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्यों के कर्म उनके रस, वीर्य और विपाक से भिन्न प्रकार के होते हैं । जैसे——गेहूँ और जौ दोनों मधुर रसवाले और गुरु हैं, परन्तु गेहूँ समानप्रत्ययारब्ध होने से अपने गुणों के अनुकूल कर्म वायु का शमन करता है और जौ विचित्र प्रत्ययारब्ध होने से अपने गुणों से विपरीत वायु को बढ़ाता है । मत्स्य और दूध दोनों मधुर रसवाले हैं, परन्तु दूध समानप्रत्ययारब्ध होने से अपने रस के अनुकूल शीतवीर्य है, अतः दूध के कर्म अपने रस के अनुसार होते हैं और मत्स्य विचित्रप्रत्ययारब्ध होने से अपने रस के विपरीत उष्णवीर्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैं, अतः उसके कर्म अपने रस से विभिन्न प्रकार के होते हैं। सिंह और शूकर (सूअर) दोनों मधुर और गुरु हैं, परन्तु सूअर समानप्रत्ययारब्ध होने से अपने रस के अनुकूल मधुर विपाकवाला है, अतः; उसके कर्म अपने रस तथा विपाक के अनुसार होते हैं और सिंह विचित्रप्रत्ययारब्ध होने से उसका विपाक अपने रस से प्रतिकूल कटु होता है अतः उसके कर्म रस के अनुकूल न होकर विपाक के अनुकूल होते हैं। जौ मधुर और गुरु होनेपर भी वायु करता है, घी शीतवीर्य होनेपर भी जठराग्नि का दीपन करता है, वसा उष्णवीर्य होने से भी जठराग्नि को मन्द करती है, मूंग कटुविपाक होनेपर भी पित्त का शमन करता है, उड़द मधुरविपाक होनेपर भी पित्त को बढ़ाता है, फाणित (राब, काकवी) स्निग्ध, उष्ण और और गुरु होनेपर भी वायु को बढ़ाता है, दही गुरु होनेपर भी जठराग्नि को दीपन करता है परन्तु पारावत (परेवा-कबूतर) जठराग्नि का दीपन नहीं करता, कैथ और अनार अम्लरसवाले होनेपर भी ग्राही हैं किन्तु आँवले ग्राही नहीं हैं, धाय के फूल कषाय और शीतवीर्य होने से ग्राही हैं परन्तु हर्र कषाय और शीत होनेपर भी विरेचन करती है। जौ, घी, वसा, मूंग, उड़द, फाणित, दही, कैथ, अनार और हर्रे इनके जो ऊपर अपने रस, वीर्य या विपाक से विपरीत कर्म कहे गये हैं वे उनके द्रव्यगत प्रभाव से होते हैं (प्रभाव प्रायः **विकृति विषमसमवेत्, विचित्रप्रत्ययारब्ध और विजातीयान्वय** वाले द्रव्यों में रहता है)। रस, वीर्य और विपाक प्रभाव की अपेक्षया अप्रधान हैं और प्रधानभूत प्रभाव द्रव्य में ही रहता है, अतः द्रव्य ही सबसे श्रेष्ठ हैं (यद्यपि इन श्लोकों के अन्त में द्रव्य की प्रधानता बताई गई है, परन्तु इन श्लोकों में जो कर्म बताए गए हैं वे सब प्रभाव के ही उदाहरणरूप हैं और विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्यों के उदाहरणों में जो कर्म कहे हैं उनको भी प्रभाव से होनेवाले कर्म ही कह सकते हैं, अतः इन श्लोकों को विचित्रप्रत्ययारब्ध कर्मों के साथ रखा गया है)।

द्रव्यादिप्राधान्यवादोपसंहारः--

पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः।
चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः॥
तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्।
किंचिद्रस-विकाराभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥

--सु. सू. अ. ४०

१--न युक्तमवधारणमिदमेव प्रधानमिदं नेति चिकित्सायां द्रव्यादि वस्तुषु (र. वै. अ. १, सू. १६३)। इदमेव प्रधानं चिकित्सायामित्यवधारणं न युक्तम्, एकान्तभावाश्रयणमयुक्तमित्यर्थः (भा.)। किं तर्हि? यथाविषयं हि प्राधान्यं सर्वेषाम् (सू. १६४)। यथाविषयं सर्वेषां प्राधान्यं भवति। सर्वण्यपि→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संप्रति द्रव्यादिप्राधान्ये एकीयमतानि दर्शयित्वा स्वमतं सिद्धान्तरूपमाह—पृथक्त्वदर्शिनामित्यादि। पृथक्त्वेन एकैकशयेन द्रव्यादीनामितरप्राधान्यापवादपूर्वकं प्राधान्यं द्रष्टुं शीलं येषां ते पृथक्त्वदर्शिनः। पृथक्त्वशब्दोऽपि प्रकरणागतेन द्रव्यादिप्राधान्येन संबध्यते। यतो न द्रव्यादीनामिह पृथक्त्वं पक्षीकृतम्, एकैकप्राधान्यं तु पक्षीकृतम् अतः एकैकप्राधान्यमेवानूद्य तत्प्रतिषेधो युक्तः। एष इति अनन्तरप्रक्रान्तवादसंग्रहः; द्रव्यमेव प्रधानमित्यादिरूपो वादपरिग्रहः। एतत्पक्षविपरीतपक्षं सर्वप्राधान्यं सिद्धान्ततया दर्शयन्नेव एकैकप्राधान्यपक्षान्निषेधयन्नाह—चतुर्णामित्यादि। चतुर्णामिति द्रव्य-रस-वीर्य-विपाकप्राधान्यानाम्। समग्रस्येदं सामग्र्यं मेलकमित्यर्थः। अत्रेति प्राधान्यचिन्तायाम्। मित्यादित इति प्रामाणिकाः। तेन प्रामाणिकेच्छया मेलकस्यैव प्राधान्यं फलति। सामग्र्येण चेह धर्मेण समग्रा धर्मिणो विवक्षिताः। यत्र द्रव्यप्राधान्यं तत्र रसानामप्राधान्यं, यत्र रसप्राधान्यं तत्र द्रव्यादीनामप्राधान्यमित्याद्यनुसरणीयम्। एतदेव स्व-स्वविषये द्रव्यादिप्राधान्यमाह—तद् द्रव्यमित्यादि। तदिति तस्माद् द्रव्यादिसामग्र्यप्राधान्यात्। अत्र द्रव्यमेव पञ्चमहाभूतविकारविशेषमन्न-पान-भेषजरूपं पाञ्चभौतिकशरीरस्य धातुवैषम्यरूपं दोषं विकारं, धातुसाम्यरूपं दोषविकारोपशमनं वा समवायिकारणतया कुर्वन् कर्तृत्वेन व्यवस्थाप्यते। तदाश्रितास्तु द्रव्यशक्तिरूप-प्रभाव-रस-वीर्य-विपाका यथायोगं निमित्तकारणतां समवायिकारणतां वा भजन्ते; न कर्तृतया व्यपदिश्यन्ते, द्रव्यपराधीनत्वात्। यत्तु "मधुराम्ललवणा वातघ्नाः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादिना रसादीनामपि कर्तृत्वं व्यपदिश्यते, तद्रसादिप्राधान्यविवक्षया, न तु परमार्थतः, तेषां नित्यं द्रव्यपराधीनत्वात्; तेन द्रव्यप्रभावादेव रसादिसाध्ये कार्ये द्रव्यमेव कर्तृतयोपदिशति—तद् द्रव्यमात्मनेत्यादि। किंचिद् द्रव्यमात्मनेति आत्मशक्त्या प्रभावाख्यया दोषं हन्ति करोति वा। दोषमिति दोषशब्देन च विकारोऽपि गृह्यते। यदुच्यते—"दोषाः प्रकुपिता विकारशब्दं लभन्ते" (च. वि. अ. ६) इति। शक्तिश्च द्रव्यस्य स्वरूपरूपा सामान्यविशेषात्मिका न्यायदर्शनसिद्धा भवतु, भट्टनयसिद्धा वा तदतिरिक्ता कार्यगम्या

←—स्वे-स्वे विषये प्रधानानि। कः पुनरसौ विषय इति? हेतुरूपेणोक्ताः सर्वेषामधिष्ठानारम्भादिषु द्रव्यं प्रधानं शेषाश्च (भा.)। कुत इति? अत्राह—अविनिर्भागाच्चैषां, परस्परेणानुग्रहाच्च (सू. १६५)। अविनिर्भागादिति द्रव्यादीनि षडपि न पृथग्वर्तीनि; यत्र द्रव्यं तत्र शेषाश्च, यत्र कर्म तत्र द्रव्यादीनि चेति। परस्परानुग्रहकराश्चैते चिकित्सायाम्। यथा—रसे प्रयुज्यमाने द्रव्यमाधारभावेनानुग्रहं करोति, गुणा रससाहचर्याद्, वीर्यं शक्तिप्रकाशनात्, विपाकः परिणामयेत् कर्म संयोगसाधकमिति; एवं षडपि पदार्था विवक्षिताः प्राधान्येन व्यवस्थिताश्च (भा.)॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भवतु, नेह तद्विचारः प्रयोजकः ; उभयथाऽपि शक्तिसिद्धेः । इयमेव च शक्तिस्तन्त्रान्तरे प्रभावशब्देन, इह चाचिन्त्यशब्देन व्यवह्रियते । अत्र द्रव्यशक्तिकार्योदाहरणं यथा—कर्षकमणिर्लोहशल्यमाकर्षति, विषमणिर्विषमपहरतीत्यादि । × × × । किंचिद्वीर्येणेति यथा—कुलत्थः कषायोऽपि उष्णत्वादनिलनाशन इति । किंचिद्रसादित्यस्योदाहरणं यथा—"कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम् । कोपयेन्मृद्" (च. चि. अ. १६) इति । किंचिद्विपाकादित्यस्योदाहरणं यथा—शुण्ठी रसात् कटुका, वीर्येण चोष्णा, तयोर्विरुद्धेन विपाकेन मधुरेण वृष्या भवतीत्यादि । रस-विपाकाभ्यामिति समासोपदेशेन संभूयापि द्रव्यादीनां कार्यकर्तृत्वं सूचितं, तेन क्वचिद् द्रव्यप्रभाव-वीर्याभ्यां, क्वचिद् द्रव्यप्रभाव-वीर्य-रसैः, क्वचिद्द्रव्यप्रभाव-रस-वीर्य-विपाकैर्मिलितैः सर्वैरेव क्रियते कार्यम् । यथा—आमलकं त्रिदोषशमनं रस-वीर्य-विपाक-प्रभावैरेव करोति; यथा—"हन्ति वातं तदम्लत्वात्, पित्तं माधुर्य-शैत्यतः । कफं कषाय-रूक्षत्वात्" (सु. सू. अ. ४६) इति । अत्र माधुर्यशब्देन विपाकोऽपि मधुरो गृह्यते, शैत्यं तु वीर्यं, प्रभावश्चामलके शिवत्वं; शिवस्वलक्षणप्रभावोपयन्त्रिता अम्लादयो न परस्परं पित्तजननादिकुर्वन्ति, किन्तु दोषशमनमेव कुर्वन्ति । क्वचिच्च तस्मिन्नेवद्रव्ये प्रभावादिना पृथक् कार्यं निष्पाद्यते । यथा—गुडूची तिक्तरसतया पित्त-कफहरी, उष्णवीर्यतया वातहरी, मधुरविपाकतया वृष्या, प्रभावात्तु वातरक्तमामं हन्ति; इत्याद्यनुसरणीयम् । अत्रार्थे चरकः—"द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाद्, द्रव्य-गुणप्रभावाच्च कार्मुकाणि भवन्ति ।" (च. सू. अ. २६) इति । अत्र हि गुणशब्देन रस-वीर्य-विपाकानां गुणरूपाणां सर्वेषामेव ग्रहणम् । × × × । अत्र दोषहरण-करणाभ्यामेव च सर्वद्रव्यकार्याविरोधः । यतो रसायन-स्वस्थवृत्त-जीवनादिकारणमपि द्रव्यं धातुसामान्य-विशेषजनकत्वादनागतरोगप्रशमनकारकमुच्यते । एतच्च द्रव्याणां कार्यकर्तृत्वमसति विरोधके ज्ञेयम् । तेनासाध्यव्याधौ द्रव्यादीनां व्याधिबलबाधितत्वान्न कर्तृत्वम् । यथा—यस्य कोष्ठे पित्तं बलवदस्ति तस्य मधुरशीतमपि क्षीरं विदह्यते । यदुक्तं "स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्वौ वा यस्य तिष्ठति । विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ॥" (सु. सू. अ. ४६) इत्याद्यनुसरणीयम् । तद् द्रव्यमात्मनेत्यादिना स्वकार्ये सर्वप्राधान्येऽपि मुख्यकर्तृतया द्रव्यं प्रधानमित्युक्तं भवति (च. द.) । द्रव्यादीनां प्राधान्यमाश्रित्य परस्परं विवदमानानां भिषजां मतान्युपसंहरन् स्वमतमुपन्यसति—पृथक्त्वेत्यादिना । एष सप्रतिवादमुपदिष्टो द्रव्यादिप्राधान्यख्यापको ग्रन्थः, पृथक्त्वदर्शिनां विगृह्यैकैकशो द्रव्यादिस्वातन्त्र्यमाचक्षाणानां वादिनां, वादानां संग्रहोऽत्रेति वादसंग्रहः केवलं तर्कनिचय इत्यर्थः । अत्र प्रतीकारविधौ, विपश्चितः तत्त्वार्थदर्शिनो विद्वांसस्तु चतुर्णां द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाकानामेव सामर्थ्यं योग्यतामिच्छन्ति,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतश्चत्वार एव प्रधानानीति भावः। अपिशब्दोऽत्रावधारणार्थः। चतुर्णां प्राधान्यप्रकारं दर्शयति—तदित्यादिना। तत् पक्षतः प्राधान्येनोपदिष्टं द्रव्यं द्रव्यजातं, सेवितमुपयुक्तं सत्, तत्र किंचिद् द्रव्यमात्मना सर्वार्थकारिणा भावविशेषेण प्रभावेणेति यावत्, दोषं हन्ति करोति वेति परेणान्वयः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्। ×××। नेह गुणानामनुपादानात् "किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥" (च. सू. अ. २६) इति चरकवचनं प्रतिषिद्धं भवति, "रसेषु गुणसंज्ञा" (सु. सू. अ. ४२) इति प्रागुक्तेरित्यनुसन्धेयम्। "नन्वेतावता मधुराम्ल-लवणा वातघ्नाः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादिना रसानां कर्तृत्वेन व्यपदेशोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'दात्रं लुनाति' इतिवत् करणे एव कर्तृत्वव्यपदेशात् (हा.)॥

द्रव्य, गुण, रस, विपाक और वीर्य के प्रकरणों में (अध्यायों में) द्रव्य आदि एक-एक को प्रधान माननेवाले आचार्यों के मतों का निरूपण सुश्रुत और रसवैशेषिक सूत्र के अनुसार किया गया है। सुश्रुत ने इन मतों का उपसंहार करते हुए अन्त में अपने-अपने विषय में द्रव्य आदि सब प्रधान हैं, ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया है। वे लिखते हैं कि—इतर के प्राधान्य का खण्डन करके द्रव्य आदि एक-एक को ही प्रधान बतलाने वाले एकान्तवादियों का मत हमने संक्षेप में कहा है। परन्तु प्रामाणिक (तत्त्वार्थदर्शी) लोग द्रव्य, रस, विपाक और वीर्य इन चारों को[1] अपने-अपने विषय में प्रधान मानते हैं। क्योंकि सेवन किये हुए द्रव्यों में से कई द्रव्य अपनी पार्थिव-आप्य आदि पाञ्चभौतिक रचना से, कई वीर्य से, कई विपाक से और कई द्रव्य इन चारों में से दो, तीन या चारों से शरीर में दोषादिवैषम्यरूप विकारों का नाश करते हैं अथवा दोषादिवैषम्यरूप विकारों को उत्पन्न करते हैं—(यहाँ दोषादिवैषम्यरूप विकारों का नाश अथवा उत्पत्ति इन दो शब्दों में शरीर-पर होने वाली द्रव्यों की सब क्रियाओं का अवरोध (समावेश) किया गया है, ऐसा समझना चाहिए)।

नागार्जुन इस प्रकरण के उपसंहार में लिखते हैं कि—द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक और कर्म[2] छहों पदार्थों में से यह एक ही प्रधान है, अन्य अप्रधान हैं, ऐसा निर्णय करना ठीक नहीं है। क्योंकि अपने-अपने विषयों में सब प्रधान हैं। द्रव्य

१—'रस गुणों का ही एक भेद है, इसलिए रसप्राधान्य हेतुओं से गुणप्राधान्य भी सिद्ध होता है' ऐसा इसी ग्रन्थ में पृ० २२८ पर लिखा है, अतः यहाँ 'द्रव्य, गुण, रस, विपाक और वीर्य इन पाँचों को ऐसा, अर्थ लेना चाहिए।

२—नागार्जुनने द्रव्यगुणविज्ञान के प्रतिपाद्य विषयों में द्रव्य, गुण, रस, वीर्य और विपाक इन पाँचों के अतिरिक्त 'कर्म' नाम का एक छठा पदार्थ माना है और उन प्रत्येक के प्राधान्य का निरूपण किया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि को हम विभक्त (अलग) नहीं कर सकते। क्योंकि जहाँ द्रव्य होता है वहाँ रसादि शेष होते हैं और रसादि द्रव्य के बिना रह भी नहीं सकते। चिकित्सा में द्रव्य आदि एक दूसरे का अनुग्रह करते हैं, जैसे-रसों के उपयोग में द्रव्य आधार भाव से, गुण रसों के साहचर्य से, वीर्य उनकी शक्ति का प्रकाशन करके, विपाक उनका परिणाम करके और कर्म उनका शरीर के साथ संयोग कराके अनुग्रह करता है। अतः एक को प्रधान और दूसरे को अप्रधान मानना युक्त नहीं है।

रसादिद्वारा द्रव्याणां कार्यकर्तृत्वनिरूपणं, रसादीनां नैसर्गिकबल-निरूपणं च--

किंचिद्रसेन कुरुते कर्म, वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन, पाकेन, प्रभावेण च किंचन॥
रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति।
बलसाम्ये[1] रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥

--च. सू. अ. २६

किंचिदित्यादि। द्रव्यं रसेन किंचिच्छुभाशुभं कर्म कुरुते। यथा--मधु कषायरसत्वात् पित्तं शमयति। वीर्येणेति वीर्यं शक्तिमन्तो गुर्वादयो गुणाः, तेनापरमन्यत् कर्म कुरुते। यथा--कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति न तु पित्तम्, उष्णवीर्यत्वात्। गुणेन किंचित् कर्म कुरुते। यथा--मधु रौक्ष्यात् श्लेष्माणं जयति। पाकेन विपाकेन किंचित् कर्म कुरुते। यथा--शुण्ठी कटुकाऽपि मधुरविपाकतया वातं शमयति। प्रभावेणापि किंचन किंचित् कर्म कुरुते। यथा--दन्ती कटुरस-विपाका उष्णवीर्या चापि विरेचयति, प्रभावात्। × × ×। सह वसतां रसादीनां मध्ये यद्यत् बलवत्तरं भवति तत् इतरमभिभूय कर्म कुरुते। × × ×। ननु यत्र रसादीनां बलसाम्यं तत्र कस्य कार्यनिष्पत्तौ कारणत्वं स्यादिति? अत आह--रसमित्यादि। रसं मधुरादिकं षड्विधं तुल्यबलमपि विपाकः अपोहति कार्यकरणे कुण्ठयति। यथा--मधुनि मधुरो रसः कटुना विपाकेनाभिभूयते, तस्मान्मधु मधुररसहेतुकं श्लेष्मजननं कर्म न करोति। तौ रस-विपाकौ समबलौ वीर्यं कर्तृ अपोहति। यथा--आनूपौदकपिशिते मधुर-रस-विपाके उष्णेन वीर्येणाभिभूयेते; तस्मादानूपौदकपिशितं मधुररस-विपाकतया शीतमपि पित्तं न जयति, किंतु उष्णवीर्यत्वात् पित्तं जनयति। प्रभावः पुनस्तान् समबलानपोहति। यथा--अम्लरस-विपाका उष्णवीर्याऽपि सुरा क्षीरं जनयति,

१--'गुणसाम्ये' इति पाठान्तरम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रभावात्। कटुरसविपाका उष्णवीर्या चापि दन्ती विरेचयति, प्रभावात्। अत्र प्रभावेण रस-वीर्य-विपाका अभिभूयन्ते। इति ईदृशं रसादीनां वलसाम्ये नैसर्गिकं बलं स्वाभाविकी शक्तिः (यो.)। तथा चोच्यते--किंचिदित्यादि। द्रव्यं तु रसेन किंचित् कर्म कुरुते, अपरं किंचित् कर्म वीर्येण वीर्यसंज्ञकेन गुणाष्टकेन कुरुते, किंचन कर्म गुणेन रस-वीर्यसंज्ञगुणव्यतिरिक्तेन गन्धादि-स्थिर-सरादिना कुरुते, किंचन कर्म पाकेन कुरुते, किंचन कर्म स्वस्य प्रभावेण कुरुते, इति प्राधान्याद् द्रव्य-प्रभाव उदाहृतः। रसादीनां खलु मधुरादीनामपि यत् स्व-स्वलक्षणं स्वभावसिद्धं तत् तस्य तस्य प्रभावकृतमुच्येयम्। यथाऽग्ने रूपं प्रकाशयति, भूमे रूपं तमो न प्रकाशयति, औष्ण्यं दहति, शैत्यं शीतयतीत्येवमादि सर्वं प्रभावादेव, प्राधान्यं किंचिदस्ति द्रव्यं वा गुणो वा कर्म वेति। ननु मृदु-तीक्ष्णादयोऽष्टौ गुणाः कथं वीर्यसंज्ञया पृथगुपदिश्यन्ते इत्यत उच्यते--रसमित्यादि। द्रव्ये यो रसो वर्तते यदि पाकश्च स एव रसः स्यात् तदाऽविरोधः स्यात्। यत्र द्रव्ये रस-पाकयो-र्विरोधो वर्तते, यथा--तिक्तः पित्तशमनस्तस्य पाकः कटुः पित्तवर्धनस्तत्र विपाको रसमपोहति, स्वबलगुणोत्कर्षात्। तिक्तस्तु प्राग्विपाकात् स्वकर्म करोति, पाके तु कटुः सन् तिक्तकर्म न कृत्वा कटुककर्म करोतीति। वीर्यं तु मृदु-तीक्ष्णादि-गुणाष्टकं तौ रस-विपाकौ विरोधिनौ अपोहति, स्वबलगुणोत्कर्षादिति। यथा--अर्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तं रसं कटुं च विपाकमुष्णवीर्यमपोहति। निपातावधि यावदधीवासं तिक्तकार्य-कटुपाककार्यं न कृत्वोष्णवीर्यकार्यमर्कादीनि कुर्वन्ति। प्रभावस्तु तानि रस-विपाक-वीर्याण्यपोहति, स्वबलगुणोत्कर्षात्। यथा—दन्ती कटुरसकार्यं कटुपाककार्यमुष्णवीर्यकार्यं च निरस्य प्रभावकार्यं विरेचनं करोति। कुत एवं बलाबलं रसादीनामित्यत उच्यते—गुणसाम्य इत्यादि। रसादीनां रस-विपाक-वीर्य-प्रभावाणां गुण-कर्मतया विशेषे सत्यपि द्रव्यस्य कार्यभूतस्य द्रव्यगुणकर्मसमुदायात्मकस्यारम्भकाणां द्रव्याणां प्राधान्याद् द्रव्यांशस्य प्राधान्यं, गुण-कर्मणामारम्भकाणामप्राधान्यात् तदारब्धगुण-कर्मणामपि रस-विपाक-वीर्यसंज्ञ-प्रभावाणां गुणीभावाद् गुणसंज्ञा; तद्गुणभावसाम्येऽपि खल्वतिबलं रसादधिकं बलं विपाकस्य, विपाकाद् वीर्यस्य, वीर्यात् प्रभावस्य; तन्नैसर्गिकं स्वाभाविकं स्वभावसिद्धं न तु कारणजमिति। × × ×। (ग.)॥

किंचिद्रसेन कुरुते कर्म, पाकेन चापरम्।
द्रव्यं गुणेन, वीर्येण, प्रभावेणैव किंचन॥
यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते।
अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते॥
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसं विपाकस्तौ वीर्यं, प्रभावस्तान्यपोहति ।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥

—अ. सं. सू. अ. १७

एवं स्थितेऽनन्तरप्रक्रान्तमेवार्थं स्फुटयन्नाह—किंचिदित्यादि । द्रव्यं मध्वादि किंचित् कर्म अम्लपित्तोपशमनादिकं रसेन कुरुते, किंचित् कर्म श्लेष्मशमनादिकं विपाकेन, अपरं वातवृद्ध्यादि लघ्वादिना गुणेन, अपरं तृट्शमनादि वीर्येण शीतेन, किंचन विषापनुत्त्यादि प्रभावेणेति । ननु च यत्र द्रव्याश्रितानां रस-वीर्य-गुण-विपाक-प्रभावानां विरोधस्तत्र तेषां कार्यनिष्पादने समशक्तित्वं न वेत्याशङ्का-निवृत्त्यर्थमाह—यद्यद् द्रव्य इत्यादि । रसादीनां रस-वीर्य-गुण-विपाक-प्रभावाणां यद्रसो वा वीर्यं वा विपाको गुणः प्रभावो वा बलवत्त्वेन विजातीयाधिक्येन वर्तते तत्तत् कारणत्वं कार्यसाधकत्त्वं प्रतिपद्यते । किं कृत्वा ? इतरान् द्रव्याश्रितान् हीनानभिभूय विफलीकृत्य । यत्र तु द्रव्ये रसादिद्वारको विरुद्धानां गुणानां गुर्वादीनामेव संयोगो, न तु रसादयोऽपेक्ष्यन्ते, तत्र कथं कार्यकर्तृत्वमिति पृष्ट आह—विरुद्धेत्यादि ; अथवा रसादिकल्पनाविशेषेणैव यत्र विरुद्धगुणोपनिपातस्तत्र कथं कार्यकरणत्वमित्याह—विरुद्धेत्यादि । तत्र भूयसा प्रभूतेन गुणेनाल्पं जीयते निष्फलीक्रियते । द्विविधश्च विरोधः—स्वरूपतः कार्यतश्च । स्वरूपविरोधो यथा गुरु-लघ्वोः, शीतोष्णयोश्च; कार्यविरोधो यथा—गुरु-रूक्षयोः, उष्ण-स्निग्धयोश्च । तथाहि—गुरुः श्लेष्मवृद्धिकरः, रूक्षश्च गुरोर्विरुद्धः; गुरुः कार्येण श्लेष्मवृध्याख्येन विरुध्यते । एवमुष्णस्य श्लेष्महन्तृत्वं स्निग्धस्य श्लेष्मकर्तृत्वेन । इह चोभयोरपि विरोधयोर्ग्रहणम् । एकत्र द्रव्ये स्वरूपकार्यविरुद्धगोर्भाव आगमलब्धः पञ्चभूतात्मकत्वाद् द्रव्यस्योपपद्यते । ननु यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत् तत्तत् कार्यकरणशक्तमित्युक्तं, यत्र तु द्रव्ये रसादीनामुत्कर्षसंभवः परस्परसाम्यं तत्र कस्य कार्यकरणत्वमित्युच्यते—रसमित्यादि । विपाकः कर्ता रसं कर्म अपोहति कार्यकरणे कुण्ठयति, तौ रस-विपाकौ कर्मणी वीर्यं कर्तृ अपोहति, तानि रस-विपाक-वीर्याणि प्रभावो वक्ष्यमाणः अपोहति, इत्येतद् रसादीनां बलसाम्ये नैसर्गिकं स्वाभाविकं बलम् । तेनैतदुक्तं भवति—रसादीनां समबलानामपि तथा-विधो बलस्वभावो यत् पूर्वस्य बलमुत्तरस्य बलेन समेनाप्यभिभूयते । रसबलं विपाकबलेन समेनापि स्वभावादेवाभिभूयते, एवं रस-विपाकयोर्बलं वीर्यबलेन, रस-विपाक-वीर्यबलं प्रभावबलेनेति । तेन रसादीनां विषमत्वेऽपि स्वभावबल-मपेक्ष्याधिकस्य सामर्थ्यं विज्ञेयम् (इन्दुः) ॥

× × × × × × × × × तत्र द्रव्यं शुभाशुभम् ।
किंचिद्रसेन कुरुते कर्म, पाकेन चापरम् ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणान्तरेण, वीर्येण, प्रभावेणैव किंचन ।
यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते ।
अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते ।
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते ।।
रसं विपाकस्तौ वीर्यं, प्रभावस्तान्यपोहति ।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ।

—अ. हृ. सू. अ. ९

तत्रेत्यादि । तत्र तेषु रस-वीर्य-विपाकादिषु मध्ये, द्रव्यं किंचिच्छुभाशुभं सदसद् कर्म रसेन कुरुते । यथा—मधु मधुर-कषायरसत्वेन पित्तं शमयति । किंचिद्विपाकेन । यथा—तदेव मधु कटुविपाकतया कफं हन्ति । किंचन द्रव्यं गुणान्तरेण अन्यगुणविवृतत्वाद्रस-विपाकतो भिन्नो यो गुणान्तरो गुर्वादिः, तेन । यथा—अम्लं काञ्जिकं कफं शमयति, रौक्ष्यात् । किंचन वीर्येण । यथा—कषाय-तिक्तं महत् पञ्चमूलं वातं जयति, न तु पित्तम्, उष्णवीर्यत्वात् । किंचन द्रव्यं प्रभावेणैव शुभाशुभं कर्म कुरुते । यथा—अम्लोष्णा सुरा क्षीरं वर्धयति । ननु, यत्र द्रव्याश्रितानां रसादीनां विरोधः, तत्रैषां कार्यनिष्पत्तौ समशक्तित्वं न वा ? इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—यद्यदित्यादि । रसादीनां रस-वीर्य-विपाक-प्रभावानां मध्ये, यद् रसादिवस्तु रसो वा वीर्यं वा विपाको वा प्रभावो वा बलवत्त्वेन बलिष्ठतया द्रव्ये वर्तते अवतिष्ठते, तद् वस्तुजातम्, इतरान् अबलिष्ठान्, अभिभूय विफलीकृत्य कारणत्वं प्रपद्यते कर्मकरणे कारणतामासादयतीत्यर्थः । अत इदमाह—विरुद्धेत्यादि । हि यस्मात्, विरुद्धगुणसंयोगे संहतीभावे सति, यदल्पं वस्तु तत् भूयसा बलवता, जीयते अभिभूयते । गुणशब्देन चात्र रसादयो गृह्यन्ते, न पारिभाषिका गुर्वादयः, अप्रकृतत्वात् । विरुद्धगुणसंयोग इत्यत्र विरुद्धगुण-समवेतः द्रव्यसंयोग इति बोध्यं, न विरुद्धगुणसंयोग इति; न हि गुणानां संयोगो वक्तुं युज्यते, किं तर्हि ? द्रव्याणाम् । तथा च मुनिः—"संयोगस्तु द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः ।" (च. वि. अ. १) इति । विरोधश्च द्विविधः—स्वरूपतः, कार्यतश्च । स्वरूपविरोधो यथा—गुरु-लघ्वोः, शीतोष्णयोश्च । कार्यतो यथा—वायौ जेतव्ये रूक्षोष्णद्रव्यसंयोगोपयोगः । अत्र हि यो गुणानां विरोधः, स कार्येण । तत्र यदल्पं वस्तुजातं तद् भूयसा वस्तुजातेनाभिभूयते । तत्र यथा—क्षीरं शीतवीर्यमपि मधुररसहेतुकस्नेह-गौरवादिभिः सहायबाहुल्याद्वातशमनाख्यं कार्यं करोति, न पुनः स्वकार्यं वातप्रकोपाख्यम् । यत्र तु द्रव्ये रसादीनामुत्कर्षा संभवः परस्परं साम्यं, तत्र कस्य कार्यकारणत्वम् ? इत्याह—रसमित्यादि-रसं मधुरादि-षड्विधं, विपाकः कर्ता, अपोहति कार्यकरणे कुण्ठयति । यथा—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मधुरो मधुनि रसः कटुना विपाकेनाभिभूयते, अत एव पचनशमनाख्यं कार्यं मधुर-रसहेतुकं न करोति, अपि तु वातप्रकोपनाख्यं कटुविपाकहेतुकमेव करोति। तौ रस-विपाकौ वीर्यं कर्तृभूतमपोहति। यथा—महिषामिषे स्थितौ मधुररस-विपाकावुष्णवीर्याख्यं कर्तृ अभिभवति, अत एव तन्मांसं पित्तादिदूषणम्, अन्यथा स्वादुरस-विपाकित्वात् पित्तशमनमेव स्यात्। प्रभावस्तु त्रीण्यपि रसादीनि विजयते। यथा—अम्लरस-विपाका उष्णवीर्या सुरा क्षीरं जनयति। बलसाम्ये इति ईदृशं, रसादीनां नैसर्गिकं बलं स्वाभाविकी शक्तिः। एतदुक्तं भवति—रसं समबलमपि विपाकोऽपोहति, रस-विपाकौ च समबलावपि वीर्यं स्वभावादपोहति, एतानि च समबलान्यपि प्रभावोऽपोहतीति (अ. द.)। द्रव्याणीनां पृथक् प्रयोजकत्वमाह—तत्र द्रव्यमित्यादि। गुणान्तरेण रसाद् व्यतिरिक्तेन गुर्वादिना गुणेन। एतदेव रसादीनामपि गुणत्वं ज्ञापयति। तेन "पलाण्डुस्तद्गुणैर्न्यूनः" (अ. हृ. सू. अ. ६) इत्यादि प्रयोगा उपपन्नाः। प्रभावेण आत्मनैव। द्रव्यस्यात्मा प्रभावः। × × ×। शुभं दोषशमनं कर्म, अशुभं, दोषकोपनम्। किंचिदपरं किंचनेति कर्तृ-कर्मविशेषणम्। यदा बहूनि द्रव्याणि एकमेव कर्म कुर्वन्ति तदा कर्तृविशेषणम्, यदैकमेव द्रव्यं बहूनि कर्माणि तदा कर्मविशेषणम् × × ×। सत्स्वपि सर्वेष्वेकस्यैव प्रयोजकत्वे हेतुमाह—यद्यदित्यादि। बलवत्त्वेन बलाधिक्येन। बलं च द्विविधं—कृत्रिमम्, अकृत्रिमं च। मात्राधिक्येन सहाय-संपत्त्या च कृतं कृत्रिमं, स्वाभाविकमकृत्रिमम्। तत्र स्वाभाविकं बलमाह—रसमित्यादि। तौ रस-विपाकौ, तानि रस-विपाक-वीर्याणि अपोहति जयति। बलसाम्ये कृत्रिमबलतुल्यत्वे। यत्र रस-विपाकयोस्तुल्यमात्रत्वं तुल्यसहायत्वं च तत्र रसाद् विपाको बली, मात्रासहायवैषम्ये तु यो मात्राधिकः सहायाधिको वा स बलीत्यर्थः; एवं वीर्यादिष्वपि वाच्यम्। × × ×। (हे.)॥

द्रव्य, कुछ कर्म—कार्य रस से करता है, जैसे—शहद अपने कषायरस से पित्त का शमन करता है; कुछ कर्म वीर्य से करता है, जैसे—कषाय और तिक्त रसवाला बृहत्पञ्चमूल अपने उष्ण वीर्य से वायु का शमन करता है परन्तु पित्त का शमन नहीं करता; कुछ कर्म रस-वीर्यव्यतिरिक्त गन्ध-स्थिर आदि गुणों से करता है; कुछ कर्म विपाक से करता है, जैसे-सोंठ कटुरसवाली होनेपर भी अपने मधुरविपाक से वायु का शमन करती है; और कुछ कर्म प्रभाव से करता है, जैसे—दंती कटुरस, कटुविपाक और उष्णवीर्य होनेपर भी अपने प्रभाव से विरेचन करती है। रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव इन चारों में जो बलवान् होता है वह दूसरे दुर्बल का पराभव करके अपना कार्य करता है। क्योंकि जहाँ विरुद्ध गुणों का संयोग होता है वहाँ बलवान् के द्वारा दुर्बल का पराभव होता है। परन्तु जहाँ रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव समान बलवाले होते हैं वहाँ अपने नैसर्गिक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(स्वाभाविक) बल से विपाक रस का, वीर्य रस और विपाक दोनों का तथा प्रभाव रस, विपाक और वीर्य तीनों का पराभव करके अपना कार्य करता है।

परस्परं विरुद्धानामपि रसादीनां कार्यसाधनेऽविघातकत्वम्--

विरुद्धा अपि चान्योन्यं रसाद्याः कार्यसाधने ।
नावश्यं स्युर्विघाताय गुणदोषा मिथो यथा ।।

--अ. सं. सू. अ. १७

ननु यत्र रसादीनामन्यतमस्य कार्यमितरस्य कार्येण विरुध्यते तत्र कस्य कार्यकर्तृत्वं भवति ? यदि तु प्रभूतस्य स्वभावबलवतश्चेत्युच्यते, तत्राल्पोऽल्पबलश्च किंचित् कर्तुं शक्तो न वा ? इत्येवं पृष्ट इदमाह--विरुद्धा इत्यादि । रसाद्या रस-वीर्य-विपाक-गुण-प्रभावाः, अन्योन्यं परस्परं, विरुद्धा अपि न नाशाय भवन्ति कार्यसाधनकाले । दृष्टान्तो--गुण-दोषा मिथो यथेति । गुणाःसत्त्व-रजस्तमांसि परस्परं पुरुषाद्यभिधानकार्यसाधने, विरुद्धा अपि यथा विघाताय न भवन्ति; दोषाश्च वात-पित्त-कफाः, देह-रोगादिसाधने यथा मिथो विघाताय न भवन्ति, तद्वद्रसादयोऽपि (इन्दुः) ।।

इस प्रश्न के उत्तर में वृद्ध वाग्भट कहते हैं कि जैसे--सत्त्व, रज और तम प्रकृति के तीन गुण जगत् की उत्पत्ति में तथा वात, पित्त और कफ ये तीन दोष देह की उत्पत्ति में या रोग उत्पन्न करने में विरुद्ध गुणवाले होनेपर भी एक-दूसरे के प्रतिबन्धक नहीं होते हैं वैसे ही रस, वीर्य और विपाक भी अपने कार्य करने में एक-दूसरे के प्रतिबन्धक नहीं होते ।

भूतोत्कर्षापकर्षतो रस-विपाक-वीर्याणां द्रव्ये एकरूपत्वं विरूपत्वं वा भवति--

रस-वीर्यप्रभृतयो भूतोत्कर्षापकर्षतः ।
एकरूपा विरूपा वा द्रव्यं समधिशेरते ।।
माधुर्य-शैत्य-पैच्छिल्य-स्नेह-गौरव-मन्दताः ।
सहवृत्त्या स्थिताः क्षीरे नवानूपौदकामिषे ।। --अ. सं. सू. १७

ननु द्रव्ये रसादीनां परस्पर सम-विषमतया कार्यकरत्वमुक्तं, तस्याश्च रसादि-सम-विषमतायाः कारणं न ज्ञायते, अत उच्यते--रस-वीर्येत्यादि । रस-वीर्यादीनां कार्यकरत्वे परस्परसदृशानां वा यद् द्रव्याश्रयणं तन्महाभूतस्य पृथिव्यादेरुत्कर्षादपकर्षाच्च संपद्यते; तेनैतदुक्तं भवति--यद् द्रव्ये रसस्य वीर्यादिभिः सादृश्यमसादृश्यं वा तत्सर्वमेकादीनां भूतानां केषाञ्चित् कियताऽप्युत्कर्षेण, कियताऽप्यपकर्षेण जयन्ते; तेन द्रव्येण सदृशस्यापि द्रव्यस्य योंऽशांशो विशेषः स भूतकृत एव । एतदेव माधुर्येणेत्याद्युदाहरणेन स्फुटयति । तेन क्षीरे माधुर्या-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दीनां समानकार्यकर्तृत्वेन यदेकत्र सदृशानामवस्थानं, तदबाल्यस्य महाभूतस्योत्कर्षेणान्यभूतेभ्यः (इन्दुः) ॥

पञ्चमहाभूतों में से किसी के उत्कर्ष और किसी के अपकर्ष के कारण रस, वीर्य और विपाक एकरूप से (एक से-परस्पर अनुकूल रूप से) या विरूप से (भिन्नता-परस्पर प्रतिकूलता से) द्रव्यों में रहते हैं। जैसे-दूध में रस, वीर्य और विपाक एक-रूप से रहते हैं, परन्तु आनूप और औदकमांस में विरूप से भिन्नरूप से रहते हैं। अतः वे द्रव्य में परस्पर अनुकूल-सहायक-रूप से रहे हैं या परस्पर प्रतिकूलरूप से रहे हैं यह जानकर द्रव्यों के गुणों का निर्णय करना चाहिए।

द्रव्याण्येव शरीरस्थिति-वृद्धि-क्षयहेतवः–

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
स्थान-वृद्धि-क्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥ –सु. सू. अ. ४१

इदानीं पार्थिवादिद्रव्यगुणानां शरीरगतपार्थिवादिगुणैस्तुल्यातुल्यतया द्रव्यैरेव समानासमानैः शरीरक्षय-वृद्धि-स्थानादि दर्शयति––गुणा य इत्यादि। गुणा इह रस वीर्य-विपाकतयोक्ताः, तथा साक्षादनुक्ताश्च स्थूल-सान्द्रादयः सर्वे ग्राह्याः। स्थानं धातुसाम्येनावस्थानम्। देहिनां शरीरेषु स्थान-वृद्धि-क्षया द्रव्यहेतुका इति योजना। यत्र समानासमानेन च साम्यं ज्ञेयम्। तदुक्तं चरके––"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥" (च. सू. अ. १) (च. द.)। कथं नु पुनर्जीवति शरीरे निर्जीवं द्रव्यजातं स्थित्यादौ हेतुर्भवतीत्याह––गुणा इत्यादि। द्रव्येषु ये गुणास्ते गुणाः शरीरेष्वपि तथा, 'उच्यन्ते भिषग्भिः' इति शेषः; तस्माद्देहिनां स्थान-वृद्धि क्षया दोष-धात्वग्नि-समता-वृद्धि-क्षया द्रव्यहेतुकाः निर्जीवद्रव्यमूला भवन्ति, यथावदुपयोगादुपयोगतारतम्याच्चेति भावः (हा.) ॥

गुणा द्रव्येषु ये चोक्तास्त एव तनु-दोषयोः।
स्थिति-वृद्धि-क्षयास्तस्मात्तेषां हि द्रव्यहेतुकाः।
––अ. सं. सू. अ. १७

ये हि गुर्वादयो द्रव्ये संभवन्ति त एव गुणास्तनोः शरीरस्य प्रत्यङ्गं संभवन्ति, दोषस्य च वातादेः। तस्मात्तनोर्वातादीनां च स्थिति-वृद्धि-क्षया द्रव्यहेतुकाः, "वृद्धिः समानैः सर्वेषां" (अ. हृ. सू. अ. १) इत्यादिन्यायात् (इन्दुः) ॥

औषध और आहार के लिये उपयोग में आने वाले द्रव्य और जीवित शरीर दोनों पञ्चमहाभूतों से बने हुए हैं और पाञ्चभौतिक द्रव्यों में जो गुण हैं वे ही गुण शरीर में भी हैं। अतः निर्जीव द्रव्यों के क्रमशः सम, हीन और अति योग से उपयुक्त होने से शरीर की (शरीर के धातुओं की) समता, क्षय और वृद्धि होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीर्य-प्रभावविज्ञानीयाध्यायस्य परिशिष्टम्

नागार्जुनमतेन कर्मणस्तत्प्राधान्यस्य च निरूपणम्—

द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक-कर्मण्यनयोर्मूलम् (र. वै. अ. १, सू. ४) एवं स्वस्थातुरवृत्तकं भेदमुक्त्वा तद् भेदेष्वारोग्यानारोग्ययोः साधनस्य तन्त्रेषु विप्रकीर्णस्य संग्रहार्थमाह—द्रव्येत्यादि । अनयोः आरोग्यानारोग्ययोः स्वस्थातुरवृत्ताधिकृतयोरिति ; अत एवानयोरित्याकर्षति, अन्यथा स्वस्थातुरवृत्ते चेदभिप्रेते तहर्चुभयोरित्यवक्ष्यत् । द्रव्याणि च, रसाश्च, गुणाश्च, वीर्याणि च ऊर्ध्वभागादीनि, विपाकौ च, कर्माणि च स्नेहादीनि ; मूलं कारणं योनिरित्यर्थः । एते द्रव्यादयो विस्तरेणोत्तरत्र वक्ष्यन्त इति नात्र व्याक्रियन्ते (भा.) । क्रियालक्षणं कर्म (सू. १७१) । अत्र कर्मेति समुदायक्रिया, तस्या लक्षणरूपेण व्यवस्थाप्यमाना अवयवक्रिया । वमनमिति समुदायक्रिया । यस्याः स्नेहन-स्वेदनाश्वासनदिवसतद्दिवसाहारविधानाद्यवयवक्रिया, तयाऽभिव्यज्यते समुदायक्रियेति । यथा—उदकाधिश्रय-तण्डुलधावन-दर्वीघट्टन-परिस्रावण-परिवर्तनादयः क्रियाविशेषा अवयव-भूतास्तामभिव्यञ्जयति तण्डुलविक्लृप्तिरूपामिति । अथवा करणक्रियाकारणलक्षणं कमति । फलप्रतिष्ठितमाकाशं, स्वात्मना निर्लुण्ठितः कुम्भ इति ; स्वात्मनि प्रतिष्ठितमित्याकाशस्यान्य आत्मा न विद्यते, तथापि करणरूपेणोक्तमिति (भा.) । तस्य कर्मणः को विषय इत्याह—कर्म सर्वेषाम् (र. वै, अ. २, सू. ३८) । अत्र सर्वशब्दः परिच्छिन्नानवशेषवाचकः । द्रव्यादयः पञ्च पदार्थाः सर्वे, तेषां कर्म प्रयोग इत्यर्थः । कथं पाकः कर्मपदार्थस्य विषयो भवति ? प्रयुक्ते (द्रव्ये) पश्चाद्भवतीति । प्रयोगपूर्वक एव तस्यापि व्यापार इति न दोषः । एवमत्र पचिक्रियायाः कर्ता कर्म स्यात्, नाग्निः । नायं दोषः, हेतुभूतत्वात् ; तृणंभवतं सिद्धमिति (भा.) । कर्मपदार्थस्य प्राधान्यं विधास्यते (र. वै. अ. १, सू. १५१) । कर्मेतरेषां सामर्थ्यव्यञ्जनात् (सू. १५२) ।—इतरेषां द्रव्यादीनां पदार्थानां, सामर्थ्यं फलं, तस्य व्यञ्जनात् प्रकाशनात् ; कथं द्रव्यादीन्यप्रयुज्यमानान्यापणस्थानि वनस्थानि वा कर्म कुर्वन्ति । तत्प्रयोगः कर्मसंज्ञितः षष्ठः पदार्थः प्रधानः । शर-शरासन-तूणीरसामर्थ्यव्यञ्जनाद् धन्वी तेभ्यो विशिष्ट इति (भा.) । तदनुग्रहे फलवत्त्वात्, अफलवत्त्वाच्चोपघाते (सू. १५३) ।—किं चान्यत् ? तदनुग्रहे इत्यादि तस्य कर्मणोऽनुग्रहः तदनुग्रहः, तस्मिन् सति संपन्ने फलवत्त्वादितरेषां द्रव्यादीनां, कर्मणि विपन्ने तेषां चाफलवत्त्वादिति ; पूर्वोक्तस्यैवार्थ इति चेत् ? एवं सर्वत्र तुल्यार्थः हेतुप्रयोगः प्रयोगान्तरे प्रयुक्त इति विज्ञेयः; एकस्मिन् प्रयोगे द्वयोर्हेत्वोः प्रयोगाभावादिति (भा०) । अर्थनिर्वर्तकत्वात् (सू. १५४) ।—किं चान्यत् ? अर्थेत्यादि । अर्थः प्रयोजनं, कर्माणि विना न भवतीति (भा०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तदर्थमुपसंग्रहात्। शेषाणां तत्राभियोगात्। शास्त्रसामर्थ्यात्। द्रव्यादिव्यतिरेकेण भावात्। तस्य क्वचिद्व्यतिरेकात्। तेनेतरेषां नित्यं सिद्धिः। व्यापदां तत्रैव नियमात्। तेनोपचारादितरेषाम् (सू. १५५-१६२)।—तेन कर्मणा उपचाराद् व्यवहाराद् वचनाद्वेति। इतरेषां द्रव्यादीनाम्। वामनीयं द्रव्यं, विरेचनीयो रस इत्यादि। एवमेते विशेषाः कर्मण्येवायत्ताः, प्रायशोऽन्ये पदार्था विषय इति कर्मणः प्राधान्यं साधितम् (भा.)।

नागार्जुन ने द्रव्यगुणविज्ञान के प्रतिपाद्य विषयों में **कर्म** नाम का एक छठा पदार्थ माना है। वे लिखते हैं कि—स्वस्थातुरवृत्त में अधिकृत आरोग्य और अनारोग्य के द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक और कर्म छः मूल हैं (अतः ये छहों पदार्थ द्रव्य-गुणशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं)। द्रव्य, गुण, रस, वीर्य और विपाक इनका लक्षण उनके प्रकरणों में लिखा गया है। अब कर्म का लक्षण और प्राधान्य कहा जाता है। वमन-विरेचन आदि द्रव्यों का शरीर के ऊपर जो प्रयोग किया जाता है उसको **कर्म** कहते हैं। द्रव्य, गुण, रस, वीर्य और विपाक ये पाँचों कर्म के विषय हैं। विपाक का व्यापार भी शरीर पर प्रयोगपूर्वक ही होता है, अतः विपाक को भी कर्म का विषय माना जाता है। द्रव्यादि पदार्थों से कर्म प्रधान है। क्योंकि कर्म से (शरीरपर प्रयोग करने से) ही द्रव्यादि पदार्थों का सामर्थ्य अभिव्यक्त होता है (फल पाया जाता है)। वन में या पनसारी की दुकान में पड़े हुए द्रव्य शरीरपर प्रयोग किये बिना कुछ भी अपना सामर्थ्य-फल नहीं दिखा सकते। इसलिये द्रव्य आदि पाँचों पदार्थों से कर्म प्रधान है।

वक्तव्य—चरक और **सुश्रुत** द्रव्य का वमन-विरेचन-बृंहण आदि क्रियाओं को द्रव्य का **कर्म** मानते हैं। **नागार्जुन** वमन-विरेचन आदि क्रिया करने की शक्ति से सम्पन्न चिन्त्य या अचिन्त्य द्रव्यगत अंश को वीर्य मानते हैं और द्रव्य का शरीर पर जो प्रयोग करना होता है उसको कर्म मानते हैं।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिकमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे वीर्य-प्रभाव-विज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुणविज्ञानस्य पूर्वार्धे प्रथमं परिशिष्टम्

भूतानामसाधारणं लक्षणम्[1] (लिङ्गम्)।

पृथिव्या लिङ्गं	जलस्य लिङ्गं	वायोर्लिङ्गं	तेजसो लिङ्गं	नभसो लिङ्गम्
खरत्वं (कठिनत्वं)	द्रव्यत्वं	चलत्वं (गतिमत्त्वं)	उष्णत्वं	अप्रतिघातः (अस्पर्शवत्त्वम्)

भूतानामसाधारणा गुणाः[2]

आकाशगुणः	वायुगुणः	अग्निगुणः	जलगुणः	पृथिवीगुणः
शब्दः	स्पर्शः	रूपं	रसः	गन्धः

भूतानासाधारणा भूतान्तरानुवेशकृताश्च गुणाः[3]

आकाशगुणः	वायुगुणौ	अग्निगुणाः	जलगुणाः	पृथिवीगुणाः
शब्दः	शब्द-स्पर्शौ	शब्द-स्पर्श-रूपाणि	शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः,	शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः

भावमिश्रमतेन भूतानां गुणाः[4]

आकाशगुणः	भूमिगुणः	जलगुणः	वायुगुणः	अग्निगुणः
लघुः	गुरुः	स्निग्धः	रूक्षः	तीक्ष्णः

पार्थिवादिपाञ्चभौतिकद्रव्य (कार्यद्रव्य) गुणाः[5]

पार्थिवद्रव्यं	आप्यद्रव्यं	आग्नेयद्रव्यं	वायव्यद्रव्यं	नाभसद्रव्यं
गुरु	द्रवं	उष्णं	लघु	मृदु
खरं (खरस्पर्श)	स्निग्धं	तीक्ष्णं	शीतं	लघु
कठिनं	शीतं	सूक्ष्मं	रूक्षं	सूक्ष्मं
मन्दं	मन्दं	लघु	खरं	श्लक्ष्णं
स्थिरं	मृदु	रूक्षं	विशदं	व्यवायि
विशदं	पिच्छिलं	विशदं	सूक्ष्मं	विशदं

१--"खर-द्रव-चलोष्णत्वं भू-जलानिल-तेजसाम्। आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टलिङ्गं यथाक्रमम्॥" --च. शा. अ. १

२--"शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः" --च. शा. अ. १

३--तेषामेकगुणं पूर्वं गुणवृद्धिः परे परे। --च. शा. अ १

४--अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १११, पं० १-२

५--अस्मिन्नेवग्रन्थे, पृ० ७-१०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पार्थिवद्रव्यं	आप्यद्रव्यं	आग्नेयद्रव्यं	वायव्यद्रव्यं	नाभसद्रव्यं
सान्द्रं	स्तिमितं	खरं	विकाशि	विविक्तं
स्थूलं	सरं	ऊर्ध्वगतिस्वभावं	व्यवायि	अव्यक्तरसं
अधोगतिस्वभावं	रसबहुलं	रूपबहुलं	स्पर्शबहुलं	शब्दबहुलं
गन्धबहुलं				

पार्थिवादिकार्यद्रव्यरसाः[1]

पार्थिवद्रव्यं	आप्यद्रव्यं	आग्नेयद्रव्यं	वायव्यद्रव्यं	नाभसद्रव्यं
ईषत्कषायं	ईषत्कषायाम्ललवणं	ईषदम्ललवणं	ईषत्तिक्तं	अव्यक्तरसं
प्रायशो मधुरं	प्रायशो मधुरं	प्रायशः कटुकं	विशेषतः कषायं	

पार्थिवादिपाञ्चभौतिकद्रव्यविपाकाः[2]

पार्थिवद्रव्यविपाकः	आप्यद्रव्यविपाकः	आग्नेयद्रव्यवि०	वायव्यद्रव्यवि०	नाभसद्रव्यवि०
गुरुः	गुरुः	लघुः	लघुः	लघुः

पार्थिवादिपाञ्चभौतिकद्रव्यकर्माणि[3]

पार्थिवद्रव्यकर्म	आप्यद्रव्यकर्म	आग्नेयद्रव्यकर्म	वायव्यद्रव्यकर्म	नाभसद्रव्यकर्म
उपचयः (बृंहणं)	क्लेदनं	दहनं	विरूक्षणं	मार्दवं
संघातः	स्नेहनं	पचनं	ग्लपनं	सौषिर्यं
गौरवं	बन्धनं	प्रभा	विचारणं	लाघवं
स्थैर्यं	विष्यन्दनं	प्रकाशनं	वैशद्यं	विवरणं
बलं	मार्दवं	वर्णः	लाघवं	
अधोगमनं	प्रह्लादनं	दारणं	कर्शनं	
		तापनं	शैघ्र्यं	

गुणाः[4]

वैशेषिकगुणाः	शारीरगुणाः	अध्यात्मगुणाः	सामान्यगुणाः	महागुणाः
शब्दः	गुरुः	बुद्धिः	परत्वं	सत्त्वं
स्पर्शः	लघुः	इच्छा	अपरत्वं	रजः

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० ८-१०। २—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २४५।
३—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० ८-११। ४—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १०३-१०७।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैशेषिकगुणाः	शारीरगुणाः	अध्यात्मगुणाः	सामान्यगुणाः	महागुणाः
रूपं	शीतः	द्वेषः	युक्तिः	तमः
रसः	उष्णः	सुखं	संख्या	—
गन्धः	स्निग्धः	दुःखं	संयोगः	नागार्जुनमतेन
	रूक्षः	प्रयत्नः	विभागः	कर्मण्या गुणाः
	मन्दः	मनोर्थाः	पृथक्त्वं	
	तीक्ष्णः		परिमाणं	शीतः
	स्थिरः		संस्कारः	उष्णः
	सरः		अभ्यासः	स्निग्ध
	मृदुः			रूक्षः
	कठिनः			विशदः
	विशदः			पिच्छिलः
	पिच्छिलः			गुरुः
	श्लक्ष्णः			लघुः
	खरः			मृदुः
	स्थूलः			तीक्ष्णः
	सूक्ष्मः			
	सान्द्रः			
	द्रवः			

———

गुर्वादिगुणानां कर्माणि[1]

गुरुगुणकर्म	लघुगुणकर्म	शीतगुणकर्म	उष्णगुणकर्म
अवसादः (ग्लानिः)	असादः (अग्लानिः)	ह्लादनं	अह्लादनं (असुखकरणं)
उपलेपः (मलवृद्धिः)	अनुपलेपः (मलक्षयः)	स्तम्भनं	अनुलोमनं
बलं	बलहानिः	मूर्च्छाहरणं	मूर्च्छनं
तर्पणं	अपतर्पणं (लङ्घनं)	तृषाहरणं	तृष्णाकरणं
बृंहणं	कर्शनं	स्वेदहरणं	स्वेदनं

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १०८–११९।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुरुगुणकर्म
- वातहरणं
- कफवर्धनं
- चिरपाकित्वं

लघुगुणकर्म
- लेखनं
- रोपणं
- वातवर्धनं
- कफहरणं
- अचिरपाकित्वं

शीतगुणकर्म
- दाहप्रशमनं

उष्णगुणकर्म
- दहनं
- पाचनं

स्निग्धगुणकर्म
- स्नेहनं
- मार्दवं
- बलं
- वर्णः
- वातनाशनं
- कफवर्धनं
- वाजीकरणं
- क्लेदनं

रूक्षगुणकर्म
- रूक्षणं
- काठिन्यं
- बलहानिः
- वर्णहानिः
- स्तम्भनं
- कार्कश्यं
- वातवर्धनं
- कफहरणं

मन्दगुणकर्म
- चिरकारित्वं
- शमनं

तीक्ष्णगुणकर्म
- दहनं
- पाचनं
- स्रावणं
- पित्तवर्धनं
- लेखनं
- कफ-वात-हरणं
- शोधनं

स्थिरगुणकर्म
- धारणं
- (वात-मल-स्तम्भनं)

सरगुणकर्म
- अनुलोमनं
- (वात-मल-प्रवर्तनं)
- प्रेरणं

मृदुगुणकर्म
- पाकनाशनं द्रढनं (दृढीकरणं)
- (अपचनं)
- दाहहरणं
- स्रावनाशनं
- श्लथनं

कठिनगुणकर्म

विशदगुणकर्म
- क्लेदाचूषणं
- रोपणं
- अजीवनं
- बलहानिः
- असंधानं
- श्लेष्मनाशनं
- लाघवं

पिच्छिलगुणकर्म
- जीवनं
- बलं
- संधानं
- गौरवं
- कफवर्धनं
- लेपनं

श्लक्ष्णगुणकर्म
- रोपणं
- जीवनं
- संधानं
- कफवर्धनं

खरगुणकर्म
- लेखनं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सूक्ष्मगुणकर्म	स्थूलगुणकर्म	सान्द्रकर्म	द्रवकर्म
सूक्ष्मस्रोतःप्रवेशः	बृंहणं	बृंहणं	प्रक्लेदनं
विवरणं	संवरणं	बन्धनं	व्याप्तिः
	स्रोतोऽवरोधः	प्रसादनं	विलोडनं

रसानां गुण-कर्माणि[1]

मधुरो रसः	अम्लो रसः	लवणो रसः
	अन्नरुचिकरः	पाचनः
जन्मप्रभृतिशरीरसात्म्यात्	अग्निदीपनः	क्लेदनः
" रसाभिवर्धनः	बृंहणः	दीपनः
" रक्ताभिवर्धनः	ऊर्जाकरः	च्यावनः
जन्मप्रभृतिशरीरसात्म्यात्	मनोबोधनः	छेदनः
" मांसाभिवर्धनः	इन्द्रियदाढर्यकरः	भेदनः
" मेदोऽभिवर्धनः	बलवर्धनः	तीक्ष्णः
" मज्जाभिवर्धनः	वातानुलोमनः	सरः
" ओजोऽभिवर्धनः	हृदयतर्पणः	विकासी
" शुक्राभिवर्धनः	आस्यस्रावणः	अवस्रंसी
आयुष्यः	भुक्तापकर्षणः	अवकाशकरः
षडिन्द्रियप्रसादनः	क्लेदनः	वातहरः
बलकरः	पाचनः	स्तम्भविधमनः
वर्णकरः	प्रीणनः	बन्धविधमनः
पित्तघ्नः	लघुः	संघातविधमनः
विषघ्नः	उष्णः	सर्वरसप्रत्यनीकः
मारुतघ्नः	स्निग्धः (च.)	आस्यस्रावणः
तृष्णाप्रशमनः	वातनिग्रहणः	कफविष्यन्दनः
दाहप्रशमनः	अनुलोमनः	स्रोतोविशोधनः
त्वच्यः	कोष्ठविदाही	शरीरावयवमार्दवकरः
केश्यः	बहिःशीतः	आहाररोचनः
कण्ठ्यः		

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १६३–१८० ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मधुरो रसः

- वल्यः
- प्रीणनः
- जीवनः
- तर्पणः
- बृंहणः
- स्थैर्यकरः
- क्षीणक्षतसन्धानकरः
- घ्राणप्रह्लादनः
- ओष्ठप्रह्लादनः
- जिह्वाप्रह्लादनः
- दादप्रशमनः
- मूर्च्छाप्रशमनः
- षट्पदपिपीलिकेष्टः
- स्निग्धः
- शीतः
- गुरुः (च.)
- चक्षुष्यः
- संधानः
- बालहितः
- वृद्धहितः
- क्षतक्षीणहितः
- कृमिकरः
- कफकरः (सु.)
- स्तन्यकरः
- मृदुः (अ. सं.)
- सृष्टमूत्रः
- सृष्टपुरीषः (र. वै.)

अम्लो रसः

- प्रायशो हृद्यः (सु.)
- हृदयबोधनः
- तर्पणः
- व्यवायी (अ. सं.)
- कफकरः
- पित्तकरः
- रक्तप्रकोपकः (अ.हृ.)
- सृष्टमूत्रः
- सृष्टपुरीषः (र. वै.)

लवणो रसः

- आहाररोचनः
- किंचिद् गुरुः
- स्निग्धः
- उष्णः (च.)
- संशोधनः
- विश्लेषणः
- शैथिल्यकरः (सु.)
- स्नेहनः
- स्वेदनः
- व्यवायी
- कफविष्यन्दनः (अ.सं.)
- सृष्टमूत्रः
- सृष्टपुरीषः (र.वै.)

कटुको रसः

- मुखविशोधनः
- अग्निदीपनः
- भुक्तशोषणः

तिक्तो रसः

- अरोचिष्णुः
- अरोचकहरः
- विषघ्नः

कषायो रसः

- संशमनः
- संग्राही
- संधानकरः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटुको रसः	तिक्तो रसः	कषायो रसः
नासास्रावणः	कृमिघ्नः	पीडनः (व्रणस्य)
नेत्रविरेचनः	मूर्च्छाप्रशमनः	रोपणः
इन्द्रियपाटवकरः	दाहप्रशमनः	शोषणः
अलसकविनाशनः	कुष्ठप्रशमनः	स्तम्भनः
श्वयथुविनाशनः	तृष्णाप्रशमनः	श्लेष्मप्रशमनः
उपचयहरः	त्वक्स्थिरीकरः	रक्तप्रशमनः
उदर्दहरः	मांसस्थैर्यकरः	पित्तप्रशमनः
अभिष्यन्दहरः	ज्वरघ्नः	क्लेदशोषणः
स्नेहहरः	दीपनः	रूक्षः
क्लेदहरः	पाचनः	शीतः
मलहरः	स्तन्यशोधनः	लघुः (च.)
अन्नरुचिकरः	लेखनः	लेखनः (सु.)
कण्डूहरः	क्लेदोपशोषणः	बद्धपुरीषः
व्रणावसादनः	मेदस उपशोषणः	त्वक्सवर्णकरः
कृमिहरः	मज्जोपशोषणः	प्रीणनः (अ. सं.)
मांसविलेखनः	लसिकोपशोषणः	मेदोविशोषणः
बन्धच्छेदनः	पूयोपशोषणः	आमस्तम्भनः (अ. हृ.)
स्रोतोविवरणः	स्वेदोपशोषणः	बद्धमूत्रः (र. वै.)
श्लेष्मशमनः	मूत्रोपशोषणः	
लघुः	पुरीषोपशोषणः	
उष्णः	पित्तोपशोषणः	
रूक्षः (च.)	श्लेष्मोपशोषणः	
पाचनः	रूक्षः	
शोधनः	शीतः	
स्थौल्यहरः	लघुः (च.)	
आलस्यहरः	छेदनः	
स्वेदहरः	शोधनः	
कफहरः	कण्ठविशोधनः (सु.)	
विषहरः	मेध्यः (अ. सं.)	
कुष्ठहरः	बद्धमूत्रः	
स्तन्योपहन्ता	बद्धपुरीषः (र. वै,)	

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटुको रसः

मेदोपहरः
शुक्रहरः (सु.)
शोणितसंघातभेदनः
तीक्ष्णः (अ. सं.)
मलापहरः (अ. हृ.)
बद्धमूत्रः
बद्धपुरीषः (र. वै.)

भक्ष्यमाणानां षण्णां रसानां लक्षणानि[1]

मधुररसलक्षणम्

स्नेहनम्
प्रीणनम्
आह्लादः
मार्दवम्
मुखव्यापनम्
मुखबोधनम्
मुखोपलेपः (च.)
परितोषः
तर्पणम्
जीवनम्
श्लेष्माभिवृद्धिः (सु.)
षट्पदपिपीलिकाप्रियत्वम् (अ. सं.)
इन्द्रियप्रसादनम् (अ. हृ.)

अम्लरसलक्षणम्

दन्तहर्षः
मुखास्रावः
स्वेदनम्
मुखबोधनम्
मुख-कण्ठविदाहः (च.)
अन्नभक्षणेऽभिरुचिः (सु.)
जिह्वोद्वेजनम्
अक्षिभ्रुसंकोचः
रोमहर्षः (अ. सं.)

लवणरसलक्षणम्

मुखे विलयनम्
क्लेदनम्
विष्यन्दनम्
मार्दवम्
मुखविदाहः (च.)
अन्नभक्षणे रुचिः
कफप्रसेकः (सु.)
कण्ठ-कपोल-विदाहः (अ. सं.)
कण्ठ-गलदाहः (अ. हृ.)

कटुरसलक्षणम्

रसनासंवेजनम्
जिह्वातोदः
विदाहः
मुखसंस्रावः
नासासंस्रावः

तिक्तरसलक्षणम्

रसनेन्द्रियप्रतिघातः
अस्वदनम्-अस्वादुता
मुखवैशद्यम्
मुखशोषः
प्रह्लादः (च.)

कषायरसलक्षणम्

जिह्वावैशद्यम्
जिह्वास्तम्भः
जिह्वाजाड्यम्
कण्ठविबन्धः (च.)
मुखशोषः

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १५८-१६३।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटुरसलक्षणम्

अक्षिसंस्रावः (च.)
जिह्वाप्रपीडनम्
उद्वेगः
शिरोग्रहः (सु.)

तिक्तरसलक्षणम्

गलचोषः
अन्नभक्षणे रुचिः
हर्षः (सु.)
कण्ठविशोधनम् (अ. सं.)
कण्ठ-कपोलयोश्चिमिचिमायनम् (अ. सं.)
कपोलदाहः (अ. हृ.)

कषायरसलक्षणम्

हृदयकर्षणम्
हृदयपीडनम् (सु.)
स्रोतोविबन्धः (अ. हृ.)

रसानामतिसेवने दोषाः[1]

मधुररसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः

स्थौल्यम्
मार्दवम्
आलस्यम्
अतिस्वप्नम्
गौरवम्
अनन्नाभिलाषः
अग्निदौर्बल्यम्
आस्य-कण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिः
श्वासः
कासः
प्रतिश्यायः
अलसकः
शीतज्वरः
आस्यमाधुर्यम्
वमनम्
संज्ञाप्रणाशः
स्वरप्रणाशः
गलगण्डः
गण्डमाला
श्लीपदः

अम्लरसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः

दन्तहर्षः
तर्षः (तृष्णारोगः)
नेत्रसंमीलनम्
रोमसंवेजनम् (रोमहर्षः)
कफविलयनम्
पित्ताभिवृद्धिः
रक्तदुष्टिः
मांसविदाहः
देहशैथिल्यम्
क्षीण-क्षत-कृश-दुर्बलानां श्वयथुजननम्
क्षत-अभिहत-दृष्ट-दग्ध-भग्न-शून-प्रच्युत-अवमूत्रित-परिसर्पित-मर्दित-च्छिन्न-भिन्न-विश्लिष्ट-विद्ध-उत्पिष्टादिषु पूयजननम्
कण्ठोरोहृदयेषु दाहः (च.)
कण्डूः
पाण्डुता
दृग्विघातः

लवणरसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः

पित्तप्रकोपः
रक्तप्रकोपः
तृषा
मूर्च्छा
तापः
दारणम्
मांसकोथः
कुष्ठप्रगलनम्
विषवर्धनम्
मांसस्फुटनम्
दन्तच्यवनम्
पुंस्त्वोपघातः
इन्द्रियोपरोधः
वलयः
पलितम्
खालित्यम्
रक्तपित्तम्
अम्लपित्तम्
विसर्पः
वातरक्तम्

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १६३-१८०।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मधुररसस्यातिसेवने

जायमाना विकाराः

- गलशोथः
- बस्त्युपलेपः
- गलोपलेपः
- अक्ष्यामयाः
- अभिष्यन्दः (च.)
- कृमयः
- अर्बुदम् (सु.)
- प्रमेहः
- नेत्रार्बुदम्
- गलार्बुदम्
- उदर्दः
- शिरःशूलम्
- उदरम् (अ. सं.)
- संन्यासः (अ. हृ.)

अम्लरसस्यातिसेवने

जायमाना विकाराः

- क्षत-विहतविसर्पः
- रक्तपित्तम्
- भ्रमः (अ. सं.)
- तिमिरम्
- विस्फोटः
- ज्वरः (अ. हृ.)

लवणरसस्यातिसेवने

जायमाना विकाराः

- विचर्चिका
- इन्द्रलुप्तम् (च.)
- कण्डूः
- कोठः
- शोफः
- वैवर्ण्यम्
- इन्द्रियोपतापः
- मुखपाकः
- अक्षिपाकः
- वातरक्तम्
- अम्लोद्गारः (सु.)
- किटिभः
- आक्षेपः
- क्षतवृद्धिः
- विषवृद्धिः
- मदवृद्धिः
- बलक्षयः
- ओजःक्षयः (अ. सं.)
- कुष्ठानि (अ. हृ.)

कटुरसस्यातिसेवने

जायमान विकाराः

- पुंस्त्वोपघातः
- मोहः
- ग्लानिः
- सादः
- कृशता
- मूर्च्छा
- नमनम्
- तमः

तिक्तरसस्यातिसेवने

जायमाना विकाराः

- रसादिसप्तधातुशोषणम्
- बलक्षयः
- कृशता
- ग्लानिः
- मोहः-मूर्च्छा
- भ्रमः
- मुखशोषः
- वातविकाराः (च.)

कषायरसस्यातिसेवने

जायमाना विकाराः

- मुखशोषः
- हृदयपीड़ा
- उदराध्मानम्
- वाक्संगः
- स्रोतोविबन्धः
- श्यामवर्णता
- पुंस्त्वोपघातः
- विष्टम्भः

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटुरसस्यातिसेवने

जायमाना विकाराः

भ्रमः
कण्ठदाहः
शरीरोपतापः
बलक्षयः
तृषा
भ्रमः
श्वयथुवदाहः
कम्पः
तोदः
भेदः
चरण-भुज-पार्श्व-पृष्ठ-
प्रभृतिषु वातरोगाः (च.)
मदः
गल-तालोष्ठशोषः
सन्तापः (सु.)
वमनम्
शुक्रक्षयः
गलोपशोषः
संकोचः (अ. सं.)
आकुञ्चनम्
कटिवेदना (अ. हृ.)

तिक्तरसस्यातिसेवने

जायमाना विकाराः

गात्रस्तम्भः
मन्यास्तम्भः
आक्षेपकः
शिरःशूलम्
तोदः
भेदः
छेदः
आस्यवैरस्यम् (सु.)

कषायरसस्यातिसेवने

जायमाना विकाराः

वात-मूत्र-पुरीषा-
णामवरोधः
कृशता
ग्लानिः
तृषा
स्तम्भः
पक्षवध-ग्रह-अपतानक-
प्रभृतयोवातरोगाः (च.)
मन्यास्तम्भः
गात्रस्फुरणम्
चुमचुमायनम्
आकुञ्चनम्
आक्षेपः (सु.)

रसानां गुणतारतम्यम्[1]

शीता (सौम्या) रसाः

मधुरः (उत्तमः)
तिक्तः (अवरः)
कषायः (मध्यमः)

उष्णा (आग्नेया) रसाः

कटुः (अवरः)
अम्लः (मध्यमः)
लवणः (उत्तमः)

गुरवो रसाः

मधुरः (उत्तमः)
लवणः (अवरः)
कषायः (मध्यमः) (च.)
अम्लः (सु.)

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १९१–१९४।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लघवो रसाः	रूक्षा रसाः	स्निग्धा रसाः
अम्लः (अवरः)	कषायः (उत्तमः)	मधुरः (उत्तमः)
कटुः (मध्यमः)	कटुः (मध्यमः)	अम्लः (मध्यमः)
तिक्तः (उत्तमः) (च.)	तिक्तः (अवरः)	लवणः (अवरः)
कषायः, (सु.)		

रससहचरा वीर्यसंज्ञका गुणाः[1]

मधुरः	अम्लः	लवणः	कटुः	तिक्तः	कषायः
स्निग्धः	लघुः	किञ्चिद्गुरुः	लघुः	रूक्षः	रूक्षः
शीतः	उष्णः	स्निग्धः	उष्णः	शीतः	शीतः
गुरुः	स्निग्धः	उष्णः	रूक्षः	लघुः	गुरुः
मृदुः		तीक्ष्णः		तीक्ष्णः	

दोषहरा रसाः[2]

वातहरा रसाः	पित्तहरा रसाः	कफहरा रसाः
मधुरः	कषायः	कषायः
अम्लः	मधुरः	कटुः
लवणः	तिक्तः	तिक्तः

दोषजनका रसाः[3]

वातजनका रसाः	पित्तजनका रसाः	कफजनका रसाः
कटुः	कटुः	मधुरः
तिक्तः	अम्लः	अम्लः
कषायः	लवणः	लवणः

रसानां विपाकाः[4]

मधुररसविपाकः	अम्लरसवि०	लवणरसवि०	कटुरसवि०	तिक्तरसवि०	कषायरसवि०
मधुरः	अम्लः	मधुरः	कटुः	कटुः	कटुः
गुरुः	लघुः	गुरुः	लघुः	लघुः	लघुः

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १६३–१८०। २—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १९४–२०१।
३—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १९४–२०१। ४—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २३५–२४५।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चरकमतेन विपाककर्माणि[1]

कटुविपाकः	अम्लविपाकः	मधुरविपाकः
शुक्रनाशनः	शुक्रनाशनः	सृष्टविण्मूत्रः
बद्धविण्मूत्रः	सृष्टविण्मूत्रः	कफकरः
वातलः	पित्तकरः	शुक्रकरः
लघुः	लघुः	गुरुः[2]

सुश्रुतमतेन विपाककर्माणि

गुरुविपाकः	लघुविपाकः
वातपित्तघ्नः	बद्धविण्मूत्रः
कफकरः	वातकरः
सृष्टविण्मूत्रः	श्लेष्मघ्नः

वीर्यकर्माणि[3]

उष्णवीर्यकर्म	शीतवीर्यकर्म	स्निग्धवीर्यकर्म	रूक्षवीर्यकर्म
दहनं	प्रह्लादनं	स्नेहनं	वातवर्धनं
पचनं	विष्यन्दनं	बृंहणं	संग्रहणं
मूर्च्छनं	स्थिरीकरणं	संतर्पणं	पीडनं
स्वेदनं	प्रसादनं	वाजीकरणं	विरूक्षणं
वमनं	क्लेदनं	वयःस्थापनं	रोपणं
विरेचनं	जीवनं		
विलयनं	स्तम्भनं		
वात-कफ-नाशनं	रक्त-पित्त-प्रसादनं		
पित्तवर्धनं	वात-कफ-वर्धनं		
लाघवं	गौरवं		
शुक्रनाशनं	बलवर्धनं		
भ्रमः			
तृषा			
ग्लपनं			
स्वेदनं			

विशदवीर्यकर्म	पिच्छिलवीर्यकर्म	मृदुवीर्यकर्म	तीक्ष्णवीर्यकर्म
क्लेदाचूषणं	उपलेपनं	रक्त-मांस-प्रसादनं	आचूषणं
विरूक्षणं	पूरणं, संश्लेषणं	सुस्पर्शनं	अवदारणं
उपरोहणं	बृंहणं, वाजीकरणं		स्रावणं

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २-६०२६३। २—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २६१।
३—अस्मिन्नव ग्रन्थे पृ० २८२-२८६।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिशिष्ट २

आयुर्वेदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान पर तुलनात्मक विचार

लेखक

स्वर्गीय डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक एम० बी० बी० एस०

आज, जब कि आयुर्वेद के उपासकों पर विपक्षियों की ओर से यह आक्षेप करने में आता है कि—आयुर्वेद में द्रव्यों का उपयोग उनके शास्त्रीय ज्ञान के विना ही किया जाता है, 'द्रव्यगुणविज्ञानम्' जैसे ग्रन्थ का प्रकाशन स्वागतार्ह है। बहुत थोड़े मनुष्य यह जानते हैं कि आयुर्वेदाचार्यों ने भी द्रव्यों के गुण-दोषों के सम्बन्ध में अनेक विचार किये हैं। इतना ही नहीं, किन्तु इन विचारों को उन्होंने एक सिद्धान्त (Theory) द्वारा एकसूत्र में आबद्ध भी कर लिया है, तथा जैसे आयुर्वेद का रोगविज्ञान त्रिदोषवाद पर आश्रित है वैसे ही उसका चिकित्साविज्ञान (Therapeutics) भी द्रव्यगुणविज्ञानपर आश्रित है।

इस पूर्वार्द्ध में किया गया निरूपण लोकभोग्य नहीं, किन्तु विद्वद्भोग्य है; कारण, एक साधारण चिकित्सक को द्रव्यों के गुण-दोषों की जानकारी से ही सन्तोष हो जाता है। उसे यह जानने की आवश्यकता नहीं मालूम होती कि यह जानकारी किन प्रमाणोंपर अवलम्बित है।

जो लोग आयुर्वेद को जादू-टोने की नवीन आवृत्ति मानते हैं अथवा जिनका यह पूर्वग्रह (Prejudice) है कि इस देश के वैद्यकीय वाङ्मय में वैज्ञानिक विचारों का अभाव है, उन्हें तो मुझे कुछ कहना ही नहीं है। परन्तु जो अवलोकन के आधारपर[1] सत्यासत्य की परीक्षा किया चाहते हैं उनके लिये इस ग्रन्थ में संगृहीत जानकारी अमूल्य है। आयुर्वेद के उपासकों को इस ग्रन्थ में, मधुमक्षिकाओं द्वारा विभिन्न पुष्पों में से सुगन्धित द्रव्य संचित करके बनाये हुए मधु के सदृश, आयुर्वेदिक वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों में एकत्र करके संकलित की गयी सरस सामग्री उपलब्ध होगी, ऐसा मेरा मत है।

जैसे वर्तमान वैद्यकीय ज्ञान का पदार्थविज्ञान (Physics), रसायनशास्त्र (Chemistry), जीवविद्या (Biology), मानसशात्र (Psychology) आदि विज्ञान की शाखाओं के साथ गाढ़ सम्बन्ध है, उसी प्रकार आयुर्वेद का उस काल के

१—Therefore, medical science should always be ready to investigate claims that can be confirmed or disproved by observation irrespective of the question as to the possibility of the truth of the theory which led to their discovery.–Applied Pharmacology by Clark.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दर्शनों के साथ गाढ़ सम्बन्ध था। सांख्य, वैशेषिक, योग तथा न्यायशास्त्र के साथ आयुर्वेद का सम्बन्ध आयुर्वेद के अभ्यासियों को सुविदित है[१]।

आयुर्वेदाचार्यों ने संयमधन तपस्वियों के गम्भीर चिन्तनों के परिणामस्वरूप उत्पन्न दार्शनिक मन्तव्यों को चिकित्सा के व्यावहारिक क्षेत्र (Practical field) में नियोजित करके, अपनी वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग किया है। इस ग्रन्थ के अध्याय इस बात के साक्षी हैं।

साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन आचार्य अन्य वैद्यकीय शास्त्रों के प्रति भी उदार दृष्टि रखते थे[२]। जैसे व्यवहार में संकुचित दृष्टि दैन्यमनोग्रन्थि (Inferiority complex) का लक्षण है, वैसे ही विज्ञान के क्षेत्र में संकुचित दृष्टिवाले मनुष्य अपना मानसिक दौर्बल्य प्रकट करते हैं। यह कथन विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षया वैद्यकीय क्षेत्र में अधिक सत्य है। कारण, रोगनिवारण (Cure) तथा रोगप्रतिबन्ध (Prevention) के सतत प्रयास होते हुए भी एक भी चिकित्सापद्धति को इस कार्य में संपूर्ण सिद्धि नहीं मिली है। यही देखकर तो इस देश में तथा पश्चिम में साहित्यकारों ने समय-समयपर अपनी प्रतिभा का उपयोग वैद्यों या डाक्टरों के धन्धे का उपहास करने में किया है[३]।

वाचकों को आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान का यत्किञ्चित् परिचय कराने तथा पूर्व और पश्चिम की विचारधाराएँ कहाँ-कहाँ मिलती हैं और कहाँ-कहाँ पृथक् होती है, यह बताने के उद्देश्य से ही यह परिशिष्ट लिखा गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें प्रकट किये गये विचारों की जबाबदारी मेरी है। जिनको विशेष जिज्ञासा हो उन्हें तो प्राचीन तथा अर्वाचीन आकर ग्रन्थ ही देखने चाहिए।

पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञान का इतिहास--

पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञान (Pharmacology) अबतक विचित्र परिस्थितियों

१—देखिये 'आयुर्वेद अने दर्शनों' इस नाम का दुर्गाशङ्कर केवलराम शास्त्री का गुजराती निबन्ध, तथा पं० नारायणदत्त त्रिपाठीकृत 'आयुर्वेददर्शन' नामक ग्रन्थ।

२--देखिये--"विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके, तत्र यन्मन्येत.....तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्"; तथा--"न चैव ह्यति सुतरामायुर्वेदस्य पारं, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्.....परेभ्योऽप्यागमयितव्यम्। कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।" आदि उपदेशवचन (चरक० वि० अ० ८)।

३—संस्कृत में भाण-प्रहसन आदि रूपकों में अन्य अधम कक्षा के पात्रों के साथ एकाध मूढ़ वैद्य को भी खड़ा किया पाया जाता है। अंग्रेजी वाङ्मय में भी प्रख्यात सिद्धहस्त लेखक बर्नार्ड शॉने Doctor's Dilemma (डॉक्टर्स डाइलेमा) नाम के नाटक में चिकित्साशास्त्र के व्यापारी अर्थात् डाक्टरोंपर कटाक्षरूप शरवर्षा करने में कमी नहीं की है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में से गुजरा है। इसका लोकप्रिय नाम **मेटीरिया मेडिका** (Materia-Medica) है। आजकल लगभग इसी अर्थ में **फॉर्मकॉलॉजी** (Pharmacology) शब्द व्यवहृत होता है। वैज्ञानिक पद्धति से जिन द्रव्यों का गुण-धर्म समझ में आवे उन्हीं का उपयोग करना यह इस शास्त्र का आग्रह है। प्राचीन ग्रीक तथा रोमन संस्कृतियों की इस पर छाया है। हीपोक्रेटिस, गेलन आदि प्राचीन चिकित्सकों के लेखों का इस पर प्रभाव है। ये प्राचीन पाश्चात्य चिकित्सक भारत के कितने अंश में ऋणी हैं यह बात ऐतिहासिकों को सुविदित है[1]। सत्रहवीं शताब्दी तक के इतिहास की परीक्षा की जाय तो तुलना में, इस देश में हुई द्रव्यगुण-विज्ञान की प्रगति बहुत संतोषकारक प्रतीत होगी। यूरोप में लगभग सोलहवीं शताब्दीतक परम्परागत मन्तव्यों किंवा रूढ़ियों का अनुसरण करने एवं लब्धप्रतिष्ठ वैद्यों का अनुकरण करने की परिपाटी प्रचलित थी। किन्तु अमुक औषध अमुक रोग की चिकित्सा में क्यों देना चाहिये, वह औषध किस प्रकार कार्य करती है; इस बात का सप्रमाण विचार (Logical thought) नहीं किया जाता था।

इस स्थिति का मुख्य कारण शरीरव्यापारशास्त्र (Physiology) तथा संप्राप्तिविज्ञान (Pathology) के ज्ञान का अभाव था। उस काल में विज्ञान की इन दोनों शाखाओं का संतोषप्रद विकास नहीं हुआ था। अतः द्रव्यगुणविज्ञान केवल अनुभव तथा शब्दप्रमाण पर आश्रित था। परन्तु, जबतक शरीर के विभिन्न अवयवों के व्यापार न विदित हों तबतक उनकी विकृतियाँ समझ में नहीं आ सकतीं, यह बात दीपक के समान स्पष्ट है[2]।

इस विचित्र परिस्थिति के परिणाम भी विचित्र थे। विषमज्वर (Malaria) चिकित्सा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सत्रहवीं शताब्दी में अमेरिका से लौटे हुए यात्रियों ने बताया कि सिनकोना की छाल (Cinchona bark) मलेरिया के लिए अमोघ औषध है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत से निवृत्त हुए एक डॉक्टर ने कहा कि विषमज्वर के लिए कैलोमेल (Calomel) एक अव्यर्थ औषध है। यह जानकर वाचकों को विस्मय होगा कि सन् १८४७ ई० तक कम्पनी सरकार के राज्य में कलकत्ता की हॉस्पिटल में विषमज्वर की चिकित्सा में कैलोमेल का छूट से उपयोग होता था। परिणाम की कल्पना की जा सकती है! अन्ततः क्वीनाईन का आविष्कार हुआ और अनेकों का विरोध होते हुए भी उसका उपयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

१—देखिये **'काश्यप संहिता'** का उपोद्घात पृ० १९१।

२—देखिये **चक्रपाणि** के मननीय शब्द—'तत्र ग्रहणीरोगनिर्दिष्टाग्नि-दोषे वक्तव्ये **प्रकृतिज्ञानानन्तरीयत्वाद् विकृतिज्ञानस्य** प्रथम तावदविकृतस्याग्ने रूपमाह' (च. चि. अ. १५)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

औषध चिकित्साशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, परन्तु औषध देने में ही चिकित्सा की सम्पूर्णता नहीं है। अन्य विषयों पर भी लक्ष्य करना आवश्यक होता है[1]। शारीरशास्त्र तथा संप्राप्तिविज्ञान (Pathology) के घोर अज्ञान के वातावरण में ऐसा चिकित्साशास्त्र रचने के प्रयास शुरू हुए जिसका स्वरूप निश्चित हो तथा जो प्रत्यक्ष, अनुमान, अनुभव तथा युक्ति की भित्ति पर खड़ा (Rational System of Therapeutics) हो। इसके परिणामस्वरूप १९ वीं सदी में यूरोप में जो परिस्थिति उत्पन्न हुई उसका इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है।

अठारहवीं शताब्दी से आजकल ॲलॉपॅथी (Allopathy) के नाम से प्रसिद्ध चिकित्सापद्धति का प्रचार बढ़ा। आजकल डाक्टर लोग इस नाम से चिढ़ते हैं। कारण, इसमें जो दोष विद्यमान थे वे प्रकाश में आ गये हैं। ॲलॉपॅथी का मुख्य ध्येय रोग के लक्षणों को जैसे बने दबा देना था। जैसे—ज्वर आया तो दो स्वेदल (Diaphoretic) औषध, अतिसार हुआ तो दो ग्राही (Astringent) औषध इत्यादि। और इस ध्येय की पूर्ति के लिये जोंक, सिरावेध, वमन, विरेचन प्रभृति का पुष्कल व्यवहार होता था। केवल फ्रांस में १८२७ ई० में तीन करोड़ बीस लाख जोंकों का उपयोग हुआ था। प्रवाहिका (Dysentery) तथा विषम ज्वर की चिकित्सा में कॉलोमेल की बीस ग्रेन जितनी बड़ी मात्रा दी जाती थी। फल यह होता था कि प्रायः केसों में रोगी सर्वथा अशक्त और निःसंज्ञ होकर परम-धाम को सिधार जाता था। आज भी डॉक्टरों में कितने ही इस परंपरा को चालू रखे हुए हैं।

इस लक्षणप्रत्यनीक चिकित्सापद्धति (Symptomatic treatment) के सामने **होमियोपैथी** ने सिर उठाया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हेन्मेन (Hahnemann) ने प्रतिपादन किया कि औषधों की परीक्षा प्रथम स्वस्थ पुरुषों पर होनी चाहिए और पीछे उनका प्रयोग रोगियों पर होना चाहिए। यह विचार उत्तम था और है। परन्तु उसने दो अन्य सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये जो विवादास्पद हैं—(१) स्वस्थ पुरुष को अमुक औषध देने से जो चिह्न दृष्टिगोचर हों उन्हीं चिह्नोंवाला रोग उस औषध के देने से मिट जाता है[2]। (२) औषध को क्रमशः घोटते-घोटते उसकी मात्रा का प्रमाण अल्पतर वा अल्पतम बनाने से उसकी रोगनिवारणशक्ति क्रमशः अधिकतर वा अधिकतम हो जाती है[3]। ये दोनों

१—देखिये भगवान् चरक के शब्द—'इह खलु व्याधीनां × × × अनन्तरं दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार-सार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वयसां मानम्' (च. वि. अ १)।

२—Like cures like.

३—The actions of drugs are potentiated by dilution.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिद्धान्त अॅलॉपॅथी के सिद्धान्त से भिन्न हैं और इतने अंश में हॉमियोपॅथी का द्रव्यगुणविज्ञान भिन्न मार्ग का अनुसरण करता है। जब हॉमियोपॅथी की दवाओं से भी रोगी अच्छे होने लगे तब लोगों को ख्याल आया कि द्रव्यगुणविज्ञान के सिद्धान्तों में भी मतभेद को स्थान है एवं अॅलॉपॅथी में भी कुछ दोष हैं। अस्तु।

हॉमियोपॅथी के उपासकों ने औषधद्रव्यों की इतनी अल्पतम मात्रा देनी शुरू की कि साधारण मनुष्यों को वह हास्यास्पद लगने लगी। परन्तु उस काल में हॉमियोपॅथी अॅलॉपॅथी की अपेक्षा कम हानि करती थी। कारण, अत्यन्त अल्प मात्रा में औषध देकर हॉमियोपॅथी शरीर की स्वाभाविक संरक्षणशक्ति को रोग का सामना करने का अवसर देती थी। उधर उस काल की अॅलॉपॅथिक-पद्धति रोग के लक्षणों को एकदम दबाने का प्रयास करके, रोग रोगी को मारे, उसके पूर्व ही उसे यमसदन को पहुंचाती थी!

तथापि, आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र (Modern Therapeutics) उपर्युक्त दोनों चिकित्सापद्धतियों का ऋणी है। अॅलॉपॅथी में व्यवहृत होनेवाले कितनेक द्रव्य आज व्यवहार में आते हैं, जब कि हॉमियोपॅथी द्वारा इसे शरीर की अद्भुत संरक्षणशक्ति का ज्ञान हुआ है। रोग का आक्रमण होने के पश्चात् शरीर स्वतः स्वाभाविक रीति से रोगमुक्त होने का यत्न करता है, अतः उसे इस प्रयास में जितनी सहायता दी जा सके, उतनी ही चिकित्साशास्त्र की सफलता है[1]।

हॉमियोपॅथी के युग में साथ में जीवनरसायनशास्त्र (Biochemistry) का भी प्रादुर्भाव हुआ। शरीर में अमुक-अमुक द्रव्यों की कमी के कारण रोग होते हैं और ये द्रव्य प्रदान करने से रोग निर्मूल हो जाता है, इस मत पर यह आश्रित है। इसका औषधसंग्रह स्वल्प है। सहस्रों व्याधियों का बहुत थोड़े द्रव्यों की सहायता से प्रतीकार करने की यह चेष्टा कर रहा है। यह अॅलॉपॅथी की अपेक्षा हॉमियोपॅथी के अधिक निकट है।

इसके अनन्तर जानी औषधों से उद्विग्न रोगियों को आश्वासन देने को अस्थ्युपचारशास्त्र (Osteopathy) का आगमन हुआ। अस्थियों के स्थानभ्रंश (Dislocation) किंवा आघात के कारण रोग उत्पन्न होते हैं और अस्थियों का उपचार करने से शान्त हो जाते हैं, यह माननेवाले चिकित्सकों का भी एक वर्ग खड़ा हुआ, जो आज भी विलायत में खानगी रूप में अपना धंधा चला रहा है।

इसके बाद इन सब पद्धतियों को एक ओर रखकर केवल प्राकृतिक उपयों का अवलम्बन करनेवाली **निसर्गोपचारपद्धति** (Naturopathy) का जन्म हुआ।

१--यह स्थापना अॅलॉपॅथी से स्पष्टतः विपरीत है। लक्षणों को दबाने से रोग नष्ट नहीं होता। उसका कारण दूर करने से ही रोग का नाश होता है। रोग को नष्ट करने के लिये सम्पूर्ण शरीर यत्न करता है, यह उसका स्वभाव है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकृति के नियमों का पालन करने से--सादा आहार अथवा उसमें योग्य परिवर्तन, लङ्घन, वस्ति, संवाहन, सूर्यस्नान आदि प्राकृतिक उपायों से ही रोग मिट जाते हैं, तथा चिकित्सापद्धति में औषध को स्थान नहीं है, यह इस शास्त्र का मन्तव्य है।

परन्तु ये सब पद्धतियाँ शारीरिक उपचारों की ओर ध्यान देती थीं। इन सबसे विरुद्धगामिनी एक नवीन चिकित्सापद्धति अस्तित्व में आई, जिसे **मानसोपचारपद्धति** (Psychotherapy) कहा जाता है। कितनेक मानसिक रोगों से पीडित रोगियों के लिये यह पद्धति वररूप सिद्ध हुई। आज वह अनेक रोगों के शान्त करने का दावा कर रही है। अल्पकाल में इसके तुल्यरूप एक अन्य उपचार पद्धति का भी आविष्कार हुआ, जिसे **प्रार्थनोपचारपद्धति** (Christian Science Faith healing) कहते हैं। रोगों को मिटाने के लिये मन को दृढ़ बनाना, आस्थासहित ईश्वरप्रार्थना करना, ईश्वरपर श्रद्धा रखना, इत्यादि इसके उपदेश हैं। यह पद्धति भी अभी चालू है।

यहाँ समस्त चिकित्साशास्त्रों की नामावली नहीं दी है, किन्तु मनुष्य जाति ने अपने को रोग के आक्रमण से बचाने के लिये कैसे-कैसे उद्यम किये हैं इसका संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र कराया है। किसी को भी चढ़ाने का या किसी को उतारने का मेरा इरादा नहीं है। कारण, सत्य एक है, परन्तु, सत्य के रूप अनेक हैं; जैसे विराट पुरुष एक होते हुए भी उसके हजार सिर, हजार आंख और हजार पैर है[1]।

चिकित्सा के प्रदेश में इस प्रकार नाना मत होने से सब कोई परस्पर के दोष देखने तथा एक पक्ष लेकर विवाद करने में मग्न हैं। परन्तु इस प्रकार के विवाद के परिणामस्वरूप कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं होता, न सत्य की ही उपलब्धि होती है। विवादप्रिय जनों को मैं भगवान **पुनर्वसु** के शब्द[2] तथा आज से हजारों वर्ष पूर्व उच्चरित **ईशोपनिषद** के पवित्र शब्दों की[3] याद दिलाता हूँ।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ से एक नवीन चिकित्सापद्धति का आविर्भाव हुआ जो अपने को वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति कहलाती है। सामान्य जन तो इसे ॲलॉपैथी का नवीन संस्करण ही समझते हैं, यद्यपि इस नवीन चिकित्सापद्धति ने उन्नीसवीं

१--देखिये **पुरुषसूक्त**, "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।" इत्यादि।

२--"तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः।
मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात्॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम्।
नाविधूततमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते॥ --च. सू. अ. २६

३--"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" --ई. उ. १६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शतीकी ॲलॉपॅथीके कितने ही मन्तव्यों को तिलांजलि दे दी है। आजकल इस पद्धति का प्रचार सबसे अधिक है।

विभिन्न चिकित्साशास्त्रों के विवाद के परिणामस्वरूप जो अनवस्था उत्पन्न हुई हैं उससे उद्धार पानेके लिए वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति ने नवीन मार्ग स्वीकार किया है और वह है प्रत्येक औषध के गुण-धर्म दीर्घ अवलोकन तथा प्रयोग करने के पश्चात् निर्णय करने का। चिकित्सा के अन्य अङ्गों में भी यह पद्धति अन्य चिकित्सापद्धतियों की ऋणी है। स्वस्थ तथा रुग्ण प्राणियों एवं पुरुषों पर परीक्षण करने के पश्चात् ही औषधों को चिकित्सार्थ स्वीकार करना—इस नियम का इसने दृढ़तापूर्वक पालन करना शुरू किया है। वाचकों को यह न समझना चाहिए कि यह मार्ग सुगम है। कारण प्राणियों पर किये हुए परीक्षण सदा ही मार्गदर्शक सिद्ध नहीं होते। प्रत्येक प्राणी में रोग का प्रतिकार करने की शक्ति भिन्न-भिन्न प्रमाण में होती है, एवं एक ही औषधद्रव्यों की क्रिया भिन्न-भिन्न प्राणियों पर भिन्न-भिन्न होती है। इस कारण प्राणियों पर किये हुए प्रयोगों के परिणाम अक्षरशः मनुष्योंपर घटित नहीं हो सकते, यह मर्यादा स्वीकारनी पड़ी है। यही स्थिति मनुष्योंपर किये गये परीक्षणोंकी भी जाननी चाहिए। परन्तु सब मिलकर इस प्रयोगात्मक पद्धतिने अबतक हानिकी अपेक्षा लाभ ही अधिक प्रमाण में किया है।

यह चिकित्सापद्धति अस्तित्व में आने के अन्य भी कई ऐतिहासिक कारण हैं। गत सौ वर्षों में विज्ञान की प्रगति अति वेगवती हो गई है। इसकी विभिन्न शाखाओं ने इतने अधिक नवीन मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं कि अबसे पूर्वकी चिकित्सापद्धतियों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके चौखटे में इनका समावेश नहीं हो सका। परिणाम-तया इस पद्धति का जन्म हुआ। यह किसी एक प्रजा या देश की नहीं है। यह संसारके विभिन्न देशों मे कार्य करनेवाले विज्ञानके विविध क्षेत्रों में संचरण करने वाले शोधकों के सामान्य विचार प्रस्तुत करती है। यह बात साधारण वाचक की समझ में न आयेगी, इस कारण इस दृष्टिबिन्दु की व्याख्या करनेवाली कुछ बातों का उल्लेख करता हूँ। आशा रखता हूँ कि भगवान् पुनर्वसु के शब्द ध्यान में रखते हुए वाचक निष्पक्ष होकर अनुमान कर लेंगे।

(१) शरीरव्यापारशास्त्र(Physiology)ने बतलाया कि मनुष्य के शरीरमें, सामान्य दशा में, दो प्रकार की सत्ता चल रही है। मस्तिष्क तथा ज्ञान-तन्तुओं के हाथमें (Nervous Control) जितनी सत्ता है उतनी ही सत्ता शरीरमें संचार करते तथा प्रतिदिन तैयार होते रासायनिक पदार्थों (Chemical Control) के हाथमें है। इनमें भी कतिपय नलिकाहीन ग्रन्थियों (Ductless Glands) द्वारा निर्मित अन्तःस्रावों के नामसे प्रसिद्ध (Hormones) द्रव्य विशेष करके उल्लेखनीय हैं। इन पदार्थों की क्रिया केवल शारीरिक व्यापारोंपर नहीं किंतु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मानसिक व्यापारों पर भी होती है। अन्य शब्दों में कहें तो शरीर में नाडीतन्त्र (Nervous System) के साथ रहकर कार्य करता हुआ एक अन्य भी रासायनिक तन्त्र विद्यमान है, जो उसके व्यापारों के नियमन में भाग लेता है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने वातादि दोषोंका मन किंवा मानसिक व्यापारों के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित किया है, यह बात तुलनात्मक दृष्टि से महत्व की है[१]।

(२) **विकृतिविज्ञान अथवा संप्राप्तिशास्त्र** (Pathology) की देन इससे भी अधिक महत्व की है। गत शताब्दी में **आशुमृतकपरीक्षा** (Postmortem examination) द्वारा रोगों के कारण शरीर मे उत्पन्न हुए परिवर्तनों का अवलोकन किया जाता था। परन्तु पीछे से विदित हुआ कि मृत्यु होते ही शरीर के प्रत्येक कोष (Cell) में इतने अधिक परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं कि यह निर्णय करना दुष्कर होता है कि रोगजन्य परिवर्तन कौनसे हैं तथा मृत्युजन्य परिवर्तन कौनसे हैं? अतः जीवित शरीर में होनेवाले विकृतिजन्य विकारों का अवलोकन करना अधिक लाभप्रद है। इस उद्देश्य से नवीन यन्त्रों और नवीन पद्धतियों का अन्वेषण होने लगा। इस शास्त्र की एक शाखा के रूप में **जन्तुशास्त्र** (Bacteriology) भी खूब पल्लवित हुआ। इसकी गवेषणाओं से सिद्ध हुआ कि इन जन्तुओं में से कितनेक की प्रवृत्तियों के परिणामरूप मनुष्यों, प्राणियों एवं वनस्पतियों में व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। तथा, इन रोगोत्पादक जन्तुओं से शरीर का रक्षण किया जाय, तो इनसे उत्पन्न होनेवाले व्याधियों के आक्रमण से बचा जा सकता है। इन विचारों के फलस्वरूप अनेक निज समझे जानेवाले रोग आगन्तुक समझे जाने लगे। क्षय, विषमज्वर, विसूचिका, श्लीपद, स्नायुक, महाकुष्ठ आदि इसके उदाहरण हैं। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों को इस दिशा की झाँकी हुई थी, परन्तु सम्प्रति जैसे स्पष्ट विचार प्रचलित हैं वैसे उस काल में न थे। जन्तुशास्त्र की गवेषणाएँ कायचिकित्सकों से अधिक शल्यविदों (Surgeons) को उपयोगी हुई हैं, कारण, जन्तुओं की छूत के कारण होनेवाले उत्पात शान्त

१—नाड़ीतन्त्र के व्यापारों में प्राचीनोक्त वायु का समावेश होता है, जब कि रासायनिक तन्त्र के व्यापारों में प्राचीनों के पित्त और कफ का समावेश होता है। शरीर के प्रत्येक कोष में इन दोनों तन्त्रों की क्रियाएँ दृष्टिगत होती हैं। प्राचीनों की परिभाषा में, प्रत्येक कोष में याने प्रत्येक अतीन्द्रिय और अति सूक्ष्म शरीरावयव में वात, पित्त तथा कफ की क्रियाएँ दीख पड़ती हैं (देखिये—"शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च" (च. शा. अ. ७)। वायु के व्यापार याने ज्ञानतन्तुओं के व्यापार, तथा पित्त और कफ के व्यापार अर्थात् कोषों में प्रवर्तमान भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन—इन दोनों तन्त्रों में नाड़ीतन्त्र का अधिक महत्त्व माना जाता है। प्राचीन आचार्य भी यही मानते होंगे-यह 'पित्तं पंगुः कफः पंगुः' इस प्रसिद्ध पंद्य से विदित होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हो गये तथा व्रणशोथ, विसर्प, विद्रधि (Abscess), अश्मरी और अन्त्रवृद्धि का भय दूर हो गया। प्लेग, कॉलरा, चेचक सरीखे छुतहे (संक्रामक) रोगों का आतङ्क भी अब कम होता जाता है। इन गवेषणाओं का प्रभाव चिकित्साशास्त्र पर भी हुआ है। कण्ठरोहिणी (Diphtheria), धनुर्वात (Tetanus) आदि रोगों की चिकित्सा में विषनाशक किंवा जन्तुनाशक रक्तजलों (Antitoxic or Antibacterial Sera) का पुष्कल उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार जन्तुओं में से बनाई गयी लसीकाओं (Vaccines) का भी उपयोग होता है। इस चिकित्सा के अनेक मूलभूत सिद्धान्तों में कई दोष भी जानने में आये हैं। जन्तुशास्त्र की शोधों के कारण उत्साहाविष्ट लोगों ने रोगोत्पादन में जन्तुओं को उचित से अधिक महत्त्व दे दिया और इनका संहार करने से ही संपूर्ण रोग निर्मूल हो जायेंगे यह मान लिया। इसके पीछे विदित हुआ कि चेतन शरीर में रोगों का प्रतीकार करने की शक्ति (Immunity) स्वभाव से ही रहती है और यदि यह शक्ति टिकाये रखने का प्रयत्न किया जाय, तो जन्तुओं से डरने की आवश्यकता नहीं है। बीज और क्षेत्र में किसकी देखभाल अधिक करनी चाहिए—यह पुरातन प्रश्न है। वैज्ञानिक जगत् एक बार पुनः मानने लगा है कि क्षेत्र की देखभाल अधिक महत्त्व की है[१]।

जन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने से, उनके संपूर्ण जीवनव्यापार सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) की सहायता से भी नहीं देखे जा सकते। परन्तु अब यह त्रुटि भी दूर हो गयी है। हाल ही में आविष्कृत वैद्युत सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Electron Microscope) की सहायता से अब यह सूक्ष्मतम वस्तु भी दर्शनसुलभ हो गयी है। कारण, यह यन्त्र सूक्ष्म वस्तु को एक लाखगुनी बड़ी करके दिखाता है। इस यन्त्र द्वारा जन्तुओं के विष (Toxin) तथा उसके प्रतिविष (Antitoxin) के मध्य शरीर में होनेवाले व्यापार प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं। आशय यह कि पहले के अनुमानगोचर व्यापार अब प्रत्यक्षगोचर किये जा सकते हैं, एवं इतने अंश में चिकित्साशास्त्रकी नींव अधिक दृढ़ हो गयी है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने शरीर के—क्षेत्रको—अधिक महत्त्व देकर जन्तुओं को गौण स्थान दिया था—इस मत का जो कि आज समर्थन होता है, परन्तु जान्तव सृष्टि की विस्तृत जानकारी आधुनिक वाङ्मय अतिविशाल प्रमाण में प्रस्तुत करता है। उनका एक अन्य सिद्धान्त भी आज स्वीकृत हुआ है और वह है रोग और मनुष्य की प्रकृति के बीच का सम्बन्ध। प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति समान नहीं होती। अमुक प्रकृतिवाले को अमुक रोग होने की संभावना विशेषतः होती है। यह नियम शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के

१—देखिये, Osler's Principles And Practice of Medicine. P.190.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोगों की उत्पत्तिपर समान रूप से लागू होता है। रोग का आक्रमण होनेपर शरीर का एक भाग नहीं किन्तु समग्र शरीर रुग्ण होता है और इस रोग के सामने सारा शरीर युद्ध करता है। अतएव चिकित्साविधि में मनुष्य के केवल विकृति या विकृत होते हुए शारीरिक भाग की नहीं परन्तु एक व्यक्ति (Personality) की चिकित्सा करना उचित होता है। व्यक्ति से पुरुष की शारीरिक तथा मानसिक उभयविध बलसंपत्ति का ग्रहण है। आयुर्वेद का प्रत्येक अभ्यासी इन सिद्धातों में प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों की ही पुनःस्थापना समझे तो कोई विस्मय की बात नहीं[1]।

(६) रसायनविद्या ने चेतन शरीर के प्रत्येक पदार्थ का रासायनिक दृष्टि से अन्वेषण (विश्लेषण) किया और प्रतिपादन किया कि जिन मूल तत्त्वों (Elements) से यह स्थूल संसार बना है, उन्हीं से यह चेतन शरीर भी बना है। परन्तु चेतन शरीर में जो कितनेक नवीन यौगिक पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, उन्हें प्रयोगशाला में कृत्रिम रीति से भी बनाया जा सकता है और जीवित शरीर को प्रदान किया जा सकता है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों की परिभाषा में कहना हो तो जिन पञ्च-महाभूतों से यह विश्व बना है, उन्हींसे यह मानवदेह बना है और इसमें विद्यमान पदार्थों के तुल्य पदार्थ बाहर से देने से उनकी कमी पूर्ण की जा सकती है[2]।

आहार की रासायनिक दृष्टि से मीमांसा होने पर आहारशास्त्र (Dietetics) अस्तित्व में आया। शरीर को अपेक्षित खाद्य पदार्थों तथा उनमें विद्यमान प्रजीवनक द्रव्यों की गवेषणा महत्त्वपूर्ण है। अनुभव के आधारपर उपयोगी सिद्ध हुए आहार-विषयक सिद्धान्तों को इस प्रकार रसायनशास्त्र से पुष्टि मिली है,इतना ही नहीं किन्तु इन प्रजीवनक द्रव्यों में से कई एक,वनस्पतियोंको हाथ लगाये बिना,कृत्रिम प्रकार से प्रयोगशाला में निर्मित होकर चिकित्साशास्त्र की सेवा में उपस्थित हो गये हैं। अब

१—A human being does not exist as rarefied mind united with a solid body. He is an organism all of Whose subsidiary functions contribute to this highest function—his mind which brings him not only consciousness, but also an integrated behaviour in relation to his surroundings. A Text Book of the practice of Medicine, By Price. P. 1805.

२—उदाहरणतया नलिकाहीन ग्रन्थियों के स्राव (Hormones) तथा प्रजीवनक द्रव्यों (Vitamins) में से कई एक प्रयोगशाला में बनाकर शरीर को प्रदान करने से शारीरिक स्वास्थ्य पुनः प्राप्त किया जा सकता है। देखिये इस विषय के प्रतिपादक भगवान् चरक के शब्द—"एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्ययाद्ह्रासः" (च. शा. अ. ६)। तथा—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु।" (च. सू. अ. १)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आहार तथा रोगों का सम्बन्ध अधिक प्रमाण में समझ में आता जाता है और बड़े हॉस्पिटलों में आहारशास्त्री की नियुक्ति आवश्यक मानी जाती है।

प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने औषध द्रव्यों और आहार द्रव्यों का विचार एक ही साथ किया है। आज तो सुज्ञ या अज्ञ रोगी भी वैद्य से मिलते ही पथ्य की--क्या खाना और क्या न खाना, इस विषय की प्रश्नावली उपस्थित करता है। उधर, नव्य या वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र जन्तुओं का आमूल विनाश करने की कोरी कल्पना छोड़कर मानवदेह को समुचित आहारद्वारा, योग्य प्रजीवनक द्रव्यों के सेवन द्वारा अधिक शक्तिसम्पन्न बनाकर संक्रामक रोगों से टक्कर लेने का विचार कर रहा है[१]।

परन्तु रसायनविद्याने अधिक मूल्यवान् भाग तो चिकित्सा के क्षेत्र में प्रदान किया है। संमोहन (Anaesthetics) तथा जन्तुनाशक (Antiseptics) द्रव्यों के आविष्कार ने शल्यविद्या तथा चिकित्साशास्त्र को सहायता दी है। शरीर का एक भी अवयव अब शल्यविदों के लिए दुष्प्राप्य या दुर्भेद्य नहीं रहा है। मस्तिष्क और हृदयपर भी शल्यशास्त्र अपना प्रभाव बढ़ाता जा रहा है। अब तो काय-चिकित्सा में भी रसायनशास्त्री मुख्य भाग लेने लग गये हैं--और वह है प्रयोगशाला में निर्मित रासायनिक द्रव्यों द्वारा जन्तुजन्य व्याधियों के नाश करने का कार्य (इस विषय का अधिक विवेचन आगे आयेगा)। धातुओं (Metals) का उपयोग पश्चिम में बहुत देर से शुरू हुआ। ये धातुएँ अब अर्धद्रव स्वरूप में (Colloidal state) चिकित्सा में प्रयुक्त होने लगी हैं।

वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति की धारा ऐसे छोटे-छोटे स्रोतों के मिलने से बनी है। इस कारण इसमें कुछ वैविध्य भी आया है। परन्तु विस्मयजनक बात यह है कि इस पद्धति के सिद्धान्त आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति से अधिक-से-अधिक प्रमाण में सैद्धान्तिक दृष्टि से मिलते हैं। इसी कारण कई लोग कहते हैं कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति, इतिहास का विचार करें तो, आयुर्वेदिक पद्धति का पुनरवतार है। यह स्थापना अत्यन्त विवादास्पद है। इसका निर्णय मैं विद्वान् तथा मननशील वाचकों पर छोड़ता हूँ।

१--Preventive medicine hitherto has concerned itself chiefly with the prevention of the spread of organisms, but now it appears probable that much may be done by correct dieting to raise the resistance of populations.—रोगनिरोधक चिकित्सा का प्रधान अंग अब तक जन्तुओं के प्रसार को रोकना है। परन्तु अब यह सम्भव प्रतीत होता है कि उचित आहारद्वारा जनता की रोगनिवारण शक्ति को उत्कृष्ट बनाकर भी बहुत इष्टसिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्य तथा उनके गुण-धर्म---

अभ्यास की सरलता के लिए द्रव्यों (Substances) के तीन भेद किये गये हैं—**औषधद्रव्य** (Drugs) **आहारद्रव्य** (Food) तथा **विषद्रव्य** (Poisons)। विज्ञान की इन तीनों द्रव्यसमूहों का वर्णन करनेवाली शाखाएँ क्रमशः **फार्मेकॉलॉजी** (Pharmacology—old term—Materia Medica प्राचीन संज्ञा—मैटिरिया मेडिका), **डायाटेटिक्स** (Dietetics) तथा **टॉक्सिकॉलॉजी** (Toxicology) नाम से प्रख्यात हैं। परन्तु कितनेक द्रव्य ऐसे हैं जिन्हें औषध कहा जाय या विष, इसका निर्णय दुष्कर होता है। सो, वाचकों को ये तीन विभाग सापेक्ष (Relative) समझने चाहिये। जैसे मधु, मद्य, द्राक्षा, दूध आदि द्रव्य आहारद्रव्यों एवं औषधद्रव्यों के अन्तर्गत हैं। यही कठिनाई औषध और विषद्रव्यों के भेद करने में होती है। कारण, कई औषध मात्रा और काल का विवेक न करके दिये जानेपर रोगी में विष के लक्षण उत्पन्न करते हैं। उधर, कई एक विष युक्तियुक्त सेवन से अल्पमात्रा में औषधरूप सिद्ध हुए हैं[1]। जैसे पारद के योग जमालगोटा, एरण्ड आदि अविवेक से दिये जानेपर हानि करते हैं जब कि अफीम, धतूरा या सर्पविष युक्तिपूर्वक प्रयोग से अमूल्य औषधरूप होते हैं[2]।

परन्तु इस ग्रन्थ का मुख्य विषय औषधद्रव्य होने से हम इन्हीं की मीमांसा करेंगे। आयुर्वेदाचार्यों ने द्रव्य का संघटन पाञ्चभौतिक माना है तथा गुण और कर्म द्रव्याश्रित माने हैं। अब इस सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञानवादियों का मत देखते हैं। इसके मतानुसार द्रव्यों का संघटन विद्युच्छक्तिमय (Electrical) है। यह दृश्य जगत् ९२ मूल तत्त्वों (Elements) का बना हुआ है। प्रत्येक मूलतत्त्व का संघटन तथा गुणधर्म भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु ये मूलतत्त्व भी अणुओं (Molecules) तथा परमाणुओं (Atoms) की लीला मात्र हैं। आशय यह है कि परमाणु मिलकर अणु बनते हैं और अणु मिलकर मूलतत्त्व बनते हैं। एवं ९२ मूलतत्त्वों के विविध संयोगों के परिणामस्वरूप अनेक यौगिक पदार्थ (Com-

---

१—तुलनार्थ देखिये—"योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम्॥" (च. सू. अ. १।१२६)। तथा—"अन्नं हि प्राणिनां प्राणास्तदयुक्त्या निहन्त्यसून्। विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्॥"

२—It is indeed impossible to distinguish between drugs and poisons. Most remedies given in excess cause toxic symptoms; while many poisons are valuable remedies in small doses, Pharmacology and Therapeutics, by Cushny.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

pound Substances) प्रादुर्भूत होते हैं। अन्य शब्दों में कहें तो यह विश्व परमाणुओं का बना है। पदार्थों का संघटन परमाणुमय है, यह मन्तव्य अति प्राचीन है। प्राचीन वैशेषिकों तथा ग्रीक तत्त्ववेत्ताओं का भी यही अभिप्राय था। परन्तु आधुनिक परमाणुवाद इन प्राचीन मतों से भिन्न है। परमाणु भी विभाज्य घटक है—उसकी परीक्षा करने से उसमें प्रॉटोन, इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन आदि विद्युद्वाही कण रहे हुए मालूम पड़ते हैं। इससे अधिक विस्तार जानने के लिए पदार्थविज्ञान के आकरग्रन्थ देखने चाहिए[1]। प्रत्येक रसायनव्यापार में (Chemical Process) परमाणु भाग लेते हैं। प्रत्येक मूलतत्त्व के परमाणुओं में विशिष्ट गुण-धर्म होते हैं। कारण, इनका भार तथा इनकी आन्तरिक रचना भिन्न होती है। इसी प्रकार मूलतत्त्वों के मिलने से यौगिक पदार्थ बनते हैं और उन्हें नवीन गुण-धर्म भी प्राप्त होते हैं। भूतानुप्रवेश के कारण होनेवाले महाभूतों के गुणधर्मों में परिवर्तन का निर्देश प्राचीनों ने भी किया है। परन्तु प्राचीनों के महाभूत आधुनिकों के मूलतत्त्व नहीं हैं। दोनों की विचारश्रेणियों में मौलिक मतभेद है। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक विज्ञान के मतसे प्रत्येक पदार्थ के गुणधर्म में पार्थक्य का कारण उनका पृथक्-पृथक् परमाणुमय संघटन (Atomic Strucurte) है और इस संघटन से उनके भौतिक (Physical) तथा रासायनिक गुणों (Chemical Properties) का निर्णय होता है। इतना ही नहीं, मूल-तत्त्वों के अथवा किसी भी पदार्थ के आणविक संघटन में कृत्रिम रीतिसे— विद्युत्प्रवाह द्वारा या लोहचुम्बकद्वारा अथवा कोई प्राभाविक रासायनिक द्रव्य मिलाकर परिवर्तन किया जाय तो भी उनके गुणों में परिवर्तन हो जाता है। इसके विपरीत प्रयोगशाला में कृत्रिम साधनोंद्वारा अभीष्ट गुणोंवाले पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो मूलतत्त्वों को भी एक दूसरे के रूप में परिणत किया जा सकता है, यद्यपि व्यापारी पैमानेपर तो नहीं ही। इस प्रकार आजकल की प्रयोगशालाएँ नवीन पदार्थों के आविष्कार तथा प्राप्त पदार्थों के सूक्ष्म संघटन की शोध में तन्मयता से कार्य कर रही हैं।

१—**प्राचीन तथा अर्वाचीन परमाणुवाद**—प्राचीनकाल में परमाणु अखण्ड माने जाते थे। आजकल ये विभाज्य समझे जाते हैं। इनका संघटन विद्युन्मय है। परन्तु विद्युन्मय का अर्थ क्या ? इस प्रश्न का उत्तर कोई नहीं देता। इसके सिवाय परमाणु स्थिर नहीं किन्तु स्पन्दनशील हैं। विश्व में करोडों परमाणु प्रतिक्षण टूटते हैं और करोडों नये उत्पन्न होते हैं। अर्थात् कितने ही नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं और कितने ही नाश को प्राप्त करते हैं। द्रव्य (Matter) और शक्ति (Energy) का सम्बन्ध अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुआ है। प्राचीन काल में ग्रीस में तथा इस देश में जो परमाणुवाद था उसमें ग्रीस के विचारों का वैशेषिक दर्शन पर प्रभाव पड़ा है, प्रख्यात विद्वान् कीथ का यह मत प्रमाणभूत नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अब पुनः औषधद्रव्यों के विचार की ओर जाते हैं, जो इस ग्रंथ का प्रधान विषय है। आधुनिक द्रव्यगुणशास्त्र को भूतकाल के अनुभव से बड़ा लाभ हुआ है। एवं वर्तमान काल में बढ़ती हुई वाहनव्यवहार की सुविधा के कारण विभिन्न देशों में प्रयुक्त होनेवाले औषधों की इसे ठीक-ठीक सहायता मिलती जाती है। फलतः इसके द्रव्यभण्डार में विभिन्न प्रकार के द्रव्य दीख पड़ते हैं। इन द्रव्यों के मुख्यतः चार विभाग किये जा सकते हैं--**वनस्पतिजन्य, प्राणिजन्य, खनिज** तथा प्रयोगशाला में कृत्रिम विधि से निर्मित **रासायनिक द्रव्य** (Synthetic Drugs)। रासायनिक द्रव्य बनाने की प्रवृत्ति दिन-दिन बढ़ती जा रही है। यह कहने की शायद ही आवश्यकता होगी कि वानस्पतिक द्रव्यों की संख्या बड़ी है। उनके विषय में निम्नोक्त बातों पर खास लक्ष्य दिया जाता है।

(१) **गुणोत्पादक तत्त्व**--(Active Principles)--प्रायः औषधों में विशिष्ट रासायनिक संघटनवाले पदार्थ स्थित होते हैं। औषधों के गुण-धर्म प्रायशः इनके कारण होते हैं। ये तत्त्व औषध के विभिन्न अंगों में विद्यमान होते हैं। अतएव जिस अङ्ग में ये पदार्थ या तत्त्व मालूम पड़े उसी का चिकित्सार्थ उपयोग होता है; उदाहरणतया, मूल, पत्र, त्वक्, स्कन्ध, पुष्प, बीज आदि। इन तत्त्वों का अन्वेषण प्रयोगशाला में रासायनिक विश्लेषणद्वारा किया जाता है। ये विशिष्ट तत्त्व आल्केलॉइड्, ग्लुकोसाइड्स, रेजिन्स्, ऑलीयोरेजिन्स्, गम्स्, वोलेटाइल् ऑइल्स् आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। यहाँ यह स्वीकार करना चाहिये कि औषधद्रव्यों के संपूर्ण गुण-धर्म इससे स्पष्ट नहीं होते, परन्तु अधिकांश में समझ में आ जाते हैं[1]।

(१) **प्रशस्त भूमि** (Habitat) तथा **ग्रहणकाल** (Time for collection)। औषध किस भूमिपर उगा है तथा उसका किस काल में संचय किया गया है, इस बातपर औषध की शक्ति का बड़ा आधार है। जहाँ पर्याप्त पोषण न मिले ऐसे स्थलपर औषध उगा हो अथवा कुसमय में संचय किया गया हो, तो ऐसे औषध में उपर्युक्त तत्त्व यथेष्ट प्रमाण में नहीं होते। आजकल खास तैयार कराये गये खेतों में भिन्न-भिन्न प्रकार की खाद डालकर वनस्पतियों की खेती की जाती है और उनके अङ्गों में जब गुणोत्पादक तत्त्व अधिक से अधिक प्रमाण में हों ऐसे समय में ही उन्हें एकत्र किया जाता है[2]।

१--देखिये सु. सू. अ. ३९। इसमें भिन्न-भिन्न औषधीय कर्मों के लिए फल, मूल, त्वक्, आदि भिन्न-भिन्न अङ्ग लेने का उपदेश किया है। कारण, औषधों के उस-उस अङ्ग में खास-खास गुणोत्पादक तत्त्व विद्यमान होते हैं।

२--देखिये--सुश्रुत सू. अ. ३७। इस अध्याय में दिये गये निर्देशों का→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(३) वनस्पतियाँ ठीक-ठीक पहिचाननी चाहिए। एक वर्ग की (N. O.) अनेक वनस्पतियाँ होती हैं और एक ही वनस्पति की अनेक जातियाँ (Species) होती हैं। इन सब की खिचड़ी न होने पावे यह आवश्यक है। इसी प्रकार इनके संरक्षण पर भी ध्यान देना चाहिए। उचित से अधिक धूप, सील, कीड़े आदि के कारण औषध बिगड़ जाते हैं या निर्वीर्य हो जाते हैं[1]। प्राणिजन्य औषधों के लिए भी ऐसी ही सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा वे भी निर्वीर्य बन जाते हैं। खनिजों को सामान्यतः रासायनिक विधि से साफ करके क्षार, अम्ल आदि के रूप में उपयोग में लिया जाता है। संक्षेप में, रसायनशास्त्र और औषधों के निर्माण में गाढ़ सम्बन्ध है।

शरीर और औषध—

प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार वॉल्टेर (Voltaire) ने अपने काल के चिकित्सा-शास्त्र का उपहास करते हुए कहा है कि औषध, जिनके सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते, रोगी के शरीर में डालना, जिसके विषय में हमारा अज्ञान इससे भी अधिक है, इसका नाम है चिकित्सा या परिचर्या। आज भी यह पढ़कर हँसी आवे ऐसी स्थिति है; कारण, उक्त शब्द लिखे जाने के बाद शरीर और औषधों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत बढ़ गया है, परन्तु अज्ञात प्रदेश अब भी बहुत विशाल है।

जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे शरीर के व्यापार और भी जटिल मालूम होते जा रहे हैं, जब कि औषधों और शरीर के मध्य आघात-प्रतिघात चन्द्र-ग्रहण के सदृश पहले से ही हिसाब करके नहीं कहे जा सकते। कारण स्पष्ट है कि एक ओर मानवदेह और दूसरी ओर औषध ये दोनों परिवर्तनशील पदार्थ हैं। उदाहरणतया, प्रत्येक रोगी के बल, वय, जठराग्नि आदि भिन्न होते हैं जब कि औषधों की रोगनिग्राहक शक्ति के ऊपर भी स्थल, काल, संग्रहणकाल आदि का प्रभाव होता है[2]। अतः दोनों के संयुक्त होनेपर सर्वदा एक ही प्रकार के (निर्धारित) परिणामों की आशा नहीं की जा सकती। फलितार्थ यह कि शरीर न तो घड़ी है न एञ्जिन, किन्तु एक चेतन घड़ी या एञ्जिन है। इसी विचारपरम्परा के कारण केवल प्राणियोंपर परीक्षण करके प्राप्त किया अनुभव मनुष्य जाति के लिये

←—आजकल पालन नहीं होता और निर्वीर्य औषध ही व्यवहृत होते हैं, यह शोचनीय है।

१—देखिये—सुश्रुत सू. अ. ३७ तथा चरक क. अ. १।

२—देखिये—चरक क. अ. १ में 'नानाविधदेशकाल × × × नानाप्रभाव-त्वाच्च।' यह वाक्य तथा इसपर चक्रपाणि की टीका।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बहुत लाभदायक नहीं हो सकता। अलबत्ता, यह बात अन्वेषकों की दृष्टि के बाहर नहीं है। प्राचीन काल में औषधों का अनुभव मानवशरीरपर किये गये प्रयोगों से ही प्राप्त किया गया है। इस दृष्टि से हाल की विज्ञानशाखा--द्रव्यगुण-विज्ञानशाखा--प्राचीनों से भिन्न है। इसके सिवाय, कृत्रिम रोग और स्वयं उत्पन्न हुए रोग की चिकित्सा में भी भेद होता है। कारण, पहले दृष्टान्त में शरीर में प्राकृतिक बल होता है, जब कि दूसरे दृष्टान्त में वह इस बल से रहित होकर रोग का भोग हुआ प्रतीत होता है। अतः औषध की शक्ति का निर्णय करते हुए यह बात विचारने योग्य होती है। प्रयोगशालाओं में बहुधा प्राणियों में कृत्रिम प्रकार से रोग उत्पन्न करके औषधों के परीक्षण किये जाते हैं।

विज्ञानवादियों के मत से तथा प्रत्यक्षानुसार भी शरीर असंख्य सूक्ष्म कोषों-(Cells) का बना हुआ है। विभिन्न प्रकार के कोष शरीर में विभिन्न व्यापार करते हैं। औषधद्रव्यों की क्रिया इन कोषोंपर होती है। औषधों की क्रिया निम्न तीन में से एक प्रकार की हो सकती है। या तो औषध कोषों को उत्तेजित करता है (Stimulation), क्षुब्ध करता है (Irritation) अथवा अवसन्न करता है (Depression)। आशय यह कि कोषों का उत्तेजन, क्षोभण या अवसादन ये तीन ही औषधियों की क्रियाएँ हो सकती हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि औषधों के प्रभाव से कोष अपनी प्रवृत्ति न्यूनाधिक कर सकते हैं या विपथगामी भी कर सकते हैं, परन्तु उसे सर्वशः छोड़कर अन्य प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करने लगते हैं। जैसे, फुप्फुस के कोष रक्त को न्यून अथवा अधिक स्वच्छ करें अथवा न करें परन्तु वे रक्त के कण उत्पन्न करने का नया कार्य नहीं करने पाते। एवं आमाशय के कोष न्यून वा अधिक पाचन करें या उत्क्लेश (Nausea) उत्पन्न करें परन्तु वे रुधिर स्वच्छ करने का नवीन काम नहीं करने लगते। सच्ची चिकित्सा का आदर्श इन कोषों को प्राकृतिक अवस्था में लाकर उनसे प्राकृतिक कार्य कराना है। अर्थात् क्षुब्ध हुए कोषों के व्यापार का संशमन, उत्तेजित व्यापारों का अवसाद और अवसन्न व्यापारों की उत्तेजना चिकित्सा का ध्येय है। प्राचीनों ने धातुओं की—दोषों की साम्यावस्था लाने का उपदेश किया है; कारण उन्होंने शरीर के प्राकृतिक और वैकृतिक कार्यों का खुलासा त्रिदोषवाद के आधारपर किया है और इसकी नींवपर अपने निदान और चिकित्सा को प्रतिष्ठापित किया है।

औषधद्रव्यों का शरीर में प्रवेश, शोषण, प्रसर, संचय तथा निःसरण (Entry, absorption, distribution, concentration, and excretion of drugs)—

व्याधि दूर करने के लिए विविध उपयुक्त औषधों को शरीर में प्रविष्ट करने के हेतु आजकल अनेक मार्गों का उपयोग किया जाता है। इनका वर्णन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आगे होगा। परन्तु शरीर में प्रविष्ट होने के पश्चात् उनके गुण का—फल का आरम्भ होने में न्यूनाधिक समय लगता है। कारण, इस समय में द्रव्य विविध अवस्थाओं में से गुजरता है।—

(१) पिचकारीद्वारा सिरावेध करके रक्तप्रवाह में डाला हुआ द्राव्य (Soluble) औषध एक-दो मिनिट में ही सारे शरीर में फैल जाता है और शरीर के प्रत्येक कोष के संपर्क में आता है। हम जानते हैं कि केशवाहिनियों (Copillaries) की दीवालों से स्रुत लसीकाद्वारा धातुओं का पोषण होता है। वस्तुतः इस लसीकाद्वारा शारीरकोष वेष्टित या क्लिन्न (भीगे हुए) रहते हैं। जब औषध सारे शरीर में फैलता है तब वह इस लसीका के अन्दर भी व्याप्त हो जाता है। यहाँ भिन्न-भिन्न द्रव्यों की गति भिन्न-भिन्न होती है। (अ) कितनेक द्रव्य कोषों के बाहर की लसीका में ही रहते हैं, परन्तु कोषों के अन्दर घुस नहीं सकते। (ब) कितनेक द्रव्य कोषों के अन्दर एकदम प्रविष्ट हो जाते हैं और कोषों के चेतनरस (Protoplasm) पर अपनी क्रिया करते हैं। कोषों की दीवाल (Cellular wall) उनका मार्ग रोक नहीं सकती। अतः ये द्रव्य बहुत बलवान् माने जाते हैं, जैसे मद्य। (क) कितनेक द्रव्यों को शारीरिक कोष एकदम अपने अन्दर ग्रहण कर लेते हैं, जहाँ इनका कार्य तीव्रता से होता है अथवा सर्वथा बन्द हो जाता है। जैसे—यकृत् तथा मूत्रपिण्डों में कई बार द्रव्य एकत्र होते देखे जाते हैं, जो इनपर क्रिया करते हैं अथवा निष्क्रिय होकर बैठे रहते हैं।

परन्तु यह तो नवीन स्वीकृत किये हुए मार्गों की बात हुई[1]। सहस्रों वर्षों से चला आया मार्ग तो महास्रोत (Alimentary Canal) है। इससे भिन्न विविध मार्गों से प्रविष्ट हुए द्रव्य जठराग्नि की क्रिया से बच जाते हैं, जब कि मुखद्वारा प्रविष्ट हुए द्रव्य इससे बच नहीं सकते, यह बात मुख्यतः स्मरण रखने योग्य है।

(ख) मुखद्वारा प्रविष्ट हुए द्रव्यों में से बहुत थोड़े मुख के अन्दर लालास्राव के साथ मिलकर चूषित होते हैं, किन्तु अधिकांश द्रव्य आमाशय में जाते हैं। यदि खाली पेट पर्याप्त जल के साथ या अन्य द्रव के साथ औषध लिया जाय तो वह आमाशय में से शीघ्र ही निकलकर ग्रहणी में प्रविष्ट होता है और वहाँ से आगे जाता हुआ अन्त्रों की श्लेष्मकलाद्वारा चूसा जाता (Absorbed) है। इनमें से कई प्रतिहारिणी सिरा (Portal vein) द्वारा यकृत् में जाते हैं और कई रसायनियोंद्वारा

१—इसी प्रकार त्वचा में अथवा त्वचा के नीचे मांसपेशियों में पिचकारीद्वारा दिये गये द्रव्य न्यूनाधिक समय में शोषित होकर रुधिरप्रवाह में मिश्रित हो जाते हैं। जब महास्रोत दोषावृत हो जाता है अथवा शरीरपर तत्काल असर करने की आवश्यकता हो तब इन अन्य मार्गों का आश्रय लिया जाता है। इसके भी लाभालाभ हैं। **चरकोपदिष्ट अन्तः परिमार्जन** का यह एक प्रकार है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चूसे जाकर रुधिरप्रवाह में मिल जाते हैं। यकृत् में गये हुए द्रव्यों में से कई एक उसके सूक्ष्म कोषों में से गुजरने के बाद रुधिरप्रवाह में जा मिलते हैं। इसके विपरीत कई विषरूप द्रव्यों को एकत्र करके यकृत् निर्विष (Detoxication) बनाता है अथवा उन्हें रुधिरप्रवाह में जाने से रोकता है, भले ही ये द्रव्य खुद यकृत् को हानि पहुँचानेवाले हों। इस प्रकार सोमल, फॉस्फरस आदि पदार्थों का शरीर में प्रमाण बढ़ जानेपर यकृत् उन्हें अधिक हानि करने से रोकता है। रुधिरप्रवाह में प्रविष्ट होने के पश्चात् इनका प्रसार ऊपर कहे गये प्रकारों से होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुख में प्रविष्ट होने के बाद प्रथम मुख में से ही लाला स्राव (Saliva) की, पीछे से आमाशय में जठररस (Gastric juice) की, उससे आगे ग्रहणी में पित्तरस, अग्न्याशयरस तथा अन्त्ररस (Succus entericus) की भौतिक और रासायनिक क्रिया होती है। बाद को इसका शोषण होता है। यदि भरे हुए पेटपर, थोड़े पानी के साथ औषध लिया जाय तो यह आमाशय में से शीघ्र निकल नहीं सकता, उसके शोषण की तो बात ही क्या? यहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कतिपय द्रव्य (व्यवायी, विकासी या विशद) आमाशय में से बाहर ही बाहर चूसे जाकर यकृत् में से होकर सारे शरीर में फैल जाते हैं। इनपर पाकक्रिया पीछे से होती है। परन्तु अधिकांश द्रव्य पाकक्रिया के अनन्तर यकृत्द्वारा रुधिरप्रवाह में प्रविष्ट होते हैं।

आमाशय, क्षुद्रान्त्र या बृहदन्त्र में शोषण, वे खाली हों तब शीघ्र होता है, भरे हों तो धीमे-धीमे और कम होता है। एवं, द्राव्य द्रव्यों का शोषण तीव्रतासे, तथा अद्राव्य द्रव्यों का—धातुओं के अद्राव्य योगों का शोषण बहुत धीमें या अल्प प्रमाण में होता है। संक्षेप में, द्रव्यों का शोषण अन्नमार्ग की रिक्तावस्था तथा औषधों की द्रवणशीलता (Solubility) पर मुख्यतया आश्रित है[1]। परन्तु रोगी का

१—पाश्चात्य द्रव्यगुणवेत्ता द्रव्यों की द्राव्यता (Solubility) पर इतना अधिक भार देते हैं और उनका यह दृढ़ मत हो गया है कि इससे भिन्न किसी दशा में द्रव्य की क्रिया सम्भव नहीं। इस मन्तव्य के परिणामस्वरूप वे सुवर्ण और पारद जैसे अप्रतिम औषधों का यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकते। वास्तव में तो यह उनका पूर्वाग्रह (Prejudice) है और प्राचीन वैद्यों के मत का तथा अनुभव का निष्कारण और अवैज्ञानिक तिरस्कार है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो इनका अभिप्राय निराधार है। जैसे-सुवर्ण और पारद जैसे शक्तिशाली औषधों को द्रव्यरूप में शरीर में प्रविष्ट करने-पर यकृत्, मूत्रपिण्ड तथा अन्य अवयवों में तीव्र क्षोभ उत्पन्न होता है; परन्तु इन्हीं द्रव्यों के थोड़े परमाणु शरीर को लाभदायी होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इसी कारण इन धातुओं का उपयोग अद्राव्य (insoluble) रूप में किया है। पारद के असंख्य योगरस तथा सुवर्ण के योग अद्राव्य होते हुए भी शरीर को लाभ पहुँचाते हैं, यह अनुभव की प्रत्यक्षसिद्ध बात है। सुवर्ण या पारद के योग जब महास्रोत में से गुजरते हैं तो इनके कुछेक परमाणु रसमार्ग द्वारा शरीर में प्रविष्ट होते हैं और→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमाशय या अन्त्र रोग के आक्रमण के समय स्वस्थ नहीं होते। ऐसे समय जब कि महास्रोत के इन भागों में शोथ, व्रण या इनका तीव्र क्षोभ (Spasm) हो तब औषधोंपर रसों की क्रिया-विपाक तथा श्लेष्मकला द्वारा उनका शोषण दुष्कर हो जाता है। बहुतबार औषध वमन या मलद्वारा सहसा शरीर के बाहर निकल जाते हैं अथवा इन भागों की श्लेष्मकलापर हानिकारक क्रिया—विपरीत गुण करते हैं। उलटी रोकने के लिए दिया गया औषध पेट में नहीं टिकता और अपना गुण नहीं दिखाता, जब कि दस्त साफ लाने के लिए दिया गया विरेचन महास्रोतस में हुए विचित्र रसपाक के कारण अपना गुण नहीं दिखा सकता (प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों की परिभाषा में कहना हो तो ये क्रियाएँ विपाक के अन्तर्गत हैं, इसका विचार आगे होगा) इससे यह न समझना चाहिए कि औषध खाली पेट ही देना चाहिए। औषध विविध उद्देश्यों से भोजन के पूर्व, साथ या पीछे योग्य अनुपान से दिये जाते हैं। इसी प्रकार नेत्र, नासिका, बृहदन्त्र, गुदनलिका (Rectum), मूत्रनलिका तथा अपत्यपथद्वारा दिये गये औषधों का न्यूनाधिक प्रमाण में शोषण होता है और इनके स्थानिक (Local) तथा सार्वदैहिक कर्म (General action) न्यूनाधिक प्रमाण में व्यक्त होते हैं।

विभिन्न द्रव्यों का संचय और निःसरण भी न्यूनाधिक प्रमाण में होता है। कई द्रव्य यकृत् में, कई नाड़ीसंस्थान में तथा कई मूत्रपिण्डों में संचित होते हैं। इनमें कइयों का निर्विषीकरण (Detoxic action) होता है और कइयों का नहीं होता। अधिकांश द्रव्यों के रासायनिक संघटन में भी भेद आता है, परिणामतः नवीन द्रव्य बनते हैं (Synthesis)। द्रव्यों को शरीर के बाहर फेंक देने में यकृत् तथा मूत्रपिण्ड मुख्यतया भाग लेते हैं। मुखद्वारा सेवित द्रव्य यदि अद्राव्य हों तो इनका भाग शोषित हुए बिना गुदद्वार से निकल जाता है। शोषित भाग यकृत् में जाता है। वहाँ उसमें इनपर अन्य रासायनिक परिवर्तन होकर पुनः थोड़ा अंश पित्तनलिकाद्वारा ग्रहणी में और वहाँ से बाहर फेंका जाता है। रक्त में मिश्रित द्रव्य का कुछ अंश मूत्रद्वारा बाहर निकल जाता है। कई द्रव्य प्रश्वास के साथ वायुरूप में और कई स्तन्य या प्रस्वेद के साथ भी बाहर निकलते हैं। जैसे पानी, प्रवाह में आई वस्तु को बाहर धकेल देता है उसी प्रकार मनुष्यशरीर अर्थात्

←दूषित प्रदेशपर अपनी क्रिया करते हैं। इतने थोड़े परमाणु कैसे क्रिया करते हैं यह शङ्का निरवकाश है। कारण, एड्रीनालीन (Adrenaline) की अत्यन्त अल्प मात्रा —दश अरब बूँदों में केवल एक बूंद प्रभावशाली सिद्ध हो चुकी है, तो फिर संस्कारित सुवर्ण और पारद के दो-चार परमाणु क्या पर्याप्त नहीं होंगे? इस मतभेद के कारण डाक्टर लोग सुवर्ण, ताम्र, मोती, आदि का उपयोग आयुर्वेदज्ञों के समान नहीं कर सकते, यद्यपि उनके मत की पुष्टि में वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उसके कोष देह में प्रविष्ट होते हुए बाह्य पदार्थों को **शल्यरूप मानकर बाहर फेंक** देने का प्रयत्न करते हैं। केवल, द्रव्यों का जितना अंश शारीरिक कोषों के लिए हितावह हो उसे ही अपने चेतनरस में मिश्रित कर लेते हैं। यह कार्य **सात्मीकरण** कहाता है [भस्मों के निर्माण में जो भावना या पुट दिये जाते हैं उनका यही रहस्य है।] तो फिर विष की क्या गति होती है? कई द्रव्य शरीर में प्रविष्ट होकर कोषों के चेतनरस को मार डालते हैं और उनकी क्रियाओं को स्थगित कर देते हैं या नष्ट कर देते हैं। परन्तु सब विष प्रत्येक धातु को समान रूप से हानि नहीं करते। अफीम, धतूरा और ताम्र की क्रिया एक समान नहीं होती। यह अबतक 'शेष प्रश्न' है कि क्यों अमुक विष अमुक धातु को ही लक्ष्य बनाता है[1]। जो द्रव्य शरीर से बाहर निकल जाते हैं उनकी मात्रा बारबार देनी पड़ती है। परन्तु इससे भिन्न वर्ग के भी द्रव्य हैं जिनका निःसरण बहुत धीमे-धीमे होता है। ऐसे द्रव्यों की, विषमय क्रिया सञ्चित होनेपर, चिरकाल पश्चात् होती है; इनकी एक-दो मात्राओं की जरा भी खराब क्रिया नहीं होती। कई द्रव्यों का कार्य इनके लेने के बहुत काल पीछे मालूम होता है। कारण इनका शोषण तथा सात्मीकरण बहुत मन्द होता है (Delayed action)। कई द्रव्यों का प्रभाव सामूहिक रूप में होता है (Culminative action)। यदि ऐसा द्रव्य विष हो तो विष के लक्षण एक साथ प्रगट होते हैं, यद्यपि कुछ समय बाद।

औषध द्रव्यों की क्रिया--

अधिष्ठानभेद से द्रव्यों की क्रिया दो प्रकार की कही जा सकती है—**स्थानिक कार्य** (Local action) और **देहव्यापी कार्य** (General or systemic action)। शरीर के किसी प्रदेशपर औषध लगानेपर, औषध का शोषण होकर वह रुधिरप्रवाह में मिल जाय, उसके पूर्व ही जो क्रिया होती है, उसका नाम **स्थानिक कार्य** है। जैसे-क्षार आदि लगानेपर उस भागपर दाहक प्रभाव होता है। इससे विपरीत जब औषध का शोषण होकर वह सारे शरीरपर अमुक क्रिया करता है तो उसे **देहव्यापी कार्य** कहते हैं जैसे--पारा, कुचला आदि का देहव्यापी कार्य।

अनुबन्ध की दृष्टि से भी इसके दो भेद किये जा सकते हैं—**प्रत्यक्ष कार्य** (Direct action) तथा **परोक्ष कार्य** (Indirect or remote action)

१—अथवा, अमुक द्रव्य क्यों शरीर के अमुक संस्थान (System) पर क्रिया करते हैं यह भी 'शेष प्रश्न' है। यथा—मद्य की मस्तिष्कपर क्रिया, कुचले की सुषुम्नापर क्रिया, बङ्गभस्म की मूत्रपिण्डोंपर क्रिया, अफीम की श्वासकेन्द्र पर क्रिया इत्यादि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्य अपनी विशिष्ट शक्ति से अमुक अवयवोंपर विशिष्ट क्रिया करते हैं, यह उनकी **प्रत्यक्ष क्रिया** है। इसके साथ ही अन्य अवयवोंपर प्रतिक्रियाद्वारा (Reflex action) परोक्षरूप से कार्य करते हैं, यह उनका **परोक्ष कार्य** है। जैसे कई विष मस्तिष्कपर साक्षात् रूप से (सीधा) क्रिया करते हैं और असाक्षात् रूप से श्वासक्रिया, रुधिराभिसरण आदिपर क्रिया करते हैं। विकासी द्रव्य ये दोनों प्रकार के कार्य करते हैं। ओजोनिर्हरण इनका प्रत्यक्ष कार्य है, तथा स्नायुबन्धों की शिथिलता करना इनका गौण कार्य है। वामक, विरेचक द्रव्य भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष कार्य करते हैं।

द्रव्य किस प्रकार क्रिया करते हैं, इस विषय में विविध मत (General Theories of Pharmacological action)--

ऊपर मैं कह चुका हूँ कि द्रव्य शरीरपर जो क्रिया करते हैं वे प्रत्यक्षगम्य हैं। इस प्रत्यक्ष में मतभेद को स्थान नहीं है, परन्तु ये कैसे क्रिया करते हैं इस विषय में प्राचीन काल में मतभेद था और अब भी है। इनके विषय में ऐकमत्य न होने से विविध मतों का निर्देश करते हैं। सुश्रुत ने इस सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख कर अपना समाधान बताया है[1]।

(१) कई द्रव्य अपने भौतिक गुणों (Physical properties) के कारण शारीरिक कोषोंपर--शरीरपर प्रभाव करते हैं।

(२) कई द्रव्य अपने भौतिक एवं रासायनिक गुणोंद्वारा[2] शरीरपर प्रभाव करते हैं। परन्तु कई द्रव्य शरीरपर किस प्रकार क्रिया करते हैं, यह समझ में नहीं आता। हमारा यह अज्ञान तब ऐसा आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता, जब हम यह विचार करते हैं कि एक सादे-से-सादे कोष की रचना अधिकांश द्रव्यों का रासायनिक संघटन कैसा जटिल है? द्रव्य कोषों के चेतनरस रासायनिक संघटनपर क्रिया करते हैं और उसके साथ रासायनिक प्रकार से मिल जाते हैं, जिससे विविध औषधीय गुण दृष्टिगोचर होते हैं यह मानना भी निर्दोष नहीं है। कारण, भिन्न रासायनिक रचनावाले भी द्रव्य समान प्रकार का अथवा एक दूसरे से मिलता औषधीय गुण धारण करते हुए पाये जाते हैं। अतः केवल रासायनिक दृष्टि से औषधीय गुणों का समाधान नहीं हो सकता। सच पूछो तो सम्पूर्ण द्रव्यों की क्रियाओं का समाधान करने में सहायक हो सके, ऐसा कोई भी सिद्धान्त अब तक सामने नहीं आया। यद्यपि आजकल औषधों के रासायनिक संघटन में परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न करने के प्रयत्न हो रहे हैं; जैसे केमोथेरेपी

१--देखिये--सुश्रुत सू. अ. ४०--'तद्द्रव्यमात्मना किंचित्' इत्यादि सुश्रुतोक्त समाधान। अबतक यह मत बदलने का कोई कारण नहीं मिला है।

२—Physical and chemical properties.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Chemotherapy) के उपासक जन्तुजन्य व्याधियों की चिकित्सा में ऐसे औषध बनाने का प्रयास कर रहे हैं। परन्तु एक विलक्षण घटना इन औषधों के बनाने में भी देखी जाती है, और वह यह कि जन्तुघ्न द्रव्य काचनलिका (Test tube) में जन्तुओं को नहीं मार सकते, परन्तु शरीर के अन्दर प्रविष्ट होने पर शरीर के कोषों की सहायता से उनको तत्काल मार डालते हैं। इसके अतिरिक्त कई औषधों का अत्यन्त अल्प प्रमाण, जो कोष के आसपास एकस्तर (Monomolecular layer) रचने में भी समर्थ नहीं होता, वह भी इनपर क्रिया करने की पर्याप्त शक्ति रखता है। कइयों के मतानुसार औषधद्रव्य कोषों के आसपास फैलने के पश्चात उनका कवच (Cell membrane) भेदकर उसमें प्रविष्ट होने का यत्न करते हैं। उनके कुछेक परमाणु उसके अन्दर जाकर चेतनरस में मिल जाते हैं और अपनी क्रिया करते हैं। कई एक अन्दर जाकर निष्क्रिय बन जाते हैं, जब कई अन्दर घुस ही नहीं सकते। इस स्थिति में द्रव्यों के कर्मों के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त गढ़ना कठिन है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि द्रव्यों की शारीरिक कोषोंपर होनेवाली क्रिया में निम्नोक्त बातें खास तौर पर स्मरण रखने योग्य हैं।

(१) भिन्न-भिन्न औषधद्रव्यों की रासायनिक क्रिया भिन्न-भिन्न कोषों या धातुओं (Tissues) पर भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। अर्थात् औषधों की क्रिया औषधों और कोष के जीवनरस (Protoplasm) के बीच की रासायनिक प्रतिक्रिया पर अवलम्बित है।

(२) भिन्न-भिन्न कोष अपने कोषकवचद्वारा द्रव्यों का सहकार अथवा प्रतिकार करने की शक्ति रखते हैं। कोषों के व्यापार सजीव व्यापार (Biological Response) हैं—जिजीविषा (Will to live) का एक प्रकार है तथा भौतिक और रासायनिक नियमों से सदा बँधे नहीं रहते[१]।

यहाँ जिजीविषा में मानसिक तत्त्व का भी अन्तर्भाव है। अर्थात् यदि रोगी को आस्था हो तो औषधीय गुण अधिक कार्य करते हैं। कारण, शारीरिक कोषों के व्यापार मानसिक अंकुश से मुक्त नहीं हैं।

द्रव्यगुणविज्ञान के सम्बन्ध में आयुर्वेद के मौलिक विचार—

अब तक हमने मुख्यतः वैज्ञानिकों की विचारधारा देखी। अब पूर्व और पश्चिम दोनों की विचारधाराएँ देखते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञान तथा जिज्ञासावृत्ति के

१—The action of a drug on any cell, involves atleast two separate processes, namely a Chemical reaction and the Biological response to this reaction.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अभाव के कारण डॉक्टर तथा वैद्य आपस में खुले दिल से विचारविनिमय नहीं करते, अतः इस विषय में बहुत अनभिज्ञता रहती है। प्रस्तुत ग्रन्थ, आयुर्वेद के द्रव्यगुण-विषयक विचारों का दोहन होने के कारण अभ्यासकों के मार्ग को सरल करनेवाला है।

वैदिक काल से ही वनस्पतियों का वैद्यकीय उपयोग छोटे पैमानेपर (अल्प-प्रमाण में) शुरू हो चुका था। परन्तु, उस काल में आथर्वणों का जोर अधिक होने से मणि, मन्त्र तथा पवित्र जल का महत्त्व अधिक था। मनुष्य जाति के द्रव्य-गुणविषयक ज्ञान का यह उषःकाल था। इसके पश्चात् दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का जोर घटने लगा, औषधों का उपयोग बढ़ने लगा[1]। साथ-साथ धातुओं का औषधार्थ उपयोग भी बढ़ने लगा। जब हम संहिताकाल में आते हैं तब औषधों की संख्या एकदम बढ़ी हुई पाते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु इन सब औषधों तथा धातुओं के उपयोग को अपने विशाल उदर में समाविष्ट करनेवाला द्रव्यों के गुणों तथा कर्मों के विषय का सिद्धान्त भी स्थिर हो गया पाया जाता है। यह सिद्धान्त स्थिर होने के पूर्व अनेक मत-मतान्तर भी खड़े हुए होंगे, जिसका इशारा चरक और सुश्रुत दोनों ने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ये मतभेदसूचक एकीय मत देखे जा सकते हैं। उदाहरणतः, रसों की संख्या तथा द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाक के प्राधान्याप्राधान्य सम्बन्धी चर्चा मनोरञ्जक है तथा एक शक्तिशाली (Virile) और विचारशील समाज के मानसिक मन्थन का प्रतिबिम्ब है। ईसा से हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व शुरू हुई औषधों की गुणकर्मविषयक चर्चा ईसा से चार या पाँच शती पूर्व एक सिद्धान्त का रूप प्राप्त करती हुई तथा ईसवी सन् के प्रारम्भ में तो एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में स्थिर हुई दिखाई पड़ती है; औषधद्रव्य (उद्भिज्ज, खनिज तथा प्राणिज द्रव्य) और आहारद्रव्यविषयक विचार एक शृङ्खलाबद्ध व्यवस्थित स्वरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। पीछे चाहे हम संहिताचतुष्टय (चरक, सुश्रुत, भेल तथा काश्यप) में से कोई एक लें। इसके बाद के वर्षों में कितनी ही वनस्पतियाँ भूली गयीं, कितनी ही विदेशी दवाइयाँ स्वीकारी गयीं, कितनी ही संदिग्ध हो गयीं। यह कालभगवान् की महिमा है। औषध द्रव्यों और रसशास्त्रोक्त प्रयोगों की संख्या बढ़ी; विकास की दृष्टि से यही हुआ। परन्तु संहिताकाल में उपदिष्ट सिद्धान्त में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ।

सामान्यतः कहना हो तो आधुनिक विज्ञानवादियों की दृष्टि पृथक्करणशील (Analytical) है, जब कि प्राचीन आर्यों की दृष्टि सदा एकीकरणशील (Synthetic) रही है। परिणामतया, एक को विस्तार (Detail) प्रिय है और दूसरे को सूत्र[2]।

१—देखिये—चरक सू. अ. २१—त्रिविधमौषधम् ××× इत्यादि।

२—इसी कारण 'सूत्र' संस्कृत वाङ्मय के विशेष लक्षण हैं। अन्य किसी भाषा में सूत्रग्रन्थ लिखे हुए पाये नहीं जाते। इस सूत्रसाहित्य के स्रष्टा कुशाग्रबुद्धि→

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुछ तुलनात्मक विचार--

जब यह देश स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति रखता था तब इसमें विचारों के मतभेदों के सहन करने की भी शक्ति थी, अथवा सहिष्णुता (Tolerance) हमारे बुद्धिविकास का एक प्रधान चिह्न था। चरक तथा सुश्रुत में इस मतभेद सहिष्णुता के प्रमाण मिलते हैं। परिषदों में गर्भावक्रान्ति, रसों की संख्या, विपाक का स्वरूप, वीर्य के प्रकार, रोगों के प्रकार, आदि विषय विवादास्पद होते थे। विभिन्न विचारों के आयुर्वेदज्ञ ऋषि इनमें भाग लेते थे। केवल आयुर्वेद के क्षेत्र में ही नहीं, दार्शनिक क्षेत्र में भी बहुत विवाद प्रचलित थे। न्यायदर्शन ने इन विवादों को समुचित वैज्ञानिक रूप भी दिया है। जब कि चरक-सुश्रुत ने इनकी ओर अंगुलिनिर्देशमात्र किया है। आधुनिक काल में सन् १९३५ में बनारस में एक ऐसी ही परिषद् का आयोजन हुआ था, यह सुविदित है।

पूर्व तथा पश्चिम में स्वीकृत समान मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत करते हैं।—

(१) जो तत्त्व बाह्य जगत् में दिखाई देते हैं, वे ही मनुष्य-शरीर में भी होते हैं। इस विषय में आधुनिक विज्ञान का क्या मत है यह ऊपर कहा जा चुका है। द्रव्य-(Matter) का संघटन विद्युन्मय है और विद्युत् एक प्रकार की शक्ति है। द्रव्य (Matter) और शक्ति (Force) का सम्बन्ध रहस्यपूर्ण है। द्रव्य के अनेक रूप हो सकते हैं। अब तक द्रव्य के विशिष्ट रूपों के तौरपर ९२ तत्त्व (Elements) विदित हुए हैं। इनमें से कुछेक मानवदेह में हैं। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने सांख्य और वैशेषिक के विचारों का आश्रय लेकर अपना स्वतन्त्र मत उनमें बढ़ाकर अपने सिद्धान्त निश्चित किये हैं। समग्र विश्व पञ्चमहाभूतमय है—द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं—और मनुष्यदेह भी पञ्चमहाभूतों से ही बना है। ये पञ्चमहाभूत हैं–आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी। इन महाभूतों का विचार करते हुए बहुतों को भ्रम (Delusion) हो जाता है। कारण दोनों प्रकार के वर्गीकरणों के दृष्टिबिन्दु भिन्न हैं। वैज्ञानिक जगत् का अर्थ है जड़ जगत्। इसके पदार्थ (Substance) भी जड़ पदार्थ हैं। इनकी कार्य करने की शक्ति (Force) भी जड़ है। इस जड़ शक्ति और जड़ द्रव्य या पदार्थ के सहकार से विज्ञान की सृष्टि चल रही है। इसके विपरीत प्राचीन दार्शनिकों की सृष्टि जड़ (Inanimate) और चेतन (Animate) की बनी हुई है। इसमें आत्मा या परमात्मा को स्थान है, जब कि आधुनिक विज्ञान इनका बहिष्कार करता है,

---

←ऋषियों की दृष्टि सृष्टि में पाये जानेवाले वैविध्य के आरपार देखकर परमतत्त्व का साक्षात्कार करने में तल्लीन थी। वैशेषिकों ने समग्र विश्व का समावेश छः पदार्थों में किया, सांख्य ने प्रकृति और पुरुष में और वेदान्त ने केवल एक अनिर्वचनीय ब्रह्म में सबका समावेश किया।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अथवा इनके प्रति शङ्का की दृष्टि से देखता है[1]। इसके मूल तत्त्वों का अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रयोगों के आधार पर सिद्ध है। दार्शनिक परिभाषा में पदार्थ का अर्थ है पद का अर्थ। जिसमें ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व और अस्तित्व ये तीन लक्षण हों वह पदार्थ है[2]। आशय यह कि 'पदार्थ' शब्द से न केवल जड़ जगत् का किंतु समग्र जड़ और चेतन सृष्टि की वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है। अर्थात् विज्ञान का पदार्थ (Element) वैशेषिक पदार्थ से भिन्न है। इसी प्रकार वैशेषिकों का द्रव्य जो गुण और कर्म का आश्रय है, विज्ञान के द्रव्य (Matter) से भिन्न है, कारण, वैशेषिकों के मतानुसार आत्मा, मन, दिक् और काल की भी नव द्रव्यों में गणना होती है, जब कि आधुनिक विज्ञानवादी स्वतन्त्र आत्मा और मन का अस्तित्व मानने से कतराते हैं। अस्तु। पञ्चमहाभूतों को प्राचीनों ने जड़ सृष्टि का मूल तत्त्व माना है जब कि आधुनिकों ने ९२ मूल तत्त्व माने हैं, जो प्रत्यक्षसिद्ध है। परन्तु उपनिषत्काल से सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के संबन्ध में जो विचार चले आये हैं और जिन्हें वेदान्त का भी समर्थन प्राप्त है, उनके अनुसार देखें तो पञ्चमहाभूत का अर्थ है जड़ द्रव्य की पाँच स्थितियाँ (States of conditions of matter)।

१—इस विषय में विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में मतभेद है। उदाहरणतया जीवविद्या (Biology) या प्राणिविद्या, स्पष्ट शब्दों में यह नहीं बताती कि प्राण (Life) का अर्थ क्या है? सजीव द्रव्य के लक्षण, रचना आदि की सविस्तर जानकारी देते हुए भी निर्जीव और सजीव सृष्टि के मध्य भेद माने या न माने यह प्रश्न अभी विवादास्पद है। पाश्चात्य मानसशास्त्रियों (Psychologists) में से कई एक प्राचीन बौद्धों के समान स्थिर आत्मा को नहीं मानते, किन्तु सहज वृत्तियों (Instincts) के समूहरूप मनको मानते हैं। कई मानसशास्त्री आत्मा को मानते भी हैं। आधुनिक विज्ञानवादियों में कई प्राचीन लोकायतिकों के समान देहात्मवादी हैं। अपने यहाँ भी आत्मा के स्वरूप के विषय में विविध मत थे, जिनका विवरण भगवान् शंकराचार्य के भाष्य में मिलता है। देखिये—ब्रह्मसूत्र १-१-१ पर शांकरभाष्य—'देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति ××× आत्मा स भोक्तुरित्यपरे।' निर्विशेष भौतिक आत्मा का लक्षण भगवान् चरकने वेदान्त से लिया है। और संयोगपुरुष अथवा शरीरी आत्मा का लक्षण न्याय-वैशेषिक से लिया है। न्याय-वैशेषिक ने व्यावहारिक अवस्था का विचार करके आत्मा का लक्षण घड़ा है, जब कि वेदान्तने सुषुप्ति, समाधि और मोक्ष दशा का विचार करके आत्मा का लक्षण घड़ा है। वर्तमान काल में, तत्त्वज्ञान (Philosophy) और विज्ञान (Science) के क्षेत्र दिन-दिन अधिक निकट आते जा रहे हैं। परन्तु आधुनिक पदार्थविज्ञान (Physics) आत्मा, मन, आदि को आधिभौतिक पदार्थविज्ञान (Metaphysics) का विषय मानता है। प्राचीन आर्य दर्शनों का पदार्थवाद इन सबको अपने विशाल क्षेत्र में स्थान देता है। अतएव तुलना करते हुए इस वर्गीकरण का भेद ध्यान में रखना चाहिये। अन्यथा दोनों पक्षों को अन्याय होना संभव है। २—देखिए प्रशस्तपादभाष्य पृ. १६।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जैसे--आकाश=Etheric state
वायु=Gaseous state
अग्नि=Luminous state
जल=Liquid state
पृथ्वी=Solid state

उपरोक्त कोष्ठक में कही अवस्थाएँ विज्ञान को मान्य हैं; कारण, ये प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं। इस प्रकार देखते हुए प्राचीनों के सिद्धान्तानुसार आधुनिक विज्ञान के मूल तत्त्व इन पाँच स्थितियों में से किसी एक स्थिति में हमारे अनुभव का विषय होते हैं। पञ्चमहाभूतों के मिश्रणसे अथवा आधुनिकों के इन पाँच में से किसी अवस्था में स्थित मूलतत्त्वों के मिश्रण से, परस्परानुप्रवेश से या परस्परानुग्रह से दृश्य जगत् की रचना होती है। आयुर्वेद के मन्तव्यानुसार पञ्चमहाभूतों से आत्मा का संबन्ध होनेपर पुरुष बनता है, जो चिकित्सा का अधिष्ठानरूप है (सु. सू. अ. १)।

(२) शरीर के विकास के लिए, जीवन व्यापार चलाने के लिए जो शक्ति चाहिए उसके उत्पादन के लिए, तथा शरीर में होनेवाली टूट-फूट की पूर्ति के लिए उपर्युक्त पदार्थों की आवश्यकता है यह बात दोनों पक्षों को स्वीकृत है। अर्थात् पञ्चमहाभूतमय शरीर को--पाँच अवस्थाओं में स्थित वैज्ञानिकों के मूलतत्त्वोंद्वारा बने हुए शरीर को उन्हीं के द्वारा बने हुए आहारद्रव्यों की आवश्यकता है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों के पक्ष में यह अभिमान करने योग्य बात है कि उन्होंने आहार और स्वास्थ्य तथा आहार और रोगों के संबन्धपर प्रारम्भ से ही बहुत ही जोर दिया है। रोगों के निदान और चिकित्सा की चर्चा में आहार की बात खास करके आती है। अपने यहाँ आहाररूप में उपयोग में आनेवाले वनस्पतिजन्य तथा प्राणिजन्य द्रव्यों की उन्होंने स्वास्थ्य तथा रुग्णावस्था में मनुष्यपर होनेवाली क्रियाओं का उल्लेख किया है। अपने देशवासियों को यहाँ के जलवायु में द्रव्य अधिक सात्म्य हैं, यह अनुभव है। आहार का पाचन होनेपर रसधातु बनती है। इसपर शरीर की अन्य धातुएँ आश्रित हैं। अतः आचार्यों का आग्रह है कि आहार और जठराग्नि की क्रियापर--रोगी के अग्निबलपर--वैद्य को खास ध्यान देना चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि आहार की रासायनिक दृष्टि से मीमांसा करके, उसमें स्थित प्रजीवनकों (Vitamins) तथा खनिज द्रव्यों के क्षारों (Mineral salts) पर विशेषतः लक्ष्य देकर तथा इन द्रव्यों की स्वास्थ्य तथा रुग्णावस्था में होनेवाली क्रियाओं का निर्देश करके, आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य जाति की सेवा की है। एक कदम आगे बढ़कर आधुनिक सम्प्राप्तिविज्ञान (Pathology) यह बताता है कि रक्त आहारपर अवलम्बित है और इस रक्तके संघटन में भौतिक अथवा रासायनिक परिवर्तन हों तो शरीर के कोषों के पोषण और व्यापारोंपर इसका अनिष्ट प्रभाव

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है, अर्थात् वे शीघ्र रोग के ग्रास हो जाते हैं। औषध द्रव्य भी शरीर के सहकार के बिना रोग का मुकाबिला नहीं कर सकते। अतः, निज अथवा आगन्तुक रोगों के प्रतिकार को उत्कृष्ट बनाना हो तो, रक्त को बने वैसे उत्कृष्ट स्वरूप में लाना चाहिए। ऐसा करने के लिए उत्तम आहार और कार्यक्षम जठराग्नि की खास आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में ही रस धातु जिसपर अन्य धातुओं का आधार है, उत्तम बनता है[1]।

(३) द्रव्यों की शरीर पर होनेवाली क्रियाओं को देखते हुए द्रव्यों के सामान्यतः तीन भेद किये जा सकते हैं। आधुनिक द्रव्यगुणविदों का मत ऊपर दिया है। प्राचीनों का मत इस ग्रन्थ में तेरहवें पृष्ठपर दिया है। भगवान् चरक के शब्दों में द्रव्यों के तीन भेद किये जा सकते हैं। ये तीन भेद द्रव्यों की शरीरपर होनेवाली क्रियाओं को देखते हुए किये गये हैं। 'शमन', 'कोपन' और 'स्वास्थ्यवर्धन' इन तीन शब्दों में प्राचीनों ने द्रव्यों के प्रभाव से होनेवाली क्रियाएँ समाविष्ट कर दी हैं। इनमें आधुनिकोक्त तीनों क्रियाओं का[2] समावेश हो जाता है।

(४) आयुर्वेदिक पद्धति तथा वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति दोनों हॉमियोपॅथी के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। कारण, इन दोनों पद्धतियों में विपरीत गुणोंवाले आहार और औषध के द्वारा रोग अथवा रोग के मूल का नाश किया जाता है। प्राचीनों ने दोषवैषम्यों को दूर करके दोषों को साम्यावस्था में लाना चिकित्सा का आदर्श माना है, जब कि वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति में शरीर के दूषित कोषों को विकृत—बिगड़े हुए—व्यापारों को प्रकृतावस्था में लाने को अपना आदर्श स्वीकार किया है[3]।

(५) तुलनात्मक दृष्टि से द्रव्यगुणविज्ञान को देखें तो दोनों पक्षों ने प्राणियों और मनुष्योंपर उन्हीं द्रव्यों का, उन्हीं क्रियाओं के लिए उपयोग किया है। हाँ, उसमें औषध की मात्रा तथा प्राणी के विशिष्ट देहव्यापारों का तो ख्याल रखा ही जाता है। मनुष्यों की चिकित्सा के साथ इस देश में पशुचिकित्सा भी ईसा के पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी से प्रचलित थी। पालकाप्य, मातङ्गलीला, अश्ववैद्यक, अश्वचिकित्सा आदि ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं। आधुनिक वैज्ञानिक नवीन औषध का गुण-धर्म निश्चित करने के पूर्व उसका प्राणियों पर परीक्षण करते हैं।

१—'आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥' च. चि. अ. १५

२—Stimulation, Depression, Irritation.

३—देखिये चरक सू. अ. १ के ५८, ५९, ६० श्लोक तथा उनमें 'विपरीत-गुणैर्द्रव्यैः' यह स्पष्ट शब्द, और "उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थ-कारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः" च. नि. अ. १।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इन परीक्षणों से प्राप्त अनुभवों का उपयोग मनुष्यों की चिकित्सा में करते हैं; कारण, विज्ञान मनुष्य को सर्वोत्तम प्राणी मानता है[१]।

(६) दोनों पक्षों ने केवल वनस्पतियोंपर आधार न रखते हुए रसायनशाला में बने हुए द्रव्यों का उपयोग किया है। प्राचीन संहिताग्रन्थों में वनस्पतियों का उपयोग विपुल प्रमाण में पाया जाता है। धातुओं के उपयोग का उनके औषध-संग्रह में गौण स्थान था। परन्तु पीछे से धातुओं और खास करके पारद के योगों का उपयोग बढ़ा और रसशास्त्र वानस्पतिक योगों के संघर्ष में आया। उत्तम रसवैद्य संपूर्ण चिकित्सा रसोंद्वारा ही करते थे। उन्हें वनस्पतियों की अपेक्षा कम होती थी। हाँ, रसों के निर्माण में भी कुछ वनस्पतियों की आवश्यकता होती थी। पश्चिम में भी आजकल यही परिस्थिति है। वनस्पतियों का उपयोग घटता जाता है और रसायनशास्त्र के आधार पर बनाये हुए योगों का उपयोग बढ़ता जाता है। विशेष करके जन्तुजन्य रोगों की चिकित्सा में ऐसे नवीन द्रव्यों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अपने यहाँ रसशास्त्र की प्रगति रुक गयी है, पर पश्चिम में रसायनशास्त्र (Chemistry) आगे प्रगति करता जा रहा है।

(७) दोनों पक्ष मानते हैं कि औषधद्रव्य उनके कर्म को लक्ष्य में रखकर विभिन्न योगों के रूप में दिये जाने चाहिए। औषधनिर्माणशास्त्र (Pharmacy) इन्हीं विचारोंपर आगे कूच कर रहा है। वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति ने सूचीवेध (Injection) का उपयोग करके अपनी विशिष्टता बढ़ाई है। इसके लाभालाभ वाचकों को विदित ही होंगे। औषधद्रव्य शारीरिक कोषों में शीघ्र मिल जाएँ और अपने गुण व्यक्त करें इस उद्देश्य से दोनों पक्षों ने कुछ भिन्न मार्ग लिया है। आधुनिक विद्वान् औषधों को यथाशक्ति द्राव्य (Soluble) स्वरूप में लाकर, उनकी अनिष्ट क्रिया न हो ऐसे योगों के बनाने में तन्मय हैं। उधर, प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने द्राव्य स्वरूपपर ध्यान न देते हुए, वे जिस स्वरूप में शरीर में अपने गुण प्रकट कर सकें और किसी भी प्रकार की विषमय क्रिया न करने पाएँ ऐसे स्वरूप में द्रव्यों को देने की पद्धति अङ्गीकार की है। अत एव, आयुर्वेद में कई भस्में, कूपी-पक्व रस आदि योग आधुनिकों के औषध द्रव्यों से भिन्नता रखते हैं। प्राचीनों ने निरिन्द्रिय धातुओं को—खनिजद्रव्यों को—वनस्पतियों के रसों की भावना देकर, उनका विविध प्रकार से पाक करके अथवा संस्कार करके उनको सेन्द्रिय स्वरूप में (Organic form) लाने का प्रयास किया है, जिससे वे शारीरिक कोषों के लिए ग्राह्य बनते हैं तथा विषात्मक क्रिया नहीं करते। विविध भस्मों को वारितर, निश्चन्द्र तथा निरुत्थ बनाने में उनका यही उद्देश्य था। इसके फलस्वरूप सुवर्ण,

---

२—इसी प्रकार विषदूषित अन्न की प्राणियों पर होनेवाली क्रियाओं का भी निर्देश किया गया है। देखिये—सु. क. अ. १।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रजत, ताम्र, नाग आदि का आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति में मुक्तहस्त से उपयोग होता है, तथा इन भस्मों के देने से यकृत् या मूत्रपिण्डोंपर असर बुरा नहीं होता। पाश्चात्य द्रव्यगुण-विज्ञान को अभी इस दिशा का ज्ञान नहीं है। हाँ, उन्होंने हाल ही में धातुओं को उनके अत्यन्त सूक्ष्म—अणुस्वरूप में उपयोग में लाने का मार्ग ग्रहण किया है। अर्थात् धातुओं के अणुओं को एक द्रव मिश्रण में (Colloids) मिलाकर सूचीवेध द्वारा शरीर में प्रविष्ट किया जाता है, जिससे वे अणु (Molecules) शरीर में तत्काल फैल जाएँ। परन्तु इन योगों में निर्विषीकरण समुचित नहीं होता, जिससे ये योग भी इच्छित फल नहीं देते। कज्जली, रससिन्दूर और मकरध्वज का अन्तर डॉक्टरों को समझ में नहीं आता। इसका कारण यह है कि प्राचीनों की रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न करने की विधियोंपर उन्होंने निष्पक्ष होकर अनुशीलन नहीं किया है। अन्यथा हिन्दु रसतन्त्रकारों ने मनुष्यों के रोगनिवारण के लिए जो बुद्धिवैभवपूर्वक श्रम किया है उसके लिए उनके मन में अवश्य ही आदरभाव उत्पन्न होता।

द्रव्यों की कार्मुकता—

द्रव्य अपनी क्रिया किस कारण करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने में आयुर्वेद अन्य किसी पद्धति का ऋणी नहीं है। अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर देते हुए इसने किसी के विचार अपनाये नहीं हैं। प्राचीन काल में द्रव्यों की रोगनिवारक-शक्तिसंबन्धी प्रचलित विचार एक सिद्धान्त के रूप में व्यवस्थित किये जाकर संहिता काल में प्रस्तुत किये गये थे। इस काल में वैशेषिकों ने अनुभवात्मक जगत् (World of Experience) का छः या सात पदार्थों में (Catagories) समावेश किया था। इन पदार्थों का वर्णन करते हुए वैशेषिकसूत्र में सत्रह गुण तथा प्रशस्तपादभाष्य में सात अन्य गुण भी कहे गये हैं। इन गुणों में भौतिक (Material) तथा मानसिक (Mental) गुणों का समावेश हो जाता है। ये गुण हमें पदार्थों के विषय में कोई न कोई जानकारी देते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सांख्य की परिभाषा में गुण का अर्थ सर्वथा भिन्न है। परन्तु आयुर्वेद ने इन गुणों का उपयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है। कारण, वैशेषिकों का उद्देश्य मनुष्यों को पदार्थों का ज्ञान कराना था, जब कि आयुर्वेदज्ञों का उद्देश्य द्रव्यों के वैद्यकीय गुण बताना था। अतः उन्होंने अपने तन्त्र के लिए उचित परिभाषा निश्चित की। इस ग्रन्थ के १०८-११९ पृष्ठोंपर विद्वान् लेखक ने यह बात स्पष्ट शब्दों में कही है, और सामान्य भाषा में तथा आयुर्वेद की परिभाषा में गुरु-लघु आदि गुणवाचक शब्दों का प्रसिद्ध अर्थ बताया है। कालक्रम से द्रव्यों के गुण अधिकाधिक प्रमाण में ज्ञात होते गये। फलतः विभिन्न आहार तथा औषध द्रव्यों की शरीरपर होनेवाली क्रियाओं का ठीक-ठीक निर्देश किया गया। इन आयुर्वेदोक्त गुणों का वैज्ञानिक परिभाषा में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भौतिक, रासायनिक तथा औषधीय गुणों में (Physical and chemical properties as well as the pharmacological properties of drugs) समावेश हो जाता है।

इन गुणों में रस गुण का जानना सुगम था। कारण, जिह्वाद्वारा उसकी तुरंत परीक्षा हो सकती थी। प्रयोगशाला के किसी भी साधन के सिवाय केवल रसद्वारा द्रव्यों के वर्गीकरण का यह मार्ग अत्यन्त सरल था। इस रस के छः भेदों के गुण-कर्म निश्चित हुए[1]। पीछे से समान रसवाले द्रव्यों का उपयोग करनेपर जब उनकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओं में भिन्नता अनुभव में आयी तो विदित हुआ कि कितनेक द्रव्यों में गुण सामान्य स्वरूप में होते हैं जब कि उन्हीं रसोंवाले अन्य कितनेक द्रव्यों में बलवत्तर स्वरूप में होते हैं। इन बलवान् गुणसमूहों को **'वीर्य'** यह पारिभाषिक नाम दिया गया। यह प्रश्न अलग है कि यह वीर्य द्विविध है या अष्टविध। वीर्यशब्द का सामान्य अर्थ द्रव्य की शक्ति (Potency) होता है। परन्तु इन रस और वीर्य दोनों की सहायता लेनेपर भी कई-एक औषधद्रव्यों के औषधीय गुणों में अन्तर प्रतीत हुआ। आहारद्रव्योंपर जठराग्नि की क्रिया होती है तो औषधद्रव्योंपर भी होनी ही चाहिए। इस विचार से औषधद्रव्योंपर जठराग्निद्वारा होनेवाले परिवर्तनों का निरीक्षण प्रारम्भ हुआ। अवस्थापाक के वर्णन में, मुख से लेकर बृहदन्त्र तक पहुँचते हुए द्रव्यों में जो भौतिक और रासायनिक परिवर्तन होते हैं, उनका वर्णन किया गया है। लालास्राव, **जठररस** (Gastric juice), पाचक पित्त (Bile), अन्त्ररस आदि की विविध क्रियाओं का चरक ने अनुभवात्मक

१—**रस के भेद**—आधुनिक शरीरव्यापारशास्त्री केवल चार मुख्य रस (Primary sensations of taste) मानते हैं—तिक्त, लवण, अम्ल, और मधुर। उनके मत से कटु और कषाय गौण रस (Mixed sensations of taste and touch or taste and odour) है। इसके सिवाय इन छः रसों के मिश्रण के परिणामरूप असंख्य मिश्र रस उत्पन्न होते हैं, जो द्रव्यविशेष तथा व्यक्ति की रसग्रहणशक्तिपर आश्रित हैं। यहाँ यह भी कहना योग्य है कि कई तज्ज्ञ छहों रसों को मुख्य मानते हैं। अर्थात् रसों के चतुष्टयत्व अथवा षट्त्व का प्रश्न अभी पूरी तरह निर्णीत नहीं हुआ। यह मतभेद उपस्थित होने का कारण यही है कि तिक्त, लवण आदि मुख्य रसवाले द्रव्य जिह्वा में स्थित स्वादांकुरों (Taste-buds) और इनमें प्रसृत स्वादवाही (Nerves of taste) नाड़ियों के तन्तुओं को उत्तेजित करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप हमें स्वाद की प्रतीति (Perception) होती है। परन्तु कषाय और कटुरसवाले द्रव्य जिह्वा में स्थित स्वादग्राही नाड़ियों के अतिरिक्त अन्य स्पर्शसंज्ञा तथा ऊष्मा, शैत्य, पीड़ा आदि का वेग वहन करनेवाली नाड़ियों को भी उत्तेजित करते हैं, जिनके कारण कषाय तथा कटु रस की प्रतीति होती है। विस्तार के लिए शारीरव्यापारशास्त्र के आकरग्रन्थ देखिये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दृष्टि से वर्णन किया है। पाचनक्रिया के अन्त में जो रस (विपाक) तैयार होता था, उसके गुण-कर्म द्रव्य के रस और वीर्य को देखकर निर्णय किए हुए गुण-कर्मों से कभी मिलते थे, और कभी विरुद्ध भी होते थे। इस स्थिति में यह तय हुआ कि द्रव्यों का गुण-कर्म ठीक-ठीक जानने के लिए यह बात भी दृष्टि में रखनी चाहिए कि उनपर पाचनक्रिया का अन्तिम प्रभाव क्या होता है। कारण, यह अन्तिम अवस्था में तैयार हुआ द्रव पदार्थ अन्त्रद्वारा चूसा जाकर रुधिराभिसरण में मिल जाता था और शरीरपर अपनी क्रिया करता था। विपाक तीन हैं या दो इस विषय में भगवान् चरक तथा भगवान् सुश्रुत की विचारश्रेणियों और शब्दप्रयोगों की भिन्नता ही भेद का कारण है, न कि कोई तात्त्विक विरोध, क्योंकि शरीर में होनेवाले परिवर्तनों का तो दोनों ने समान रूप से निर्देश किया है (देखिये इस ग्रन्थ का पृ० २६५-२६६)।

जहाँ-जहाँ द्रव्य के गुण, रस, वीर्य और विपाकद्वारा भी उनकी शरीरपर होने वाली क्रियाएँ विस्पष्ट न हो सकीं वहाँ-वहाँ 'प्रभाव' द्वारा उनका स्पष्टीकरण किया गया। अथर्ववेद में मणियों और मन्त्रों का प्रभाव था। वैशेषिक न समझ में आनेवाली घटनाओं का समाधान 'अदृष्ट' द्वारा करते थे। अतः आयुर्वेद ने भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ किया। 'द्रव्यप्रभाव' तथा 'व्याधिप्रभाव' शब्द द्रव्यगुणविज्ञान और व्याधिविज्ञान में प्रयुक्त होने लगे[1] और आज भी प्रयुक्त होते हैं।

प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों के द्रव्यगुणविज्ञान सम्बन्धी विचार आधुनिक विज्ञानवादियों के विचारों से कितने अंशमें मिलते हैं और कितने अंश में भिन्न हैं यह देखने के पहले इतना ऐतिहासिक सत्य स्वीकारना चाहिए कि आयुर्वेद में स्वतन्त्र और प्रतिभाशाली चिन्तन आजकल बन्द हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से लेखक और वाचक दोनों न्यूनाधिक प्रमाण में अभिभूत होते हैं। यह तथ्य मानने के पश्चात् अब हम द्रव्यों के विषय में विशेष विचार करते हैं।

१—उदाहरण, परमाणुओं का परिस्पन्दन, अयस्कान्त मणि की ओर सुई का आकर्षण, अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन, वायु की तिर्यग्गति और वृक्षों में मूलद्वारा चूसे गये रस का ऊर्ध्वगमन आदि व्यापारों का समाधान 'अदृष्ट' द्वारा किया जाता था। 'मणिगमनं सूच्यभिगमनमित्यदृष्टकारितम्' (वै. सु. ५-१-२५) तथा 'वृक्षाभिसर्पण मित्यदृष्टकारितम्' (वै. सु. ५-२-७)। आयुर्वेद में रससंवहन का कारण व्यान वायु के साथ अदृष्ट को भी गिनाया है ('अदृष्टहेतुकेन कर्मणा' सु. सू अ. १४)। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ रोग की संप्राप्ति तथा लक्षणों की उपपत्ति दोष-दूष्यविज्ञान से हो सकी वहाँ-वहाँ 'व्याधिप्रभाव' शब्द प्रयुक्त होने लगा। उदाहरणतः, ग्रहणी के वर्णन में —'गृद्धिः काङ्क्षा, एतच्च वातदूषितान्तःकरणत्वेन व्याधिमहिम्ना वा'। तथा छिन्नश्वासके लक्षण में रक्तैकलोचनत्वं, व्याधिप्रभावात्' माधवनिदानटीका (मधुकोश)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कर्मभेदानुसार द्रव्यों का वर्गीकरण (Classification of Drugs according to their Pharmacological Actions)।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में दिये गये नामोंसे स्पष्ट होगा कि इस विषय में दोनों विचारप्रवाहों में बहुत साम्य है। वमन, विरेचन, स्रंसन, शुक्रल, स्तन्यजनन, मूत्रविरेचनीय आदि कर्मों के कारण द्रव्यभेद दोनों में प्रसिद्ध है। परन्तु दोनों के बीच में अन्तर भी है। आजकल आधुनिकोंने द्रव्यों का वर्गीकरण शरीरव्यापार-शास्त्र (Physiology) के अनुसार द्रव्य मुख्यतः शरीर के किस तन्त्र (System) पर क्रिया करते हैं, इस बात को दृष्टि में रखकर, और प्रत्येक शरीरयन्त्र (Organ) पर इस की क्या क्रिया होती है इस पृथक्करणशील (Analytical view-point) दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया है। इस के परिणामस्वरूप हमें नाड़ी-तन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, मूत्रपिण्डोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, आमाशय तथा अन्त्रोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, त्वचापर क्रिया करनेवाले द्रव्य इत्यादि द्रव्यसमूह दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण लेखन, स्नेहन, संशमन, अभिष्यन्दी, प्रमायी आदि कर्मों के पर्याय पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञान में नहीं मिलते। इस विषय में विशेष विचार करने से विदित होगा कि शरीर के व्यापारों के ज्ञान में वृद्धि होने से इस शरीर के तन्त्रों तथा यन्त्रों के कार्योंपर होनेवाली द्रव्यों की क्रिया के द्योतक शब्दों में वृद्धि हुई है। परन्तु रोग की क्रिया न्यूनाधिक सारे शरीरपर होती है और द्रव्यों की क्रिया भी सारे शरीरपर होती है। इस दशा में शरीर के एकदेशपर या उसकी एक मुख्य क्रियापर होनेवाली क्रियायों के वाचक शब्दों का प्रयोजन ही क्या है ? इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि—रोग का अर्थ है दोषवैषम्य, यह सारे शरीर के दोषों की असाम्यावस्था सूचित करता है। परन्तु कुपित हुए दोष जहां स्थान प्राप्त (स्थानसंश्रय) करते हैं वहाँ विकृति प्रकट होती है। अतः रुग्ण शरीर में कुपित हुए दोषों के आश्रयरूप स्थानपर क्रिया करनेवाले द्रव्य हमें विदित हों तो चिकित्सा में सरलता होती है। सच पूछें तो शरीर के प्रकृतिस्थ व्यापारों का ज्ञान जितना अधिक होगा उतना ही विकृतियों की चिकित्सा करना सुकर होता है।

इस दृष्टिबिन्दु से इस अध्याय का पुनरवलोकन करेंगे तो प्राचीनोक्त औषधीय कर्मों को आधुनिक पद्धति से भी व्यवस्थित कर सकेंगे। यथा—

१ महास्रोतपर असर करनेवाले द्रव्य (Drugs acting on the Alimentary Canal)	वमन, उत्क्लेशकारि, दीपन, पाचन स्रंसन, विरेचन, ग्राहि आदि।
२ रुधिराभिसरणपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Heart and Circulation)	हृद्य, बल्य, संज्ञास्थापन, बृंहण, शोणितास्थापन आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३ मूत्रजननपर क्रियाकरनेवाले द्रव्य (Kidneys and Diuresis)	मूत्रसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय, मूत्रविरेचनीय आदि।
४ प्रजननयन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Genital system and Sexual powr)	शुक्रल, वाजीकरण, पुंस्त्वोपघाती, प्रजास्थापन, गर्भस्थापन आदि।
५ त्वचापर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Skin and its appendages)	स्वेदोपग, स्वेदापनयन, रोमशातन, रोमसंजनन, कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न, दाहहर, वर्ण्य आदि।
६ श्वसनयन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Respiratory tract)	कासहर, श्वासहर, श्लेष्मप्रसेकी, कफविलयन, लेखन आदि।
७ नाड़ीतन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Nervous System)	स्वप्नजनन, मादक, सौमनस्यकर, संज्ञास्थापन आदि।
८ सार्वदैहिक रसव्यापारोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य(Metabolism)	रसायन, बल्य, संशमन, जीवनीय, व्यवायि, विकासि आदि।

इस प्रकार आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान के अनुरूप वर्गीकरण भी किया जा सकता है। औषधों के आयुर्वेदोक्त कर्मों का स्थानानुसार भी वर्गीकरण किया जा सकता है। जैसे—कण्ठ्य, शिरोविरेचनीय, विम्लापन आदि द्रव्यों की क्रिया स्थानिक (Local) होती है। देहव्यापी क्रिया करनेवाले द्रव्यों की संख्या बहुत बड़ी है।

इस अध्यायपर दृष्टिपात करने से विदित होगा कि आयुर्वेद के द्रव्यसंग्रह में संज्ञानाशक (Anaesthetics), जन्तुनाशक (Germicidal) तथा निद्राप्रद (Hypnotics) औषधों की संख्या नगण्य है। रक्षोघ्न द्रव्य एक प्रकार के जन्तुनाशक द्रव्य हैं, आजकल राक्षसों की अपेक्षया जन्तु ही अधिक देखने में आते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य द्रव्यसंग्रह में मेध्य, रसायन, वाजीकरण आदि को न्यूनता लक्षित होती है। इस विषय में क्या होना या करना चाहिए इसका निर्णय वाचकोंपर ही छोड़ता हूँ।

औषधीय कर्मों के कारण (Causes of Pharmacological actions of Drugs)।

जो आयुर्वेद में प्रयुक्त परिभाषाओं को समझते हैं वे इसमें दिए हुए द्रव्यों का वर्णन समझ सकते हैं। परन्तु देशके दुर्भाग्य से अनेक सुशिक्षित डाक्टर ये परिभाषा नहीं समझने के कारण आयुर्वेद का द्रव्यगुणविज्ञान समझने में असमर्थ होते हैं, जिससे देश को आर्थिक क्षति होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जैसे आहारद्रव्य सब समान नहीं होते और उनकी शरीरपर पोषक क्रिया समान नहीं होती वैसे औषधद्रव्य भी सब समान नहीं होते और उनका रोगनाशक प्रभाव भी समान नहीं होता, यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। औषधों-के गुण-धर्मों का वर्णन सैकड़ों वर्षों के अवलोकन और अनुभव का परिणाम है[1]।

कारणों की चर्चा में प्रभाव को एक ओर रखकर हम गुणों का ही विचार करते हैं। कारण, गुणों के विचार के साथ रस, वीर्य और विपाक का भी विचार संकलित हो जाता है।

औषधद्रव्य किस कारण कार्यसाधक होते हैं इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर निम्न दिया गया है।--

तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्।
किंचिद्रस-विपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥

—सु. सू. अ. ४०

द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्, गुणप्रभावाद्, द्रव्य-गुणप्रभावाच्च कार्यकराणि भवन्ति॥ —च. सू. अ. २६

इस उत्तर का विस्तार इस ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में आ गया है। जैसे-- आधुनिक विज्ञानवादी द्रव्यों के गुणों का खुलासा उनके संघटन (Structure of composition) की दृष्टि से करते हैं उसी प्रकार प्राचीन आचार्योंने द्रव्यों के गुणों का खुलासा उनके पाञ्चभौतिक संघटन को दृष्टि में रखकर किया है। परन्तु शरीर के संपर्क में आने के पश्चात् द्रव्य के जो औषधीय गुण देखने में आते हैं उनमें शरीर में स्थित पदार्थों की द्रव्योंपर होनेवाली क्रियाओं का भी अन्तर्भाव हो जाता है। अतः गुणों को कर्मानुमेय कहा है। आशय यह है कि द्रव्य रोगी को देकर उनकी क्रिया देखे बिना उसके गुणों का निश्चय नहीं हो सकता। द्रव्यों की दोषहरण-

---

१--उदाहरणतया, चरक और सुश्रुत दोनों ने घृत को अग्निदीपन माना है (देखिये सु. सू. अ. ४५ तथा च. सू. अ. २७) और इसके इस कर्म को प्रभावजन्य कहा है। वर्तमान में खाद्यपदार्थोंपर जो परीक्षण हो रहे हैं उनसे विदित हुआ है कि दालों (Pulses) में विद्यमान प्रोटीन (Protein) मूत्रपिण्डों तथा यकृत्पर बुरा असर रखता है। परन्तु दालों का उपयोग यदि घी या कॉडलिवर ऑइल के साथ किया जाय तो इस बुरे असर से बचा जा सकता है। घी में स्थित यह गुण एक विशिष्ट पदार्थ (जिसे प्राचीनों ने प्रभाव कहा है) के कारण है, जो यकृत् को बिगड़ने नहीं देता अर्थात् पाचनशक्ति को बिगड़ने नहीं देता (देखिये Indian Medical, Gazette, Sept. 1943)। आधुनिक विद्वान् जहाँ-जहाँ विशिष्ट गुणकारक पदार्थ (Active principle) मानते हैं, वहाँ-वहाँ प्राचीन विद्वान् वीर्य या प्रभाव मानते थे।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शक्तिकी (दोषकरण शक्ति की भी) वास्तविक परीक्षा मनुष्य शरीरपर किये गये परीक्षणोंद्वारा ही हो सकती है।

मद्य तथा विष के वर्णन में और दीपन, पाचन, व्यवायी, विकासी, वाजीकरण आदि के वर्णन में जो शैली दिखाई देती है वह आधुनिक द्रव्यविज्ञान के ग्रन्थ में स्थान पाने लायक है। यह वर्णन बहुत ही सुसंबद्ध है। इससे द्रव्यों के कर्मों का वर्णन करते हुए उनके गुणों का वर्णन, द्रव्यों की शरीर में होनेवाली गति तथा उसमें होनेवाले परिवर्तनों की जानकारी परंपरा से हो जाती है।

यह विषय सरलता से समझने के लिए हमें कुछ बातें दुहरानी पड़ेंगी। आहार-द्रव्यों का पाचन होकर उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाला रस का सार भाग अन्त्रों द्वारा शोषित होकर रसधातु बनता है। यह सारे शरीर में फिरता हुआ समस्त धातुओं का पोषण करता है (देखिये—सुश्रुत सू. अ. १४)। पोषणक्रम समझाते हुए तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—क्षीरदधिन्याय, केदारीकुल्या-न्याय तथा खलेकपोतन्याय। औषधद्रव्योंकी गति भी इस क्रमके अनुसार है[1]। विपाक (जिनकी चर्चा आगे होगी) होने के पश्चात द्रव्य रुधिर प्रवाह में प्रविष्ट होते हैं। कई द्रव्य धी में से चूसे जाकर और कई शीघ्र चूसे जाकर सारे शरीरमें फैल जाते हैं। कई संपूर्ण धातुओं पर धीमें-धीमें क्रिया करते है और कई शीघ्र ही अमुक धातु (Tissue) पर क्रिया करते हैं (मन्द, तीक्ष्ण)। इस बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

दीपन—ये द्रव्य जठराग्नि को प्रदीप्त करते हैं, अर्थात् जठररस को बढ़ाते हैं जिससे भूख अधिक लगती है. जैसे भाँग। पाचन द्रव्य आमको पचाते हैं परन्तु जठररस में विशेष वृद्धि नहीं करते, जैसे नागकेसर। इन कर्मोंका कारण द्रव्यों का पाञ्चभौतिक संघटन कहा गया है। पृथ्वी और वायु के गुणों की अधिकतावाले द्रव्य दीपन तथा अग्नि के गुणों की अधिकतावाले द्रव्य पाचन कहे गये हैं। आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान इन कर्मों का कारण इन द्रव्यों के संघटन में स्थित विशिष्ट

१—आयुर्वेदिक वाङ्मय में यकृत्, फुप्फुस तथा मूत्रपिण्ड जैसे महत्वपूर्ण आशयों का वर्णन नहीं पाया जाता। सूत्रात्मक अथवा अव्यक्त निर्देश विद्यार्थियों या वाचकों को लाभकर नहीं होता। द्रव्यों के गुण कर्म की चर्चा से ये आशय बारंबार आते हैं। यकृत् पाचन तथा रक्तोत्पादन की क्रियामें जैसा महत्वका भाग लेता है, ऐसा ही महत्त्व का भाग यह शरीर की विषद्रव्यों से बचाने में भी लेता है। मूत्र-पिण्ड विषरूप द्रव्यों को शरीर से बाहर करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। कितनेक औषधद्रव्य शरीर के अनेक स्रोतोंद्वारा बाहर निकल जाते हैं। मल,मूत्र,स्वेद, श्वासो-च्छ्वास, आर्तव आदि मे इनका अस्तित्व पाया जाता है (देखिये प्रमाथी द्रव्योंका वर्णन)। मेरी नम्र सम्मति में, आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानकी दृष्टिसे द्रव्योके शरीरमे प्रसर, संचय और निःसरण का वर्णन करना विद्यार्थियों के लिये हितावह होगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणजनक पदार्थोंका होना बताता है। दीपन और पाचन दोनों सहकारी शरीर-व्यापार हैं और इनका स्थान मुख्य करके आमाशय है। आढ़मल्ल ने इनका समाधान द्रव्यप्रभावद्वारा किया है। रसवैशेषिक में दिया गया समाधान अधिक युक्तियुक्त है। यहां यह भी उल्लेख करना चाहिये कि दीपन और पाचन दोनों कर्म कर सकनेवाले द्रव्य अनेक हैं। दीपन और आमपचन कर्म स्थानिक कर्म हैं। सो, यह इन द्रव्यों की आमाशयपर होनेवाली क्रिया हुई। इसके पश्चात् ये द्रव्य रुधिरप्रवाह में प्रविष्ट होकर शरीर मे संचार करते हैं और अन्य औषधीय गुणों को प्रकट करते हैं। जैसे भांग और नागकेशर की शरीरपर क्रिया प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वमन, छर्दिनिग्रहण इत्यादि कर्मोंका समाधान किया जा सकता है।

अब हम इसी पद्धति से अन्य गुणों की परीक्षा करेंगे।

आशु (आशुकारी), व्यावायी, विकासी आदि गुण रुधिराभिसरणद्वारा होने वाला द्रव्यका प्रसर सूचित करते हैं। द्रव्यों के इन गुणोंके कारण वे रुधिरमें शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं; जैसे मद्य[1]। मद्य का पाक रुधिर में प्रविष्ट होने के अनन्तर शुरू होता है और वह (मद्य) शरीर के प्रत्येक कोष को वेष्टित कर लेता है[2]। इसके पश्चात् इसके अन्य गुण उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष आदि प्रकट होते हैं। इसी भांति विषद्रव्य भी शीघ्र ही रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं और शरीर के विविध तन्त्र यन्त्रोंपर अपनी क्रिया करते हैं। इन क्रियाओं का वर्णन गुणवाचक शब्दोंद्वारा किया गया है। चरकने कल्पस्थान में वमन और विरेचन द्रव्यों की क्रिया समझाते हुए इन द्रव्यों के वीर्य की क्रिया हृदयपर होती हुई कही है 'स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य, (देखिये इस ग्रन्थ में पृ० ६५), यद्यपि द्रव्य महाश्रोत में स्थित होते हैं। मदन-फल का वमनकर्म तथा त्रिवृत का विरेचनकर्म आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान के अनुसार इनमे स्थित विशिष्ट गुणकारक तत्त्वोंके कारण है। इन तत्त्वों को यदि इन द्रव्योंसे

१—द्रव्यों के गुणकर्मों के विषय में सभी तज्ज्ञ एकमत हों यह संभव नहीं; जैसे—मद्यके विषय में। मद्य को सुश्रुत शुक्र-नाशक कहता है पर भेल इसे वृष्य ही समझते थे, कारण आरम्भ मे इसका हर्षण गुण व्यक्त होता है। परन्तु अधिक सेवनसे ओजस् और शुक्र का नाश होता है। कदाचित् भेलने तात्कालिक क्रियाका निर्देश किया हो और सुश्रुतने आनुबन्धिक (न्यूनाधिक काल के पश्चात् होनेवाली) क्रियाका। मद्यके शेष गुणोंका वर्णन लगभग समान है। देखिये भेलसंहिता पृ० २१६। 'हर्षणाद् वृष्यमुच्यते'; तथा—'तीक्ष्णं चोष्णं तथा रूक्षमाशुकायी व्ययी च'। इस प्रकार मुद्रित उपलब्ध संहिताका पाठ भ्रष्ट है। 'आशुकारि व्यवायि च' यह पाठ होना चाहिए, जिससे संहिताओं में एकवाक्यता रह सकेगी। हां, यह पाठशुद्धि सूचित करता हुआ मैं उनसे क्षमा चाहता हूँ जो मानते हैं कि वर्तमानमें उपलब्ध संहिताओं के पाठ शुद्ध हैं।

२—'शरीरावयवान् सर्वाननुगच्छत्यणूनपि' (भे.); 'विशत्यवयवान् सूक्ष्मान्' (सु.)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पृथक् कर दिया जाय तो इन द्रव्यों की वमन और विरेचन कराने की शक्ति नष्ट हो जायगी।

द्रव्यों के गुणों में रस गुण (Taste) का स्थान प्रधान है। रस को आप्य विशेषण दिया गया है, जो सार्थक है। कारण, जड़द्रव्य के (Matter) विकासक्रम में जब तक जलावस्था (Liquid state) न आवे तब तक रस का आविर्भाव नहीं होता। इसी प्रकार यदि किसी अद्राव्य (Insoluble) पदार्थ का जिह्वा को स्पर्श हो तो जिह्वा को रस की प्रतीति नहीं होती। अर्थात् रस की प्रतीति के लिए द्रव्य ऐसा होना चाहिए कि वह द्रवित हो सके। यदि द्रव्य के अमुक परमाणु भी जिह्वापर स्थित स्राव के साथ न मिल जायँ—द्रवित न हो जायँ—तो हमें रस की प्रतीति नहीं होती। रसभेद का कारण 'शेषभूतसंसर्ग' है—इस सूत्र की आधुनिक विज्ञान पुष्टि करता है। एवं, 'रसो निपाते द्रव्याणां' यह परीक्षाविधि भी यथार्थ है, शर्त इतनी है कि द्रव्य ऐसा होना चाहिए कि वह द्रवित हो सके। सोना, चाँदी आदि कठिन पदार्थों को जिह्वापर लगानेपर उनके रस का स्पष्ट भान नहीं होता। तथापि जिह्वापर स्पर्श की संज्ञा होती है, जिसे विज्ञानवादी धातवीय रस (Metallic taste) कहते हैं। रसयुक्त द्रव्य त्वचापर छुआने से भी क्रिया होती है, परन्तु उसे रस की संज्ञा नहीं होती। कषाय और कटुरसवाले द्रव्यों की त्वचापर स्थानिक क्रिया होती है यह सर्वविदित है।

विविध रसोंवाले द्रव्यों के वर्णन में (देखिये अध्याय ३, पृ० १६३-१८०) रसों की मुख और महास्रोतपर होनेवाली स्थानिक क्रियाओं तथा सार्वदैहिक पारंपरिक क्रियाओं (General and indirect action) का भी वर्णन हुआ है। वह आधुनिक विज्ञान से संपूर्णतः मिलता है। तथापि, आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान में द्रव्यों का वर्गीकरण रसप्रधान नहीं पाया जाता किन्तु, विभिन्न रसोंवाले औषधों का तथा इन रसों से युक्त द्रव्यों के गुण-कर्मों का वर्णन पाया जाता है। पहले कह आये हैं कि आधुनिकों का वर्गीकरण शारीरिक व्यापारों को लक्ष्य में रखकर किया गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान के ग्रन्थों में शर्करा-समूह (Sugars) के वर्णन में मधुररस के गुण-कर्मों का, एसिडों या अम्ल पदार्थों के (Acids) वर्णन में अम्लरस के गुण-कर्मों का, क्षारों (Salts) के वर्णन में लवण रस के गुण-कर्मों का, उड्डयनशीलतैलवर्ग (Volatile oils) के वर्णन में कटुरस के गुण-कर्मों का, तिक्तवर्ग के (Bitters) वर्णन में तिक्तरस के गुण-कर्मों का और ग्राहीवर्ग-(Astringents) वर्णन में कषायरस के गुण-कर्मों का वर्णन उपलब्ध होता है। अतः जिज्ञासुओं को आकर ग्रन्थों में इस विषय का सविस्तर वर्णन देख लेना चाहिए।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सब रस एक समान बलवाले नहीं होते। यह बात उनकी जिह्वापर होनेवाली स्थानिक क्रिया तथा शरीरपर होनेवाली सामान्य क्रिया से सिद्ध होती है। (देखिये अध्याय ३, पृ. १५१-१६२)। यदि जिह्वापर विभिन्न रसोंवाले द्रव-द्रव्य छुआए जावें तो इस बात का तत्काल अनुभव किया जा सकेगा। मधुररस सबसे अधिक बलवान् है और कषायरस सबसे दुर्बल है। इसी कारण रोगी जब अत्यन्त निर्बल हो गया हो तो उस अवस्था में मधुररसवाले द्रव्य मुखद्वारा, त्वचा के नीचे किंवा सिराव्यधद्वारा दिये जाते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कई एक औषधद्रव्य जिह्वा की रसग्राही शक्ति का कुछ काल के लिये लोप कर देते हैं। उदाहरणतया कोकेन (Cocaine) लेने से जिह्वा तिक्तरस का और मधुनाशिनी (गुड़मार=Gymnema Sylvestre) लेने से मधुर रस का अनुभव नहीं कर सकती। यह प्रभाव थोड़े समय में लुप्त हो जाता है।

इन रसों को लक्ष्य में रखकर द्रव्यों का एक अन्य भी वर्गीकरण किया गया है (देखिये—अ. ३, पृ० २२१-२२२)। इसके पूर्व पहले अध्याय में कर्मभेद के अभिप्राय से किया गया वर्गीकरण वाचकों के ध्यान में होगा। इस वर्गीकरण का उद्देश्य द्रव्यगुणविज्ञान का क्षेत्र बढ़ाना है। रसों की शरीर के विभिन्न अङ्गोंपर होनेवाली क्रिया अनुमानगम्य है —रोगी की अवस्थाद्वारा रसों के दोषसंजनन या दोषसंशमन कर्म का अनुमान किया जा सकता है। इसके बाद पुनः अवलोकन-पद्धति का अवलम्बन करना होता है और यह अवलोकन मानवशरीरपर होना चाहिए, न कि केवल प्राणियों पर।

द्रव्यों के प्रधान गुण रस का विचार संपूर्ण हुआ। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आयुर्वेद के सिवाय अन्य किसी चिकित्सापद्धति में रस के प्रति इतना लक्ष्य नहीं दिया गया है।

अब हम **विपाक** का (अ. ४) विचार करते हैं। आहारद्रव्यों और औषध-द्रव्यों के शरीर में जानेपर उनकी क्या दशा होती है यह प्रत्यक्ष प्रमाण का नहीं किन्तु अनुमान का विषय है। अतः कर्मनिष्ठा के सिवाय इसे जानने का कोई उपाय नहीं है। पहले हम आहारद्रव्यों का और पश्चात् औषधद्रव्यों का विचार करेंगे।

अवस्थापाक (Stages of Digestion)—भगवान् चरकने इसका विचार ग्रहणीचिकित्सा में विस्तार से किया है (देखें इसी ग्रन्थ में पृ० २३०)। मुखमार्ग से प्रविष्ट होकर बृहदन्त्रतक पहुँचनेतक आहारद्रव्यों में होनेवाले भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तनों का (Physical and Chemical changes) इसमें निर्देश है। पाचनसंस्थान (Digestive system) के इन व्यापारों में नाड़ी-संस्थान (Nervous system) भी भाग लेता है, जो प्राण और समान वायु के कर्मोंद्वारा अभिप्रेत है। इसके बाद मुख, आमाशय, ग्रहणी तथा बृहदन्त्र में होने-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाले परिवर्तनों का उल्लेख है। इस प्रकरण में जठराग्नि का अर्थ है आधुनिक विज्ञानवादियों के पाचनक्रिया में भाग लेनेवाले रस तथा किण्वद्रव्य (Digestive-fluids and Enzymes); जैसे लालास्राव, जठररस, अग्न्याशयरस, अन्त्ररस, पेप्सीन आदि। अवस्थापाक होते हुए मलरूप कफ, पित्त और वात की भी उत्पत्ति होती है, यह बात शरीरव्यापारशास्त्र का कोई भी आधुनिक आकरग्रन्थ पढ़ने से स्पष्ट समझ में आएगी। इस प्रसंग में प्रत्येक अभ्यासी को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए और विद्वान संग्रहकारने भी अपनी टिप्पणी में यह बात स्पष्ट की है कि यहाँ कही गयी उत्पत्ति त्रिधातुरूप वात-पित्त-कफ की उत्पत्ति नहीं है[1]।

विपाक-निष्ठापाक (Final Product of Digestion)--पाचन-क्रिया के परिणामस्वरूप जो द्रव-पदार्थ बनता है उसका सारभाग--प्रसादरूप भाग हृदय की ओर जाता है, और किट्टरूप भाग मल-मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। यहाँ स्पष्टीकरण के लिए यह लिख देना योग्य है कि प्रसादरूप आहार-रस दो मार्गों--प्रतिहारिणी सिरा तथा रसकुल्या-द्वारा हृदय में जाता है। एवं किट्टभाग सीधा बस्ति (Bladder) में नहीं जाता, परन्तु मूत्रपिण्डों (Kidneys) द्वारा विश्लिष्ट होकर बस्ति में जाता है। आयुर्वेदिक वाङ्मय में यह बात स्पष्ट रूप में कही नहीं गयी है, यह मेरा नम्र मत है[2]। इस विपाक के परिणामस्वरूप तैयार होनेवाले द्रव-पदार्थ का भी अपना रस (Taste) होता है, जो अनुमानगम्य अथवा कार्यानुमेय है। यह रस मधुर, अम्ल अथवा कटु हो सकता है, ऐसा त्रिविधविपाकवादी कहते हैं। आधुनिक विज्ञान इसका समर्थन करता है। कारण, आजकल परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि प्रोटीनों में पचन के अन्तिम परिणाम-स्वरूप एमाइनो एसिड (Amino acids) नाम के अम्ल पदार्थ तैयार होते हैं। इसी प्रकार आहार के कर्बोदित या स्टार्चवाले पदार्थों के पाचन के परिणामरूप ग्लु-कोज (Glucose) नामक मधुर पदार्थ तथा चरबीवाले या स्निग्ध पदार्थों के पचन के परिणामरूप कटुरसप्रधान फॅटी एसिड्स और ग्लिसेरोल (Fatty acids and Glycerol) नाम के पदार्थ तैयार होते हैं। निष्ठापाक के परिणामरूप कौन रस (या किस रसवाला द्रव पदार्थ) बनता है, यह द्रव्यविशेषपर--आहारद्रव्य के प्रकारपर--अवलम्बित है। तथा विपाक में विपर्यास होना या न होना यह द्रव्य के प्रमाण, संस्कार, सात्म्य आदिपर अवलम्बित है (अध्याय ४, पृ० २६३)। यहाँ

१--यह वस्तुस्थिति स्पष्ट न समझने से वात-पित्त कफ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कैसी उलझन पैदा होती है यह जानने के लिए देखिये कविराज डी. एन्. रॉयकृत 'The Principles of Tridosh in Ayurved' प्रकरण १३, पृ० १०१।

२--स्व० पं० हरिप्रपन्नजी तथा म० म० कविराज गणनाथ सेनजीने मूत्र-पिण्डों के व्यापार के सम्बन्ध में जो खुलासा किया है वह मुझे संतोषप्रद नहीं लगता।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्विविधविपाकवादियों के मत का —गुणविपाकवाद का—भी विचार करना उचित है। गुणों की दृष्टि से देखें तो यह मत भी विज्ञानसंमत है। कारण, आहार-द्रव्यों का पाचन होने के पश्चात् जो रस तैयार होगा वह या तो गुरु होगा या लघु। विज्ञान कहता है कि सामान्य परिस्थिति में प्रोटीनों का (Proteins) पाक गुरु होता है, और कर्बोदितों (Carbohydrates) तथा स्निग्ध द्रव्यों (Fatty-articles) का पाक लघु होता है। फलितार्थ यह कि दोनों विपाकवादियों के मत शास्त्रीय और सत्य हैं, तथा अनुभव और अवलोकन के आधारपर स्थापित हैं।

महास्रोत में आहारद्रव्यों की जठराग्नि की क्रिया के परिणामरूप क्या दशा होती है यह हमने देखा। परन्तु इस सौम्य आहाररस का शोषण होने के पश्चात् इसमें अन्य असंख्य परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों का अनुमान देह के स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारण आदि के द्वारा हो सकता है। रुधिरप्रवाह में प्रविष्ट होने के पश्चात् धमनियों द्वारा शरीर में फैलते हुए इनमें अन्य भी पाकक्रिया होती है या नहीं यह प्रश्न विचारने योग्य है। शरीर से बाहर की दृश्य-सृष्टि में अग्नि और सूर्यकिरणों की उष्णता से पाकक्रिया होती है। शरीर में जठराग्नि के अतिरिक्त कोई अग्नि है या नहीं यह प्रश्न है। भगवान् चरकने इसका उत्तर 'हाँ' में दिया है और पाँच भूताग्नियों और सात धात्वग्नियों का अस्तित्व प्रतिपादित किया है (देखिये च. चि. अ. १५, श्लो. १३-१५)। साथ ही यह भी कहा है कि वे बारह अग्नियाँ जठराग्नि के आश्रित हैं। आधुनिक वैज्ञानिक जिसे मेटाबोलिज्म (Metabolism) अथवा आन्तर्देहिक रासायनिक परिवर्तन कहते हैं उन परिवर्तनों का आयुर्वेदाचार्योंने धातुओं के उत्पत्तिक्रम तथा बारह अग्नियों की क्रियाओं में समावेशित किया है[1]।

आहार द्रव्यों के पाचन के परिणामस्वरूप-विपाक के अन्त में-सारभूत आहार-रस हृदय में जाता है और रसधातु नाम से अभिहित होता है। इससे अन्य धातुएँ बनती हैं। परन्तु रस जैसे द्रव पदार्थ से अस्थि जैसी कठिन धातु का बनना क्या कम चमत्कार है? इस घटना के लिए एक पाकक्रिया की आवश्यकता है, और इसके लिए विशिष्ट गुण-धर्मवाला अग्नि होना चाहिए।

आयुर्वेदाचार्यों के कहे हुए इन अग्नियों के व्यापारों को समझने में आधुनिक विज्ञान बहुत उपयोगी है। रजस् और शुक्र के सम्मिलन के फलस्वरूप एक फलित

१—डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जीने इस देहोष्मा को चौदहवें अग्नि के नाम से पुकारा है। यह चौदहवाँ अग्नि इनका मानसपुत्र है। कारण, आयुर्वेद में चौदहवें अग्नि का निर्देश ही नहीं है और देहोष्मा को भ्राजक पित्तका कर्म कहा है। देखिये—सुश्रुत. सु. अ. १६. 'ऊष्मा शरीरोष्मा, स त्वक्स्थभ्राजकपित्तस्य कर्म'—चक्र०। इसी प्रकार म. म. क. गणनाथसेनजीने आग्नेयरससंवहन का वर्णन किया है, जो भ्रान्तिमूलक प्रतीत होता है; कारण सुश्रुतने आहाररस को जोर देकर 'सौम्य' कहा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बीजकोष (Fertilized Ovum) उत्पन्न होता है, जिससे करोड़ों कोष उत्पन्न होते हैं, और उनके आकार तथा गुण-धर्मों में परिवर्तन होता है। इनका आहार—नाभि-नाड़ीद्वारा मिलनेवाला माता का आहाररस—एक होते हुए भी क्यों कोषों के आकार और गुण-धर्मों में भेद आता है? क्यों उनके भौतिक एवं रासायनिक गुणों में भिन्नता होती है? इसका उत्तर स्वभाव, प्रकृति, ईश्वर जो कहो वह है[1]। परन्तु इनके निरीक्षण तथा परीक्षा से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न प्रकारके कोष भिन्न-भिन्न धातुओं का निर्माण करते हैं और अपने अनुकूल पदार्थ आहाररस में से लेकर जीवननिर्वाह करते हैं। उदाहरणतया, रुधिर लोह को (Iron) पसन्द करता है, ज्ञानतन्तु फॉस्फरस तथा प्रोटीनों (Nucleoprotein) को, मांसपेशियाँ भी प्रोटीनों को तथा अस्थियाँ चूने के क्षारों को (Calcium Salts) खूब संचित करती हैं। खलेकपोतन्याय के समान अपने-अपने को पसन्द आहार ग्रहण करनेवाले ये भिन्न-भिन्न धातुओं के निर्मापक कोष, ग्रहण किये हुए पदार्थ को जैसे का तैसा अपने अङ्ग में समाविष्ट नहीं कर लेते, किन्तु इन पदार्थों को किञ्चित् बदलकर, अपने लिए सात्म्य रूप देकर अपने-कोष में प्रविष्ट करते हैं। आहारद्रव्यगत प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेहवाले पदार्थ जठराग्नि के पाक के बिना तथा उसके अनन्तर धातुओं के कोषों में होनेवाली पाकक्रिया के बिना शरीर के लिए उपयोगी नहीं होते। एक सीधा दृष्टान्त लें। दूध एक उत्तम आहारद्रव्य है, परन्तु तभी जब कि जठराग्नि-द्वारा इसका सम्यक् पाक हो। जब दूध के केवल पन्द्रह से बीस बिन्दु सूचीवेध द्वारा त्वचा के नीचे प्रविष्ट किये जाते हैं तो मनुष्य को सहसा ज्वर हो आता है। कारण, दूध का पोषक तत्त्व (Protein) सम्यक् परिणत न होने के कारण अमृत के स्थानपर विष की क्रिया करता है। फलितार्थ यह कि शरीर के अन्य बारह अग्नि जठराग्नि-की प्राथमिक क्रिया के बिना अपना कार्य ठीक से नहीं कर सकते। अतएव इसे सर्वोपरि मान दिया गया है—'अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिको मतः'—(च. चि. अ. १५)। रस, रक्त आदि धातुओं में ये धात्वग्नि तथा भूताग्नि रहते हैं। प्रत्येक धातु का अग्नि इन धातुनिर्मापक कोषों में (Tissue Cells) प्रवर्तमान भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तनों का मूल है, जब कि न धातुओं का भूताग्नि इस बात का निर्णय करता है कि इनमें कौन-सा महाभूत अधिक प्रमाण में

१—'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा। परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः॥ सु. शा. अ. १।' सजीव तथा निर्जीव सृष्टि के पार्थक्य का कारण शोधन के लिए मनुष्य जाति प्राचीन काल से संलग्न है। इस विचारमन्थन के परिणामस्वरूप जो-जो मुख्य वाद सामने आये उनका सुन्दर निर्देश इस श्लोक में भगवान् सुश्रुतने किया है। आयुर्वेदाचार्यों ने इन सबों का समन्वय करके अपना चिकित्सा-शास्त्र रचा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रहता है। उदाहरणतया, कर्णेन्द्रिय में आकाश, जिह्वा में जल, घ्राणेन्द्रिय में पृथ्वी इत्यादि। आधुनिक विज्ञानवादी अपनी दृष्टि से प्रत्येक धातु का विशिष्ट रासायनिक संघटन बताते हैं। संक्षेप में कहें तो विपाकक्रिया बहुत लम्बी और उलझन भरी है और सभी अग्नि इसमें थोड़ा-बहुत भाग लेते हैं।

अब इन तथ्यों को लक्ष्य में रखकर औषधद्रव्यों का विचार करते हैं। इनके ऊपर पहले जठराग्नि की और पीछे धात्वग्नियों और भूताग्नियों की क्रिया होती है। कई औषधद्रव्य--व्यवायी या विकासी, जैसे मद्य--जठराग्नि की क्रिया पूरी होने के पूर्व ही रुधिरप्रवाह में मिल जाते हैं और अपने औषधीय कर्म व्यक्त करने लगते हैं। परन्तु धात्वग्नियों की क्रिया से वे नहीं बच सकते और भिन्न-भिन्न धातुओं में (Tissues) इनका पाक होने लगता है। परन्तु औषधद्रव्यों में अधिकांश जठराग्नि के संपर्क में आते हैं। परिणामतः द्रव्यों का रूपान्तर होता है, कइयों का नाश भी होता है और कई द्रव्य विशेषतः खनिज द्रव्य—(Metals) थोड़ी पाकक्रिया के बाद मलद्वार से शरीर के बाहर निकल जाते हैं। इसी कारण धातुओं की भस्में तैयार करते हुए इनका बारंबार पाक किया जाता है, जिससे शरीर के अग्नियों का कार्य सुगम हो जाता है, तथा दोषप्रकोपक गुणों का नाश होकर दोषहरण या दोषसंशमन गुणों का आधान होता है। विज्ञान की परिभाषा में कहें तो भस्मों के परमाणुओं में ऐसे गुण उत्पन्न किये जाते हैं कि जिनकी सहायता से ये परमाणु शारीरिक कोषों के जीवनरस (Protoplasm) में सरलता से मिल सकते हैं और अपने औषधकर्म (Pharmacological action) व्यक्त कर सकते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राणिजन्य औषध शरीर में शीघ्र मिल जाते हैं और उनका विपाक सरलता से होता है। परन्तु खनिजद्रव्य निरिन्द्रिय होने से विपाक में कठिनाई होने से शीघ्र शरीर में मिल नहीं सकते। ये द्रव्य किस प्रकार प्रयुक्त किये जाने से शरीर के लिए उपकारक हो सकते हैं इस विषय में प्राचीन और अर्वाचीन द्रव्यगुणविशारद अबतक एकमत नहीं हुए हैं।

वीर्य (अध्याय पाँचवाँ)--शक्तिमात्रवाचक वीर्य (Potency) शब्द का इस प्रकरण में विचार नहीं किया जायगा। परन्तु आयुर्वेदाचार्यों द्वारा पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत वीर्य का ही हम इस स्थलपर विचार करेंगे। आयुर्वेद के पारिभाषिक वीर्य का अर्थ क्या है? द्विविध तथा अष्टविध वीर्यवादियों की युक्तियाँ पढ़ने के पश्चात् प्रभूतकार्यकारी गुण—प्रकृष्टशक्तिसंपन्न गुण--ही वीर्य है यह मत मुझे ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। मुझे बौद्ध द्रव्यगुणवेत्ता भदन्त नागार्जुन की युक्तियाँ स्वीकार्य लगती हैं। औषधद्रव्यों में ऐसी कौन सी शक्ति है जिसका उनके (औषधद्रव्यों के) गुणों, रस, विपाक और प्रभाव में समावेश नहीं हो सकता? तथा, तुल्य गुण, रस, विपाक और प्रभाववाले द्रव्यों के औषधीय कर्मों (Pharma-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

cological action) में भिन्नता का कारण क्या है? वीर्य के अस्तित्व के विषय में तो कोई शङ्का ही नहीं है। मेरी नम्र बुद्धि के अनुसार वीर्य का अर्थ है औषध-द्रव्यों में स्थित **विशिष्टगुणोत्पादक तत्त्व** (Active Principles), जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। द्रव्यों का रासायनिक पृथक्करण (Chemical Analysis) करने के साधन जब आज के समान विपुल तथा सुलभ नहीं थे तब भी इनका अस्तित्व तथा इनके औषधीय कर्मों का ज्ञान प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों को हो गया था और चिकित्सा में औषधद्रव्यों का उपयोग करते हुए उनके वीर्य को विशषत: ध्यान में रखा जाता था यह गौरवास्पद बात है। भदन्त नागार्जुनने प्रचलित मत का-गुणोत्कर्षवाद का—विरोध किया, पर कर्मलक्षण वीर्य का ज्ञान उन्हें भी नहीं हुआ[1]। आजकल औषधद्रव्यों में से इन तत्त्वों को पृथक् करके इनकी परीक्षा की जाती है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि इस वीर्य और द्रव्य का सम्बन्ध क्या है? इसका उत्तर यह है कि जैसे गुण, रस, विपाक, प्रभाव आदि द्रव्याश्रित हैं वैसे यह वीर्य भी द्रव्याश्रित है। उदाहरणतया, अहिफेन में ही तो मोर्फीन (Morphine) रह सकता है; किंवा, विषतिन्दुक—कुचला (Nux vomica) के आश्रय से इसका वीर्य स्ट्रिक्नाइन (Strychnine) रह सकता है। अन्य शब्दों में कहें तो आधुनिक विज्ञानवादियों के मत से द्रव्य और वीर्य-गुणकारक तत्त्वों के मध्य आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। द्रव्य के बिना वीर्य का अस्तित्व संभव नहीं और द्रव्य के गुणों का अर्थ है वीर्ययुक्त द्रव्य के गुण। अब आयुर्वेदाचार्यों द्वारा निश्चित की गयी व्यवस्था के अनुसार वीर्य की परीक्षा करते हैं।—'वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते'—निपात अर्थात् वीर्ययुक्त द्रव्य और जिह्वा-नासिका आदि का संयोग होते ही वीर्य के अस्तित्व की प्रतीति होती है। परन्तु जब इस प्रकार से वीर्य की उपलब्धि न हो सके तो शरीर में वीर्ययुक्त द्रव्य जब तक रहे तब तक

१—कितने द्रव्यों में तुल्य रस-गुण होते हुए भी कर्मों में भिन्नता पायी जाती थी। यह कर्मभेद गुणोत्कर्ष के कारण हो तो रस गुणोत्कर्ष का कारण क्या है? (देखिये पृ० २८६-२९३)। वीर्य कर्मलक्षण होता है यह कहनेपर भी वीर्य अचिन्त्य ही रहता है। अस्य कर्मविशेषस्य दर्शनादेतस्मात् रसगुणाख्यात् कारण-मन्यद्विद्यते। 'अस्य विशेषस्य साधकं तद् वीर्यमिति जानीम' इति (भा०) ये शब्द मेरे इस मत की पुष्टि करते हैं कि इस भेद का जो साधक हो उसे 'वीर्य' कहते हैं। अर्थात् आधुनिक विज्ञान के 'एक्टिव प्रिंसिपल्स' (Active Princi-ples) की विद्यमानता के कारण ही तुल्य रस-गुणवाले द्रव्यों में कर्मभेद एवं गुणोत्कर्ष पाया जाता है। द्रव्य वीर्यरहित अर्थात् सामान्य गुणवाले भी हो सकते हैं। मैं 'प्रबल आठ गुण ही वीर्य हैं, इस लक्षण को बदलना नहीं चाहता। मैं तो केवल कारण बताता हूँ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शरीरपर होनेवाली वीर्य की क्रियाद्वारा उसके वीर्य के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। परीक्षा की इस व्यवस्था के अनुसार भी आधुनिक विज्ञानवादियों के गुणकारक तत्त्व मुझे प्राचीन आचार्यों के वीर्य ही प्रतीत होते हैं। वीर्य चिन्त्य भी हो सकता है और अचिन्त्य भी।

भदन्त नागार्जुन तथा अन्य महान् आयुर्वेदाचार्यों के मत से वीर्य विविध प्रकार के हैं। आधुनिक विज्ञान भी वीर्य अनेक प्रकार के मानता है। देश, ऋतु, भूमि इत्यादि की क्रिया द्रव्योंपर अर्थात् उसमें स्थित वीर्य पर —गुणोत्पादक तत्त्वोंपर— होती है, यह बात सब तज्ज्ञ स्वीकारते हैं। यदि इस वीर्य का नाश हो जाय अथवा औषधद्रव्यों में इसका प्रमाण न्यून होजाय तो औषध हीनवीर्य या निर्बीज हो जाते हैं। आयुर्वेदाचार्योंने वानस्पतिक औषधों के जो-जो अङ्ग——मूल, त्वक्, पत्र आदि——चिकित्सोपयोगी निश्चित किये हैं उन-उन अङ्गों में विज्ञानवादियोंने एक न एक गुणकारी तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध किया है, जैसे त्रिवृत्मूल, अर्जुनत्वक्, इन्द्रयव इत्यादि। कई बार औषधद्रव्य के गुण-धर्म उसके वीर्य से भिन्न होते हैं और कभी समान होते हैं। कभी एक ही द्रव्य में अनेक वीर्य होते हैं, इत्यादि। आशय यह है कि द्रव्य के कर्म के करणों की मीमांसा में गुणोत्कर्ष को वीर्य मानने की अपेक्षया इन औषधद्रव्यों में विद्यमान अमुक विशिष्ट अंश को वीर्य मानने की आजकल के विज्ञानवादियों की प्रवृत्ति है। वानस्पतिक द्रव्यों को छोड़कर प्राणिजन्य तथा खनिजद्रव्यों का विचार करें तो मुक्ता, प्रवाल, ताम्र, सुवर्ण, लोह आदि के औषधीय गुणों के वर्णन में भी शीतवीर्य, उष्णवीर्य आदि शब्द पाये जाते हैं। वहाँ वीर्य का अर्थ क्या किया जाय यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है। आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति में शुद्ध रासायनिक द्रव्यों की अपेक्षया मिश्र रासायनिक द्रव्य अधिक प्रमाण में व्यवहृत होते हैं। भस्मों के निर्माण में सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय द्रव्य (Organic and inorganic substances) एकत्र मिल जाते हैं। इस प्रकार इनके निश्चित रासायनिक सूत्र (Chemical formulae) नहीं बताये जा सकते। परन्तु सामान्यतः कह सकते हैं कि इन भस्मों से भी अमुक अंश——अणु या परमाणु——शरीर में प्रविष्ट होकर अपने औषधीय गुण प्रदर्शित करते हैं। आधुनिक रसायनशास्त्र कहता है और परीक्षणद्वारा सिद्ध करता है कि शरीर के बाहर और शरीर के अन्दर होनेवाले रासायनिक परिवर्तनों में अमुक मौलिक (Radicles) खास भाग लेते हैं। ये मौलिक अमुक परमाणुओं के विशिष्ट व्यूह हैं। इसी विचारसरणि का अनुसरण करता हुआ मैं समझता हूँ कि मुक्ताभस्म के शीतवीर्य अथवा ताम्र के उष्ण वीर्य का अर्थ है इन भस्मों में से पृथक् होनेवाला अमुक परमाणुपुञ्ज जो शारीरिक कोषों पर अपनी विशिष्ट क्रिया प्रदर्शित करता है। आशा है विद्वज्जन इस प्रश्नपर विशेष विचार करेंगे।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रभाव (Specific Action)--जैसा कि ऊपर कह आये हैं, जब औषध के कर्म का कोई भी समाधान कार्यकारणभाव के नियमद्वारा न हो सके तो प्रभाव के द्वारा किया जाता है। और सब औषधकर्मों का समाधान मनुष्य की बुद्धि अब तक नहीं कर सकी है। परन्तु एक बात स्मरण में रखनी चाहिए। आधुनिक विज्ञान प्रभाव को समझने का दिन-प्रतिदिन प्रयास कर रहा है। प्रभाव को अचिन्त्य मानने से वह इनकार करता है।

रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव समान बलवाले हों वहाँ (पृ० २४७) वीर्य और प्रभाव के बल को अधिक बनानेवाला सिद्धान्त आज के विज्ञान के अनुकूल है।

उपसंहार

इस संक्षिप्त निबन्ध में आरम्भ में दी प्रतिज्ञा के अनुसार पूर्व और पश्चिम के द्रव्यगुणविज्ञान सम्बन्धी विचार मैंने प्रस्तुत किए हैं और जिस प्रजा का बालक होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है उस प्रजा ने मनुष्यजाति के हित के लिए जो चिन्तन-मनन किया है उसका सार यहाँ दिया है। यह तैयार करने में मुझे प्रेरित करनेवाले **पूज्य श्रीयुत यादवजी त्रिकमजी आचार्य** का मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। इसमें प्रतिपादित किये हुए विचारों की चर्चा में उत्साहपूर्वक भाग लेनेवाले अपने सहकारी श्रीयुत **डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकर, श्री पण्डित दामोदर शर्मा गौड, श्री पण्डित यदुनन्दन उपाध्याय, श्री पण्डित शिवदत्त शुक्ल तथा श्री पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री** आदि का भी मैं सप्रेम आभार मानता हूँ। अपना अन्तिम मनोरथ महाकवि कलिदास के शब्दों में व्यक्त करता हूँ--

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस
भ्रातृद्वितीया वि. सं. २०००

बालकृष्ण अमरजी पाठक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह कारखाना केवल औषधि-निर्माता ही नहीं है, बल्कि शुद्ध अर्थ में यह एक आयुर्वेदीय संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा-पद्धति—आयुर्वेद का प्रतिसंस्कार और उसके स्वाभाविक मानव-कल्याणकारी गुणों, उसकी विशेषताओं और चिकित्सा-प्रणाली की श्रेष्ठता की जानकारी जनता को करा देना। औषध और ग्रन्थ, दोनों इसके साधन हैं। इसलिये एक ओर जहां यह उत्तमोत्तम औषध-निर्माण द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है, वहीं दूसरी ओर इसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का समुचित प्रबन्ध भी करता है। राजकीय शिक्षासंस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों ने इसके अनेक ग्रन्थों को अपने पाठ्यक्रम की पुस्तकों में प्रमुख स्थान दिया है। पुस्तकों के मूल्यनिर्धारण में सर्वसाधारण की क्रय-शक्ति का पूरा विचार रखकर इन्हें लागत मात्र कीमत पर बेचने का प्रबन्ध होता है। हमारे **आरोग्य-प्रकाश** को तो जनता ने इतना पसन्द किया है कि उसके १६ संस्करणों में डेढ़ लाख प्रतियाँ छप कर हाथों-हाथ बिक चुकी हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों के भी कई-कई संस्करण छप चुके हैं।

अभिनवं शारीरम् (संस्कृत)—लेखक : वैद्य पं. दामोदर शर्मा गौड़ ए. एम्. एस्.। शिक्षा में उच्चता तथा एकरूपता लानेवाला शारीरशास्त्र का अद्भुत ग्रन्थ है। अध्ययन तथा अध्यापन के लिये यह उपयुक्त पाठ्यपुस्तक हो सकता है। शारीरशास्त्र का युगानुरूप परिष्कृत संस्कार कहा जा सकता है।

पृष्ठ संख्या ६००, चित्र संख्या ४००, रंगीन चित्र ११२, मूल्य ७५) रु.

अष्टांग-संग्रह (सूत्रस्थान) — (सर्वाङ्ग-सुन्दर-व्याख्या-सहित) व्याख्याकार—वैद्य पं० लालचन्द्र शास्त्री। श्रीमद्वाग्भट्टाचार्य विरचित 'अष्टांग-संग्रह' आयुर्वेद के प्राचीन संहिताओं में सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक ग्रंथ है। इसमें सूत्र-स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। सूत्रस्थान में कुल ४० अध्याय हैं। इन अध्यायों में जो विषय प्रतिपादित हुए हैं, वे काय-चिकित्सकों की जानकारी के लिये अत्यावश्यक एवं उपयोगी हैं। पृष्ठ संख्या ७७०; मूल्य १२) रु.

अम्लपित्त प्रकरण— बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा आयोजित अखिल भारतीय संभाषण परिषद् में अम्लपित्त निदान और चिकित्सा पर प्रकट किये गये अनुभव इसमें संकलित हैं। मूल्य २) रु.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आरोग्य-प्रकाश—(आरोग्य, स्वच्छता और चिकित्सा पर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ सत्रहवां संस्करण) श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के संस्थापक, **वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा, वैद्य शास्त्री** ने बड़े परिश्रम से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। पूर्वार्द्ध के विषयों को पढ़कर और तदनुसार चलकर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि इस तरह समझाकर लिखे गये हैं कि इसके द्वारा विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे, दोनों समान रूप से लाभ उठा सकते हैं। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है।

पृष्ठ संख्या ५०४; मूल्य ५) रु.

आरोग्य-प्रकाश—(मराठी संस्करण)—श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के प्रबन्ध निर्देशक **बैद्य रामनारायण शर्मा** द्वारा लिखित ग्रन्थरत्न का यह मराठी संस्करण भी हिन्दी संस्करण की भाँति सचित्र है।

पृष्ठ संख्या ५०६; मूल्य ५) रु.

आरोग्य-प्रकाश—(गुजराती संस्करण)—**बैद्यराज पं. रामनारायण शर्मा, बैद्यशास्त्री** द्वारा लिखित। हिन्दी आरोग्य-प्रकाश का यह गुजराती भाषा में अनुवाद है।

पृष्ठ संख्या ६८७; मूल्य ६) रु.

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर— (सचित्र, रायल अठपेजी, विलायती पेपर) लेखक : **वैद्यरणजितराय देसाई, वाइस-प्रिन्सिपल, आयुर्वेद-महाविद्यालय, सूरत**। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड द्वारा प्रकाशित "शारीर-क्रिया-विज्ञान" का देश में सर्वत्र ही समादर हुआ था और हिन्दुस्तान के प्रायः समग्र आयुर्वेदीय कालेजों के पाठ्य-क्रम में वह पुस्तक नियत हो गयी थी। उसी ग्रन्थ का यह संशोधित और परिवर्धित षष्ठम संस्करण है।

आयुर्वेद की इस पुनरुत्थान-वेला में, वैद्य रणजितराय जो स्तुत्य और ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य कर रहे हैं, उसे आज आयुर्वेद-जगत में कौन नहीं जानता? आयुर्वेद के संशोधन को दृष्टि में रख कर उन्होंने जो अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, उन्हीं में से एक ग्रन्थ यह 'आयुर्वेदीय-क्रिया-शारीर' भी है।

प्रस्तुत संस्करण के पाठ्य-विषयों में तो पहले की अपेक्षा अनेक परिवर्तन किये ही गये हैं; इसमें अनेक एकरंगे चित्रों की संख्या वृद्धि कर, विषय को अधिक सुबोध बनाया गया है एवं पुस्तक की उपयोगिता में और भी अधिक वृद्धि कर दी गयी है। पृष्ठ संख्या ८८८, मूल्य २१) रु.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आयुर्वेद सार-संग्रह (नवम संस्करण)—राष्ट्रभाषा में ऐसी आयुर्वेदीय पुस्तकों की बहुत कमी थी, जिनमें रोग-विचार के साथ-साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझाकर सरल भाषा में दिया गया हो। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेदीय साहित्य की इसी कमी को दूर करने का सफल प्रयत्न किया गया है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा बनायी जानेवाली सभी दवाओं की निर्माण-विधि तथा उनके गुण-धर्म और प्रयोग-विधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तर वर्णन सरल हिन्दी भाषा में किया गया है। रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं जिनके देखने से औषध-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी।

पृष्ठ संख्या ७४०; मूल्य १६) रु.

आयुर्वेदीय व्याधि - विज्ञान (पूर्वार्द्ध–तृतीय संस्करण)— लेखक : आयुर्वेद-मार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई। इस ग्रन्थ में व्याधि विज्ञान के साधनों का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। व्याधियों के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य बातों का इस ग्रन्थ में वर्णन है। अध्ययन कर लेने के बाद निदान-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य सिद्धान्त हस्तामलकवत् प्रतिभात हो जाते हैं। आयुर्वेद-प्रेमी विद्वानों, वैद्यों और विद्यार्थियों सभी के लिये यह ग्रन्थ उपयोगी है। पृष्ठ संख्या १२८; मूल्य रु. ३) ४०

आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान (उत्तरार्ध)—लेखक : आयुर्वेद-मार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य। यह ग्रन्थ उपर्युक्त ग्रन्थ का उत्तरार्ध है इसमें ज्वर, महास्रोतगत रोग, उरोगत रोग, रक्तपित्त रोग, पाण्डु रोग, शोथ व्रण, विसर्प, वृद्धि, भग्ननिदान, गलगण्ड, गण्डमाला, कुष्ठ आदि १५ अध्याय हैं।

पृष्ठ संख्या २७४; मूल्य ८) रु.

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान—लेखक : सुप्रसिद्ध आयुर्वेद मनीषी, ह. श्री. कस्तुरे। यह ग्रन्थ पंचकर्म विषय पर प्रथम ही अनोखा वैशिष्ठ्यपूर्ण ग्रन्थ है। स्नातकोत्तर शिक्षण तथा अन्वेषण में लगे हुए छात्रों को पथ प्रदर्शक के रूप में यह उपयुक्त सामग्री होगी। प्रत्यक्ष कर्म में जो वैद्य व्यवसाय में लगे हुए हैं उन्हें प्रत्यक्ष कर्मों की वैज्ञानिक पद्धति इस ग्रन्थ से मिलती है। पंचकर्म पद्धति को पुनरुज्जीवित करने की दिशा में यह ग्रन्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगा।

पृष्ठ संख्या ६८८; मूल्य केवल रु. १५.००।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान (तृतीय संस्करण)—लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई। आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयों का आधारभूत है। अतः इसका अध्यापन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विशद विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है।

पृष्ठ संख्या २८८; मूल्य १२) रु.

आयुर्वेदीय हितोपदेश (द्वितीय संस्करण)—लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई। आयुर्वेद के रहस्य-बोधन के लिये संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। प्रायः आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम की प्रारम्भिक परीक्षाओं में संस्कृत भी एक अनिवार्य विषय रहता है, परंतु इसका अध्ययन-अध्यापन संस्कृत साहित्य के पाठ्य ग्रन्थ-हितोपदेश, पंचतन्त्र प्रभृति आयुर्वेदेतर विषयों के रूप में होता है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के कार्य में दक्ष वैद्य रणजितराय ने 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' नाम की इस पुस्तक का प्रणयन किया है।

पृष्ठ संख्या २८८; मूल्य रु. ४) २५।

उपचार पद्धति (अष्टम संस्करण)— सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकड़ों रुपये प्रतिवर्ष बच सकते हैं, यदि उन्हें उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान हो जाय। इसी लक्ष्य को सम्मुख रख कर इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है।

पृष्ठ संख्या १०८; मूल्य रु. १) २५।

औषधि विज्ञान शास्त्र — लेखक : विश्वनाथजी द्विवेदी, विभागाध्यक्ष-आयुर्वेद संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी। प्रस्तुत पुस्तक में नवीन पद्धति के आधार पर औषधिशास्त्र के बारे में बहुत ही सरल ढंग से अत्यंत परिश्रम पूर्वक विषय स्पष्ट किया गया है। यह ग्रन्थ पांच भागों (अध्यायों) में विभक्त है और इन भागों में निघंटु, द्रव्य-गुण-शास्त्र, सैद्धान्तिक विवरण, सामान्य व विशिष्ट परिभाषा, कर्म विज्ञान, कार्मुक संज्ञायें आदि का विस्तृत एवं सुबोध ढंग से वर्णन किया गया है। द्रव्य परिचय, स्वरूप, शरीर पर प्रभाव एवं चिकित्सा में उनका उपयोग आदि विषयों का खुलासा करने से वास्तव में लेखक ने औषधि विज्ञान शास्त्र को और भी सामने ला दिया है।

पृष्ठ संख्या ८१८; मूल्य केवल १५) रु.

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य (चतुर्थ संस्करण)—किशोर बालकों और तरुणों को कुटेव-जन्य व्याधियों से बचाने का इस पुस्तक में सफल प्रयास किया गया है।

पृष्ठ संख्या १०८; मूल्य रु. १) २५।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श (तृतीय संस्करण)— लेखक : आयुर्वेद-बृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। विद्वान लेखक ने त्रिदोष तत्व के विभिन्न रूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

पृष्ठ संख्या २५२; मूल्य ४) रु.

द्रव्यगुण विज्ञानम् पूर्वार्धः- (पञ्चम संस्करण)—लेखक : आयुर्वेद-मार्त्तण्ड, वैद्यवाचस्पति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में सूत्र-रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्यगुण-विषय को आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्यजी ने बड़े परिश्रम से द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि विषयों पर पृथक्-पृथक् पाँच अध्यायों में बहुत उत्तमतापूर्वक संकलित कर सरल संस्कृत तथा हिन्दी-भाषा में विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान की प्रगति के लिए बहुत उपयोगी है। स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए भी यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

पृष्ठ ३८८), मूल्य १५) रु.

निदान--चिकित्सा--हस्तामलक- प्रथम खण्ड (द्वितीय संस्करण) लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई। विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए यह पुस्तक परमोपयोगी है। द्वितीय खण्ड शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

पृष्ठ संख्या ८१६; मूल्य १८) रु.

पदार्थ-विज्ञान--(देशभर की आयुर्वेदीय संस्थाओं एवं परीक्षा समितियों के पाठ्यक्रम में स्वीकृत) लेखक : आयुर्वेद-बृहस्पति पं० रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य भू० पू० प्रिन्सिपल, अ० शि० आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और द्वितीय अध्याय में आनेवाले पदार्थों का सुन्दर विवेचन हुआ है। तृतीय अध्याय में आयुर्वेद के मूल-भूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत तत्त्वों की छान-बीन की गयी है। चतुर्थ अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्वजन्मकृत पापों का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनि में प्रवेश कर कर्मों का फल भोगा करती है।

पृष्ठ २६२ मूल्य १०) रु.

पारिषद्यं शब्दार्थ शारीरम्- सम्पादक-आयुर्वेदाचार्य पं० दामोदर शर्मा, गौड़। भूमिका लेखक : आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी। यह ग्रन्थ आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन के कार्य में लगे लोगों के लिये परम-उपयोगी है।

पृष्ठ २१२ मूल्य रु. ५) ८५।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वनौषधि शतक—लेखक : प्राणाचार्य वैद्य पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा। इस ग्रन्थ में ऐसी सौ वनौषधियों का विशद परिचय रंगीन चित्रों के साथ प्रस्तुत किया है, जिनके शुद्ध और उचित उपयोग द्वारा ही औषधि पूर्ण गुणकारी बन सकती है। अतएव, यह पुस्तक आयुर्वेद के विद्वानों, छात्रों, चिकित्सकों एवं आयुर्वेद से प्रेम रखनेवाले साधारण जनों के लिए परमोपयोगी है।

पृष्ठ २०८ मूल्य रु. ६) ५०।

वैद्य-सहचर (पंचम संस्करण)—लेखक : आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी। 'औषधि विज्ञान शास्त्र' के सफल तथा अधिकारी लेखक द्वारा लिखी गई यह पुस्तक आयुर्वेद क्षेत्र में इतनी शीघ्रता से प्रिय हुई कि इसका यह पाँचवां संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। द्विवेदीजी ने इसे नवीनतम अनुभवों का समावेश कर, पुनः संस्कारित किया है। मधुमेह की आयुर्वेदीय सफल चिकित्सा तथा अन्वेषण का विवरण इसमें किया है। पृष्ठ संख्या ३४५, मूल्य रु. ५-२०

मानस-रोग-विज्ञान—इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक : स्वर्गीय डॉ. बालकृष्ण अमरजी पाठक ने बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के अध्यक्ष एवं प्रधानाध्यापक के रूप में काफी कीर्ति प्राप्त की थी और एक उच्च-कोटि के विचारक और उद्भट मनीषी के रूप में आप सम्पूर्ण भारत में सुप्रसिद्ध हो गये थे।

आज के युग में, जब कि काम-क्रोध आदि तथा मिरगी (अपस्मार), उन्माद, न्यूरेस्थिनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि मानसिक रोग मनुष्य जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देनेवाली है। अंग्रेजी भाषा के ज्ञाताओं का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अंग्रेजी में है, वैसा अन्यत्र नहीं है। किन्तु इस पुस्तक के अवलोकन से उनके भ्रम का निवारण होगा हमारा ऐसा विश्वास है।

इस ग्रन्थ की रूपरेखा पूज्यपाद यादवजी ने तैयार की थी और इस विषय पर आयुर्वेदीय साहित्य में खटकनेवाली जबरदस्त कमी को पूरा करने के लिये डॉ० पाठक जैसे अनुभवी विद्वान् वैद्य को यह ग्रन्थ लिखने के लिए उत्साहित किया था।

पृष्ठ २५१ मूल्य ७) रु.

मोटापन कम करने का उपाय—लेखक : श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी। ग्रन्थ परम उपयोगी एवं मननीय है। पृष्ठ १३८ मूल्य रु. २) ६०।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यूनानी चिकित्सा-सार (द्वितीय संस्करण)— लेखक : हकीम डॉ० दलजीतसिंह। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने रोगों के निदान तथा चिकित्सा को सरल हिन्दी भाषा में लिखकर सर्वसाधारण जनता तथा साधारण पढ़े-लिखे वैद्यों तक के लिए सुलभ बना दिया है।

यह सुविदित है कि यूनानी दवा के नुस्खे बहुत सस्ते तथा आशुफलदायक साबित होते हैं। विद्वान लेखक ने इस पुस्तक में ऐसे अनेक योगों का उल्लेख कर पुस्तक की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ा दी है।

पृष्ठ ५७६ मूल्य ९) रु.

यूनानी सिद्धयोग-संग्रह (तृतीय संस्करण)— यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे, आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उपर्युक्त लेखक द्वारा ही लिखवाकर प्रकाशित किया गया है। पृष्ठ २२३ मूल्य ४) रु.

यौवन विज्ञान पर नया प्रकाश—(लेखक : डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा, एम.ए., एम., एस, आर.एम. पी., भिषक्‌रत्न) विद्वान् लेखक ने प्राचीन व आधुनिक लेखकों के पूर्वाग्रहों से हटकर स्वतन्त्र शैली द्वारा, वैज्ञानिक एवं सरल ढंग से इस विषय को समझाने का पूर्ण प्रयास किया है। यह ग्रन्थ युवक एवं युवतियों के "यौवन विज्ञान" पर निश्चित ही "नया प्रकाश" डालनेवाला साबित होगा; साथ ही अभिभावकों के लिए भी मननीय होगा।

पृष्ठ २०५ मूल्य ४) रु.

रस भस्म सेवन विधि (अष्टम संस्करण)— (हिन्दी) भवन द्वारा निर्मित रस, भस्म, लौह, मण्डूर, बटी, पर्पटी एवं गुग्गुलु का सेवन करने की विधि इस छोटी सी किन्तु अतीव उपयोगी पुस्तक में बहुत ही सरल भाषा में समझाई गई है। सेवन विधि के अलावा औषधि का गुण-पथ्य आदि भी दिये गये हैं।

पृष्ठ २१० मूल्य रु. १) २५।

रस भस्म सेवन विधि (तृतीय संस्करण)— (मराठी) उक्त हिन्दी संस्करण का ही मराठी अनुवाद बहुत ही सरल मराठी भाषा में किया गया है।

पृष्ठ १९० मूल्य रु. १) २५।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शार्ङ्गधर-संहिता (द्वितीय संस्करण)— टीकाकार : आचार्य पं० **राधाकृष्ण पराशर**। शार्ङ्गधर-संहिता की अनेक टीकाओं के बावजूद इस टीका में पाठकों को आयुर्वेद का रहस्य नये ढंग से समझाकर लिखा गया है।

पृष्ठ ६०२ मूल्य ८) रु.

सिद्धयोग-संग्रह— (षष्ठ संस्करण) आयुर्वेदोद्धारक बैद्यबाचस्पति **श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य** के करकमलों से लिखा हुआ यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है।

पृष्ठ संख्या १७८ मूल्य ८) रु.

संक्रामक रोग-विज्ञान— (द्वितीय संस्करण) लेखक : **कविराज बालकराम शुक्ल, आयुर्वेद-शास्त्राचार्य**। आज जब कि देश में मलेरिया, कुष्ठ यक्ष्मा, हैजा, प्लेग आदि जैसे भयंकर रोगों से हजारों-लाखों मनुष्य आक्रान्त हो रहे हैं, तो यह आवश्यक है कि संक्रामक रोगों से बचने का उपाय तथा रोग-परीक्षा, निदान-चिकित्सा आदि से भारतीय जनता को पूर्ण परिचित कर दिया जाय, जिससे प्रथम तो यह भयंकर रोग होने ही न पावे और यदि हो भी जाय, तो उसका उचित प्रतिकार किया जा सके।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं विषयों का सरल हिन्दी भाषा में वर्णन किया गया है।

पृष्ठ ८१० मूल्य १३) रु.

अंग्रेजी प्रकाशन

(१) Therapeutic Guide to Ayurvedic Medicines.

मूल्य १५) रु.

(२) Digestion and Metabolism in Ayurveda.

मूल्य १०) रु.

आगामी प्रकाशन

(१) **नेत्र-चिकित्सा** (संस्कृत) लेखक डॉ. बाळकृष्ण शिवराम मुंजे।

पृष्ठ २३०, मूल्य ६) रु.

(२) **निदान-चिकित्सा-हस्तामलक** (द्वितीय खण्ड)—

लेखक—वैद्य रणजितराय देसाई।

———

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

चंद्रमा होने से भारतीय राजनीति में उतार-चढ़ाव की स्थितियां आती रहेंगी। आयात और निर्यात में वृद्धि के बावजूद अर्थव्यवस्था घाटे की ही रहेगी। शेयर और सट्टा बाजार में अनाज और दलहन, तिलहन के भाव ऊंचे रहेंगे।

वर्चस्व बढ़ेगा। नकली दवा, दूध, घी तथा फलफूल आदि से कई तरह की बीमारियां जड़ जमा लेंगी। लोग सोना, चांदी और जायदाद के चक्कर में जघन्य अपराध करने से भी बाज नहीं आएंगे।

(नवसंवत्सर का राशिफल पढ़ें मंगलवार को)

धिकार और उनका फल

सामना करना पड़ सकता है।

7. इस वर्ष धनेश यानी धन, संपत्ति और जायदाद का स्वामी शनि ग्रह है। बाजार में अचानक तेजी आएगी। खजाने तथा सरकारी एवं गैरसरकारी बैंकों और वित्तीय संस्थाओं में डकैती और लूटमार से सरकार को भारी क्षतिपूर्ति करनी पड़ेगी। गेहूं की खेती बारिश के कारण खराब हो सकती है। जमाखोरी और कालाबाजारी करने वालों की चांदी कटेगी।
8. दुर्गेश यानी सेनापति का पद भी बुध महाराज को मिला है। शासन व्यवस्था और कानून चलाने वाले लोगों में परस्पर मदभेद रहेगा। खेतों में चूहा, टिड्डी और जंगली जानवरों का उत्पात बढ़ेगा।
9. इस साल मेघ यानी बादल का नाम द्रोण है। इसका फल यही है कि अवांछित जगहों पर लगातार बारिश से लोगों में दहशत बढ़ेगी । पानी के दूषित होने से आंखों और पेट की बीमारियां बढ़ेंगी। प्रमुख खाद्यान गेहूं, चावल, जौ, चना, कपास और घी, तेल के दाम आसमान पर चढ़ सकते हैं ।
10. वर्षा सूचक रोहिणी का निवास इस साल संधि भाग में है। समुद्र तटीय क्षेत्रों में वायु प्रकोप और तूफान तथा चक्रवात से आमलोगों को परेशानी होगी। जमाखोरों और सट्टेबाजों के कारण बाजार में महंगाई का नकली दौर फलित होगा। गरीब

लाल मूंगा, तांबा, लाल मिर्च, लाल वस्तु, ऊनी पदार्थ तथा ईंधन पेट्रोल भी तेजी तो कभी मंदी रहेगी। गुंडे, और माफिया लोगों का व्यापार तथा में दखल रहेगा। भ्रष्ट लोग बड़े-बड़े आसीन होंगे। हथियार तथा घातक स्त्रों के व्यापार से सारी दुनिया में फरी मच सकती है।
पद पापी और क्रूर ग्रह बुध के कब्जे ल-फूल और साग-सब्जी का उत्पादन जाएगा। उत्तरी प्रांतों में बर्फबारी और से लोगों में परेशानी बढ़ेगी। पर्यटन मौसम और कानून-व्यवस्था का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Digitization